आचार्य श्रीकृष्ण रातंजनकर 'सुजा

जीवनी तथा स्मृतिसंचय

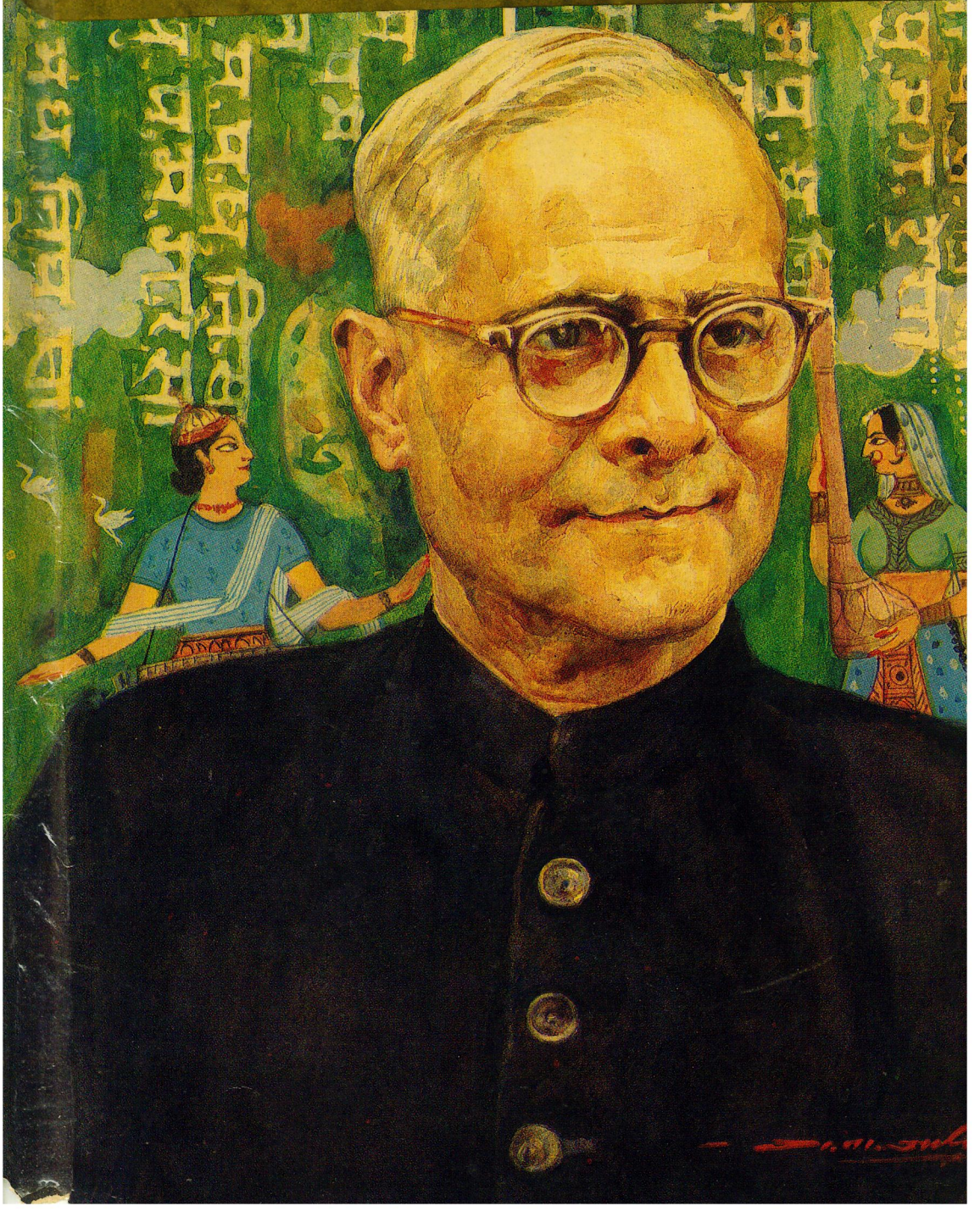


'सुजान'

संपादक
डॉ. श्रीरंग संगोराम, पुणे

संपादक मंडल
पं. एस. सी. आर. भट
डॉ. के. जी. गिंडे
पं. दिनकर कायकिणी
श्री. श्रीपाद गिंडे, पुणे

आचार्य
श्रीकृष्ण रातंजनकर
'सुजान'

जीवनी तथा स्मृतिसंचय

विश्वस्त मंडल,
आचार्य एस्.एन. रातंजनकर
फाउण्डेशन, बंबई ४०० ०१४

27-2-2020

ACHARYA SRIKRISHNA RATANJANKAR 'SUJAN'

JEEVANI TATHA SMRITI SANCHAY

EDITOR
Dr. Srirang Sangoram
'Ramnath' 51 Ganesh Mala,
Pune 411 030

EDITORIAL BOARD
Pt. S. C. R. Bhat
A/9 Patkar's New Block
Shri Guru Nanak Road,
(Formerly Turner Road)
Bandra - Bombay 400 050

Pt. K. G. Ginde
'Janaki Nivas'
162, Dr. Ambedkar Road,
Dadar, Bombay 400 014

Pt. Dinkar Kaikini
'Anandashram' (Ground Floor)
22, Pandita Ramabai Road,
Gamdevi, Bombay 400 007

Shri Shripad G. Ginde
Sagar Apt., Flat 2
(Ground floor) 906 Kakasaheb
Limaye Path, Deccan Gymkhana,
Pune 411 004

प्रकाशक
विश्वस्त मण्डल,
आचार्य श्रीकृष्ण रातंजनकर फाउण्डेशन,
द्वारा डॉ. के.जी. गिंडे
जानकी निवास, १६२ डॉ. आंबेडकर मार्ग
दादर, बंबई ४०० ०१४

मुद्रक
आनंद लाटकर
कल्पना मुद्रणालय,
४६१/४ सदाशिव पेठ,
'शिव-पार्वती'
पुणे ४११ ०३० (महाराष्ट्र)

प्रथम संस्करण १९९३

Rs. 500/-

संस्कार प्रकाशन Publisher & Distributor
Sanskar Prakashan
6/400, Abhyudaya Nagar,
Kalachowki, Mumbai - 400033.
(Ph. : 9146204431, 9869185959)
Website : www.sanskarprakashanmusic.com
email : sanskarprakashanbooks@gmail.com

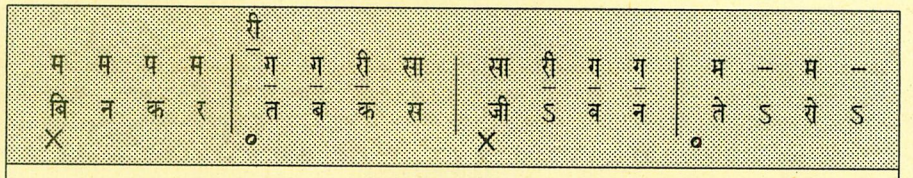

प्रास्ताविक निवेदन

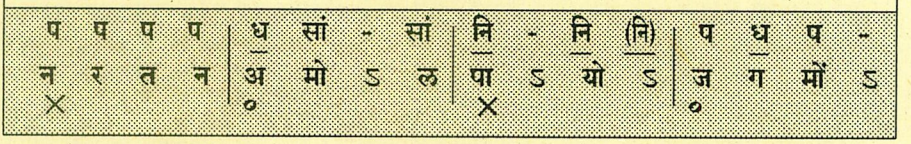

परमश्रद्धेय गुरुवर संगीताचार्य डॉ. श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर 'सुजान' के हम सभी शिष्य, उनके 'जीवनी एवं स्मृतिसंचय' विषयक प्रस्तुत ग्रंथ को सहृदय गुनीजनों की सेवा में समर्पित करते हुए, अतीव संतोष एवं सार्थकता का अनुभव करते हैं। दीर्घ समय से हम सभी की यह कामना थी कि श्रद्धेय अण्णासाहब के अभिनव कार्यकर्तृत्व का यथासंभव संपूर्ण आरेख सभी संगीतवेत्ताओं और प्रेमियों के सामने उपस्थित होना आवश्यक है। डॉ. श्रीकृष्ण रातंजनकरजी ने संगीत के क्षेत्र में महफिली गायक, वाग्गेयकार, विद्यागुरु, संगीत प्रसारक की हैसियत से जो भारतव्यापी कार्य किया वह ग्रंथ के रूप में सविस्तार प्रस्तुत किया ही नहीं गया था। उलटे आदरणीय अण्णासाहब के व्यक्तित्व तथा कृतित्व के संबंध में जिम्मेदार गुनीजनों और अन्य संगीतप्रेमियों में एक प्रकार की प्रतिकूल-सी भावना प्रसृत हो चुकी थी। ये सब धारणाएं नितांत अज्ञानवश ही फैली हुई थीं। हमारा उद्देश्य यह रहा कि प्रस्तुत ग्रंथ के निर्माण के द्वारा इस परिस्थिति का भी निराकरण हो जाए और संपूर्ण संगीत के क्षेत्र में सौहार्द और स्नेह को ही बढ़ावा मिले, जिससे अंततः संगीत के विकास का मार्ग प्रशस्त बन सके।

प्रस्तुत बृहत् ग्रंथ पांच खंडों में विभाजित है-

(१) जीवनी खंड, (२) विशिष्ट लेख खंड (३) संस्मरण खंड, (४) परिशिष्ट एवं (५) छायाचित्र खंड। जीवनी खंड में अण्णासाहब के बचपन से लेकर अंतिम दिनों तक की सभी महत्त्वपूर्ण सांगीतिक घटनाओं को स्थान दिया गया है और आपके सांगीतिक व्यक्तित्व के विकास को अंकित किया गया है। इसके साथ ही गायन, प्रशिक्षण, नवरचना, अनुसंधान, प्रशासन इत्यादि अन्यान्य आयामों को लेकर अण्णासाहब ने जो कार्य संपन्न किया उसका सप्रमाण और सविस्तार वर्णन-विवेचन किया गया है। यह जीवनीखंड डॉ. रातंजनकरजी के 'अंतेवासी' शिष्य श्री के. जी. गिंडे के धारावाहिक कथन को संपादित और पुनर्गठित करके तैयार किया गया है।

लेखों और संस्मरणों को हमने अण्णासाहब के भारतभर में फैले हुए शिष्यों , स्नेहभाजन व्यक्तियों और श्रेष्ठ कलाकारों के द्वारा प्राप्त किया और फिर उनका संपादन करके उन्हें ग्रंथ में स्थान दे दिया। यही बात छायाचित्रों की भी है। दूर दूर से हमें अत्यंत उपयुक्त छायाचित्र प्राप्त हुए। ग्रंथ में छायाचित्रों का यह विभाग बहुत ही संपन्न बन चुका है, जिसे एक नजर देखने मात्र से संपूर्ण जीवनी का चित्र सामने उपस्थित होता है। ग्रंथ के परिशिष्ट में स्वयं अण्णासाहब की अंग्रेजी में लिखी हुई लघु आत्मकथा को संग्रहीत किया गया है, जिससे मूल ग्रंथ में वर्णित बातों के लिए एक ठोस आधार ही प्राप्त हो सका है। इसके सिवा अण्णासाहब के पत्राचार तथा अन्य रोचक संदर्भों को भी परिशिष्ट में स्थान मिला है। इस प्रकार इस जीवनीविषयक ग्रंथ की उपदेयता को बढ़ाने का हर संभव प्रयत्न किया गया है।

इस महान कार्य की परिपूर्ति का श्रेय सबसे पहले विख्यात संगीत समीक्षक एवं संगीतसाधक स्व. श्री वामनराव देशपांडे को देना हमारा कर्तव्य है। श्रीमान देशपांडे महोदय मुझसे (के.जी. गिंडे से) बार

बार साग्रह कहते थे कि आपके गुरुजी ने पं. भातखंडे जी की जीवनी लिखी तो, अब आपको अपने गुरुजी की जीवनी लिखनी ही होगी; इससे संगीत जगत् का परम लाभ हुए बिना नहीं रहेगा। आदरणीय देशपांडेजी का स्नेहभरा आग्रह आज फलीभूत हुआ है, किंतु खेद है कि इस आनंद में सहभागी होने के लिए आप आज हमारे बीच नहीं हैं। श्रीमान देशपांडेजी के समान ही अनेक मित्रों एवं हितैषियों ने यही इच्छा प्रकट तथा लिखित रूप से हम शिष्यों के पास व्यक्त की थी। हमें संतोष है कि आज सबकी वह तमन्ना पूरी हो सकी है।

इस जीवनी एवं स्मृति संचय ग्रंथ के निर्माण की योजना को प्रत्यक्ष रूप में कार्यान्वित करने का दायित्व संपादक मंडल ने मुझको (के.जी. गिंडे को) सौंपकर मुझे गुरुसेवा का और अधिक अवसर ही प्रदान किया। किंतु इस कार्य की सफलता का श्रेय मुझ अकेले का नहीं, बल्कि संपादक मंडल के अन्य सदस्यों और इतर सहायक व्यक्तियों का भी है।

सर्व प्रथम मेरे ज्येष्ठ बंधु श्री श्रीपादराव गिंडेजी (पुणे) को मैं धन्यवाद देता हूं कि आपने एक जिम्मेदार मध्यस्थ सचिव के रूप में ग्रंथ के लिए अपना सब समय समर्पित किया। ग्रंथ का निर्माण और मुद्रण पुणे में हो जाने के कारण आपकी उपस्थिति और सहायता ग्रंथ के लिए परम उपादेय सिद्ध हुई। आपका पुणे का निवासस्थान ही इस ग्रंथ के लिए एक कार्यालय बन गया था।

गुरुवर डॉ. रातंजनकरजी के परिवार के सदस्यों, हमारे सभी गुरुबंधु एवं भगिनियों, अण्णासाहब के प्रेमियों और भक्तों एवं लेख तथा संस्मरण एवं छायाचित्र भेजकर ग्रंथ की प्रत्यक्ष सहायता करनेवाले सभी सज्जनों-देवियों के हम हृदय से कृतज्ञ हैं, जिनकी सहायता के बिना यह गुरुतर कार्य सिद्ध होना असंभवनीय ही था।

इस ग्रंथ की सिद्धि में ग्रंथ के प्रधान संपादक हमारे स्नेही डॉ. श्रीरंग संगोराम को जितने धन्यवाद दिए जाएं कम ही होंगे। स्वयं संगीत के ज्ञाता एवं समीक्षक होने के नाते तथा पुणे विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक रह चुकने के नाते हिंदी और संगीत दोनों उनके लिए प्रिय विषय रहे। इससे ग्रंथ का निर्माण हिंदी भाषा में करने की दृष्टि से किसी प्रकार की अड़चन महसूस नहीं हो सकी। श्रीमान संगोरामजी ने अपनी ओर से डॉ. रातंजनकरजी के विषय में पर्याप्त अध्ययन करके तथा यथासंभव उनके ध्वनिमुद्रित संगीत को सुनकर अपनी अनुभूति को समृद्ध किया और फिर इस कार्य को हाथ में लिया। मैंने (के.जी. गिंडे) टेपरिकार्डर के कैसेटों के माध्यम से अण्णासाहब की संपूर्ण जीवनी को मौखिक रूप से बातचीत के सिलसिले में कथन किया। डॉ. संगोरामजी ने बीच बीच में उपयुक्त प्रश्न उपस्थित करके इस बातचीत को भरसक सर्वसमावेशक बनाने का प्रयास किया। फिर उन्होंने कैसटों के लिखित रूप के सहारे पूरी कथित सामग्री का पुन:शब्दांकन, संपादन तथा पुनर्गठन करके उसे एक सुनियोजित जीवनी-ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत कर दिया।

हमारे पास कतिपय लेख-संस्मरण मराठी में आए थे, जोकि स्वाभाविक ही था। इन सब लेखों के हिंदी अनुवाद कार्य में संपादक महोदय के बावजूद हिंदी के प्राध्यापक एवं संगीत साधक डॉ. सज्जनराम केणी (पुणे) से हमें पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। ग्रंथ में समाविष्ट पं. राजाभाऊ देव के लेख का हिंदी अनुवाद उनकी कन्या श्रेष्ठ गायिका डॉ. अलका मारुलकर ने किया। इन सभी सहायकों के हम आभारी हैं। इसीके साथ जिन कैसेटों का ऊपर जिक्र हुआ उनको लिखित रूप में उतारने के कार्य में लघुटंकक श्री वसंत गेडाम और श्रेष्ठ गानसाधिका श्रीमती डॉ. शशिकला शिरगोपीकर तथा श्रीमती मधुलिका जोशी की सहायता का लाभ हुआ। इन सभी को हम धन्यवाद देते हैं।

ग्रंथ का मनोहारी रूप में मुद्रण करनेवाले 'कल्पना मुद्रणालय, पुणे' के श्री चिं. स. लाटकर तथा छायाचित्र खंड के सिलसिले में श्री नंदन देऊळकर और मुद्रणालय के अन्य सदस्य भी धन्यवाद के प्राप्त है। ग्रंथ के मुखपृष्ठ पर अंकित अण्णासाहब के 'पोट्रेट' को बनानेवाले चित्रकार श्री ग. ना. जाधव, तथा भीतरी चित्रों के लिए प्रशांत भारताल को भी हम धन्यवाद देते हैं।

के. जी. गिंडे
संपादक मंडल सदस्य
(कृते) आचार्य एस्.एन्. रातंजनकर फाउंडेशन, बम्बई

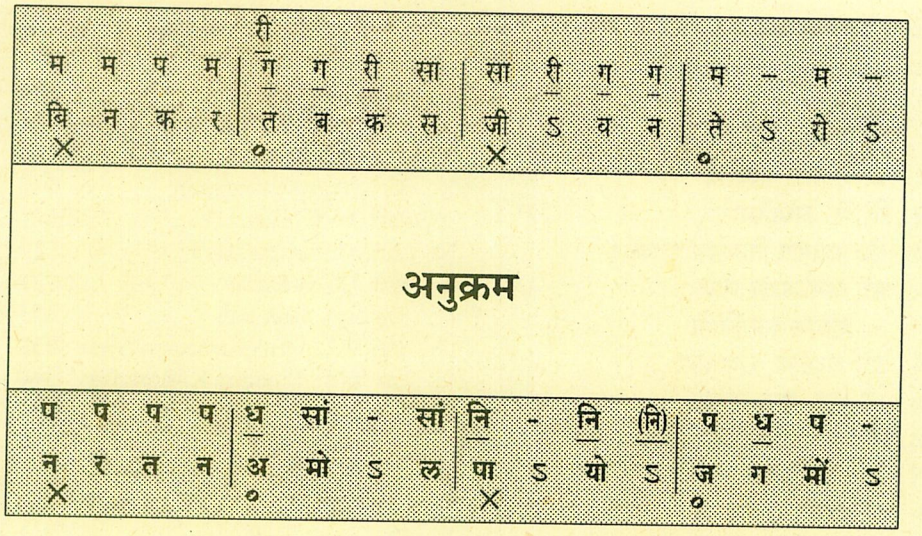

प्रथम भाग

जीवनी खंड- डॉ. के. जी. गिंडे १

१. साधना का पहला अध्याय
२. लखनऊ की कर्मभूमि २४
३. लखनऊ, खैरागढ़ और बंबई ३६
४. व्यक्तित्व संधान : सांगीतिक, व्यावहारिक ५४
५. प्रतिभासंपन्न रचनाकार एवं वाग्येयकार ७२
६. अन्यतम विद्यागुरु ९१
७. सुनता है गुरुग्यानी १०९

दुसरा खंड

विशिष्ट लेख (हिन्दी)

१. पं. एस.सी. आर. भट ११७
२. डॉ. सुमति मुटाटकर १२८
३. पं. प्रभाकर चिंचोरे १४०
४. प्रो. अमरेशचंद्र चौबे १४५
५. प्रो. वि. रा. आठवले १५०
६. श्री रघुनाथ सेठ १५६
७. श्री मनोहरकुमार गंगाजलीवाले १५९
८. सौ. सरोजिनी गंगाजलीवाले १६२
९. प्रा. वसंत राजूरकर १६५
१०. प्रो. मुकुंद विष्णु कालविंट १७०
११. पं. राजाभाऊ देव १७६
१२. प्रो. एम. आर. गौतम १८०
१३. श्री सुनील बोस १८३
१४. प्रो. गोविंद नारायण दंताळे १८७
१५. डॉ. पं. कुमार गंधर्व २०१
१६. डॉ. वसंतराव राजोपाध्ये २१३
१७. पं. वसन्तराव कुलकर्णी २१७
१८. श्री मदनलाल व्यास २२१
१९. डॉ. अरुणकुमार सेन २२६
२०. पं. सी. आर. व्यास २२९
२१. श्री बालाजी श्रीधर पाठक २३५
२२. श्री सीताशरण सिंह २३९
२३. कमला श्रीवास्तव २४३

तीसरा खंड

यादों के झरोखों से ' अण्णासाहब '

१. उस्ताद निसार हुसेन खांसाहब २४५
२. उस्ताद खादिम हुसेन खाँ २४६
३. पं. मल्लिकार्जुन मन्सूर २४६
४. पं. भीमसेन जोशी २४७
५. श्रीमती सुमन सावुर २४७
६. पं. यशवंतबुवा जोशी २५०

७. श्री बाळासाहब पूछवाले २५१
८. डॉ. गंगूबाई हनगल २५२
९. डॉ. प्रेमलता शर्मा २५३
१०. पं. विनयचंद्र मौदगल्य २५४
११. श्री दाऊजी गोस्वामी २५५
१२. वि. दे. अंभईकर २५६
१३. प्रो. नारायण विनायक पटवर्धन २५७
१४. डॉ. अमरेशचंद्र चौबे २५८
१५. पं. दिनकर कायकिणी २५९
१६. डॉ. लालजी श्रीवास्तव २६३
१७. श्री वाय. एम. महाले २६४
१८. डॉ. देवेंद्र प्रताप जौहरी २६५
१९. स्वामी चैतन्यस्वरूप २६७
२०. श्रीमती बागेश्रीदेवी पांडे २६८
२१. स्वामी हरिप्रसाददास २७०
२२. श्रीमती शांति सहल २७१
२३. श्री सुधीरकुमार वर्मा २७३
२४. श्री कृष्ण कुमार कपूर २७३
२५. डॉ. सुशीला पोहनकर २७४
२६. श्री कमलाकर कुलकर्णी २७६
२७. प्रो. मंजु सुंदरम २७८
२८. पद्मश्री र. कृ. फडके २८१
२९. पं. ना. र. मारूलकर २८२
३०. मास्टर कृष्णराव फुलंब्रीकर २८३
३१. पं. त्रिं. द. जानोरीकर २८४
३२. डॉ. नांगरमल सहल २८४
३३. पं. शरच्चंद्र आरोळकर २८५
३४. पं. कृष्ण मुजुमदार २८५
३५. पं. निवृत्तिबुवा सरनाईक २८६
३६. श्री जी. सी. उप्रैती २८७
३७. श्री शं. र. आळेकर २८७
३८. श्री डी. जी. फडके २८८
३९. डॉ. प्रेमसिंह किजोत २९०

चतुर्थ खंड

Articles and Memories

1. Dr. B. V. Keskar 293
2. Pt. Thakur Jaidev Singh 295
3. Shri Kumar Mukherji 299
4. Smt. Susheela Misra 303
5. Shri. Nikhil Ghosh 308
6. Shri. Bimal Mukherjee 314
7. Smt. Premlata Puri 317
8. Shri. Ramesh Nadkarni 320
9. Shri. V. S. Nigam 324
10. Shri. Mohan Nadkarni 329
11. Smt. Chitra Bailur 333
12. Rai Uma Nath Bali 335
13. Shri. T.L. Venkataramana Aiyar 338
13. Late Shri. Birendra Kishore Roy 340
14. Smt. Aparna Chakravarti 343
15. Zarin Sharma 345
16. Shri. Buddhdev Das Gupta 345
17. Shri Ganpati G. Ginde 346
18. Shri. D. T. Joshi 348
19. Pt. V. G. Jog 350
20. Shri. V. K. Kichlu 351
21. Shri. C. L. Koppikar 351
22. Shri. R. C. Mehta 353
23. Mrs. Mira Das 354
24. Smt. Dipti Nag 354
25. Pt. Ramrao Naik 355
26. Shri. N. S. Padukone 356
27. Shri. Arvind Parikh 357
28. Smt. D. K. Pattammal 358

पांचवा खंड

परिशिष्ट / Appendies

1. Autobiography- by Late Dr. S.N. Ratanjankar 359
2. Poem by Bha-Ra Tambe 383
3. 'What they Say' 384
4. Correspondence between Dr. S.N. Ratanjankar & his disciple Pt. K. G. Ginde 377
5. Acharya S. N. Ratanjankar's Life Journey 387
6. Address of Subseribers of Articles in Hindi 395


जीवनी

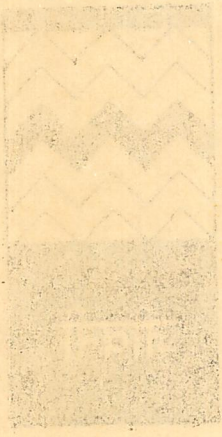

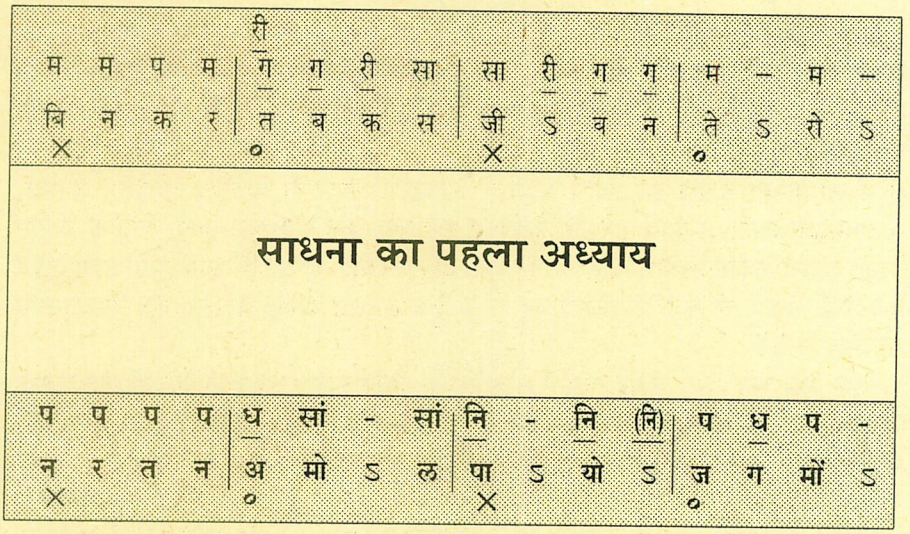

भारतीय संगीत के क्षेत्र में 'पद्मभूषण' स्व. डॉ. श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकरजी का व्यक्तित्व स्वनामधन्य है। हिंदुस्थानी संगीत के युगनिर्माता उद्‌भावक आचार्य पं. विष्णु नारायण भातखंडे के अंतरंग शिष्य एवं एकनिष्ठ अनुयायी, संगीत के महान मनीषी एवं गायकों के गायक, श्रेष्ठ वाग्गेयकार एवं अन्यतम विद्यागुरु के रूप में आप निर्विवाद रूप से सर्वमान्य हो गए हैं। आपका योगदान भारतीय संगीत के विकास में अभूतपूर्व सिद्ध हुआ है। वस्तुत: संगीत की नायकी एवं गायकी के अंतर्गत इस शती के पूर्वार्द्ध में जो बिखराव और संकुचितता पैदा हो गई थी उसमें व्यवस्थापन की नींव डालते हुए उस क्षेत्र में अध्ययन-निष्ठा, अनुसंधान एवं नवनिर्माण को प्रस्थापित करने का महान कार्य पं. भातखंडेजी के अनुसरण पर संपूर्ण ईमानदारी तथा समर्पण भाव से करनेवाले महानुभाव के नाते डॉ. रातंजनकरजी का स्थान अपने आप रेखांकित हो जाता है। उनके जीवन को चरित्रकी निकटता और गहराई से (संगीत के दृष्टिकोण से) जानना इस दृष्टि से भी आवश्यक है कि उसके कारण हिंदुस्तानी संगीत की विकासयात्रा के कतिपय पदचिह्नों की पहचान हमें प्रगाढ़ रूप से प्राप्त हो सकेगी और उससे संगीत प्रस्तुति तथा संगीतशास्त्रविषयक हमारी विभिन्न धारणाओं को नया उजाला प्राप्त हो सकेगा। इसीके साथ आनुषंगिक तौर पर एक लाभ यह भी होगा कि पं. रातंजनकरजी के विषय में महाराष्ट्र में तथा महाराष्ट्र के बाहर जो कुछ अनावश्यक विपरीत भावनाएं संगीत की दुनिया में प्रसृत हुई थीं और कहीं कहीं आज भी प्रसृत हैं, उनका भी कुछ मात्रा में निराकरण हो सकेगा और उस महान आत्मा की सौ प्रतिशत प्रामाणिक संगीत-सेवा को यथोचित न्याय मिल सकेगा।

वास्तव में डॉ. रातंजनकरजी के शिष्यों का यह कर्तव्य ही है जिसकी पूर्ति से गुरु के ऋण से भरसक मुक्त होने की दिशा में कुछ कर सकने का संतोष उन्हें मिल सकेगा। सच तो यह है कि हमारे गुरुवर ने हमें इतना कुछ दिया है कि उसके एक शतांश से भी ऋणमुक्त होना असंभव है।

इस जीवनी को मैं, के.जी. गिंडे, पं. रातंजनकरजी का, हमारे पूज्यपाद अण्णासाहब का

अंतरंग शिष्य, कथन करने जा रहा हूं। मेरा व्यक्तिगत संयोग यह रहा कि अण्णासाहब की निकट सन्निधि में अड़तीस वर्ष तक रहने का सौभाग्य मुझे हासिल हुआ। मेरी संगीत-शिक्षा का श्रीगणेश उन्हींके घर पर हुआ, और मैं उनके परिवार का एक सदस्य ही बन गया। तत्पश्चात् मैरिस कॉलेज, लखनऊ में १६ साल तक बिलकुल उनके निकट रहकर उनके दिव्य विद्यादान से मैं लाभान्वित हुआ। इस प्रदीर्घ सान्निध्य के कारण गुरुवर के व्यक्तित्व, विद्वत्ता, तपस्या, कलामर्मज्ञता आदि अन्यान्य पहलुओं के विषय में मैं बहुत कुछ देख-जान सका, जिसका उपयोग प्रस्तुत जीवनी के लिए भलीभांति हो सका। दूसरी अनुकूल बात यह रही कि स्वयं हमारे अण्णासाहब ने अपनी जीवनी की कुछ टिप्पणियां बना के रखी थीं। इससे जीवनी के लिए एक ठोस आधार भी मिल सका।*

एक और बात। यह जीवन कहानी बातचीत के दौरान साकार होती गई है। मैंने यह कहानी मेरे प्रिय स्नेही तथा संगीत-समीक्षक डॉ. श्रीरंग संगोराम (पुणे) को निवेदित कर दी। उन्होंने बीच बीच में कुछ प्रश्न भी उपस्थित किए, जो जीवनी को सही दिशा देने की दृष्टि से काफी उपयुक्त रहे। हमारी बातचीत का यह सिलसिला अनेक दिनों तक चलता रहा, जिसे उसी समय ध्वनीफिते पर उतारा गया और तदुपरांत डॉ. संगोरामजी ने इस पूरी निवेदन-मालिका का शब्दांकन, व्यवस्थापन और संपादन करके इसे एक बंदिश का रूप दे दिया इस बारे में एक अंतिम बात यह कि इस कथन-प्रवाह में मैंने जो कुछ भी कहा है, वह सब मेरी प्रत्यक्ष अनुभूति और जहां आवश्यक लगा वहां आप्तवाक्य के आधारपर कथन किया है। कल्पना की उड़ान के लिए यहाँ कोई गुंजाइश नहीं रखी गई है।

परिस्थितियाँ

गुरुवर अण्णासाहब के पूर्व की परिस्थितियों को जानने के लिए हमें आज से लगभग सवासौ वर्ष पीछे जाना होगा। वह काल १८५७ के स्वातंत्र्ययुद्ध का था। रानी व्हिक्टोरिया के घोषणापत्र के तहत ब्रिटिश साम्राज्य की प्रतिष्ठापना हो चुकी थी और स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रयत्नों को विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। हम जानते हैं कि उस कालखंड के राजनैतिक माहौल पर सर्वश्री लाला लाजपतराय, बाल गंगाधर तिलक तथा बिपिनचंद्र पाल (लाल-बाल-पाल) का बड़ा ही प्रभाव रहा। उन्हींके कारण देश में स्वतंत्रता की ज्योत और तेज हो उठी। इन महान विभूतियोंने तथा महात्माजी आदि नेताओं ने जो चेतना जगाई उसके फलस्वरूप १९४७ में भारत को स्वाधीनता प्राप्त हो सकी। खैर, वह सारा इतिहास तो सर्वविदित है।

इधर सांस्कृतिक क्षेत्र की हालत देखी जाए तो हमारे इस देश में शिल्प, चित्र, संगीत इत्यादि ललित कलाओं की स्थिति अंधकारमय हो गई थी। क्योंकि ब्रिटिश राज में इन कलाओं के उत्थान और विकास के लिए अनुकूल वातावरण मिलना असंभव ही था। संगीत के क्षेत्र में, उस जमानें में, जितने भी महान कलाकार थे वे अपने आश्रयदाताओं को रिझाने के लिए कहिए उन्हींके आश्रय में रहते हुए अपनी अपनी कला की श्रीवृद्धि के लिए अपनी अपनी साधना में दत्तचित्त रहे। किंतु ये सारे प्रयास एक प्रकार से आत्मकेंद्रित थे। निःसंदेह इन कलाकारों

.....

* *डॉ. रातंजनकर की यह लघु आत्मकथा परिशिष्ट में समाविष्ट है।*

में कुछ तपस्वी कलाकार थे, जिन्होंने अथक परिश्रम द्वारा गायन-वादन की इस कठिन कला को हस्तगत किया था; परंतु वे अपनी विद्या किसी दूसर को प्रदान करने के विषय में अत्यंत अनुदार थे। फलत: इस विद्या को आत्मसात् करने की गहरी लगन रखनेवाले साधकों को चोरी-छिपे या और और उपायों से इस विद्या को हस्तगत करने के सिवा और कोई चारा नहीं था। ऐसी गतिरोधात्मक परिस्थितियों के कारण संगीत की प्रगति और विकास होना कैसे संभव था? यही नहीं बल्कि आज हम यह महसूस कर रहे हैं कि इन सारी स्थितियों के कारण उस जमाने में संगीत के संदर्भ में हमें बहुत कुछ खोना पड़ा था, जिसकी परिपूर्ति होना भी असंभव था।

किंतु अंधकार के बाद प्रकाश का क्रम आता ही है। आप जानते ही हैं कि इसी कालखंड में हिंदुस्तानी संगीतक्षेत्र के क्षितिज पर दो महान विभूतियों का उदय हुआ। मैं तो यही कहूंगा कि उन्होंने संगीतधर्म की ग्लानि को मिटाने के लिए 'अवतार' ही ग्रहण किया। दोनों 'विष्णु' ही थे। **पं. विष्णु दिगंबर पलुस्कर और पं. विष्णु नारायण भातखंडे** : दोनों का आविर्भावकाल लगभग एक ही था, १८५७ के स्वातंत्र्यसमर के बाद का। उस काल समाज में संगीतादि ललित कलाओं को घृणास्पद दृष्टि से देखा जाता था। क्योंकि इन कलाओं का संगोपन विलासी धनिकों के द्वारा ही हो रहा था। फलत: जो भी संभ्रांत परिवार का व्यक्ति इन ललितकलाओं की साधना में लग जाता था वह समाज से मानो उठ जाता था। ऐसी दशा में समाज के द्वारा संगीत-कला को प्रतिष्ठा प्रदान करने की दिशा में जो भी प्रयत्न हुए उनका अधिकांश श्रेय, मैं कहूंगा, पं. विष्णु दिगंबरजी को ही है। आप ही के प्रयत्नों से आज हम देख पाते हैं कि अच्छे अच्छे घरों में संगीत-साधना हो रही है।

'चतुर पंडित' भातखंडेजी के प्रयत्न दूसरी दिशा में किंतु विष्णु दिगंबरजी के कार्य की आपूर्ति के रूप में होते रहे। संगीत के प्रति बचपन से ही उनमें लगाव था और तभी से संगीत सुनने का चाव उन्हें लगा था। किंतु उनका सुनना आम श्रोताओं की तरह नहीं था। उन्हें महसूस होता था कि अलग अलग कलाकार गाते हैं किंतु उन सबके गायन में कहीं भीतरी एकरूपता है। एक कलाकार ने एक राग गाया और दूसरे किसीने वही राग गाया तो उसमें साम्य रहना स्वाभाविक ही था। किंतु उन्हें यह जानने की लगन थी कि इस समानता का रहस्य क्या है? भातखंडेजी ने कलाकारों से पूछा कि यह राग अभी आपने जो गाया, उसे हमें समझाकर बताइए। तो उस्ताद लोग कहते थे कि यह हमारे बस की बात नहीं; तुम खुद सुनो और जान लो। फिर पंडित भातखंडेजी ने ही सोचना आरंभ किया। उन्होंने अनुमान लगाया कि जब ये एक-सा गाते हैं, तो उनमें कुछ न कुछ नियम अवश्य होंगे। इसके पीछे कुछ शास्त्र का आधार जरूर होना चाहिए। फिर आगे चलकर इस दिशा में पंडितजी ने विपुल और अति विस्तृत कार्य किया। इस अनमोल कार्य के संबंध में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। अत: उसकी पुनरावृत्ति यहां करने की आवश्यकता नहीं।

पं. भातखंडेजी का कार्य बढ़ता गया और सौभाग्य से उनका परिचय रियासत बड़ौदा के समानधर्म महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ से हुआ। महाराजा की सिफारिश से उन्हें बड़ौदा के तथा अन्य रियासतों के ग्रंथालयों से लाभ उठाने की इजाजत मिली। पंडितजीने वहां से प्राचीन ग्रंथ प्राप्त करके अपने समय में प्रचलित संगीत को एक ठोस शास्त्राधार प्रदान करने की दिशा में अपने भगीरथ प्रयत्न आरंभ किए। मैंने अभी जैसे कहा कि ये दो 'विष्णु' एक दूसरे के लिए परिपूरक संगीतनेता थे। एक विष्णु ने संगीत को सभ्य समाज में प्रतिष्ठित स्थान

दिलाने के प्रयास को सफल कर दिखाया जब कि संगीत की साधना विधिवत् हो सके, इसके लिए उसे सुविहित शास्त्राधार ग्रंथों के माध्यम से मिल सके, इस हेतु अपना समूचा जीवन लगाकर उसमें सफलता प्राप्त की। लखनऊ के **मैरिस म्यूजिक कॉलेज** की स्थापना आपके कार्य का एक और बुलंद पहलू था और हमारे गुरुवर अण्णासाहब रातंजनकर के कार्यकर्तृत्व के जौहर वहीं पर प्रकट हुए।

गुरुशिष्य-संबंध

इसमें शक नहीं कि उस जमाने में साधकों को बहुत कष्ट उठाकर विद्या प्राप्त करनी पड़ती थी। अथवा गुरुसेवा के सिलसिले में यदि गुरु का मन चला तो विद्या के कुछ कण हासिल हो सकते थे। जब शिष्य गुरु के पास पहुंचता तब उसकी परीक्षा ली जाती थी। मैंने ऐसा सुना है कि उस जमानें में चार प्रकार के शिष्य रहा करते थे। एक था खानदानी गवैयों का रिवाज। एक पक्ष ऐसा था जो उस्ताद के शागिर्द कहलाते थे। याने आज उस उस्ताद के भक्त हैं तो श्रोता के नाते आकर बैठ जाया कीजिए। इसमें उस साधक की परीक्षा हो जाती थी, कि तुम्हारी लगन कहांतक है? इससे एक लाभ यह होता था कि जो कुशाग्र बुद्धि वाला व्यक्ति होगा वह सुन सुन के बहुत-सा उठा भी लेता था। उसको तालीम तो मिलती नहीं थी, सुन सुनकर अपने तईं अनुकरण करने का उसका रवैया रहता था। यह रहा आम शागिर्द। दूसरा है खास शागिर्द। ऐसा शागिर्द उस्ताद के घर से चिपक जाता था। फिर उससे घर के और काम करवाए जाते। सेवा करनी पड़ती थी। और हम तो जानते ही हैं कि पुराने आश्रमों में यही प्रथा थी। कष्ट भी करना और स्वावलंबी हो जाना ऐसी दोहरी शिक्षा उसमें थी। इन शागिर्दों को उस्तादों के प्रमुख शिष्योंद्वारा तालीम दिलवाई जाती। यदि आप उस कसौटी को भी पार कर गए तो आपको खास-उल-खास तालीम मिलना आरंभ हो जाता। यहां गुरु स्वयं तालीम देने बैठ जाते थे। लेकिन वहां भी अपनी कला की समूची बारीकियां नहीं बताते थे। उसके भी आगे चौथी जो श्रेणी थी उसमें गुरु के बेटे या किसी रिश्तेदार को शामिल कर लिया जाता था। यदि कोई खास साधक इस प्रकार की निकटता लिए हुए होता तो उसे उस्ताद या गुरु का गंडाबंध शागिर्द बनने की सुविधा रहती थी। इसके बाद आज के जमाने में एक और प्रणाली चल पड़ी है, 'ट्यूशन' की जिसे हम सब जानते हैं।

अण्णासाहब रातंजनकर तो गंडाबंध शिष्य ही थे, उस्ताद फैयाजहुसेनखांसाहब के। शिष्य के नाते वही स्थान उनका पं. भातखंडेजी के संदर्भ में भी था। ये सब बातें हमें विस्तार से आगे देखनी ही हैं। यहां बात उठी है गंडाबंधन की तो अण्णासाहब से संबंधित एक बात का जिक्र यहीं कर लिया जाए, जिसे हमने स्वयं उन्हींसे सुना है। फैयाजखां साहब ने अण्णासाहब से कहा– "देखो, तुम पंडित भातखंडे के पास से आए हो। मगर मैं पहले गंडा बांधूंगा, फिर तुम्हें सिखाऊंगा। हम लोग गंडाबंध शागिर्द को अपना बेटा ही समझते हैं।" इसलिए गंडाबंधन-संस्कार में शिष्य को गुरु गोदमें बिठलाकर उसे चने खिलाता है। गंडाबंधन-संस्कार के बाद खांसाहब ने हमारे गुरुवर को बताया था कि अब तुम हमारे बेटे हो गए हो तो हमारे घराने के किसी भी बुजुर्ग के पास जाकर तुम पूछ सकते हो।

मैं इसके बारेमें अपना एक अनुभव बताता हूं। यदि मुझे किसी समस्या के बारेमें जानना हो तो आज मैं खादिम हुसेन खांसाहब, जो आग्रा घराने के बुजुर्ग उस्ताद हैं, उनके पास सीधे

पहुंच सकता हूं। वे मुझसे कुछ छिपा नहीं सकते क्योंकि अण्णासाहब उनके 'घर' के गंडाबंध शागिर्द हैं। पं. भास्करबुवा बखले, नत्थनखांसाहब के ऐसे ही शिष्य थे। उनकी गैरहाजिरी में गुरुमाता ने उन्हें कई बंदिशें दी थीं। ... इन सारी परिस्थितियों का संबंध अण्णासाहब के व्यक्तित्व-गठन के साथ जुड़ा हुआ है।

घर-परिवार

अण्णासाहब का मूल गांव **रातंजन** जो महाराष्ट्र राज्य में सोलापुर जिले के अंदर 'बार्शी' तहसील में आता है। इसे 'रातंजन जवळगांव' कहते हैं। इसलिए इस परिवार का नाम शुरू में 'जवळगांवकर-कुलकर्णी' था। बाद में यह परिवार बंबई आ गया तब अण्णासाहब के पिता श्री नारायण गोविंदजीने इस लंबे नाम में संशोधन करके परिवार का नाम 'रातंजनकर' कर लिया। श्री. नारायण गोविंद रातंजनकरजी संगीत के बड़े शौकीन थे। यहीं नहीं तो वे संस्कृत भाषा के विद्वान और अंगेजी साहित्य के परमप्रेमी थे। बंबई में सरकारी सी.आय.डी. अनुभाग में अच्छे पद पर उनकी नियुक्ति हुई थी। नौकरी के समानांतर उन्होंने अपना संगीत का शौक और संस्कृत का अध्ययन भी जारी रखा था। संयोगवश 'सतारीचे पहिले पुस्तक' (सितार की शिक्षा भाग-१) उनके हाथ गई। उसके आधार पर उहोंने सितार बजाना शुरू किया था। संगीत के प्रति उनकी अभिरुचि बढ़ती गई और श्रेष्ठ गायन की पहचान भी। कॉलेज की शिक्षा के दौरान उनका पाणिनी की अष्टाध्यायी, रसकौमुदी इत्यादि ग्रंथों का अध्ययन भी चलता था। सी. आय.डी. विभाग में होने के कारण श्री नारायणराव का वकीलों के साथ संपर्क हुआ करता था। और उस काल वकीलों में बालगंधर्व इत्यादि के प्रभाव के कारण नाट्यसंगीत तथा और संगीत के प्रति काफी आकर्षण पैदा हुआ था। नारायणराव के संगीतानुराग के लिए यह बात बड़ी अनुकूल रही।

वकीलों के साथ उठना-बैठना होने पर भी शुरू में तो नारायणराव का पं. भातखंडे से प्रत्यक्ष परिचय नहीं था। नाम जरूर सुना था। दोनों एक ही कॉलेज 'एल्फिन्स्टन'के छात्र थे। भातखंडेजी दो वर्ष 'सीनियर' थे। लेकिन जाते-जाते यह बताना चाहिए कि पं. विष्णु दिगंबर से उनकी काफी घनिष्ठता थी। उसके संबंध में बात करेंगे ही। अब भातखंडेजी के शिष्य और अंतरंग स्नेही श्री. शंकरराव कर्नाड एक वकील थे। वास्तव में उनकी बदौलत नारायणरावजी की संगीत अभिरुचि और बढ़ी थी। किंतु विडंबना यह थी कि पारिवारिक परिस्थिति के कारण वे अपनी इस क्षुधा का समाधान नहीं कर पा रहे थे। अत: अपनी संगीत की भूख को अपनी संतान के माध्यम से पूरी करने की इच्छा उनके मन में उदित हुई। इसीका परिणाम था कि हमारे अण्णासाहब की संगीत-शिक्षा उनकी उम्र के छठे-सातवें वर्ष में ही शुरू हुई।

किंतु उसके संबंध में बात करने से पहले पृष्ठभूमि के तौर पर आपके परिवार के संबंध में कुछ अधिक जानकारी लेकर आगे बढ़ना ठीक होगा।

हमारे अण्णासाहब का जन्म ३१ दिसंबर १९०० को हुआ। ये भाई-बहन मिलके दस लोग थे। इनमें चार सदस्य, दो भाई और बहनें बचपन में ही भगवान को प्यारे हो गए थे। कुल चार भाई और दो बहनें जीवित रहे। अण्णासाहब अपने पिताकी सातवीं संतान थे। इनमें से बड़ी बहन का शादी के बाद स्वर्गवास हो गया। दूसरी बहन माणिकबाई ने उस जमाने में होनेवाले दहेज की कड़ाई और उससे पैदा होनेवाली समस्याओं को देखकर ब्याह ही न करने

का निश्चय कर लिया। श्रीमती माणिकबाई के इस फैसले के पीछे एक और कारण भी था। अण्णासाहब की मां, जो ससुराल में चंपूताई कहलाती थी, का स्वास्थ्य बहुत ही कमजोर रहा था। पैंतालीसवीं उम्र में ही उनका देहावसान हो गया। उस काल अण्णासाहब की उम्र केवल बारह वर्ष की थी। और वहीं पर एक बात का जिक्र करना ठीक होगा कि मां के दुर्बल स्वास्थ्य का गुणधर्म अण्णासाहब में भी उतर आया और आखिर तक वैसा ही रहा। तो घर की ऐसी दशा में श्रीमती माणिकबाई को भाइयों का और पूरे घर का ही भार अपने ऊपर उठाना पड़ा। फिर घर की जिम्मेदारियों को निभाते रहने की हालत में ब्याह का विचार भी वे कैसे कर सकती थीं? इधर अण्णासाहब के भाई रामचंद्र और दत्ताराम मैट्रिक तक ही पढ़ाई कर सके। कई कारणों से वे आगे पढ़ाई नहीं कर सके; नौकरी में ही लग गए। एक दूसरे भाई श्री गजाननराव और अण्णासाहब दो ही ग्रेज्युएट हो सके।

शुभारंभ

संगीत की ओर सबसे ज्यादा रुझान श्रीकृष्णजी की याने अण्णासाहब की ही थी। उनकी आवाज अत्यंत मधुर और प्रवाहपूर्ण थी। उनका पद गाना सब को आकर्षक लगता। श्रीमान नारायणराव को इन्हींका भरोसा था। अपनी अधूरी रही संगीत-साधना को पुत्र श्रीकृष्ण के माध्यम से पूरा करने की आकांक्षा उनके मन में थी। उसकी परिपूर्ति का मार्ग वे खोज रहे थे और इसी बीच **श्री शंकरराव कर्नाड** से उनकी पहचान हो गई। कर्नाड जी भी संगीत में अपनी अच्छी तरक्की कर चुके थे। श्री नारायणराव की हायकोर्ट में उनसे मुलाकात हुआ करती थी। उन्होंने शंकररावजी से कहा" भाई, मेरे बेटे को स्वरज्ञान कराना है। किसी अच्छे शिक्षक का नाम सुझाइए। शंकररावजी ने श्रीमान **कृष्णभट्ट होनावर** का नाम उन्हें बताया। वे उन्हें स्वयं अच्छी तरह जानते थे। कृष्णभट्टजी, कैनरा सारस्वत ब्राह्मण थे। उनकी संगीत शिक्षा पतियाला घराने में उस्ताद कालेखां (उ. बड़े गुलाम अली के चाचा) के पास हुई थी। उनकी एक विशेषता यह थी कि वे स्वरज्ञान कराने में बड़े ही कुशल थे। **श्री शंकरराव कर्नाड कृष्णभटजी** को नारायणराव रातंजनकर के यहां लेकर उपस्थित हुए। नारायणरावजीने कहा– " देखिए पंडितजी, मेरे बच्चों को स्वरज्ञान कराना है। अर्थात् नारायणरावजी अपने दो बेटों दत्ताराम और श्रीकृष्ण को ही संगीत सिखाने का प्रबंध करना चाहते थे। शेष दो भाई छोटे थे, ३-४ साल के। मैंने बताया ही है कि नारायणरावजी संगीत-साधना की गंभीरता को भलीभांति जानते थे। इसलिए आगे चलकर अण्णासाहब की जो संगीत शिक्षा हुई वह बराबर नारायणरावजी के 'सुपरविजन' में ही हुई। और इसका फल बहुत सुंदर था। यह १९०६ की बात है। जब हमारे अण्णासाहब की उम्र केवल छः वर्ष की थी। ध्यान देने की बात है कि जिस जमाने में संगीत सीखना हल्के दर्जे का और हेय काम समझा जाता था उस काल में एक पिता अपनी खुद की निगरानी में अपने बेटों की विधिवत् संगीत शिक्षा का निर्वाह अपना एक दायित्व मानकर नितांत गंभीरता से करने को प्रस्तुत हुआ था। यह उपक्रम अण्णासाहब की संगीत-शिक्षा संपूर्ण होने तक चलता रहा। अण्णासाहब के मन में अपने पिता की इस महानता के प्रति कितनी कृतज्ञता भरी थी! इस बारे में वे स्वयं कहते हैं। " ..... He led me to the gate of the fairy land of music and made his and my life happy." सारांश यह कि 'संगीताचार्य' के रूप में अण्णासाहब के व्यक्तित्व का जो गठन हुआ, उसके मूल में उनके परमपिता नारायणरावजी

का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था।

नारायणरावजी ने गायनशिक्षा का आरंभ होने के पूर्व कृष्णभट्टजी को स्पष्ट शब्दों में चेतावनी दी थी कि- ''देखिए, पहले इन दोनों का स्वरज्ञान पक्का हो जाना चाहिए। इस बारेमें जबतक आपका और मेरा संतोष नहीं हो जाता तबतक यदि आपने एक भी बंदिश सिखाई, तो कल से आना बंद!'' नारायणरावजी की यह बात ऊपर से हमें कठोर लगेगी, किंतु उसमें संगीत-साधनासंबंधी उनकी बुनियादी दृष्टि के दर्शन होते हैं। दूसरी बात यह भी ध्यान में आती है कि उस काल भी संगीत-शिक्षा में स्वरज्ञान को किनारे रखकर रागदारी के गाने घोटावने का उतावलापन काफी मात्रा में दिखाई देता था। नारायणरावजी अपने बेटों को गहन रूप में संगीत की शिक्षा दिलाना चाहते थे। जाते जाते एक और बात यहीं कहनी चाहिए। जिसका विस्तार से बयान आगे होनेवाला ही है। अण्णासाहब के स्वभाव में एक खास ढंग की स्पष्टवादिता थी, जिसका उगमस्थान उनके पिता का व्यक्तित्व हो सकता है।

इस प्रकार १९०६ में दोनों भाइयों की संगीत शिक्षा का आरंभ हुआ। स्कूल से लौटते ही बच्चे गुरुजी के सामने बठे जाते थे। शुरू की इस शिक्षा में केवल अलंकार ही सिखाने का विधान था। स्वरों की उलट-पुलट आदि सब उसमें आती थी। लेकिन वस्तुत: यह तो इन बच्चों का खेलकूद का वयस था। गायन की इस क्लास की वजह से वह बंद हो गया था। स्कूल से आए तो गुरुजी तैयार बैठे हुए हैं। चाय-वाय ली और–''चलो बैठो अलंकार घोटने।'' तालीम कुछ पांच साढ़े पांच बजे शुरू हो जाती थी और साढ़े सात बजे तक जारी रहती थी। यह सिलसिला लगभग डेढ़ साल तक चला। इस बीच बड़े भैय्या दत्ताराम इस शिक्षाक्रम से थोड़े किनारे हट गए। वे उम्र में बड़े थे, थोड़ा सोच समझ रहे थे। उन्हें स्कूल के साथी चिढ़ाने लगे थे कि 'अरे यह नाटक में औरतों का पार्ट खेलेगा। ...वगैरे। वह जमाना ही ऐसा था कि जीवनसाधना के लिए किसी कला की उपासना करने की बात आम समाज में मंजूर ही नहीं थी। महाराष्ट्र में उस काल संगीत नाटकों की बड़ी धूम थी। स्त्रियों के पार्ट पुरुष ही किया करते। नाटक मंडली के मालिक लोग हमेशा गाना जाननेवाले कोमलवयस के बच्चों की खोज में रहा करते थे। दत्ताराम को स्कूल में जो फब्तियां सुननी पड़ती थीं उसके पीछे ये सब कारण थे। इन सब बातों का फल यह निकला कि दत्ताराम ने गाना सीखना बीच ही में छोड़ दिया। फिर श्रीकृष्णजी ही अकेले बैठने लगे।

रातंजनकर परिवार उन दिनों बंबई के गिरगांव उपनगर में 'बदामवाड़ी' विभाग में रहता था। उस काल आम लोगों को संगीत सुनने का अवसर मिलना बहुत दूभर रहा करता था। अत: इन बालकों की 'सा सा ग ग' की रटंत सुनने के लिए भी पास-पड़ोसवाले दस-पंद्रह रसिक व्यक्ति कभी-कभार आके बैठे जाते थे। इस प्रकार इन दो भाइयों की संगीत-शिक्षा आसपास के लोगों के आकर्षण का विषय बनी थी।

यह ठीक है कि कृष्णभट्ट जी की क्लास किसी कारण से आगे न चल सकी, किंतु अण्णासाहब के नसीब में संगीत की साधना लिखी गई थी। श्री नारायणरावजी ने तो पक्का इरादा किया था कि मैं श्रीकृष्ण को गायनकला में प्रवीण कराके ही रहूंगा। संयोग ऐसा रहा कि उस काल गायनाचार्य बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर के शिष्य **पं. अनंत मनोहर जोशी** तथा 'अंतुबुवा' (हमारी पीढ़ी के पं. गजाननराव जोशी के पिता) बंबई आकर ठहरे थे। नारायणरावजी ने इस अवसर का लाभ उठाया। यों बालकृष्णबुवा के दूसरे शिष्य पं. दिगंबर पलुसकर से भी उनकी

काफी पहचान थी।

किंतु उन दिनों वे अपने गांधर्व महाविद्यालय के कार्य के दौरान दीर्घ काल तक बंबई से बाहर थे। यह १९०९-१० की बात है। पं. अंतुबुवा की तालीम एक डेढ़ साल तक चली। याने इस प्रकार इस काल में अण्णासाहबपर ग्वालियर घराने के संस्कार हुए। इस घराने की तालीम में अलंकारों की अपेक्षा बंदिशों और रागदारी गीतों से ही शिक्षा का आरंभ होता है। यहां 'सा-सा रे-रे' में ज्यादा समय नहीं लगाया जाता। यमन, भूपाली जैसे रागों की बंदिशें सिखाना और उनका विस्तार करवा लेना, यह उनका तरीका होता है। तो डेढ़ साल तक इस प्रकार की तालीम अण्णासाहब को प्राप्त हुई।

भातखंडेजी के दर्शन

इसी क्रम में एक दिन श्री शंकरराव कर्नाड ने पं. भातखंडेसाहब के पास जिक्र किया कि बदामवाड़ी, गिरगाव में एक लड़का अच्छी तरह तैयार हो रहा है, आप उसे जरूर सुनिए। पं. भातखंडेजी को इन बातों में खास अभिरुचि इस अर्थ में थी कि उनकी यह दिली चाह रहती थी कि अच्छे घरों के लड़कों को संगीत-क्षेत्र में आ जाना चाहिए। अत: जब कभी इस प्रकार के प्रयत्नों के बारे में उन्हें मालूम हो जाता तब उसके प्रति वे आकर्षित हो जाते। अत: शंकररावजी का संकेत मान कर पंडितजी बिना निमंत्रण के उत्सुकतावश नारायणरावजी के घर उपस्थित हुए। पं. भातखंडेजी ने छोटे अण्णासाहब को सुना। कुछ प्रश्न भी पूछे और उनके स्वरज्ञान की परीक्षा ली। 'यह सुर गाओ, वह सुर गाओ। बारह सुरों का एक साथ आरोह-अवरोह करो; एक साथ 'सारेरे गगम' इस प्रकार के उतार चढ़ाव करके दिखाओ,' इत्यादि प्रकारों से उन्होंने परीक्षा ली। अण्णासाहब ने पंडितजी के सभी प्रश्नों के उत्तर ठीक ठीक बताए। सब सुनकर पंडितजी खुश हुए। कहा कि ऐसा ही चलने दो। आगे बहुत अच्छे गायक बनोगे तुम। पीठ पर हाथ फेरकर और आशीर्वाद देकर चले गए। उनका यह आशीर्वाद आगे सोलह आने सत्य साबित हुआ किंतु विधाता की लीला ऐसी है कि उस समय किसी को सपने में भी पता नहीं था कि अण्णासाहब के भाग्यविधाता स्वयं पंडित भातखंडे ही बननेवाले हैं।

पंडित भातखंडेजी का का घर पर आगमन श्री नारायणराव को अतीव उत्साहवर्धक लगा। वे स्वयं पंडितजी के महत्त्व को जानते थे और उनके उस समय चलनेवाले संगीतविषयक अभियान का भी दूर से उन्हें पता था। वकील मंडलियों में उठक-बैठक होने से पं. भातखंडेजी से नारायणराव का प्राथमिक परिचय तो हो ही गया था। इसी बीच अपने ही घर पर उनके दर्शनों का संयोग प्राप्त हुआ। संभव है इस बढ़ते परिचय के दौरान नारायणराव के संगीत संबंधी आकर्षण और संस्कृत भाषा प्रेम का भी पता पंडितजी को लगा हो। इसी काल याने १९१० में पं. भातखंडेजी का हिंदुस्तानी संगीत के अभिनव शास्त्र को विधिवत् प्रस्तुत करनेवाला युगांतरकारी संस्कृत ग्रंथ **'श्रीमल्लक्ष्यसंगीतम्'** प्रकाशित हुआ। और भातखंडेजी ने "With best compliments to Narayan Govind Ratanjankar" लिखकर श्री नारायणराव के पास भिजवा दी। तब तक अण्णासाहब के पिताजी का स्वास्थ्य काफी गिर गया था। इसकी वजह से समय के पूर्व ही उन्होंने पेन्शन ली थी। समय खाली था और ऐसे में यह पुस्तक हाथ आ गई। उन्होंने उसे बड़े चाव से पढ़ डाला और तुरंत उसका उपयोग भी कर लिया। उसके बारे में बताने

से पहले नारायणरावजी के संस्कृत ज्ञान के संबंध में एक घटना का जिक्र करना चाहता हूं। इस परिवार की आर्थिक दशा शुरू से ही चिंताजनक थी। बी.ए. की परीक्षा में बैठना चाहते थे, परंतु बी.ए.के टर्म्स भरने के लिए उनके पास पैसा नहीं था। तब उन्होंने व्याकरणविषयक 'समासचक्र' नामक परीक्षोपयोगी पुस्तिका संस्कृत में लिख डाली, जिसे उस जमाने के सुप्रसिद्ध निर्णयसागर प्रेस ने प्रकाशित किया। इस एक बात से ही उस छोटी पुस्तक के महत्त्व का संकेत मिलता है। परंतु पैसे के तकाजे के कारण नारायणरावजी ने केवल सौ रुपये में पुस्तिका के 'कॉपीराइट' को बेच दिया और उस राशिसे बी.ए. के टर्म्स भरकर उस परीक्षा में उत्तीर्ण हो गए। अब 'कॉपीराइट' दूसरे को दिया, इस वजह से लेखक का नाम पुस्तक पर नहीं आया, और उस पुस्तक की विपुलतर प्रतियां उस काल उठ गई थीं; लेकिन श्री नारायणराव को उसकी परवाह नहीं थी। उन्हें 'बी.ए.' का बेड़ा पार करना था। यहां ध्यान देने की बात यह है कि हमारे अण्णासाहब में जो विद्याप्रेम, संस्कृत भाषानुराग और संगीत की सच्ची प्यास थी उसके मूल स्रोत उनके 'धन्य-व्यक्तित्व' पिताश्री थे।

'श्रीमल्लक्ष्यसंगीतम्' को पढ़ने के पश्चात् श्रीमान नारायणरावजी को विश्वास हो गया कि पं. भातखंडेजी वास्तवमें ही बड़े व्युत्पन्न विद्वान् एवं शोधकर्ता अधिकारी पुरुष हैं। हमारे प्राचीन ग्रंथों के निचोड़ का उपयोग करते हुए प्रतिष्ठित गायक-वादकों से प्राप्त साहित्य पर आधारित 'लक्ष्य' अर्थात प्रचलित संगीत की सुसंबद्ध व्याख्या करनेवाले उस ग्रंथ ने उन्हें बहुत ही प्रभावित किया। इधर अण्णासाहब को पं. अनंत मनोहरजी की तालीम चल ही रही थी। उस काल, जहां तक मैंने बात सुनी है, राग हमीर सिखाया जा रहा था। इस राग में मं प ध नि सां, मं प ग म ध, मं प ध नि सां-ऐसे 'ग्रह' आ रहे थे। हमेशा की तरह तालीम के समय श्री नारायणरावजी भी आसपास ही हुआ करते थे। इन स्वरावलियों को सुनकर उन्होंने श्री अंतुबुवा से कहा- "इस ग्रंथ में 'मं प नि ध सां' लिखा हुआ है। कृपया आप इसके मुताबिक सिखाइए।" अंतुबुवा अपने ढंग को त्यागने के लिए कैसे तैयार होंगे। जब मतभेद हो गया, तब यह तालीम वहींपर रुक गई और अब नए गुरु की तलाश आरंभ हो गई।

ग्वालियरी प्रभाव

यह घटना १९१० के उत्तरार्ध की है। संयोगवश इन्ही दिनों पं. विष्णु दिगंबरजी लाहोर से लौटे थे और बंबई में उन्होंने अपना गांधर्व महाविद्यालय शुरू किया था। उन्होंने भी अपने महाविद्यालय के लिए ईस्ट केनेडी ब्रिज के पासवाला बदामवाड़ी, जो कि एक तरह से संगीतकारों की बस्ती थी, का परिसर चुना था। अब नारायणरावजी का संगीत सुनने का शौक तो था ही और एक प्रभावशाली महफिली गायक के नाते उस काल 'पं. विष्णुबुवा' का नाम सबके मुख में था। आप प्रति सप्ताह महाविद्यालय में संगीत का प्रदर्शन आयोजित करते, जिसमें अपने शिष्यों के बाद स्वयं भी गाना सुनाते। इस कार्यक्रम में नारायणराव बीच बीच में अपने पुत्र श्रीकृष्ण को लेकर जाते। अण्णासाहब ने इस दौरान पं. विष्णु दिगंबर का गाना भरपूर सुना। वे हम शिष्यों को बताते थे कि एक बार प्रार्थना समाज के पासवाले अपने घर में बैठे थे और करीब दो सौ गज दूरी पर स्थित ब्राह्मण समाज के हॉल में विष्णुबुवा का गायन हो रहा था। उस वक्त गहरी शांति को भेद कर शंकरा राग का तार पंचम अण्णासाहब के कानों तक स्वाभाविक तौर पर पहुंच रहा था। ऐसी बुलंद आवाज! अण्णासाहब हमें यह भी बताते थे

कि जबतक विष्णुबुवा पारंपरिक ग्वालियर गायकी को प्रस्तुत करते रहे, जबतक रामनाम में मगन हो जाने की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं हुई तक तब उनके जोड़ का कोई विरला ही गायक उस जमाने में रहा होगा।

तो पं. विष्णु दिगंबर से नारायणरावजी का अच्छा परिचय था। यहां तक कि बुवासाहब उनके घर पर अक्सर जाया करते थे। स्नेहभाव बढ़ गया था। इतना ही नहीं तो अब गुरुबंधु अंतुबुवा की तालीम बंद हो जाने के बाद उन्होंने नारायणरावजी से कहा कि इसे हमारे पास भेज दो हम इसे सिखाएंगे। परंतु यह प्रभाव कार्यरूप में परिणत नहीं हो सका। क्योंकि बुवासाहब अपने विद्यालय के कार्य में इतने व्यस्त रहते कि स्वयं शिक्षा प्रदान करने के लिए पर्याप्त अवसर मिलना ही दूभर था। इधर गांधर्व महाविद्यालय के 'रजिस्टर' में 'श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर' नाम दर्ज हो चुका था। किंतु बुवासाहब से व्यक्तिगत तालीम मिलने की संभावना न देखकर दूसरे दिन से ही अण्णासाहब का विद्यालय जाना बंद हो गया।

ग्वालियर घराने के गुरुओं के संस्कार अण्णासाहब पर किशोर वयस में हो जानेका परिणाम आपके भावी प्रगल्भ गायन पर हुए बिना कैसे रहता? क्योंकि पं. विष्णु दिगंबर को भी आपने पर्याप्त सुना था और उन्हींके गुरुबंधु से प्रत्यक्ष शिक्षा भी प्राप्त की थी।

इस संबंध में आगे उनकी गायन-शैली का सविस्तार विवेचन करते समय बात होगी ही। यहां इतना ही संकेत देता हूं कि ग्वालियरी प्रभाव उनकी गायन-शैली में पैबंद के रूप में नहीं रहा, बल्कि शैली का एक अभिन्न अंग बनकर रहा। यहां संबंधित एक दूसरी ही बात पर मैं आता हूं। अभी बात चल रही थी गांधर्व महाविद्यालय की। वहां व्यक्तिगत शिक्षा की सुविधा न होने से पुनश्च दूसरे दिन से पं. अनंत मनोहरजी की ही तालीम शुरू हो गई। इससे मालूम होता है कि अण्णासाहब के पिता श्री नारायणराव अपने पुत्र की संगीत-शिक्षा के क्रम को खंडित करना नहीं चाहते थे।

परंतु मध्यवित्त वर्ग के परिवार के सामने हमेशा आर्थिक और अन्य आनुषंगिक समस्याएं खड़ी ही रहती हैं। समय के पूर्व ही १९१० में श्री नारायणराव नौकरी से निवृत्त हुए थे। रातंजनकर परिवार को नारायणराव की अल्प-सी पेन्शन पर घर चलाना कठिन लग रहा था। और अण्णासाहब के माता-पिता को अस्वास्थ्य की वजह से कुछ काल तक बाहर रहना आवश्यक था। अत: कुछ दिनों के लिए इस परिवारने पुणे को स्थलांतर किया। पुणे निवास काल में अण्णासाहब की माताजी का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया और उनकी वैद्यकीय चिकित्सा के लिए बंबई लौटना आवश्यक हो गया। लेकिन इन बाधाओं के बीच में भी पुत्र की संगीत-शिक्षा पर नारायणरावजी का बराबर ध्यान था। बंबई आते ही उन्होंने अण्णासाहब को पं. अंतुबुवा के 'गुरु समर्थ गायन वादन विद्यालय' में दाखिल कर दिया। यहां सर्वसामान्य शुल्क देकर पढ़ना था और पहले घर पर होनेवाली तालीम जैसी स्थिति यहां नहीं थी, फिर भी सिलसिला न टूटने की दृष्टि से यह उपाय उपयुक्त ही रहा। 'गुरु समर्थ गायन वादन विद्यालय' में संगीत की दो एक पाठ्यपुस्तकों से पाठ पढ़ाए जाते थे। अण्णासाहब ने इसका उपयोग अपने लिए 'रिविजन' के तौर पर कर लिया। कहें तो यह शिक्षा एक अंतरिम व्यवस्था की भांति ही चलती रही।

अण्णासाहब की संगीत-साधना की यात्रा पर दृष्टि डाली जाए तो एक रोचक तथ्य प्रतीत होता है। उनके बारे में विधि का विधान ऐसा था कि उन्हें जो जो गुरु प्राप्त हुए वे सभी उस जमाने के अत्युच्च कोटि के गायक एवं विद्वान थे। इसमें एक तिरछी बात यह भी रही कि

संगीत-शिक्षा का सिलसिला आरंभिक दिनों में अबाध रूप में नहीं चल सका। श्री नारायणराव पुत्र की संगीत-शिक्षा को लेकर मन ही मन चिंतित हो रहे थे। अर्थाभाव के कारण व्यक्तिगत रूप में तालीम दिलवाने की गुंजाइश नहीं के बराबर थी। और किसी श्रेष्ठतर गुरु के मार्गदर्शन के बिना अपेक्षित फल की प्राप्ति होना असंभव था।

सुवर्णसंयोग

इस बीच १९११ में ही एक ऐसा संयोग निकल आया कि सारी समस्याएं अपने आप हल हो गईं। एक दिन ट्राम में (उस जमाने का रेलनुमा शहरी वाहन) श्री नारायणराव जा रहे थे, तो पासवाले सीट पर पं. भातखण्डे मिले। पंडितजी के साथ नारायणराव का स्नेह स्थापित हो ही चुका था। उन्होंने आस्थापूर्वक पूछा-

"लड़के का गायन का अभ्यास ठीक चल रहा है न?"

तब नारायणरावजी ने बीच के गतिरोध के बारे में उन्हें बताकर कहा कि, आप ही कोई उपाय बताएं तो भला होगा; क्योंकि श्रीकृष्ण में सीखने की बड़ी लगन है।"

भातखंडेजीने कहा, "आप चिंता न कीजिए। उसे लेकर मुझे घर पर मिलिए: मैं उसकी संगीतशिक्षा का कोई प्रबंध कर लूंगा।"

हम कल्पना कर सकते हैं कि पंडितजी का यह स्नेहभरा आश्वासन सुनकर नारायणरावजी को कितनी प्रसन्नता हुई होगी। उनके संकेत के अनुसार 'बिट्टू' को लेकर नारायणराव पंडितजी के घर पहुंच गए। बातों के दौरान पंडितजी ने देख लिया कि इस लड़के में सचमुच गाना सीखने की गहरी लगन है। तब उन्होंने अण्णासाहब को गायन सिखाने के संबंध में जो सुझाव दिया, उसे सुनकर पिता और पुत्र दोनों के संतोष का ठिकाना न रहा। पंडितजी ने कहा –

"मैं 'गायन उत्तेजक मंडली' के क्लब में जाया करता हूं। आप रोज संध्यासमय अपने बेटे को वहां भेजिए। मैं स्वयं उसे तालीम दूंगा।"

अब यह 'गायन उत्तेजक मंडली' संगीतशौकीन पारसी बंधुओं ने चलाई थी, जहां गायन-वादन की शिक्षा देने का प्रबंध भी किया गया था। इतना अच्छा प्रस्ताव आ जाने पर अण्णासाहब का पारसी क्लब में रोज शाम को जाना शुरू हो गया। उस समय उनकी अवस्था छोटी होने के कारण श्री नारायणराव रोज शाम का समय निकाल कर उनके साथ मंडली के स्थान पर उपस्थित हो जाते। मंडली के घर में पीछेवाले कमरे में पंडितजी अकेले अण्णासाहब को अलग से सिखाया करते थे।

पंडितजी ने संगीत-प्रशिक्षण की अपनी एक सुविहित पद्धति बना ली थी। प्रथमत: पढ़ाए जानेवाले राग की स्थूल रूपरेखा को स्पष्ट रूप में समझा देते। उसके बाद नोम् तोम् के आलाप सिखाने का क्रम आता। अंत में रागरूप की पहचान छात्र को हुई है, इसका विश्वास हो जाने पर वे उस राग के गीत (बंदिश) तान और फिरत सिखाते।

अब अण्णासाहब को मनोवांछित गुरु का मार्गदर्शन मिलने के इस सुनहरे अवसर से और अधिक लाभ उठाना उचित जानकर अपनी अनेक समस्याओं के बावजूद नारायणरावजी ने अपने 'बिट्टू' के लिए एक तंबूरा और तबला-बायां खरीद लिया। फिर समय निकालकर वे स्वयं अण्णासाहब से तीन चार घंटे का रियाज करवाने लगे। इसी बीच १९१२ में अण्णासाहब की माताजी श्रीमती लक्ष्मीबाई का स्वर्गवास हो गया। और सब परिवार बांद्रा उपनगर में स्थलांतरित

हुआ। किंतु तिसपर भी श्री नारायणराव का 'गायन उत्तेजक मंडली' में पुत्र को लेकर जाने का उपक्रम जारी ही रहा।

करीमखांसाहब

बांद्रा आ जाने के बाद भी १९१४ तक संगीत-साधना का सिलसिला अटूट रूप से चलता रहा। किंतु पारिवारिक कारणों से इन सबको बंबई छोड़ना पड़ा और वे अहमदनगर में आकर बस गए। तो यहां आ जाने पर तालीम का सिलसिला टूट गया। फिर भी अण्णासाहब अपने तीन गुरुओं- कृष्णभट्ट, अंतुबुवा और भातखंडे प्राप्त विद्या को अपनी ओर से दुहराकर रियाज करते रहते थे। अहमदनगर में पास-पड़ोस के लोगों में इस किशोरवयीन बालगायक के लिए कुतूहल जगना स्वाभाविक ही था। इसी बीच एक और महान गायक का प्रेम पाने का अवसर अण्णासाहब को प्राप्त हुआ। श्री नारायण लक्ष्मण रानड़े नामक एक मान्यवर वकील थे, जो संगीत के बड़े ही शौकीन थे। किराने घराने के खलीफा उस्ताद अब्दुल करीमखां साहब के वे परम अनुरागी थे। खांसाहब जब जब अहमदनगर पधारते तब इन्हीं वकील के यहां ठहरते। ये महोदय भी अण्णासाहब के गायन से काफी प्रभावित हुए थे। एक बार अब्दुल करीमखां अहमदनगर पधारे तब वकीलसाहब ने अण्णासाहब का गाना उन्हें सुनवाया। खांसाहब भी उनका गाना सुनकर प्रसन्न हुए। खांसाहब इस किशोर संगीतसाधक पर इतना रीझ गए कि उन्होंने नारायणराव से कहा-

"इस बच्चे को हमें दे दो। हम उसे तैयार करेंगे।"

यह सुनकर नारायणरावजी बड़े आनंदित हुए। किंतु उन्होंने सावधानी के साथ कहा-

"खांसाहब, वह तो फिलहाल पं. भातखंडेजी के पास सीखता है। अगर पंडितजी की इजाजत मिल जाए तो मुझे आपत्ति नहीं होगी।"

बात यह थी कि उन दिनों श्रुतिविचार को लेकर श्री कृष्णाजी देवल और पश्चिमी संगीतज्ञ क्लेमंटस् तथा उस्ताद करीमखां के बीच जोरदार बहस चल रही थी। काफी मतभेद थे। इसलिए अण्णासाहब के बारे में खांसाहब का सुझाव वहीं पर रह गया। किंतु एक लाभ अवश्य हुआ कि अहमदनगर के उस निवासकाल में अण्णासाहब को संगीत का अभ्यास जारी रखने की दृष्टि से रानड़ेमहोदय से भरपूर प्रोत्साहन मिला और दूसरा लाभ यह रहा कि करीमखांसाहब जैसी हस्ती के निकट संपर्क में रहने का और उनसे अप्रत्यक्ष रूप में ही सही संस्कार ग्रहण करने का सुअवसर मिला। १९१६ में रातंजनकर परिवार पुनश्च बंबई रहने आ गया और पं. भातखंडेजी के मार्गदर्शन में संगीत-साधना का सिलसिला फिर से जुड़ गया।

बात यह हुई थी कि इस बीच १९१७ में 'गायन उत्तेजक मंडली' का कारोबार नए व्यवस्थापकों के हाथ आ गया। पं. भातखंडेजी उनके साथ अलग हो गए। इसकी देखादेखी कुछ अन्य सदस्यों ने भी मंडली से अपना संबंधविच्छेद कर लिया। उन लोगोंने 'शारदा संगीत मंडल' नाम से अपने एक स्वतंत्र 'समाज' का गठन किया और पंडितजी से प्रार्थना कि आप इस मंडल के सहभागी सदस्य बन जाइए और गायन की कक्षाओं का संचालन कीजिए। उसके अनुसार ये कक्षाएं बंबई के फ्लोरा फाउंटन विभाग में 'गुड लाइफ लीग' नामक संस्था के भवन में चलने लगीं। वहां पर पंडितजी की तालीम का सिलसिला अण्णासाहब के लिए फिरसे जारी हो गया। किंतु उसमें कुछ अन्य बातें भी जुड़ गईं, जो अण्णासाहब के अनुभव को और समृद्ध

करनेवाली ही रहीं।

उधर 'गायन उत्तेजक मंडली' में घटित एक घटना का उल्लेख भी आवश्यक है। उत्तर प्रदेश अकबरपुर के तालुकदार ठाकुर नवाब अली, जो आगे चलकर 'राजा' कहलाने लगे अपने को पं. भातखंडेजी का अनुयायी मानने में गौरव का अनुभव करते थे। उन्हें बचपन से ही संगीत का शौक था। उनके आश्रय में नजीरखां - जो काले नजीरखां के नाम से अधिक जाने जाते थे - एक व्यावसायिक गवैये की हैसियत से तैनात थे। ठाकुर नवाब अली को पंडितजी के संगीतविषयक कार्य के विषय में बहुत गहरा कुतूहल था। तो पंडितजी के कार्य की आंखोंदेखी जानकारी प्राप्त करने और रागों आदि के बारे में अधिक जानकारी पाने के लिए उन्होंने काले नजीरखांसाहब और उनके दो भाई छज्जू खां और खादिम हुसेन को बंबई भेज दिया। ये तीनों भाई बंबई आ गए और भेंडीबाजार नामसे पहचानी जानेवाली बस्ती में उन्होंने अपना घर किया। इसलिए उन्होंने जो संगीतशैली आगे प्रचलित की वह 'भेंडीबाजार घराने' की गायकी के नाम से पहचानी गई। भातखंडेजी ने इन भाइयों के द्वारा अपने मार्गदर्शन में पारसी और गुजराती भाइयों को संगीत सिखाने का कार्य जारी रखा। पं. भातखंडेजी से इन तीनों भाइयों को जो मार्गदर्शन मिलता था उसका उपयोग उन्हें 'गायन उत्तेजक मंडली' में पारसी भाइयों को गायन सिखाने के लिए होता था। आगे नजीरखांसाहब ने महाराष्ट्र की विख्यात गायिका श्रीमती अंजनीबाई मालपेकर को तैयार किया। श्रीमती अंजनीबाई के गंडाबंधन के समय वहां पं. भातखंडे मौजूद थे। नजीरखांसाहब ने कहा, "यहां गुरुवर भातखंडेसाहब हाजिर हैं, मैं उन्हींके हाथों अपना गंडा अंजनीबाई को बंधवाता हूं। (और इस घटना को मैंने स्वयं अंजनीबाई के मुख से सुना है।)... तो ऐसे पवित्र खुले वातावरण में अण्णासाहब को भातखंडेजी से तालीम मिल रही थी।

'शारदा संगीत मंडल' में जो चुने हुए पारसी और गुजराती लोग सीखने के लिए आते थे, उनमें **वाड़ीलाल शिवराम नायक** नाम के गुजराती सज्जन थे। वे उन दिनों 'गुजरात देसी नाटक मंडली' में संगीत-निर्देशक थे; संस्कृत भाषा के प्रेमी और विद्वान्। वे १२ साल तक उपर्युक्त नजीरखांसाहब के पास गाना सीखे हुए थे। बाद में खांसाहब ने अपनी ओर से श्रीमान वाड़ीलाल को पंडितजी के पास भेज दिया यह कहकर कि–"भैया, जितना मेरे पास था उतना मैंने तुम्हें दे दिया, अब तुम पंडितजी के पास जाओ।" इस प्रकार श्री वाड़ीलाल और श्री शंकरराव कर्नाड़ हमारे अण्णासाहब के गुरुभाई हो गए। उस हिसाब से देखें तो ये लोग भी 'शारदा संगीत मंडल' में कक्षाएं लेते थे। श्री शंकरराव पेशेवर वकील होने से शिक्षाकार्य में सहभागी नहीं होते थे। लेकिन मैंने ऐसा सुना है कि पंडितजी जब कभी कोई रचना करते तो पहले शंकरराव को दिखाते । याने एक तरह से वे उनके समीक्षक थे, उस रचना का मूल्यमापन करके उसे 'पास करनेवाले'।

वाड़ीलालजी को तो पंडितजी का सान्निध्य ३० वर्ष तक मिला। इससे पंडितजी क्या कहना चाहते हैं; इसे वे पहले ही समझ जाते थे । अण्णासाहब हमें बताते थे कि, 'पंडितजी कर्नाड़, वाड़ीलाल और खुद मुझे तीन-तीन घंटे सामने बिठाकर स्थायी-अंतरे घुटवाते थे मैं जैसे गाता हूं, वैसा गाओ, ऐसा कहते थे। बाद में स्मरण के लिए अपने हाथ की लिखी नोटेशन की कापी हमें देते थे। याने सिखाते समय वे नोटेशन का उपयोग नहीं करने देते थे।

सर्वार्थ में गुरु

सच तो यह है कि पं. भातखंडे सभी अर्थों में अण्णासाहब के गुरु थे। आप उनके शिक्षक, पथप्रदर्शक, उनका व्यक्तित्व गढ़नेवाले और उन्हें एक से एक संगीतविषयक अवसर दिलवाकर उनके अनुभव को समृद्ध करनेवाले महागुरु थे। मैंने जैसे अभी बताया पंडितजी ने अपने मार्गदर्शन में अण्णासाहब को शारदा संगीत मंडल में गायन सिखाने का अनुभव देना शुरू कर दिया था। इसीके साथ पंडितजी ने अपने सांगीतिक अभियान में हिंदुस्थानी संगीत के इतिहास में अपनी अमिट छाप छोड़नेवाली जो संगीत परिषदें आयोजित कीं उन परिषदों में वे अण्णासाहब को अपने साथ लेते गए; इतना ही नहीं तो १९१६ में हिज हाइनेस महाराज सयाजीराव गायकवाड़ के उदार आश्रय में और पंडितजी के मार्गदर्शन एवं नेतृत्व में बड़ौदा में जो संगीत परिषद आयोजित हुई, उस परिषद में पंडितजी ने अपने सोलह वर्षीय शिष्य का गायन भी भारतभर के जानेमाने संगीत कलाकारों की उपस्थिति में प्रस्तुत किया। और इस सिलसिले में एक दूसरी विशेष घटना घटित हुई, जिसने अण्णासाहब के भावी सांगीतिक जीवन पर अत्यंत गहरा असर पैदा किया इसके प्रेरक और मध्यस्थ पंडितजी ही थे। वह घटना थी फैयाजखांसाहब का गंडाबंध शिष्य बनने की।

अण्णासाहब को यह जो सुवर्ण अवसर प्राप्त हुआ, उसकी पृष्ठभूमि का बयान करना ठीक होगा। सभी लोग जानते हैं कि बड़ौदा के महाराजा श्रीमान **सयाजीराव गायकवाड़** स्वयं एक विद्वान, व्युत्पन्न एवं गंभीर कलाप्रेमी महानुभाव थे। आपके कार्यकर्तृत्व का प्रभाव न केवल बड़ौदा रियासत पर बल्कि व्यापक रूप से सुदूर तक फैला हुआ दिखाई देता है। उनकी बहुआयामी उद्भावनाओं में संगीत का क्षेत्र कैसे छूट सकता था? समूचे सांस्कृतिक विश्व में सच्ची ईमानदारी और गहरी लगन से कुछ नया कर दिखानेवालों की ओर महाराज का ध्यान बरबस खिंच जाता था और वे ऐसे व्यक्तियों को प्रोत्साहन तथा सक्रिय सहायता प्रदान करके उनके कार्यकौशल का अपनी रियासत के उन्नयन में उपयोग कर लेने में निरंतर तत्पर रहते थे। कहने की आवश्यकता नहीं, पं. भातखंडेजी का नाम अबतक उनके पास पहुंच ही चुका था।

उस समय महाराजा के सामने अपनी रियासत के संगीत विद्यालय की समस्या थी। इस विद्यालय का निर्माण दक्षिण के एक परिश्रमी, बुद्धिमान, संगीतवेत्ता मौलाबख्श ग्रिस्से खां ने किया था और पीछे रियासत बड़ौदा का तत्त्वावधान उसे प्रदान किया गया था। किंतु अब खां मौलबख्श का इन्तकाल हो गया था और उनके पुत्र दादू मियां को विद्यालय चलाने में उतनी सफलता नहीं मिल रही थी। १९१५ तक तो उसकी हालत बहुत गिर गई थी। महाराजा इसी सोच में थे कि किसी श्रेष्ठ जानकार व्यक्ति के परामर्श से विद्यालय को पुनः उभारा जाए। उनके सामने पंडितजी का ही नाम आया और उन्होंने आपको ससम्मान बड़ौदा आने का निमंत्रण दिया।

महाराजा गायकवाड़ ने पंडितजी के साथ संगीतशिक्षा और विद्यालय के संबंध में विचारविनिमय किया। इन बातों के दौरान संगीत की विद्यमान स्थिति के संबंध में भी चर्चा हुई। महाराजा को पंडितजी का यह विचार बहुत समयानुकूल लगा कि हमारे संगीत में रागनियम, बंदिशों के शब्दरूप आदि के बारे में अलग अलग घरानों में जो परले सिरे के मतभेद हैं उन्हें कम करना जरूरी है और उसके लिए अन्यान्य घरानेके गायकों, वादकों तथा संगीतशास्त्रज्ञों एवं

विचारकों को एक मंच पर बुलाकर उनके मतभेद को मिटाने का, कम से कम हल्का करने का, प्रयास होना चाहिए। महाराज ने कुछ सोचकर कहा–

"देखिए, मुझे एक कल्पना सूझती है। आपके विचार को कार्यरूप में लाने की दृष्टि से एक अखिल भारतीय संगीत परिषद का आयोजन किया जाए, तो कुछ हल निकल आएगा।"

अब सत्य तो यह था कि स्वयं पंडितजी ही अरसे से इस प्रकार की परिषद को आयोजित करने के लिए उत्सुक थे। उन्होंने चर्चा को ही ऐसी दिशा दे दी कि महाराजा की तरफ से ही ऐसा प्रस्ताव आ जाए। और वैसा ही हुआ! पंडितजी ने महाराजा की इस कल्पना पर साधुवाद प्रकट करते हुए कहा कि यह तो एक उच्च कोटि की संगीत-सेवा हो जाएगी । तब महाराजा ने कहा–

"ठीक है, आप आगे बढ़िए। हम बड़ौदा में परिषद का आयोजन करेंगे। खर्च और अन्य सभी सहायता आपको रियासत से मिलेगी।"

इस निर्णय के अनुसार १९१६ के मार्च महीने में बड़ौदा में सबसे पहली 'अखिल भारतीय संगीत परिषद' का अधिवेशन भव्य रूप में संपन्न हुआ। परिषद में हिंदुस्तानी एवं कर्नाटक दोनों शैलियों के गण्यमान्य कलाकारों तथा शास्त्रकारों ने भाग लिया था। इस परिषद में पंडितजी के साथ उपस्थित होने का अवसर अण्णासाहब को मिला। इतना ही नहीं तो पंडितजी ने परिषद के गाने-बजाने के प्रोग्राम में अपने इस प्रिय शिष्य का गायन भी आयोजित किया। सभी मान्यवर श्रोताओं को अण्णासाहब का गायन बहुत पसंद आया। श्रोताओं में महारानी श्रीमती चिमणाबाई भी थीं, जो पंडितजी से गाना सीखती थीं।

परिषद के सुपरिणाम

यह परिषद अण्णासाहब के लिए अनेक दृष्टियों से लाभकर सिद्ध हुई। एक तो उन्हें उच्चतम स्तर की महफिल में अपना गायन प्रस्तुत करने का बहुमूल्य अवसर मिला। दूसरे, अखिल भारत के श्रेष्ठ गायक, वादक कलाकारों की प्रस्तुतियां सुनने का मौका उन्हें सर्वप्रथम प्राप्त हुआ और उच्चस्तरीय महफिली गायन किसे कहते हैं इसकी एक शकल उनके मन पर अंकित हुई। परिषद में दरबारगायक आफताब-ए-मौसिकी उस्ताद फैयाजखां का गायन सुनकर तो वे परितृप्त हो गए। इसके सिवा परिषद में जो सैद्धांतिक चर्चाएं हुईं उसका भी गहरा संस्कार उनकी संगीत चेतना पर हुआ। इस सिलसिले में एक विशेष बात का बयान करना आवश्यक है, जिसमें पं. भातखंडेजी के आदर्श गुरु-पन के अनोखे दर्शन हमें होते हैं। वे अपने प्रिय 'बाबू' की संगीत-साधना का मार्ग हर प्रकार से निरापद करना चाहते थे। उन्होंने देख लिया था कि 'बाबू' की संगीत शिक्षा में रुकावट पैदा करनेवाली अड़चन एक ही है और वह है रातंजनकर परिवार की आर्थिक विवंचना। उसे दूर करना जरूरी है। पंडितजी ने परिषद के दौरान महाराजा सयाजीराव और महारानी चिमणाबाई के साथ अण्णासाहब की मुलाकात करवाई। उन्होंने बताया,

"महाराज, यह युवक बड़ा होनहार है। फिलहाल मेरे पास संगीत की शिक्षा ले रहा है। किंतु इसके घर की आर्थिक हालत उतनी अनुकूल नहीं है। यदि आप इसे कुछ विद्यावेतन मिलने का प्रबंध कर दें तो इसकी साधना आगे चल पाएगी और वह एक बढ़िया गायक बन सकेगा।"

एक तो महाराजा सयाजीराव पंडितजी को बहुत मानते थे और दूसरे महारानीजी के तो

वे संगीत गुरु थे। इसलिए पंडितजी के इस अनुरोध को महाराजाने तुरंत मंजूर कर दिया। किंतु आखिर वे 'महाराज' थे; अपने प्रत्येक निर्णय में अपनी रियासत के लाभ को प्राथमिकता देनेवाले और साथ ही उस निर्णय को रचनात्मक दिशा में मोड़नेवाले। उन्होंने वजीफा देने की बात तो स्वीकार ली; किंतु उसके लिए दो शर्तें रखीं। एक यह कि लड़के को बड़ौदा में ही रहना होगा और दूसरी यह कि बड़ौदा रहते हुए संगीत के अध्ययन को भी जारी रखना होगा। पंडितजी ने कुछ दूर की सोचकर इसकी हामी भर दी और इसीके साथ अपने भावी संगीत कार्य की भलाई की दिशा में सहायक हो सकनेवाली एक छोटी प्रार्थना भी उसमें जोड़ दी। उन्होंने महाराजा से कहा-

"ठीक है, आपकी ये दोनों शर्तें मुझे मंजूर हैं। किंतु मेरी एक छोटी-सी प्रार्थना है। लड़का बड़ौदा में रहेगा और अपनी अन्य शिक्षा को जारी रखते हुए संगीत-साधना भी करेगा। किंतु इस दरबार के गायक उस्ताद फैयाजहुसेनखांसाहब से तालीम मिलने का प्रबंध आप कर दें तो बहुत अच्छा होगा।"

पंडितजी के इस सुझाव को स्वीकारने में महाराजा को कोई आपत्ति होने का कारण ही नहीं था, सो वह बात भी उनके मन के मुताबिक हुई। वजीफे के लिए माहवार चालीस रुपये की राशि मंजूर हो गई, जो उस काल के हिसाब से पर्याप्त से अधिक थी। अब हम देख सकते हैं कि पंडितजी ने एक साथ कई प्रकार की बातें साध ली थीं। इसमें पहली बात यह थी कि उन्होंने रातंजनकर परिवार की आर्थिक विवंचना को कुछ वर्षों तक हल कर दिया था। क्योंकि अब नारायणरावजी की पेन्शन और अण्णासाहब का विद्यावेतन, दोनों को मिलाकर इस परिवार का योगक्षेम सुचारु रूप से चल सकता था, बशर्ते कि वे सब बड़ौदा में ही आकर रहते; और आगे वैसा ही हुआ। दूसरी बात यह थी कि अण्णासाहब की विद्यालय की और तत्पश्चात् कॉलेज की पढ़ाई अबाध रूप से चलनेवाली थी। तीसरा लाभ यह था कि उस कालखंड में अखिल भारत में प्रथम क्रमांक पर आसीन, रंगीले घराने के उस्ताद आफताब-ए-मौसिकी फैयाजखांसाहब की तालीम पांच वर्ष तक मिलने की व्यवस्था हो गई और वह भी बिना किसी गुरु-दक्षिणा के! इसमें एक चौथा लाभ भी था, जो अत्यंत सार्थक था और पंडितजी की सूझ-बूझ को प्रमाणित करनेवाला था, जिसका अस्पष्ट-सा संकेत मैंने शुरू में दिया था। फैयाजखांसाहब से अपने शिष्य को तालीम दिलवाने के पीछे पं. भातखंडेजी का का एक विशिष्ट उद्देश्य था। उस जमाने के संगीत-क्षेत्र की हवा को देखकर पंडितजी ने यह बखूबी जान लिया था कि हमारे 'बाबू' ने मुझसे कितनी भी विद्या सीख ली हो, किंतु जब तक किसी जाने-माने उस्ताद के साथ उसका नाम नहीं जुड़ जाता तबतक इस क्षेत्र में उसकी कोई पूछ नहीं होगी।

आगे चलकर हम देखेंगे कि अण्णासाहब को फैयाजखांसाहब ने अपने रस्मोरिवाज के मुताबिक गंडाबंध शागिर्द होने पर ही उन्हें तालीम देना स्वीकार किया। यह बात भी अण्णासाहब के लिए बहुत दूर तक उपयोगी सिद्ध हुई। इस गंडाबंधन का एक विशेष लाभ यह हुआ कि अण्णासाहब को उस्ताद फैयाजखां के गंडाबंध शागिर्द के नाते उस जमाने के गवैयों की खास खास मंडली में मुक्त प्रवेश मिलता रहा; उनको सब दिशाओं से मान्यता प्राप्त होती गई। और पं. भातखंडेजी की भावी योजनाओं की दृष्टि से भी यह घटना उपयुक्त रही। इसके बारे में अण्णासाहब से मैं स्वयं सुन चुका हूं। पंडितजी अपनी प्राप्त की हुई गानविद्या और उसके शास्त्र को गानसाधकों के माध्यम से विशेषत: उत्तर भारत में प्रसारित करने हेतु किसी माध्यम की

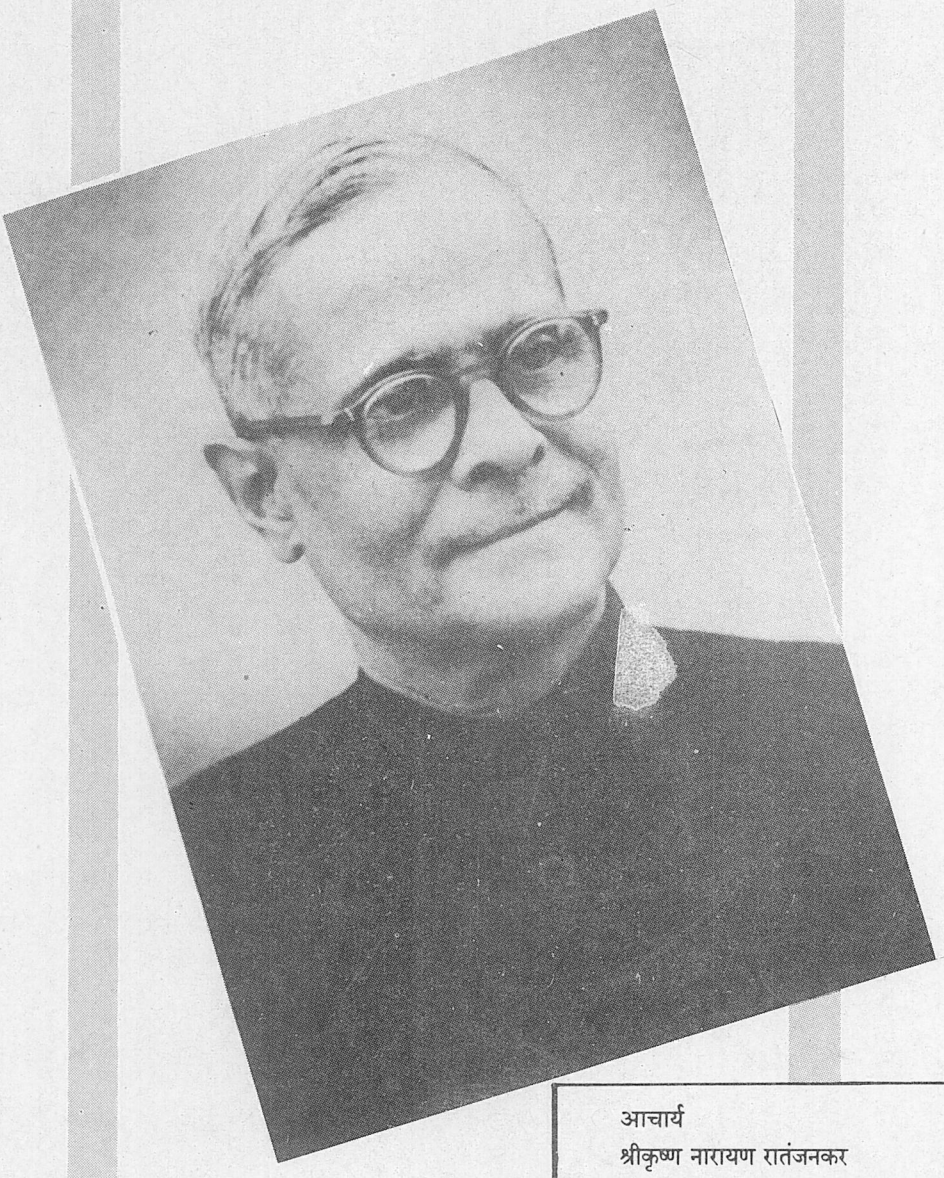

आचार्य
श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर
३१.१२.१९०० - १४.२.१९७४

मातृपितृदेवता

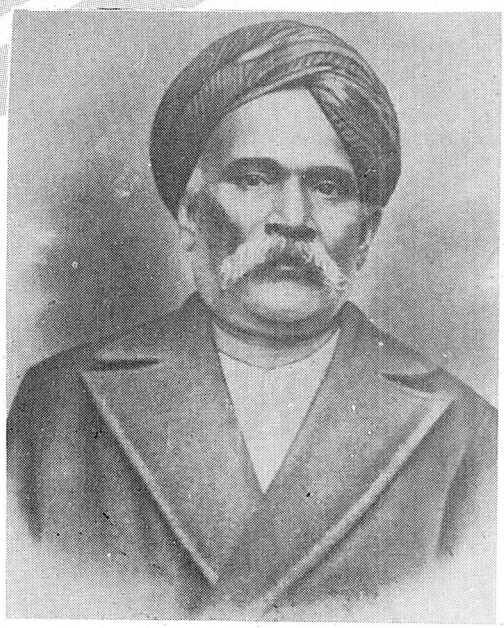

स्व. श्री. नारायणराव रातंजनकर



स्व. श्रीमती लक्ष्मीबाई रातंजनकर



"चरन कमल बन्दौं गुरुराई"
पंडीत अनंत मनोहर जोशी

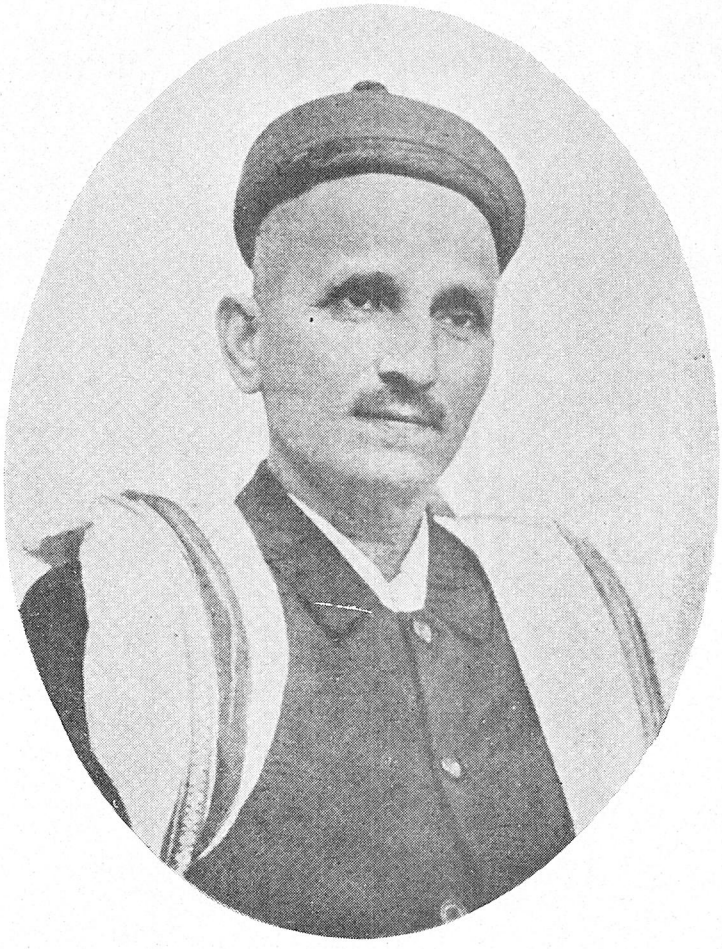

परमश्रद्धेय गुरुदेव

पं. विष्णु नारायण भातखंडे (१९३३ में)

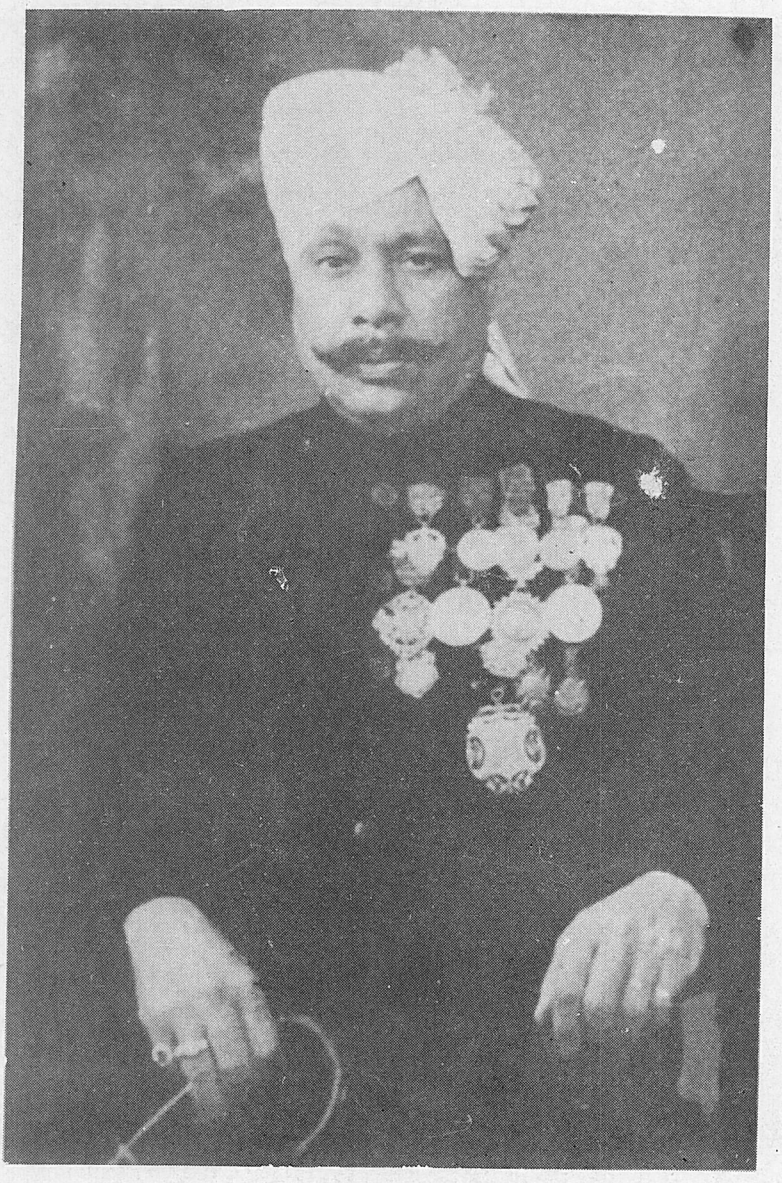

गुरवे नमः ।

आफताब-ए-मौसिकी फैयाजखांसाहब

रातंजनकरजी के उस्ताद

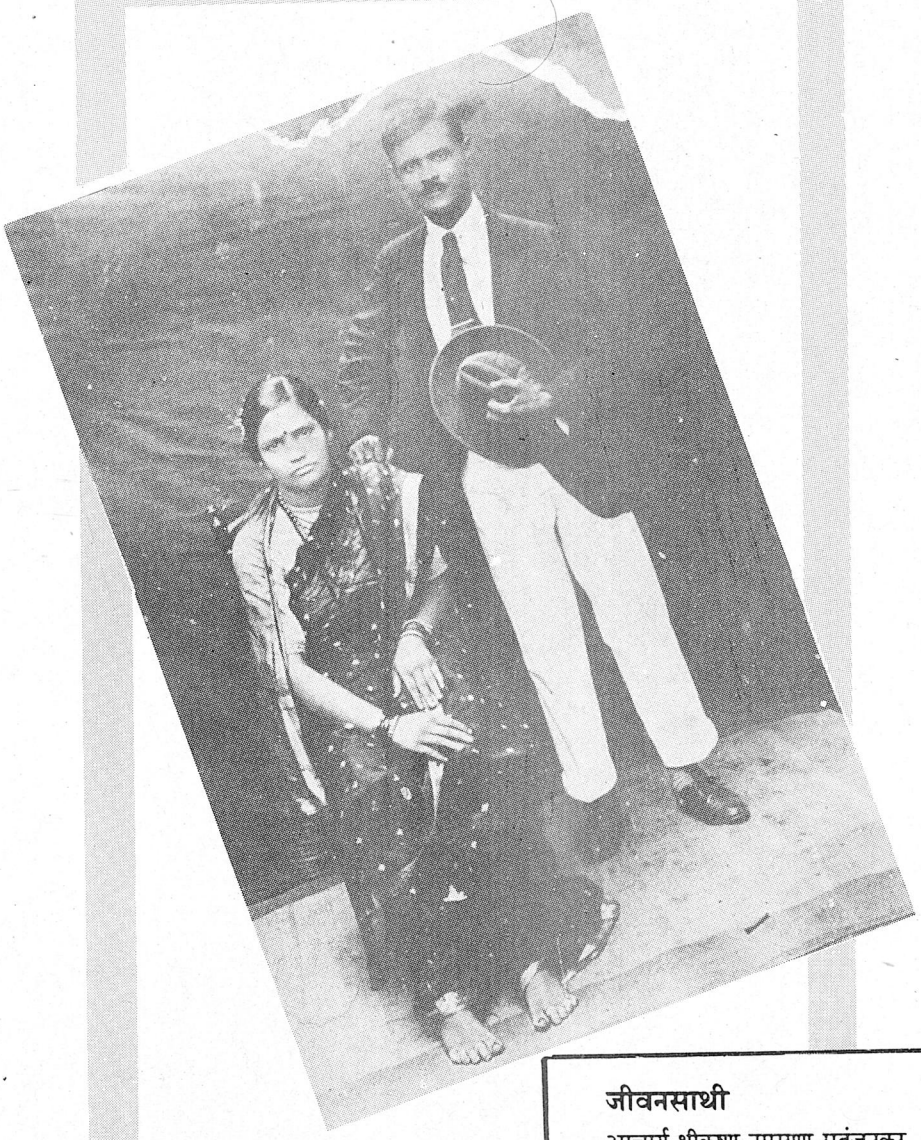

जीवनसाथी

आचार्य श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर
श्रीमती इंदिराबाई श्रीकृष्ण रातंजनकर

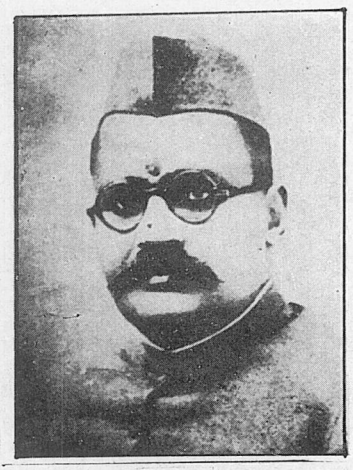

Rai Umanath Bali (1892-1966)



Dr. Raj Rajeswar Bali (1889-1944)

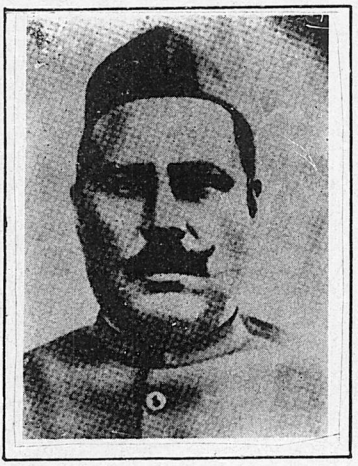

Raja Nawab Ali Khan of Akbarpur



A rare group-photo taken in December 1926 on the occasion of the formal Opening Ceremony of the Music College. In this photo may be seen Pdt. Bhatkhande, Sir William Marris (the then Governor of Avadh), Rai Rajeshwar Bali, and many other cultured Rajahs, Nawabs, and Taluqdars. Started in July as "The Akhila Bharatiya Sangeet Mahavidyalaya", it was named The Marris Music College in December 26, and later on, it was rechristemed as "The Bhatkhande Sangeet Mahavidyalaya" on 28/2/1927.



Seated : Bhatkhandeji; Umanath Bali,
(Standing) Shankarrao Karmad; Brij Kishan Kaul.

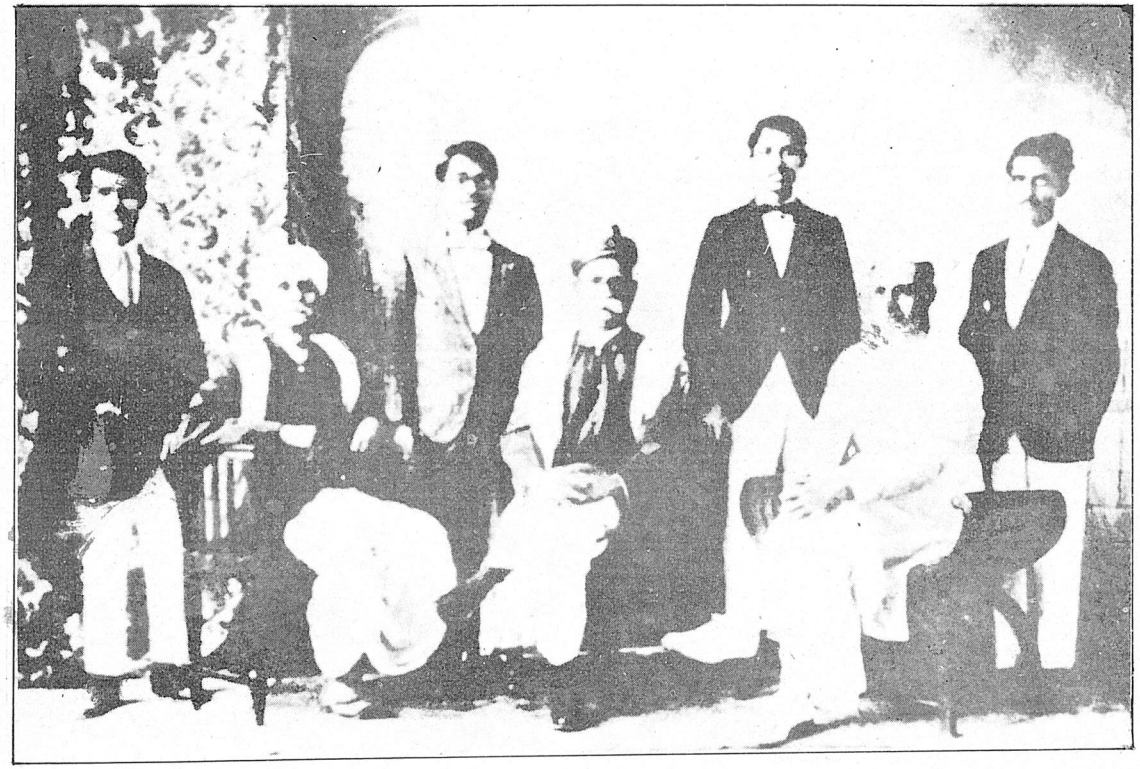

Standing : L to R - G.N. Ratanjankar, G.N. Natu; L.D. Joshi; S.N. Ratanjankar.
Seated : L to R - Dr. H.N. Hukku; Madhavrao Keshav Joshi; (the first Principal of the college) and his elder brother D.K. Joshi

मैरिस म्यूजिक कॉलेज १९३२ में



अध्यापकों तथा छात्रों समवेत (बीच में) पं. रातंजनकर के पार्श्व में पं. भातखंडे (शेष, बैठे हुए, बाएं से) प्रा. भाके, पहाड़ी संन्याल, सखारामजी. बी. एस. पाठक, जी. एन. नातू, पं. रातंजनकर, पं. भातखंडे, बड़े आगा, उ. सखावत हुसेन, उ. हमीद हुसेन, रवीन्द्रलाल रॉय इ.

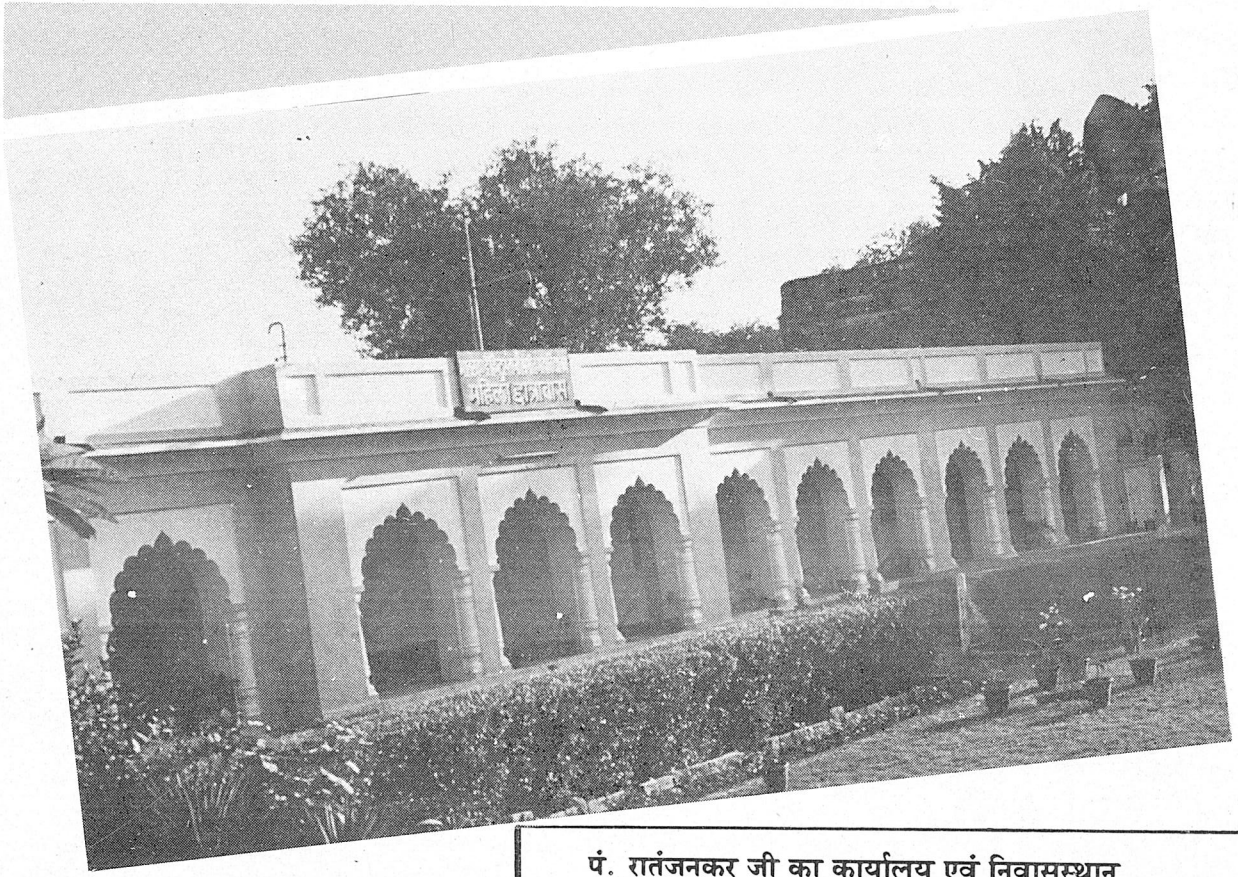

पं. रातंजनकर जी का कार्यालय एवं निवासस्थान

मैरिस म्यूजिक कॉलेज, महिला छात्रालय दाहिने हाथ के अंतिम कक्ष में कार्यालय तथा उसके पीछेवाले कक्ष में निवास



मैरिस म्यूजिक कॉलेज, लखनौ, १९३३ के कुछ वरिष्ठ छात्र

(खड़े) जी.पी. कपूर, एस्. कांजीलाल, डी.पी, चौधरी (कुर्सी), पं. रातंजनकर, पं. भातखंड़े, ए. मुजुमदार

(बैठे हुए) एस्. रॉय, एस्. अमरसिंह



संगीत-परिवार की एक छवि : लखनऊ (१९३२)

कुर्सियों पर : बाएं से दाएं

(१) सर्वश्री के. जी. मजूमदार (२) दादासाहब रातंजनकर (३) श्रीकृष्ण रातंजनकर (४) राजाभैय्या पूछवाले (५) (नाम विस्मृत) (६) गोविंदराव नातू (७) बालाजी पाठक

खड़े : (१) (नाम विस्मृत) (२) चंद्रशेखर पंत (३) नोनी गोपाल बेनर्जी (४) गोपाल नातू (५) बालासाहब पूछवाले (६) व्ही. जे. जोशी



अण्णासाहब १९३१-३२ में

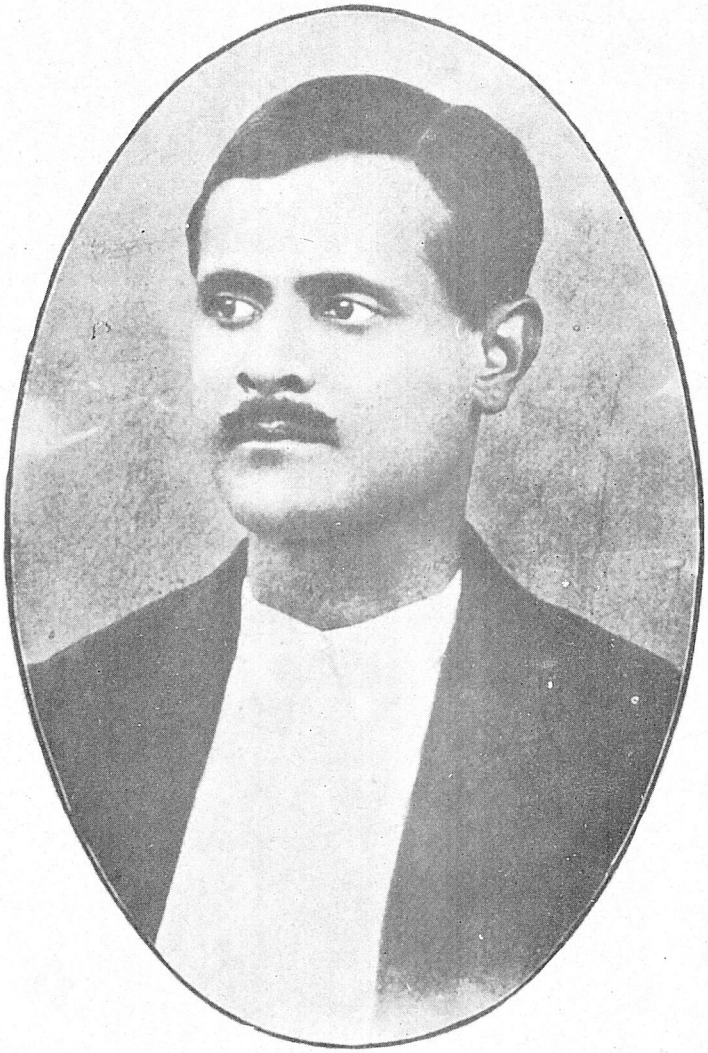

Dr. S. N. Ratanjankar — Great Exponent of Music
in his mid thirties

जरूरत महसूस कर रहे थे। अपने शिष्य 'श्रीकृष्ण' को वे इस माध्यम के रूप में विकसित करना चाहते थे। ऐसा शिष्य जो महफिलों में भातखंडेजी की प्रतिग्राह्य गायन-प्रणाली का अनुसरण कर सके। इसी पहलू के साथ जैसा कि विधाताने चाहा था, अण्णासाहब के नेतृत्व में मैरिस कॉलेज, लखनऊ के जरिए भातखंडे प्रणाली का प्रशिक्षण और प्रचार उनकी आँखों के सामने ही होने लगा और इस प्रकार पंडितजी की महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति हो सकी।

सुंदर स्वार्थ

पंडितजी की एक और आकांक्षा की भी परिपूर्ति इस योजना की बदौलत हो गई, जिसे मैं 'आदर्श सुंदर स्वार्थ' कहना चाहूंगा। उनके मन में बराबर यह कसक थी कि उनका कोई शिष्य अबतक महाफिली गवैये के रूप में नहीं उभरा था। उनके एक मेधावी शिष्य वाड़ीलालजी ने अपने व्यक्तित्व को गानविद्यापंडित के रूप में ही विकसित किया। शंकरराव कर्नाड़ तो पेशे से वकील थे। मैंने इन सबको गानविद्या तो विपुल मात्रा में प्रदान की है, किंतु जबतक मैं उन्हें महफिल के माहौल से और उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं दिला सकता तबतक उनकी साधना एक तरह से अधूरी ही रहेगी। अण्णासाहब ने पंडितजी की जो जीवनी लिखी है उसमें उनका एक विचार प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं- ''संगीत के प्रसार के लिए शास्त्र की आवश्यकता को वे निश्चय ही महत्वपूर्ण मानते थे, किंतु उसके साथ ही प्रत्यक्ष गाने-बजाने को भी वे बराबर उतना ही महत्त्व देते थे। उनकी यह धारणा थी कि जिसे महफिलों में अपना प्रभाव पैदा करना है उसे गायन-वादन के श्रेष्ठ महफिली कलाकारों से तालीम प्राप्त करनी चाहिए।'' मतलब यह कि जबतक संगीत-साधक किसी उम्मीदवार की तरह महफिलों के माहौल से नहीं गुजरता तबतक वह 'गवैया' नहीं बन सकता। पंडितजी यह भी जानते थे कि ऐसे महफिली गायक के पास उसे तालीम तो ज्यादा नहीं मिल सकेगी, किंतु उसके निकट सान्निध्य में रहने मात्र से वह बहुत कुछ जान-समझ सकेगा। उस्ताद किस तरह से अपना गाना पेश करते हैं, उसके तौर-तरीके क्या हैं इसके बारे में उसे अपने आप 'ट्रेनिंग' मिलता जाएगा। तो यह उद्देश्य मन में रखकर पंडितजी ने उस्ताद फैयाजहुसेनखांसाहब के हाथ अपने प्रिय शिष्य को सौंप दिया। याने सोचने की पंडितजी को इस बात का कोई रंज नहीं था कि भविष्य में लोग अण्णासाहब को ज्यादातर फैयाजखां के शागिर्द के रूप में ही पहचानेंगे, उनके गुरुओं में पंडितजी का नाम दूसरे सोपान पर होगा। उनका लक्ष्य एक ही था भारत की भावी संगीत-परंपरा में शास्त्र एवं कला दोनों का ठीक ठीक मेल साधनेवाली गायन-वादन प्रणाली प्रसारित होती रहे। इसीलिए मैंने इसे 'आदर्श सुंदर स्वार्थ' कहा।

गंडाबंधन

तो बात चल रही थी महाराजा के द्वारा अण्णासाहब को विद्यावेतन प्राप्त होने की। यह सब समाचार अण्णासाहब से नारायणरावजी को ज्ञात हुआ तब उन्हें कितनी प्रसन्नता हुई होगी और पंडितजी के प्रति कृतज्ञता के भाव उनके मन में कैसे उमड़े होंगे, इसका अनुमान हम कर सकते हैं। परिषद के दौरान खांसाहब की महफिल सजना स्वाभाविक ही था, जिसका उल्लेख मैं कर चुका हूं। महफिल की समाप्ति पर श्री नारायणराव अण्णासाहब को लेकर खांसाहब से मंच पर मिले। अण्णासाहब ने उन्हें आदरपूर्वक प्रणाम किया। खांसाहब के भव्य व्यक्तित्व

से वे अत्यंत प्रभावित हुए। नारायणरावजी ने खांसाहब को अपने बेटे के बारे में बताया कि आजकल पं. भातखंडेजी के पास सीखता है और अब सरकार से वजीफा मिलने की वजह से बड़ौदा में ही रहनेवाला है। तबतक खांसाहब से महाराजा की बात वगैरह सब हो चुका था। उस्ताद ने कहा-

"अच्छा ये ही हैं, जो मेरे पास आनेवाले हैं? मुझे भी सरकार की ओर से हुक्म मिला है इनकी बाबत। ठीक है, आते रहो।"

यह सब हो जाने पर भी खांसाहब की तालीम तुरंत शुरू हो जाना संभव नहीं था। बड़ौदा सरकार से लिखित रूप में आदेश मिलना आवश्यक था और संपूर्ण परिवार के स्थलांतर की व्यवस्था अण्णासाहब के स्कूल का प्रमाणपत्र आदि बहुत-सी बातों की पूर्ति हो जाना भी जरूरी था। श्री नारायणराव और अण्णासाहब अहमदनगर लौटे। वहां से यह परिवार कुछ दिनों के लिए सातारा को स्थलांतरित हो गया। फिर उसके बाद ये लोग वहां से पुनश्च पुणे में रहने आ गए और वहां पर जुलाई १९१७ के अंत तक रहे। अब आगे की दिशा तय हो चुकी थी। बड़ौदा से 'ऑर्डर' पहुंचते ही सभी परिवार वहां रवाना होनेवाला था। श्री नारायणराव की पेन्शन और अण्णासाहेब के विद्यावेतन पर घर का खर्च आराम से चलनेवाला था। योजना के अनुसार रियासत से हुक्म आ पहुंचा और अगस्त १९१७ में परिवार ने बड़ौदा को प्रस्थान कर दिया। वहां पहुंचने पर रीति के अनुसार अण्णासाहब ने उस्ताद फैयाजखां के दर्शन किए और कहा- "खांसाहब, मैं श्रीकृष्ण रातंजनकर। आपकी सेवा में हाजिर हो गया हूं।"

खांसाहब ने प्यार से अण्णासाहब को पास में बिठाया और कहा-

"देखो बेटा, यह तो ठीक है कि तुम पंडितजी के पास से आए हो। किंतु पहले तुम हमारा गंडा बांधोगे; उसके बाद हम तुम्हें तालीम देना शुरू करेंगे। बात यह है कि तुम हमारा गंडा बांध लोगे तो हमारे बेटे के समान याने हमारी बिरादरी का बन जाओगे। याने हमारे घर का एक आदमी बन जाओगे। हम लोग कितने भी बड़े हों गंडाबंध शागिर्द को हम अपने बेटे के समान मानते हैं।"

इतनी बात हो जाने के बाद यथासमय निमंत्रित गायक-वादकों की उपस्थिति में रीतिरस्म के अनुसार खांसाहब के घर पर ही गंडाबंधन समारोह संपन्न हुआ। खांसाहब ने दो आने का चना गुड़ मंगवाया और कुछ मंत्र बोलकर गुड़ और चने के दाने 'श्रीकृष्णा' के मुख में डाल दिए और 'सा री ग म' का सबक सिखाकर तालीम का श्रीगणेश कर दिया। फिर चाय-पानी के साथ यह घोषित किया गया कि आज से लेकर श्रीकृष्ण रातंजनकर खांसाहब का शागिर्द हो गया। इस गंडाबंधन में कोई डीमडौल नहीं था। सब संस्कार केवल ४ रूपये में संपन्न हो गया।

यहां यह उल्लेखनीय है कि भातखंडेजी के साथ फैयाजखांसाहब के संबंध अत्यंत स्नेहपूर्ण रहे। श्रीमती दीपाली नाग ने फैयाजखांसाहब के जीवनपरक एक पुस्तक अंग्रेजी में लिखी है। उसके आखरी पृष्ठों में वह लिखती हैं कि उस्ताद फैयाजखां कहा करते थे कि Whatever I am to-day is because of Bhatkhande.' जब जब पंडित जी बड़ौदा जाते थे तब खांसाहब से अवश्य मिलते थे। अब मैं अण्णासाहब का शिष्य हूं तो खांसाहब तो मेरे लिए दादागुरु ही हैं। मैं आपको बताना चाहूंगा कि आदर्श गायन के जो नियम भातखंडेजी ने पुनर्स्थापित किए हैं उनके हू-ब-हू दर्शन यदि किसीके गायन में मिलते हों तो फैयाजखांसाहब के गायन

में मिलते हैं।

उस्ताद फैयाजखां तो उस जमाने के अत्यंत लोकप्रिय और ख्यातिप्राप्त गायक थे। इसलिए तालीम के लिए कोई खास तय किया हुआ वक्त तो नहीं मिल सकता था। लेकिन जब जब अवसर मिलता और जब कभी खांसाहब 'मूड़' में आते तब दो-दो तीन-तीन घंटे तालीम का सिलसिला चलता रहता। परंतु एक नियम का पालन अण्णासाहब को कड़ाई से करना पड़ता था। रियासत के नियमानुसार प्रतिदिन संध्या को हाजिरी देना अनिवार्य था। हर दिन की हाजिरी पर खांसाहब के दस्तखत होना आवश्यक था। इस शर्त की पूर्ति पर ही विद्यावेतन मिलने की बात तय हुई थी। महाराजजी के सारे कारोबार का यही पैमाना था। उसमें न शिष्य को ढील का अवसर था न गुरु को। फिर भी उसमें कानूनी कठोरता की गंध भी नहीं थी। समझने की बात थी। तो इस नियम के मुताबिक अण्णासाहब रोज गुरु की सेवा में उपस्थित हो जाते थे। लेकिन हर समय गुरू के दर्शन हो ही पाते थे, सो नहीं। कभी कभी पूरा दिन खाली जाता और रातको दस बजे खांसाहब घर पहुंच जाते। तबतक अण्णासाहब अपना स्कूल समाप्त करके उनकी प्रतीक्षा में बैठे रहते। फिर उस दिन सिखाने का मन न हो तो वे कहते, "श्रीकृष्णा, अब बहुत वक्त हो गया, अब तुम मेरा दस्तखत लेके जाओ।" सारांश यह कि नियमित रूप से तालीम नहीं हो जाती थी किंतु जब होती तब काफी गहरी तालीम होती। खांसाहब ने अण्णासाहब को बहुत-सी बंदिशें सिखाईं, राग प्रस्तुतीकरण की पद्धति के बारे में भी अनुभव की बातें बताईं और होते होते और खास तौर पर गुरु की सन्निधि के कारण अण्णासाहब का व्यक्तित्व अपने आप विकसित होता गया। और यह क्रम पांच वर्ष तक चला।

इधर पं. भातखंडेजी तो अपने शिष्य के विद्याग्रहण पर पूरी दृष्टि लगाए हुए थे। दो-एक महीनों में उनका बड़ौदा आना होता ही रहता, क्योंकि महारानी चिमणाबाई को गायन सिखाने के लिए उन्हें बीच बीच में आना ही पड़ता था। उस समय अपने 'बाबू' से वे सब कुछ पूछते और आवश्यकतानुसार कुछ उपयुक्त सुझाव भी देते। उदाहरण के लिए अण्णासाहब की आवाज ऊंची थी और खांसाहब की ढली। इसलिए उन्हें भी ढले स्वर में मेहनत करनी पड़ती। पंडितजी ने उन्हें बताया कि स्वतंत्र रूप में गाते समय तुम अपना स्वर ऊंचा ही रखो। तुम्हारी आवाज की जो जाति है, उसका जो 'टिंबर' है, वह ऊंचे स्वर का है। खांसाहब की गायकी तुम अवश्य ले लो, किंतु उनकी आवाज में मत गाओ। उनका यह मंतव्य कितना महत्त्वपूर्ण था! अण्णासाहब ने हम शिष्यों को भी उचित समय पर योग्य संकेत देकर हमारा मार्ग प्रशस्त कर दिया है। और हम लोग भी अपने शिष्यों का इसी प्रकार मार्गदर्शन किया करते हैं। गाने की शैली आप कोई भी अपनाइए किंतु उसे अपने व्यक्तित्व के अनुसार ढालना आपका काम है। इसे न भूलिए कि आपको उस शैली के आगे बढ़ना है; उसमें 'खुद' को प्रस्थापित करना है।

बड़ौदा के अन्य साधक

अण्णासाहब के साथ उन दिनों एक और युवा साधक रियासत की सहायता पर बड़ौदा आए थे, जिनकी आज तमाम संगीत-जगत् में सहसवां घराने के सब से बुजुर्ग उस्ताद के रूप में मान्यता है - निसार हुसेन खांसाहब। संप्रति कलकत्ते की संगीत रिसर्च अकैडमी में आप उस्ताद हैं, तराने के मशहूर अदाकार। अण्णासाहब हमेशा उनका जिक्र करते थे और कहते

थे कि उस युवा वयस में भी वे बहुत अच्छा गाते थे। आप बड़ौदा में १९१७ में ही कुछ महीने पहले उपस्थित हुए थे। किंतु उनकी तालीम उ. फैयाजहुसेन खां के पास नहीं थी। बड़ौदा दरबार में उनके ही वालिद खांसाहब फिदाहुसैन (रामपुर) भी शाही गायक थे। स्वाभाविक रूप से उन्हींके मार्गदर्शन में निसार हुसेन जी की तालीम जारी रही। इस सिलसिले में यह बताना जरूरी है कि फैयाजखांसाहब ने सीधे बहुत ही कम साधकों को सिखाया। हमारे अण्णासाहब ऐसे भाग्यवान साधक रहे जिन्हें खुद फैयाजखांसाहब की तालीम मिली। औरों के बारे में आप कहा करते कि आप मेरे साथ रहिए, मेरा गाना सुनिए और अपना गाना बनाइए। ऐसे जो सज्जन उस काल बड़ौदा आए थे, उनमें दिल्ली के दिलीपचंद्र वेदी प्रमुख थे, यद्यपि वे अधिक काल वहां नहीं रहे। आज के वयोवृद्ध संगीत-साधकों में उनका नाम आदरपूर्वक लिया जाता रहा। (हाल ही में उनका स्वर्गवास हुआ) आप पहले आग्रा घराने के नत्थनखांसाहब के शिष्य विख्यात गायक पं. भास्करबुवा बखले के पास सीखते थे। किंतु १९२० में उनका देहांत हो जाने के बाद उसी घराने के उस्ताद के नाते आप उ. फैयाजहुसैन जी की सेवा में हाजिर हो गए। उस समय बड़ौदा में अता हुसैन खां खांसाहब आके रहे थे। ये अत्रोली के दरसपिया महबूबखां के बेटे थे और फैयाजखांसाहब ने दूसरी शादी महबूबखां की बेटी से की थी। फैयाजखां के और शागिर्दों की तालीम इन अताहुसैनखां के पास चलती थी। खांसाहब ट्यूशन वगैरह तो करते नहीं थे। अत: तालीम अता हुसेन खां की होती थी और आदर्श फैयाजखांसाहब का होता था। हां, गंडाबंध शागिर्द को उसकी बुद्धि के अनुसार कहां तक ले जाना है यह गुरु का दायित्व है। उसमें पाठ्यक्रम नहीं रहता है। फैयाजखांसाहब का रवैया ऐसा ही था।

खांसाहब से मार्गदर्शन पाने के लिए आए हुए साधकों में स्वामी श्रीवल्लभदास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जीवन के उत्तरार्ध में स्वामी जी के साथ अण्णासाहब का बहुत घनिष्ठ संबंध स्थापित हुआ था। स्वामीजी कृष्णभक्त थे और संगीतानुरागी थे। आप उ. फैयाजखां से ही तालीम पाने के इच्छुक थे; किंतु खांसाहब ने उन्हें सलाह दी कि आप अता हुसेन से तालीम लीजिए। नायकी उनसे सीखिए और मेरी सभी महफिलों मे उपस्थित रहकर मेरी गायकी के संस्कार ग्रहण कीजिए। आगे श्रीवल्लभ संगीत विद्यालय के सिलसिले में हम इन स्वामीजी के संबंध में अधिक बयान करें।

बड़ौदा से अन्य लाभ

अपनी संगीत-साधना के दौरान अण्णासाहब की स्कूली शिक्षा भी चल ही रही थी। विद्यालय में पढ़ने के दौरान उन्हें संगीत का एक और कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। उस समय रियासत के संगीत विद्यालय के प्रिंसिपल रूसी संगीतकार श्रीमान एम्. फ्रेडलिस थे, जो पं. भातखंडेजी से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने देखा कि यह नया लड़का उन्हींकी सिफारिश से रियासत आया है और संगीत में अच्छी रुचि रखता है, तो उन्होंने चाहा कि इसे संगीत का ही कोई और काम सौंपा जाए। उन्होंने अण्णासाहब को रियासत की सेवा में कार्यरत उस्तादोंद्वारा गाई जानेवाली बंदिशों को एक जगह लिखने और उनकी स्वरलिपि बनाने का काम दे दिया। इन उस्तादों में अण्णासाहब को सबसे अधिक सहायता मिली विद्यालय के वाद्यवृंद के जलतरंग-वादक उस्ताद अमीरखां गुलाबसागर से। उनकी कई बंदिशों की अण्णासाहब ने स्वरलिपि बनाई। उन्हें फिर पाठ्यपुस्तकों में स्थान दिया गया। सागरसाहब से पं. भातखंडेजी ने भी कई बंदिशें ली

थीं और बाद में उनके नामनिर्देश के साथ अपनी पुस्तकों में उन्हें समाविष्ट किया था। यहां ध्यान देने की एक और बात है कि १८-१९ की उम्र में ही अण्णासाहब को पं. भातखंडेजी ने बंदिशों की स्वरलिपि बनाने के सूक्ष्म कार्य में प्रवीण कर दिया था।

बड़ौदा में अण्णासाहब को महफिली गायन का, अलग अलग बंदिशों को सीखने का तथा अपने उस्ताद से मिलनेवाली तालीम का विपुल लाभ प्राप्त हुआ। खांसाहब के साथ तंबूरे पर संगत करने के भी अनेक अवसर उन्हें मिलते रहे। हम अण्णासाहब की गायकी के संबंध में आगे विस्तार से बात करनेवाले हैं किंतु यहां यह बता देना जरूरी है कि उनकी गायकी में फैयाजखांसाहब की गायकी का प्रभुत्व अधिक रहा। किंतु इसके मायने यह नहीं कि आगे उनकी गायकी का कुल मिलाकर जो रूप सिद्ध हुआ वह आग्रा घराने का ही था। लेकिन ऐसे जबरदस्त उस्ताद की संगति में ५ साल तक रहने का असर होना स्वाभाविक ही था। इतना ही नहीं तो खांसाहब खुद कहते थे कि उस काल में श्रीकृष्णा मेरी 'फोटो कॉपी' था। फैयाजखांसाहब ने खुद मुझसे भी यह बात कही है। और यही बात, जब हमारे गुरुवर १९२३ में बड़ौदा से बम्बई आए तब बम्बई के प्रार्थना समाज के प्रवर्तक सर नारायण चंदावरकर के सुपुत्र श्री प्रभाकर ने भी (जो कस्टम कलेक्टर होके रिटायर हुए थे) हमसे कही थी कि "हमने उस वक्त उनका गाना सुना था और उसमें हमें खांसाहब के गानेकी शकल बखूबी महसूस होती थी।" फिर यही बात मेरे गुरुबंधु दिनकर कायकिणी के श्वशुर डॉ. समसी और उसी परिवार के श्री प्रभाकरराव शिरूर (श्री चंदावरकर के बहनोई) ने भी कही। वह तो कहते थे कि हमने उन दिनों अनुभव किया है कि यदि अण्णासाहब परदे के पीछे बैठकर गाते तो लगता था कि फैयाजखां ही गा रहे हैं। वे लोग हम शिष्यों को बताया करते कि आपने उनका क्या गाना सुना होगा। हमने उसका सच्चा आनंद लूटा है!

बड़ौदा रहने के दौरान अण्णासाहब की विद्यालय तथा महाविद्यालय की शिक्षा भी यथावत् होती रही। अपने बड़ौदा निवास में उन्होंने १९१९ में मॅट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। उसके बाद वे बड़ौदा कॉलेज में दाखिल हो गए। वहां बी. ए. प्रीव्हियस उत्तीर्ण करके वहींपर वे 'इंटर आर्टस्' की कक्षा में पढ़ने लगे। किंतु बड़ौदा में वे इंटर की परीक्षा पूरी नहीं कर पाए। परीक्षा केंद्र अहमदाबाद में था। पिताजी के साथ वे अहमदाबाद गए; किंतु पंडाल में ही अचानक उन्हें भयानक बुखार चढ़ आया और उन्हें बड़ौदा लौटना पड़ा। बाद में पता चला कि वह चेचक का आकस्मिक दौरा था!

१९२२ में बड़ौदा से बंबई आ जाने पर अण्णासाहब ने १९२४ में इंटर की परीक्षा पूरी कर ली और आगे १९२६ में विल्सन कॉलेज, बंबई से आप बी. ए. हो गए।

बड़ौदा के साहित्य एवं कलाप्रेमी सांस्कृतिक वातावरण से भी अण्णासाहब ने पर्याप्त लाभ उठाया होगा। मराठी के विख्यात परिहास-लेखक श्रीमान चिं. वि. जोशी वहां के कॉलेज में प्राध्यापक थे। प्रोफेसर रामचंद्र आठवले (संगीत के विद्यमान पंडित श्री वि. रा. आठवले के पिता) जैसे रसिकोत्तम विद्वान और गायक कीर्तनकार वहां संस्कृत पढ़ाते थे। और भी अनेक विद्वानों का 'अखाड़ा' बड़ौदा के परिवेश में जमा हुआ था, जिसका श्रेय गुणग्राही समर्थ नरेश सयाजीराव गायकवाड़जी को देना होगा। अनेक चुने चुने आदमियों को उन्होंने इकट्ठा किया था। इससे अण्णासाहब की साहित्य के प्रति भी पर्याप्त रुचि बढ़ी। वहां अण्णासाहब ने अन्य भाषाएं भी सीखीं। गुजराती काफी अच्छी लिख बोल लेते थे। उस माहौल में रहकर कोई

गुजराती से वंचित भी कैसे रह पाता? इसके साथ संस्कृत के प्रति उन्हें अतीव अनुराग था, सो उस भाषा में प्रवीणता पाने की दिशा में वे प्रयत्नशील रहे।

यह तो बताया ही गया है कि अण्णासाहब के पिताजी संस्कृत के व्युत्पन्न विद्वान और अंग्रेजी साहित्य के प्रेमी थे। अण्णासाहब को भी स्वाभाविक रूप से यह भाषा-साहित्य-प्रेम विरासत में ही मिला। कालिदास के सब नाटक और काव्य पिताजी ने उन्हें घर पर ही सिखाए थे। शेक्सपियर के कई 'ड्रामा' उनको याद थे। मैं जब लखनऊ उनके पास रहते हुए स्कूल की पढ़ाई कर रहा था तब 'ऑथेल्लो' नाटक अण्णासाहब ने ही मुझे पढ़ाया था। 'मर्चंट ऑफ वेनिस' नाटक तो उन्हें मुखगत था। महाभारत, रामायण, बायबल आदि का भी पठन वे करते रहते थे। इस प्रकार वे संगीत-साधना के साथ साथ अपने साहित्य पक्ष को भरसक बढ़ाते रहे। इस प्रकार आप देखेंगे कि पं. भातखंडे अपने इस खास शिष्य को जिस विशिष्ट रूप में विकसित करना चाहते थे, ढालना चाहते थे उसीके मुताबिक उसका प्रत्येक चरण बढ़ता गया। पंडितजी की यही आकांक्षा थी कि मेरा यह शिष्य एक साथ कीर्तिवान् महफिली गायक और सुविद्यासंपन्न भी बने। पंडितजी के संगीतविषयक कार्य का मेरुदण्ड भी यही था। उनका बराबर यही आग्रह रहा कि यह अनमोल विद्या सुविद्य साधकों के हाथ में जाए, तभी उसका सही दिशा में विकास हो पाएगा।

पुनश्च बंबई

अण्णासाहब अपने पिताजी वगैरह के साथ बड़ौदा छोड़कर १९२२ के उत्तरार्ध में बंबई आ गए। ये लोग तब बोरिवली (बंबई) में ठहरे हुए थे। यहां आने पर पंडितजी के पास पुनश्च संगीत साधना का सिलसिला जारी रहा।

किंतु इसी बीच अण्णासाहब को पुणे शहर के महिला विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में स्थित अहमदाबाद के महिला विद्यालय में संगीत-अध्यापक की नौकरी मिल गई। वे अपने पिताजी के साथ वहां जाकर रहने लगे। विद्यालय की नौकरी का समय शाम का था। इसका लाभ उठाकर अण्णासाहब ने अहमदाबाद के गुजरात कॉलेज में 'बी. ए. आर्टस्' के लिए अपना नाम दर्ज कर दिया। विद्यालय की नौकरी के बाद चार घंटे तक उनका संगीत का रियाज भी चलता था। इतना ही नहीं तो अहमदाबाद में उन्होंने कई कार्यक्रमों मे अपना गायन भी प्रस्तुत किया और अपने गायन से श्रोताओं को काफी प्रभावित किया।

इसी दौरान एक और सुनहरा अवसर अण्णासाहब के जीवन में आया। १९२४ में ही चौथी अखिल भारतीय संगीत परिषद का आयोजन लखनऊ में संपन्न हुआ। उस समय अंण्णासाहब अहमदाबाद में ही थे। वे इस परिषद में सोत्साह सम्मिलित हुए। परिषद की संगीत-सभा में उनका गायन भी हुआ। श्रोताओं को उन्होंने संतुष्ट कर दिया। इस बारे में वे खुद अपनी अंग्रेजी में लिखी संक्षिप्त आत्मकथा में लिखते हैं - "मेरे दोनों गुरु, पं. भातखंडे और उस्ताद फैयाजखां वहां उपस्थित थे। मैं यह देख रहा था कि उन दोनों को मेरी प्रस्तुति संतोषजनक प्रतीत हो रही थी। उन्होंने बाद में मुझे शाबाशी देकर मेरे उत्साह को बढ़ाया।"

इसके पूर्व १९२३ में बंबई में पं. भातखंडेजी के सान्निध्य में संगीत-साधना जारी रखते हुए अण्णासाहब को संगीत सिखाने का भी अवसर मिलता रहा। फ्लोरा फाउंटन के पास होनेवाले भातखंडे जी के शारदा संगीत मंडल की संगीत-कक्षाओं में प्रतिदिन संध्या समय वे अपनी

हाजिरी लगाते ही थे। संस्था की ओर से उन्हें साप्ताहिक सभाओं में अपना गायन प्रस्तुत करने के लिए निमंत्रित किया गया और उसमें वे सभी की प्रशंसा के पात्र बन गए। इसी सिलसिले में गुरुमहोदय पं. भातखंडेजी ने उन्हें कुछ कक्षाओं को पढ़ाने का भी काम सौंप दिया।

●

इस प्रकार अण्णासाहब की संगीत-साधना का अध्याय दो अति महान संगीत महारथियों के मार्गदर्शन में तथा बहुविध सांगीतिक अनुभवों से गुजरते हुए अत्यंत फलदायी रहा। १९१० से १९२६ तक की इस षोड़षवर्षीय प्रदीर्घ साधना की पूंजी अण्णासाहब के लिए जीवनपाथेय बन गई। उन्होंने अपने भावी जीवन में जो जो ऊंचे कार्य किए उनके पीछे यह अथक संगीत की साधना और साहित्य तथा भाषा की गहरी लगन और सबसे ऊपर गुरुद्वय का आशीर्वाद आदि सब घटक कारणीभूत रहे। पं. भातखंडेसाहब तो अपने शिष्य को और और ऊंचे शिखरों के दर्शन कराना चाहते थे।.... उसीकी कहानी अगले अध्याय में।

▶

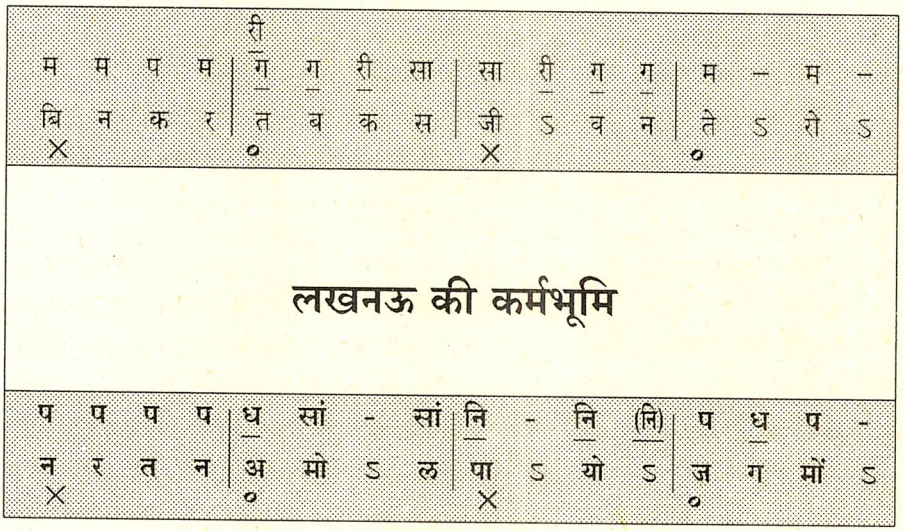

पं. भातखंडेजी अपने परम प्रिय शिष्य रातंजनकर को न केवल विद्वान महफिली गायक के रूप में देखना चाहते थे, बल्कि उनकी यह भी आकांक्षा थी कि अपने 'बाबू' के हाथों संगीत के क्षेत्र में और ऊंचे और उपयुक्त कार्य संपन्न होते रहें। उनकी यह आकांक्षा थी कि अबतक मैंने संगीत के संबंध में जो अनुसंधान किया है उसका प्रचार महाराष्ट्र के बाहर बड़े पैमाने पर हो जाए। यह काम किसी संगीतकेंद्री संस्था के द्वारा ही हो सकता था। अबतक सैद्धांतिक धरातल पर पंडितजी के ही अथक प्रयत्नों से बहुत कुछ विचार-विनिमय अखिल भारतीय संगीत-परिषदों के व्यासपीठ पर होता रहा था। उस काल तक पांच अ. भा. परिषदें आयोजित हो चुकी थीं।– (१) बड़ौदा (मार्च १९१६), (२) दिल्ली (दिसंबर १९१९), (३) बनारस (दिसंबर १९२०), (४) लखनऊ (दिसंबर १९२४), (५) पुनश्च लखनऊ (दिसंबर १९२५)। इन परिषदों की आयोजना में पंडितजी का प्रधान उद्देश्य यह था कि इनके जरिए संगीत के सभी उस्तादों और पंडितों को एक मंच पर इकट्ठा होने का अवसर मिले ताकि उनके आपसी सैद्धांतिक मतभेदों में से कोई तारतम्य निकलने की दिशा में कुछ आशादायक परिस्थिति पैदा हो सके। निश्चय ही उन्हें अपनी अपेक्षा के अनुसार कुछ उपयुक्त ज्ञान और सामग्री प्राप्त हो सकी और उसका उपयोग उन्होंने अपने भावी लेखन-कार्य में कर लिया।

पंडित भातखंडे अपने कार्य के लिए किसी संस्था का सबल आधार प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे। दिल्ली में संगीत अकादमी की स्थापना करने में उन्होंने अपनी पर्याप्त शक्ति और समय लगाया, किंतु सफल नहीं हो सके। इधर दरियाबाद (लखनऊ) के धनी, उदार और संगीतप्रेमी एवं कर्मठ तालुकदार श्रीमान **राय उमानाथ बली** अरसे से इस कोशिश में थे कि लखनऊ में किसी संगीत-विद्यालय की- स्कूल ऑफ म्यूजिक की- स्थापना हो जाए। वे ऐसे किसी अधिकारी और लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति की खोज में थे जिसके परामर्श, मार्गदर्शन और सक्रिय सहयोग के इस महत्त्वाकांक्षी प्रयास की परिपूर्ति हो सकेगी। कहना न होगा कि उनके दृष्टिपथ में तुरंत पं. भातखंडे का ही नाम आया। पंडितजी ने अन्यान्य अखिल भारतीय संगीत

परिषदों में जो जागरण पैदा किया था उसको उन्होंने दिल्ली और बनारस की परिषदों में उपस्थित रहते हुए देखा था। स्वयं संगीत के बड़े प्रेमी थे। इनको निकट से देखा था। आश्रय में कई वेतनभोगी गायकवादक थे, जिनमें हम पहले उ. नजीरखां का उल्लेख कर चुके हैं। अकबरपुर के ठाकुर राजा नवाबअली से रायसाहब ने पंडितजी के विषय में काफी कुछ सुना था। अत: पंडितजी के ग्रंथों एवं अनुसंधानों को लेकर उनके मन में अतीव आदर और प्रेम था। उन्होंने लखनऊ में संगीत-विद्यालय खोलने का अपना प्रस्ताव पंडितजी के सामने रखा और कहा कि इस योजना की पृष्ठभूमि के रूप में इसी वर्ष याने १९२४ की अखिल भारतीय संगीत परिषद का आयोजन लखनऊ में बुलाया जाए; उसके समूचे प्रबंध का दायित्व हम लोग स्वीकारने को तैयार हैं। उस समय संयोग ऐसा था कि पं. भातखंडे अपनी विफलताओं के कारण अत्यंत खिन्न और निराश थे। फलत: अपनी भावी योजनाओं के कार्यान्वयन के हेतु लखनऊ के विद्यालय के सिवा कोई विकल्प शेष नहीं था। उन्होंने तुरंत रायसाहब का निमंत्रण स्वीकार कर लिया। संगीत-परिषद लखनऊ में धूमधाम से मनाई गई और इसी सम्मेलन में अखिल भारतीय संगीत महाविद्यालय की स्थापना का ऐतिहासिक निर्णय लिया गया।

मैरिस म्यूजिक कॉलेज

१९२४ में ही एक और सहायकारी संयोग निकल आया। इस वर्ष राय उमानाथ बली के भतीजे डॉ. राय राजेश्वर बली शिक्षा मंत्री बन गए। आप स्वयं संस्कृत और फारसी के विद्वान थे और कला तथा संगीत में गहरी दिलचस्पी रखते थे। इससे उमानाथजी को अपनी योजना को साकार बनाने में उनसे बहुत सहायता प्राप्त हो सकी। राय राजेश्वरजी ने भी अनेक प्रकारों से महाविद्यालय के निर्माण में हाथ बंटाया। उन्होंने तत्कालीन संयुक्त प्रांत, आगरा और अवध के ब्रिटिश गवर्नर को **सर विलियम मैरिस** महाविद्यालय के नामाभिधान के साथ अपना नाम जोड़ने के लिए राजी कर लिया। संस्था का नाम 'इंडियन म्यूजिक असोसिएशन' रखा गया और उसके प्रेसिडेंट सर मैरिस मनोनीत हुए। संस्था का पंजीकरण भी किया गया और वह सरकारी अनुदान की हकदार हो गई। शेष व्यय को निभाने का दायित्व जिला लखनऊ के बहुतांश तालुकदारोंने स्वीकार लिया था। स्पष्टत: उनके अगुआ राय उमानाथ ही थे और महाविद्यालय का आर्थिक पक्ष अंतत: वे ही संभालनेवाले थे। संस्था के कार्य में अकबरपुर के राजा नवाबअली भी, जो स्वयं अच्छे संगीतवेत्ता थे, सहर्ष सहभागी हुए। इस प्रकार छोटे छोटे मुल्कों में जितने तालुकदार थे उनसे थोड़ा थोड़ा धन एकत्रित करके एक पर्याप्त राशि मूलधन के रूप में संग्रहीत हो गई और उसके आधार पर १६ सितंबर १९२६ ई. में कॉलेज का शुभारंभ हो गया। आरंभ में उसका नाम 'ऑल इंडिया मैरिस कॉलेज ऑफ हिंदुस्तानी म्यूजिक' रखा गया। कुछ कालोपरांत 'ऑल इंडिया' शब्द हट गए और 'मैरिस कॉलेज ऑफ हिंदुस्तानी म्यूजिक' नाम व्यवहृत हो गया और 'मैरिस म्यूजिक कॉलेज' कहलाते हुए उसका लघुरूप 'एम्. एम्. सी.' भी प्रयोग में आने लगा। ध्यान देने की बात है कि १९२६ में सबसे पहली सरकारी अनुदान-प्राप्त संगीत-संस्था लखनऊ की 'इंडियन म्यूजिक असोसिएशन' ही थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'एम्.एम्.सी.' के लिए यह अत्यंत गौरवास्पद बात थी और इसकी वजह से आगे पर्याप्त कालावधि तक यह कॉलेज भारत के और भारत के बाहर के संगीत-साधकों के आकर्षण का केंद्र बना रहा।

स्पष्ट ही महाविद्यालय के शिक्षा-विधान में पं. भातखंडेजी का ही सहभाग महत्वपूर्ण था। आर्थिक पक्ष को संभालने का दायित्व रायसाहब ने लिया था किंतु प्रत्यक्ष शैक्षणिक पक्ष की याने पाठ्यक्रम, अध्यापन, परीक्षाएं आदि की संकल्पना और परियोजना को बनाने का काम भातखंडेजी के सिवा और कौन कर सकता था? यहां ध्यान देने की बात है कि पंडितजी के सामने किसी दूसरे महाविद्यालय के पाठ्यक्रम का 'मॉडल' नहीं था। क्योंकि भारतभर में संगीत का यही पहला महाविद्यालय था। फिर भी इसके पूर्व बड़ौदा और ग्वालियर के संगीत विद्यालयों का पाठ्यक्रम बन चुका था, जिसे स्वयं पंडितजी ने ही बनाया था। उसीके आधार पर पंडितजी ने यह पाठ्यक्रम अत्यंत सुविहित रूप में गठित किया, आगे उसमें कुछ संशोधन भी उन्होंने किए और रेखांकित करनेकी बात है कि पं. मदनमोहन मालवीय ने बनारस हिंदू यूनिव्हर्सिटी के लिए, गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर ने शांतिनिकेतन के लिए और समानांतर रूप में अन्य महाविद्यालयों ने इसी 'मॉडेल' को स्वीकृत कर लिया।

मैंने इसके पूर्व लक्षित किया है कि पं. भातखंडेजी अपने संगीत संबंधी अनुसंधान का प्रसार और प्रत्यक्ष गायन-वादन में उसका अनुप्रयोग व्यापक तौर पर महाराष्ट्र के बाहर करवाने के आकांक्षी थे। यह कार्य अपने विद्यासंपन्न शिष्य बाबू उर्फ श्रीकृष्ण के माध्यम से करने का यह सुअवसर सभी के प्रयत्नों से उपस्थित हुआ। वे अण्णासाहब को इस कॉलेज के साथ आरंभ से ही संबद्ध कर देना चाहते थे। इधर १९२६ के पूर्वार्ध में अण्णासाहब बी. ए. उत्तीर्ण हो चुके थे। संभवत: अपने गुरु के समान ही वकील बनकर शेष समय में संगीत का कार्य करने की दृष्टि से वे एलएल.बी. के कोर्स के लिए अपना नाम दर्ज करने की सोच रहे थे। इसी बीच एक दिन पं. भातखंडेजी ने अण्णासाहब से कहा– "बाबू, तुम्हें अब लखनऊ चलना होगा।" तब अण्णासाहब ने सकुचाते हुए एलएल.बी. के लिए नाम दर्ज करने की अपनी मनीषा उनपर प्रकट की। पंडितजी ने इसपर कोई टिप्पणी नहीं की; बात वहींपर रह गई।

किंतु जब यह बात श्री नारायणराव के कानों तक पहुंची तब वे अपने बिट्टू पर बहुत ही रुष्ट हो गए; यों कहिए कि उन्होंने 'बिट्टू' को आड़े हाथों लिया। उन्होंने कहा- "तुम पर लानत है! तुम हमारे बेटे कहलाने योग्य नहीं हो। गुरु के आदेश की अवहेलना? मेरे घर से निकल जाओ। पंडितजी तुम्हें अपना कर्तव्य निभाने के लिए बुला रहे हैं, बल्कि तुम्हें अवसर दे रहे हैं। उनकी इच्छा को शिरोधार्य मानकर तुम्हें जाना चाहिए।" अण्णासाहब के लिए अपने पिता तो श्रद्धा और आदर का केंद्र थे। उनकी इस ताड़ना का प्रभाव उनपर हुए बिना कैसे रहता? अब सोचने पर लगता है कि अण्णासाहब वस्तुत: अपनी भीतरी प्रेरणा से वकालत का पाठ्यक्रम चुनना चाहते थे या तत्कालीन काल-प्रवाह में बहकर केवल सहपाठी ग्रेजुएटों का अनुकरण करना चाहते थे, इसका निर्णय करना एक तरह से कठिन है; किंतु लखनऊ पहुंचने के उपरांत संगीत-शिक्षा, राग-निर्माण, बंदिशों की रचना आदि में आपने जो जौहर दिखलाए उससे तो यही प्रमाणित होता है कि विधाता ने उन्हें न्यायालयों की पैरवियों में उलझाने की अपेक्षा संगीत के 'संवादी' वातावरण में अपना मार्ग प्रशस्त करने के लिए ही गढ़ा था।

इस प्रकार अपने गुरुवर पं. भातखंडेजी के आदेशानुसार अण्णासाहब जुलाई १९२६ में मैरिस म्यूजिक कॉलेज में एक प्राध्यापक के नाते काम करने के लिए उपस्थित हुए।

आरंभ में महाविद्यालय की छात्रसंख्या उतनी आशाजनक नहीं थी। उस काल संगीत की

साधना के प्रति सभ्य समाज में न केवल निरुत्साह की भावना थी, बल्कि इस उपक्रम को प्रतिष्ठा के विरुद्ध भी माना जाता था। सच तो यह है कि महाविद्यालय के विधायकों को और विशेषत: पंडितजी को समाज में प्रचलित इस दृष्टिकोण में ही परिवर्तन लाना था और कालक्रम के साथ इस लक्ष्य की पूर्ति संतोषजनक रूप में हो सकी। शुरू में छात्रसंख्या की कमी पर एक उपाय सोचा गया। उस काल लखनऊ में संभ्रान्त परिवार के जो सुविद्य सज्जन थे, उनके साथ संपर्क स्थापित किया गया। उन दिनों सर्वश्री राधाकुमुद एवं राधाकमल मुखर्जी, धूर्जटीप्रसाद मुखर्जी, प्रो. सिद्धांत ये सब बंगालीबंधु जो लखनऊ में आकर बसे थे, उनको संगीत में विशेष रुचि थी। धूर्जटीप्रसाद मुखर्जी यूनिवर्सिटी प्रोफेसर थे। कोई योगी अरबिंदो के तो कोई गुरुदेव टागोर के शिष्य थे। धूर्जटीप्रसादजी ने तो कहा कि मैं पहले अपना नाम दर्ज करता हूं। उनका नाम पहले लिखा गया। फिर इन गण्यमान्य विबुधों की देखादेखी अन्य घरों के युवा लोग भी कॉलेज में पढ़ने के लिए उत्सुक हो गए।

प्राध्यापकों के नाते शुरू में जो नियुक्तियां हुईं उनमें स्वयं अण्णासाहब, उनके साथ ग्वालियर के माधव संगीत विद्यालय के कंठसंगीत के स्नातक 'संगीत रत्न' श्री जी.एन. नातू, लखनऊ के ध्रुपदिए अहमदखां, सारंगीनवाज बाकरअलीखां और लखनऊ के जाने-माने तबलावादक आबीदहुसेनखां थे। कुछ महीनों के बाद दक्षिण हैदराबाद के तानरसखां घराने के बाबा नसीर, वृद्ध गायक छोटे मुन्नेखां, नानासाहब पानसे के घराने के पखावजवादक श्री सखाराम गुरव तथा माधव संगीत विद्यालय, ग्वालियर के एक और स्नातक श्री बी.एस्. पाठक इन सभी की नियुक्ति हो गई। इन नामों से पता चलता है कि कॉलेज के प्रबंधकों ने, जिनमें पंडितजी के शैक्षणिक परामर्श को सर्वाधिक महत्त्व था, आरंभ से ही उच्च कोटि के कलाकारों एवं अध्यापकों का सहयोग प्राप्त कर लिया था। महाविद्यालय के सांगीतिक महत्त्व को जनता तक पहुंचाने की दृष्टि से समय समय पर शिष्यों तथा अध्यापकों के गायनवादन के कार्यक्रम आयोजित किए जाते। पं. भातखंडेजी महाविद्यालय के कार्य को सुचारु रूप से गतिमान करने के हेतु मार्च १९२७ तक लखनऊ में ही रहे। इस दीर्घ अवधि में उन्होंने महाविद्यालय की गतिविधियों पर बारीकी से ध्यान दिया। कभी कभी कक्षाएं पढ़ाते और छात्रों के लिए संगीतशास्त्र पर भाषण दिया करते। १९२८ से ३३ तक पंडितजी वर्ष में कम से कम दो बार लखनऊ अवश्य पधारते और कॉलेज के कार्यों में दखल देते तथा अन्य आवश्यक बातों के संबंध में अध्यापकों को परामर्श दिया करते।

कॉलेज के प्रिन्सिपल के पद पर आरंभसे ही किसी संगीत के विद्वान की ही नियुक्ति करने की अपेक्षा भातखंडेजी ने दूसरा मार्ग अपनाया, जिसमें पं. भातखंडेजी की एक विशेष दूरदर्शिता थी। कॉलेज के दो पक्ष होते हैं। एक शैक्षणिक और दूसरा प्रशासनिक। शैक्षणिक पक्ष तबतक सुचारु रूप से पल्लवित नहीं हो पाता जबतक प्रशासनिक पक्ष पक्की बुनियाद पर खड़ा न हो। फिर जहां सरकारी अनुदान होता है वहां तो बीसों प्रकार के पत्राचार और नियमावलियों का परिपालन आदि सब का निर्वाह पूरे दायित्व के साथ करना पड़ता है। पंडितजी इन सब बातों को जानते थे। अत: उन्होंने १९२६ से १९२८ तक प्रिंसिपल के नाते एक अवकाशप्राप्त प्रशासनिक अधिकारी को ही नियुक्त किया। महाविद्यालय के पहले प्राचार्य बंबई के **श्री माधवराव जोशी** रहे। ये सज्जन पुणे में शासकीय शिक्षा विभाग में अधिकारी थे और उन्हीं दिनों वहां से अवकाश ग्रहण कर चुके थे। आप भातखंडेजी के अभिन्न मित्र **श्री दत्तात्रय केशव जोशी,** जिनका

नाम 'हिंदुस्तानी संगीत पद्धति' की क्रमिक पुस्तकों पर संपादक के नाम से छपा हुआ मिलता है, के छोटे भाई थे और संगीत में और मुख्य रूप से पंडितजी के कार्य में विशेष रुचि रखते थे। संगीत का अभ्यास उनका कोई खास नहीं था, किंतु प्रशासनिक अनुभव पक्का था। दो वर्ष तक श्रीमान जोशीजी ने प्राचार्य का पद संभालकर महाविद्यालय के प्रशासन को सुचारु रूप से चलाया और तत्पश्चात् अण्णासाहब रातंजनकर उस पद पर आसीन हुए। इन शुरूवाले दो वर्षों में अण्णासाहब ने महाविद्यालय के प्रशासन के विषय में काफी कुछ जान लिया था, फिर आगे उन्होंने अपनी मेधा के बल पर उसमें काफी सुधार भी किए और १९५६ तक उनका बहुमूल्य नेतृत्व – दोनों पक्षों में, प्रशासनिक एवं शैक्षणिक – महाविद्यालय को मिलता रहा।

कर्तव्य-बंधन

महाविद्यालय की आर्थिक स्थिति वैसे गंभीर ही थी। किंतु इसमें से जो मार्ग निकला उसमें भारतीय संस्कृति के त्याग, तपस्या और कर्तव्यपालन का आदर्श ही प्रमाणित हुआ। मैंने अभी बताया कि साल डेढ़ साल की अवधि में कॉलेज का नाम अत्र-तत्र फैल गया। किंतु धीरे धीरे कॉलेज की स्थापना में रायसाहब और उनके सहयोगियों ने जो धन लगाया वह समाप्ति पर आने लगा। वैसे अध्यापकों को कुछ अधिक वेतन तो नहीं दिया जा सकता था; यही पंद्रह से पचास तक योग्यतानुसार दिया जाता था। प्रिंसिपल बनने के बाद अण्णासाहब का वेतन एक सौ पचास हो गया, किंतु वह भी हर महीना नियमित रूप से मिलना कठिन था। फिर भी सीमित छात्रसंख्या के कारण केवल शुरूवाली पूंजी पर महाविद्यालय का रथ हांकना संचालकों को मुश्किल गुजर रहा था।

पं. भातखंडे लखनऊ आए और यह सारी परिस्थिति देखकर उनके मन में आया कि मेरे शिष्य 'बाबू' को केवल मेरी आज्ञा पर यहां अल्प वेतन में काम करना पड़ रहा है; अब उसे आगे भी इसी तरह त्यागपूर्वक यहां रहो यों कहना कहांतक समीचीन होगा? सब सोच-विचार के बाद उन्होंने अण्णासाहब से कहा –

"देखो मैंने तुम्हें यहां बुलाया था; अब तुम्हें अपने वचन से मुक्त करता हूं। अब तुम्हें बंबई जाने की इच्छा हो तो मेरे साथ लौट सकते हो।" जब यह वार्तालाप हो रहा था तब राय उमानाथजी वहीं पर मौजूद थे। कॉलेज में नियुक्त हो जाने के बाद उसके आधारस्तंभ रायसाहब से अण्णासाहब का अकृत्रिम स्नेह स्थापित हो चुका था। वे अण्णासाहब को 'श्रीकृष्णा' के निकटतर संबोधन से संबोधित करने के 'हकदार' हो गए थे। (यह इसलिए कह रहा हूं कि इस नाम से हमारे गुरुवर को पुकारनेवाले दूसरे बुजुर्ग एक ही थे – उस्ताद फैयाजखांसाहब!) फिर इस कालावधि में अण्णासाहब कॉलेज के माहौल से रचपच गए थे। तो जब रायसाहब ने पंडितजी की उपर्युक्त बात सुनी तब वे अपने को रोक न सके। उन्होंने भावभीने स्वर में पूछा –

"श्रीकृष्णा, तुम हमें छोड़कर जा रहे हो?"

प्रश्न बहुत छोटा था; किंतु अंत:करण के भीतर से पूछा गया था। इस सारे भावपूर्ण वातावरण का यों असर हुआ कि अण्णासाहब के मुख से हठात् निकल पड़ा-

"नहीं, रायसाहब नहीं। मैं आपके साथ ही रहूंगा। मेरा यह वचन है।"

पंडितजी को अपने शिष्य के इस उद्‌गार से कितना संतोष और कितनी प्रसन्नता हुई होगी,

इसका अनुमान हम कर सकते हैं। यहां हम देखते हैं कि अण्णासाहब ने सोच-समझकर ही संगीत की अभिवृद्धि के उद्देश्य से, अपने महनीय गुरुवर के आदर्शों का अनुसरण करते हुए और रायसाहब जैसे निष्ठावान नेता का साथ देने के हेतु अपने पारिवारिक सुख, व्यावसायिक सफलता, सुरक्षित सुखमय जीवन आदि सबको न्योछावर कर दिया। आगे चलकर हम लखनऊ के उनके निवासस्थान, दिनचर्या आदि के संबंध में देखेंगे तो इस त्यागवृत्ति के और और पहलू खुलेंगे।

१९२८ में श्री माधवराव जोशी ने प्रिंसिपल पद से अवकाश लिया और अण्णासाहब महाविद्यालय के प्राचार्य नियुक्त हुए। महाविद्यालय के सर्वाधिकारी की हैसियत से संस्था की सभी स्थितियां धीरे धीरे उन्हें अवगत होती गईं। कॉलेज के लिए वार्षिक आठ-एक हजार का शासकीय अनुदान मिलता था, जो बहुत ही अपर्याप्त था। और वह भी कभी छः महीने तो भी आठ महीने विलंब से प्राप्त होता था। अण्णासाहब ने इस बारे में एक दूसरा ही रवैया अपना लिया था। जब भी अनुदान हाथ में आ जाता तब वे उसे पहले अध्यापकगणों मे बांट देते थे और बचे हुए अंश को - जो अत्यल्प रहता – अपने लिए रख लेते।

अध्यापन-प्रणाली

उस कालखंड में हिंदुस्थानी संगीत के क्षेत्र में सामूहिक अध्यापन की दो ही प्रणालियां प्रचलित थीं। दो युगपुरुष उसके विधाता थे – पं. विष्णु दिगंबर तथा पं. भातखंडे। परंतु दोनों पद्धतियों में, दोनों के दृष्टिकोण में आपको पर्याप्त अंतर मिलेगा।

लाहौर में १९०१ में विष्णु दिगंबरजी ने गांधर्व महाविद्यालय को स्थापित किया तब वहां पर उन्हीं छात्रों को पक्की तालीम के लिए प्रवेश था जो 'बॉण्ड' या अनुबंधपत्र लिखकर आते थे। ऐसे चुने हुए छात्रों को खास शिक्षा देकर पंडित पलुसकरजी ने उनका एक 'उपदेशक वर्ग' बनाने की पद्धति चलाई थी। उन्हींके द्वारा वे सर्वसाधारण छात्रों को गायन-वादन की शिक्षा दिलाते थे। इसके लिए उन्होंने एक लघुरूप पाठ्यक्रम बनाया था। उदाहरण के लिए, इस पाठ्यक्रम में आरंभिक तौर पर बड़े स्वरांतरवाले राग सिखाने का विधान था। उसमें यह विचार था कि स्वरांतर बड़े होंगे तो स्वर गले में आसानी से बैठ जाते हैं। यह उनकी अपनी एक दृष्टि थी। फिर राग की पहचान हो जाने के बाद उन रागों के सरल गीत सिखाए जाते थे। पंडितजी कहा करते थे कि मेरा उद्देश्य तानसेन बनाने की अपेक्षा 'कानसेनों' (याने जानकार श्रोता) का निर्माण करना है। फिर भी उन्होंने गुरुकुल पद्धति से कुछ शिष्यों को श्रेष्ठ गवैयों के रूप में विकसित किया और अपनी सामूहिक शिक्षा पद्धति से 'कानसेनों' की एक पीढ़ी तैयार कराई।

इधर लखनऊ में पं. भातखंडेजी ने अपना जो पाठ्यक्रम बनाया था उसका स्वरूप अलग था। इस पद्धति के मूल में रागों की 'ठाठ संकल्पना' थी, जो स्वयं आप ही के अनुसंधान का फल था। ठाठ पद्धति के अध्यापन में अपेक्षा यह थी कि छात्रों को इन दस ठाठों में होनेवाले रागों का स्वरज्ञान भली प्रकार से हो जाए। अर्थात् यहां स्वरज्ञान पर अधिक बल दिया गया था। याने यहां पर कुछ हद तक परंपरागत उस्तादों की शिक्षा-प्रणाली का आधार लिया गया था। पुराने उस्ताद जिस प्रकार पल्टे घुटवाते थे, वही तरीका यहां अपनाया गया। उस्तादी प्रणाली में यह स्वरज्ञान भैरव, भैरवी और यमन के पल्टों को घुटवाकर कराया जाता

था। भातखंडेजी ने भी उसी पद्धति का अनुसरण किया। इसमें यह शर्त रखी गई थी कि छात्र को एक वर्ष की अवधि में बारह स्वरों का भलीभांति ज्ञान हो जाना चाहिए।

लखनऊ के महाविद्यालय में एक एक 'पीरिएड' जो एक कक्षा का होता था डेढ़ घंटे का रहता था। प्रतिदिन (छुट्टियों को छोड़) ऐसी कक्षाएं ली जाती थीं। कक्षा के कार्य-क्रम में पहले डेढ़ घंटा रोज स्वरज्ञान कराया जाता था। उन दिनों 'काफी ठाठ' किनारे हट गया था और शुद्ध सप्तक का बिलावल ठाठ प्रचलित हो गया था। इसी बिलावल ठाठ को आधारभूत बनाकर पहले उसके स्वर और पलटे घुटवाने का उपक्रम चलता था। उसके पीछे स्वरों के उलट-पुलट क्रम से स्वरज्ञान को दृढ़मूल कराया जाता। फिर उसमें अलग अलग विकृत स्वरों का अभ्यास करवाकर बारह स्वरों का संपूर्ण ज्ञान छात्र को कराया जाता। इस प्रकार के पहले पहले पाठों को 'कर्ण संस्कार' (ear training) का नाम दिया गया था। यह स्वरज्ञान दो तरीकों से होता था– एक, हमने गाया और आपने उन स्वरों को पहचाना और दूसरे, आपने गाया उसके स्वरों को हमने पहचाना। इसमें उद्देश्य यह रहता था कि मैं क्या गा रहा हूं, यह मुझे मालूम होना चाहिए। इन दोनों तरीकों के कारण कान भली प्रकार तैयार हो जाते थे।

अब समयचक्र के बारे में बताएं तो कॉलेज का समय ३ से ८ तक रहता था। यही समय इसलिए रखा था कि जो नौकरी वगैरह नहीं करते थे और केवल संगीत सीखना चाहते थे, वे उस समय आ सकते थे। फिर संध्या को साढ़े पांच-छः तक का समय नौकरी-पेशा लोगों के लिए सुविधाजनक हो जाता था। अब जैसा मैंने बताया, प्रथम वर्ष में दस ठाठों में आनेवाले रागों की शिक्षा दी जाती थी। फिर दूसरे वर्ष वे ही राग विस्तृत रूप में सिखाए जाते। उसमें स्वरमालिका, लक्षणगीत, एक विलंबित ख्याल, एक द्रुत ख्याल, एक तराना, एक ध्रुपद और एक धमार इस क्रम से औसत विद्यार्थी को एक राग में जितना ज्ञान आवश्यक हो सकता था, उतना कराया जाता था। फिर आगे चलकर छात्र इसी आधार पर दूसरे रागों का भी ज्ञान प्राप्त कर सकता था। इस दूसरे वर्ष में उन्हीं दस रागों को बंदिशों के माध्यम से हृदयंगम कराया जाता था। तीसरे वर्ष में उन ठाठों में से ही और १५ राग सिखाए जाते थे। जैसे कि छात्र ने यमन सीखा है, अब उसे भूपाली सिखाओ। इससे कल्याण ठाठ में पांच स्वरों का भूपाली राग कैसा रूप दिखाता है इसका परिज्ञान हो जाता था। फिर इस ठाठ से निकले हुए दस-पंद्रह राग- हमीर, केदार, बिहाग, और बाद में बागेश्री, भीमपलासी, जौनपुरी, मालकंस, पिलू, तिलककामोद, देस आदि सिखाए जाते।

इस प्रणाली में तुलनात्मक अध्ययन की भी गुंजाइश रखी गई थी। जैसे, कालिंगड़ा, भैरव तो सीख लिया, मगर भैरव को कालिंगड़ा से अलग किस तरह करोगे? इसके सिवा बुनियादी राग पहले सिखाना और उनसे निष्पन्न होनेवाले राग तत्पश्चात् सिखाना- इस तरीके को भी अपनाया गया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि यहां संगीत की शिक्षा में प्रत्येक स्वर और स्वरांतरों की नींव सुदृढ़ करने पर ध्यान दिया गया था। स्वर लगाने का अभ्यास राग के हिसाब से करने पर ही संतोष नहीं माना गया था, बल्कि यह अपेक्षा रखी जाती थी कि एक ठाठ के बाद तुरंत किसी दूसरे ठाठ के स्वर लगाने में आवश्यक जितना स्वरज्ञान पर्याप्त मात्रा में हो जाना चाहिए। जैसे, पंचम तक मारवा गाओ, फिर उसके बाद भैरवी गाओ और बिलावल पर उतरो– इस प्रकार के पाठ करवाए जाते। मतलब यह कि स्वरज्ञान की शिक्षा में तोतारटंत को स्थान न देकर समझकर गाने पर बल दिया गया था। पं. भातखंडेजी ने पाठ्यक्रम तो बनाया,

किंतु उसका सही रूप में कार्यान्वयन अण्णासाहब के द्वारा ही हुआ। वे अपने गुरु की दृष्टि एवं अपेक्षाओं को आंतरिक रूप से जानते थे। इसलिए यह पाठ्यक्रम मैरिस कॉलेज में सुचारु रूप से कार्यान्वित हो सका।

क्रमविकास-पद्धति

प्राथमिक अवस्था में तो स्वरज्ञान पर ही जोर दिया जाता था। सिर्फ अलंकारों के लिए आरोह-अवरोह बताए जाते थे। पाठ्यक्रम में जितने पारिभाषिक शब्द आते थे उनका परिचय कराया जाता था। उदा. स्वरों के बारे में अचल, चल, विकृत, कोमल, तीव्र इत्यादि। तालज्ञान की शिक्षा इस प्रकार दी जाती थी कि सीखनेवाला ऊब न जाए। हरेक राग में दो-दो गीत सिखाए जाते थे और वहां ताल का संबंध आता था। बंदिशोंद्वारा ताल का ज्ञान अपने आप हो जाता था। लय को सिखाने का भी एक तरीका था। पहले आघात से लय सिखाते थे और बाद में आघात को बंद कर के समलय में जाने का अभ्यास करवाते थे। इसमें आघात पर बल देकर बंदिश और ताल का मेल बिठाने का अभ्यास होता था। अलग अलग तालों में गीत भी थे। शुरू में त्रिताल, झपताल, चौताल, दादरा, कहरवा आदि प्राथमिक वर्ष में पढ़ाए जाते थे। फिर दूसरे वर्ष में विलंबित ताल उसमें जोड़ दिए जाते थे। इसमें ध्रुपद-धमार के गायन का सहारा लिया जाता था। फिर छोटे छोटे आलापों से विस्तार करके सम पर आने का ढंग सिखाया जाता था।

तीसरे वर्ष में और अधिक प्रगत स्तर की गायकी दिखाई जाती थी। मगर छात्रों को दृष्टि दी जाती थी पीछे मुड़कर देखने के लिए। जो बातें प्रथम कक्षाओं में सिखाई जातीं उनका अनुप्रयोग पुराने सीखे हुए रागों में करवाया जाता था।

इन सब बातोंसे यह प्रतीत होता है कि इस पूरे पाठ्यक्रम को अध्यापनशास्त्र के आधार पर बनाया गया है, जब उस जमाने में अध्यापनशास्त्र जैसी संकल्पनाएं उतनी उभरी भी नहीं थीं। यह सब पंडित भातखंडेसाहब की मर्मग्राही दृष्टि, स्वयंसिद्ध ज्ञान और गहरी लगन का परिणाम था। उनके सामने ध्येय था हिंदुस्तानी रागदारी संगीत पर सौंदर्यात्मक तरीके से ज्ञान और व्यवहार के स्तर पर पकड़ पा सकनेवाले सुविद्य गायकों और श्रोताओं को तैयार करने का। इसलिए जो प्रणाली उन्होंने अपनाई उसमें सरल से कठिन की ओर, ज्ञात से अज्ञात की ओर आदि शैक्षणिक तत्त्वों का परिपालन अपने आप हो सका। इसीका भलाभांति अनुसरण अण्णासाहब ने आगे किया। बात यह थी कि पंडित भातखंडेजी के तीन अंतरंग शिष्य थे– वाड़ीलाल शिवराम, शंकरराव कर्नाड़ और हमारे अण्णासाहब। मानो ये उनके सिपाही थे। जो कुछ काम कॉलेज के माहौल में चलता था, ये सब उसमें शामिल हो जाते थे। वाड़ीलाल जी ने तो सैकड़ों बंदिशें अन्यान्य उस्तादों से इकट्ठा की थीं। पंडितजी ने पाठ्यक्रम में उन रचनाओं को भी समाविष्ट कर लिया। अब बड़ौदा में रहने के सिलसिले में अण्णासाहब के पास भी अनेक बंदिशों का संग्रह हो गया था। उन्हें भी यहां लिया गया। इसी प्रकार पं. राजाभैया पूछवाले ने भी अपने संग्रह से जो बंदिशें पंडितजी को दी थीं और जिनमें बहुत-सी पहले ही उनके पास थीं उनको भी स्थान मिला। इस तरह पाठ्यक्रम को संपन्न बनाने में इन प्रमुख शिष्यों और राजाभैया जैसे पंडितों का काफी योगदान रहा।

यहां कुछ विषयांतर के तौर पर ही सही किंतु ग्वालियर के माधव म्यूजिक कॉलेज के बारे

में बताना जरूरी है, क्योंकि यह कॉलेज लखनऊ कॉलेज से पूर्व १९१८ में खुला था। ग्वालियर के महाराजा माधवराव सिंदिया को संगीत से बड़ा लगाव था। उन्होंने अपने बंबई निवास में पंडितजी के कार्य की प्रशंसा सुनी और स्वयं उनकी संगीत-कक्षाओं में वेषांतर करके वे उपस्थित हुए। वहां पर पंडितजी की सुविहित अध्यापन-प्रणाली देखकर वे अत्यंत प्रभावित हुए और उन्हींके परामर्श पर अपनी रियासत में संगीत का विद्यालय स्थापित कर दिया। इस सिलसिले में पंडितजी ने महाराजा को एक अत्यंत महत्वपूर्ण सलाह दी कि ग्वालियर में ग्वालियर घराने की ही गायकी चलनी चाहिए, पाठ्यक्रम भले ही एक-सा हो। और यही तो पंडितजी की विशेषता थी। अण्णासाहब भी उसी मार्ग पर चलते रहे और उनकी शिष्य-परंपरा भी उसीका अनुसरण कर रही है। पंडितजी ने यह भी सलाह दी कि यहां ग्वालियर घराने के शिक्षकों को ही नियुक्त किया जाए। उन्होंने स्वयं ऐसे कुछ सात ज्येष्ठ और कुछ सामान्य अध्यापकों को चुना। उनमें राजाभैया पूछवाले, खंडेपारकर आदि प्रमुख थे। लखनऊ के मैरिस कॉलेज की स्थिति इससे भिन्न थी। इस कॉलेज का कॅनवास अधिक व्यापक और उदार था। हम कह सकते हैं कि मैरिस म्यूजिक कॉलेज की बदौलत लखनऊ शहर संगीत की कर्मभूमि बन गया। यह सच है कि मैरिस कॉलेज का कार्यकेंद्र बहुत अरसे तक लखनऊ ही रहा। उसकी शाखाएं कुछ समय बाद खुलीं। विष्णु दिगंबर जी का कार्य बहुत पहले शुरू हो चुका था। हमारे कॉलेज के लिए जब संलग्न संस्थाएं बनीं तब इसका भी प्रसार-कार्य शुरू हुआ। उस समय कॉलेज में संगीत-शिक्षा पाने के लिए श्रीलंका और बर्मा से भी छात्र आते थे। फिर सन १९३९-४० में जब यहां विद्यापीठ कायम हुआ तब कॉलेज की कीर्ति दूर दूर तक फैल गई। उस जमाने में तो कॉलेज में ५५० तक छात्रसंख्या थी। तब अण्णासाहब ने हम 'एडवान्स्ड' शिष्यों को एकेक दो-दो कक्षाओं को सिखाने के लिए नियुक्त किया। चरित्रगठन, व्यक्तित्व विकास आदि के लिए भी कॉलेज में कई उपक्रम चलाए जाते थे। समय समय पर गोष्ठियां आयोजित होती थीं। अण्णासाहब ने हम कुछ शिष्यों को भाषण देने का भी अवसर दिलाया जैसे, भातखंडे पुण्यतिथि हो या ऐसे और प्रोग्राम हों, उसमें बोलने के लिए हम आगे आते थे। कक्षा में तो हमें विषय को समझाना ही पड़ता था। संपूर्ण कॉलेज में एक पवित्र पारिवारिक वातावरण बना हुआ रहता था, जिसमें 'साधना' को सर्वाधिक प्राधान्य दिया जाता था। यह सब अण्णासाहब के प्रभावशाली व्यक्तित्व का सुफल था।

परीक्षाओं का स्वरूप

परीक्षाओं के नाम और उनकी मान्यता के बारे में बताना हो तो शुरू में प्रथम, द्वितीय और तृतीय वर्ष की परीक्षाएं रहती थीं। उनके लिए कोई नाम नहीं था। फिर मध्यमा याने इंटरमिजिएट सर्टिफिकेट और पांचवें वर्ष में विशारद ऐसी उपाधियां दी जाती थीं। वस्तुत: उन्हें 'डिग्रियां' नहीं कह सकते। क्योंकि यह संस्था कानून की धारा के तहत प्रस्थापित नहीं हुई थी। उसका स्वरूप गांधर्व महाविद्यालय की तरह मानी हुई (deemed) यूनिवर्सिटी की तरह था, जो आज भी डिग्रियां नहीं देता है। उन्हें सिर्फ 'डिग्री के समान' माना जाता है। लखनऊ मैरिस कॉलेज की भी अद्यावधि यही स्थिति है।

मैरिस कॉलेज के पाठ्यक्रम, परीक्षा, शिक्षा-प्रणाली आदि की महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इस संस्था का उद्देश्य प्रचारकेंद्रित नहीं था बल्कि ज्ञानकेंद्रित था। यहां पढ़नेवालों को संगीत



जिन्ना हॉल, बम्बई में आयोजित संगीत सम्मेलन में उपस्थित दिग्गज गायक-वादक कलाकारों की बिरादरी में
आचार्य रातंजनकरजी। (१९३५)। छायाचित्र में सामने खड़े कुछ प्रमुख कलाकारों में
उ. अज़मत हुसैन खां, पं. रातंजनकर, उ. गुलाम रसूल खां, उ. मंजीखां, उ. अल्लादिया खां, उ. फैयाज़ हुसैन खां,
उ. विलायतहुसैन खां, उ. अब्दुल करीम खां आदि। (संगीत महाभारती, बम्बई के सौजन्य से प्राप्त)

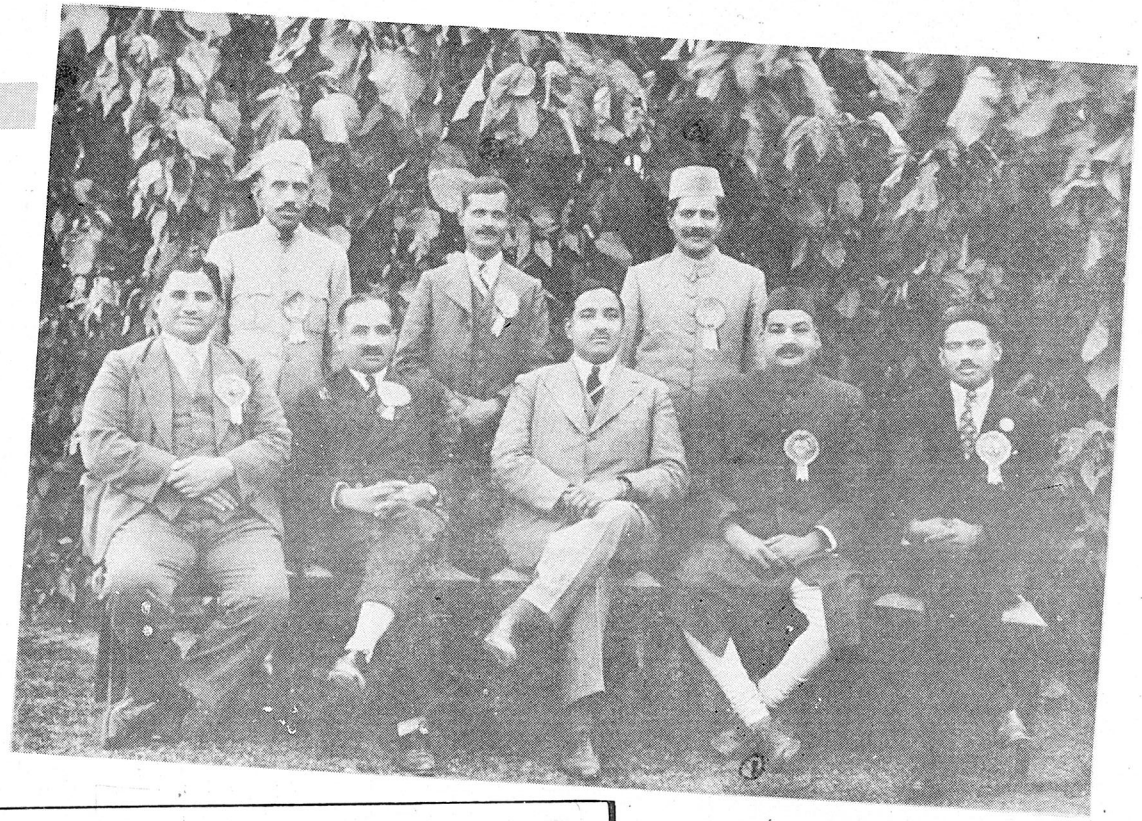

नवम आखिल भारतीय सम्मेलन के सदस्यगण (दाहिने, कुर्सीपर क्र. २) राय उमानाथ बली
(पीछे खड़े, दाहिने से क्र.१) ठाकुर जयदेव सिंह, क्र. २ डॉ. रातंजनकर

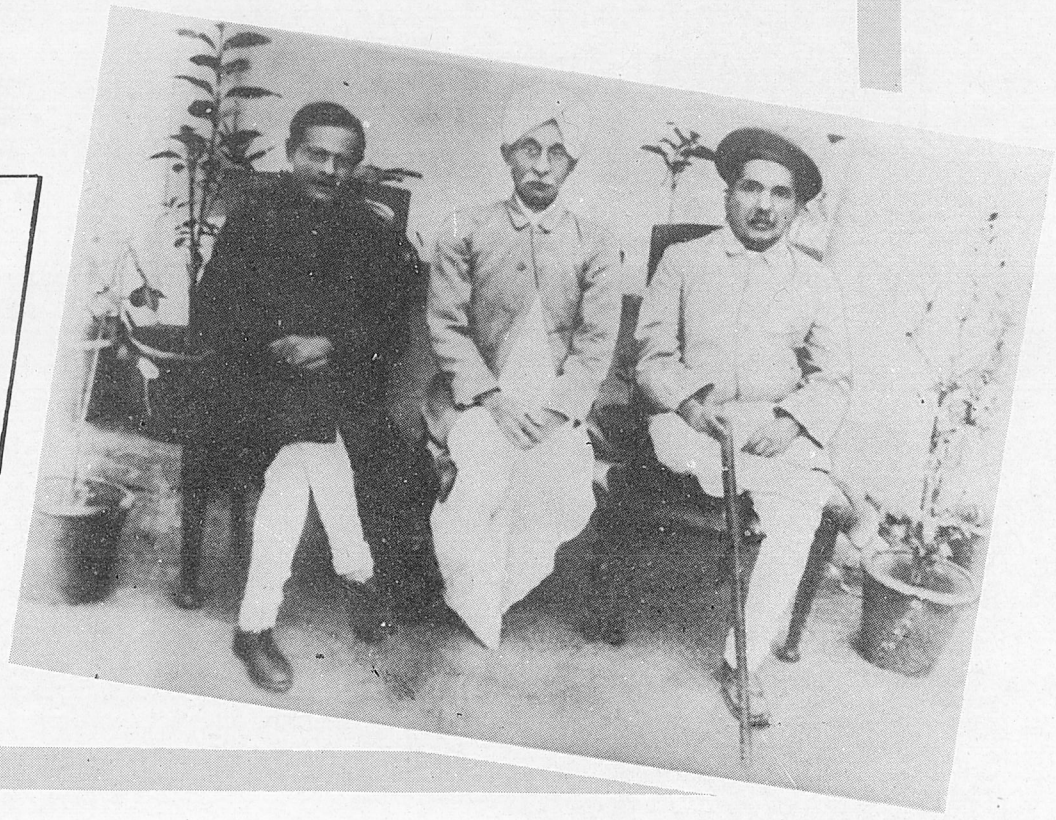

पं. भातखंडेसाहब के शिष्योत्तमत्रय
सर्वश्री रातंजनकर, वाडीलाल शिवराम,
राजाभैय्या पूछवाले

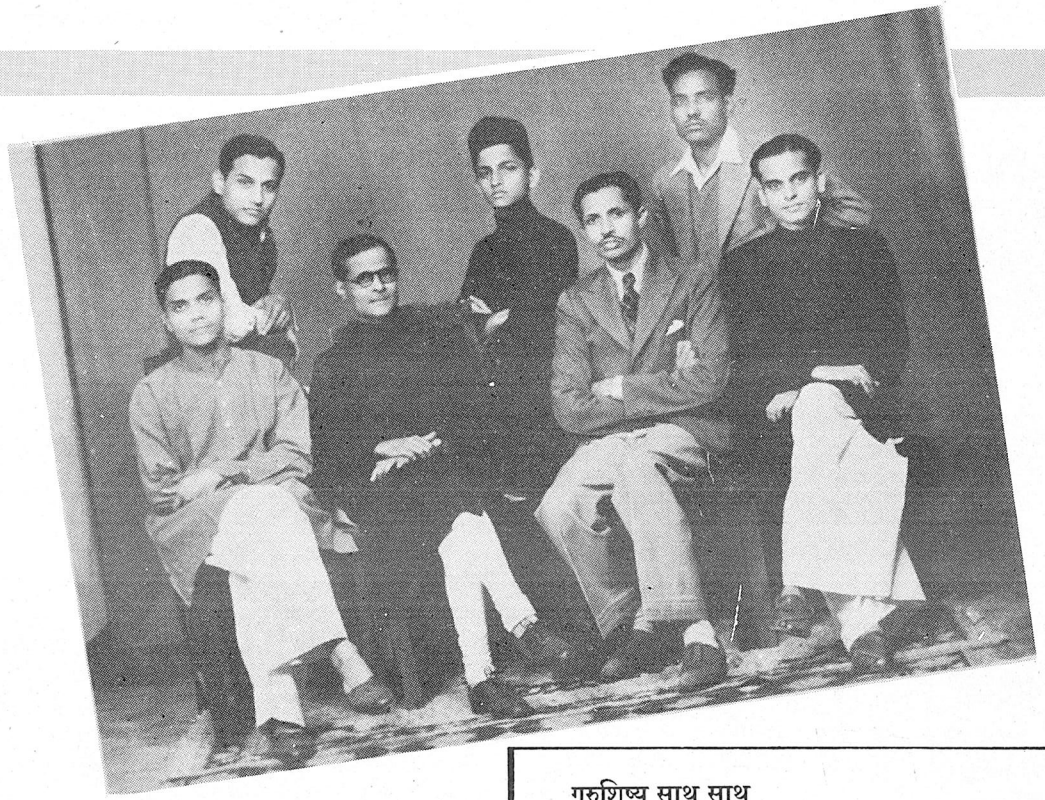

गुरुशिष्य साथ साथ
बैठे हुए (बाएं से) एस्. सी. आर. भट, पं. अण्णासाहब रातंजनकर, जी. एन. नातू,
मोहनराव कल्याणपुरकर; पीछे खड़े (बाएं से) के. जी. गिंडे, दिनकर कायकिणी, हजारीलाल

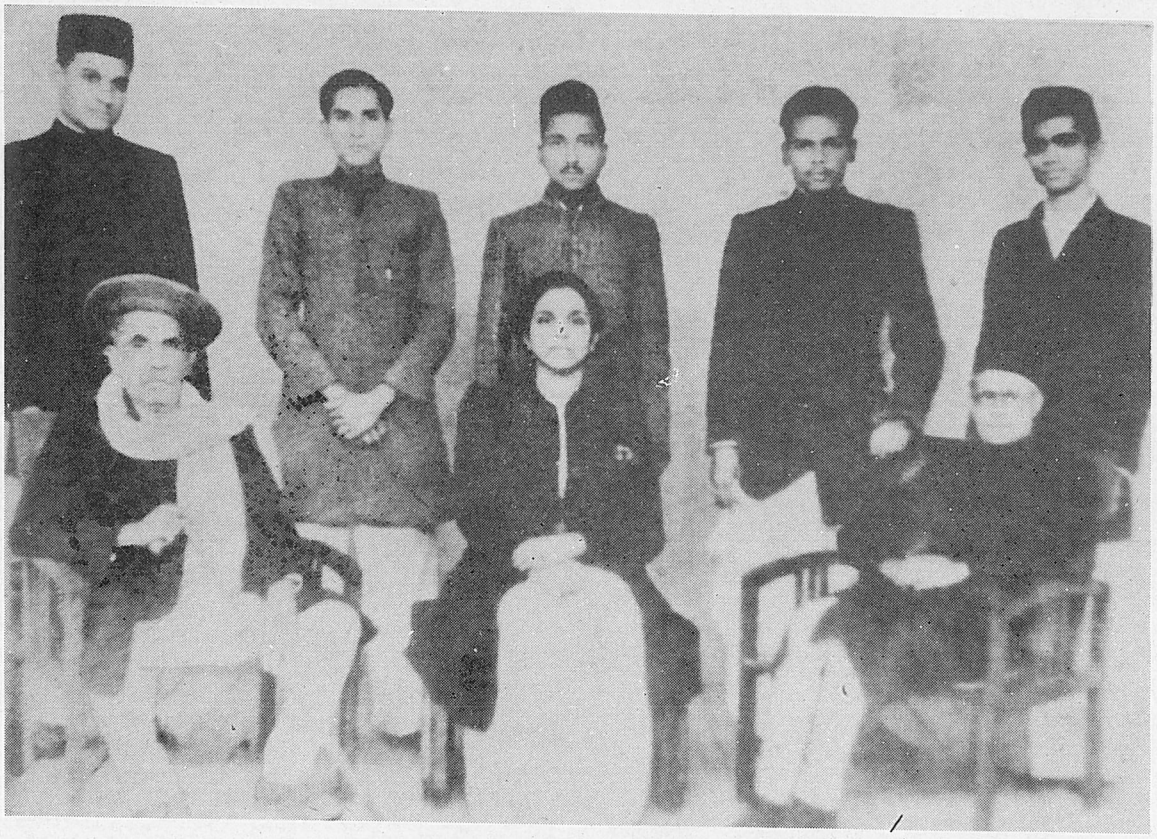

एक दुर्लभ क्षण : रातंजनकर ' निपुण ' छात्रों के साथ

बाएं से दाएं—

कुर्सियों पर : सर्वश्री (१) राजाभैय्या पूंछवाले (२) सुमति मुटाटकर (३) डॉ. श्रीकृष्ण रातंजनकर

खड़े : सर्वश्री (१) के. जी. गिंडे (२) प्र. ना. चिंचोरे (३) गो. ना. दंताळे (४) दाऊजी गोस्वामी (५) गजानन आयलवार.

'निपुण' की प्रथम परीक्षा : पं. रातंजनकर मान्यवर परीक्षकों एवं चंद शिक्षकों के साथ

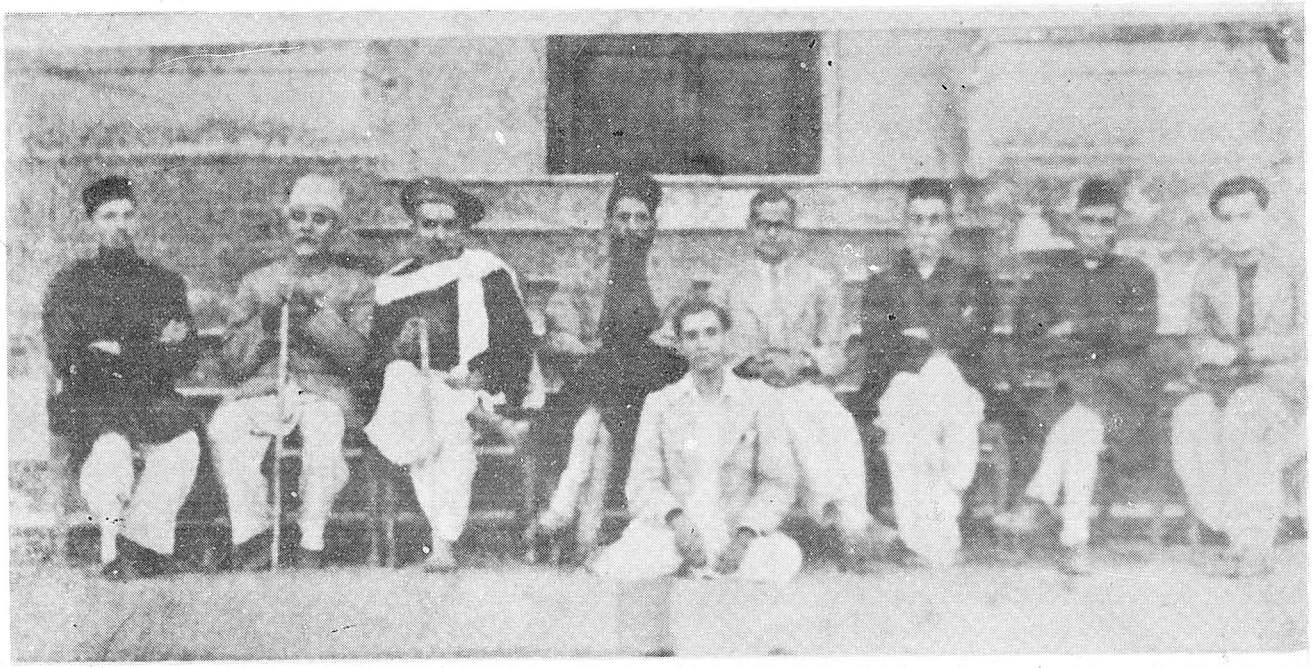

फर्श पर- प्रभाकर चिंचोरे (परीक्षार्थी)

बाएं से दाएं कुर्सियोंपर— 'निपुण' की प्रथम परीक्षा : पं. रातंजनकर मान्यवर परीक्षकों एवं चंद शिक्षकों के साथ

सर्वश्री (१) प्रो. गो. ना. नातू (२) उस्ताद अलाउद्दीन खां (३) पं. राजाभैय्या पूंछवाले (४) उस्ताद मुश्ताक हुसैन खां

(५) डॉ. श्रीकृष्ण रातंजनकर (६) पं. वाडीलाल शिवराम (७) पं. सखाराम (८) प्रो. विष्णु जोग

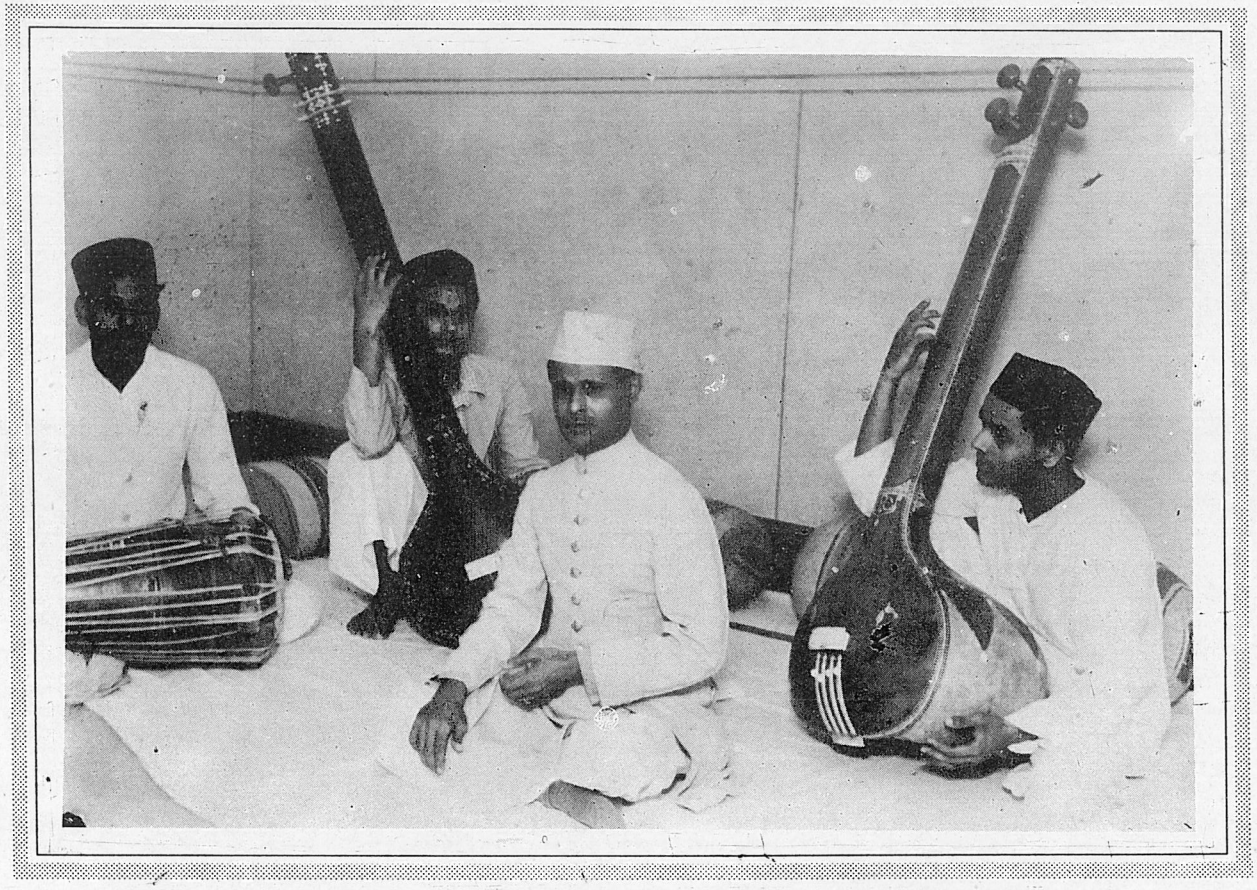

आचार्य रातंजनकरजी आकाशवाणी लखनऊ केन्द्र से भैरवी में आलाप एवं होरी-धमार प्रस्तुत करते हुए। (१९४१-४२);
पखवाज पर पं. हजारीलाल और तानपुरों पर पं. के. जी. गिण्डे तथा पं. एस्.सी. आर. भट

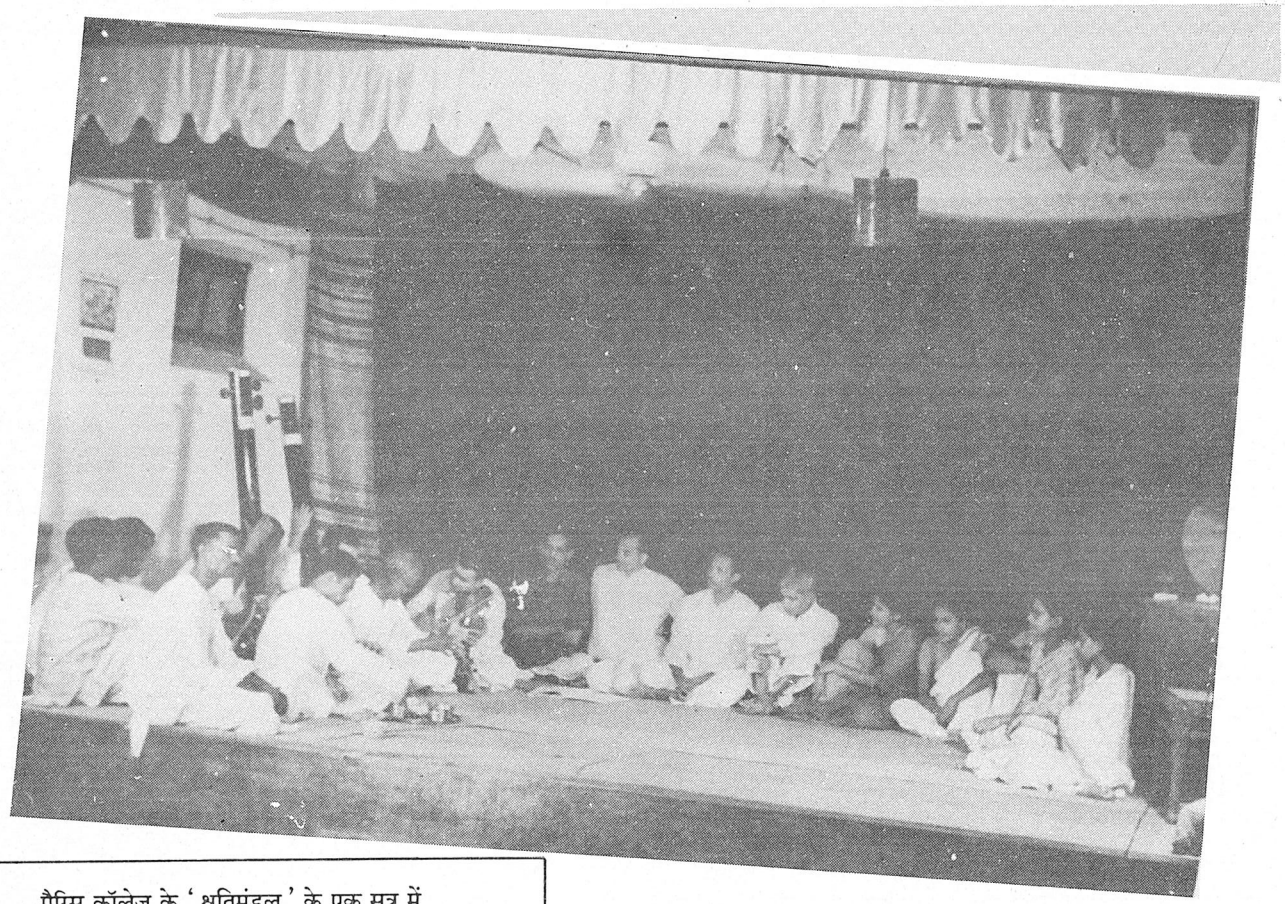

मैरिस कॉलेज के 'श्रुतिमंडल' के एक सत्र में
पं. रातंजनकर जी का गायन (१९४८-४९)



Sitar Nawaz HamidHussain Khan



Ustad Bundu Khan - the superb
Sarangi maestro a great admier of
Pdt. Bhatkhande, and a visitor of the College

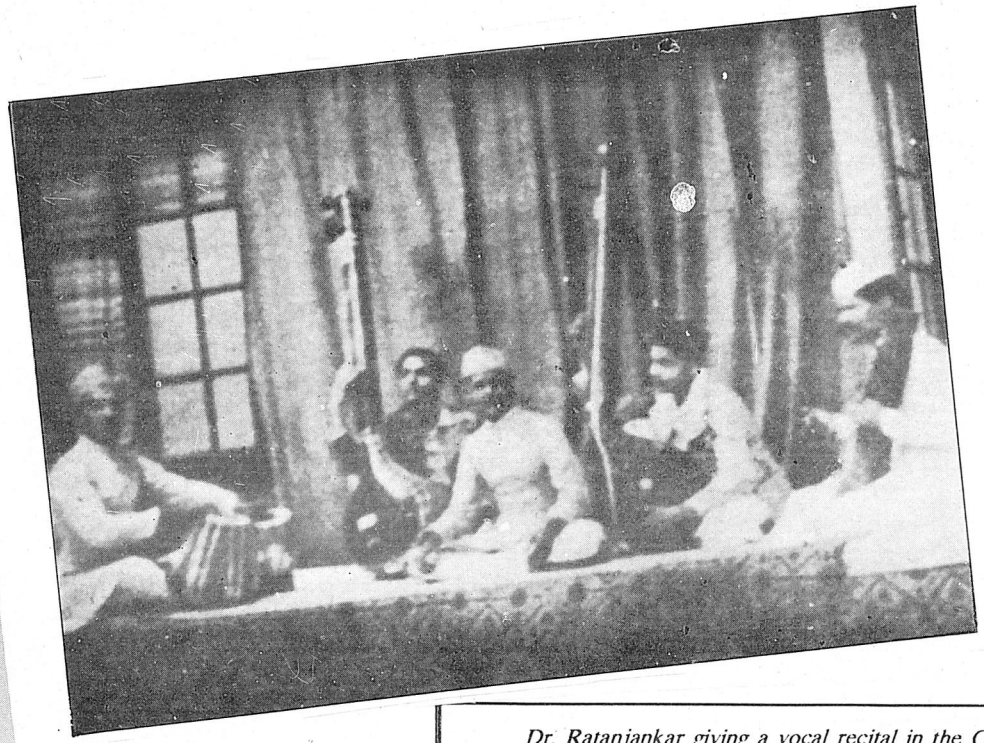

Dr. Ratanjankar giving a vocal recital in the College accompanied on the Sarangi by Mirza Mahmood Ali, on the Tabla by Sadashiv (son of Pdt. Sakharamji), and vocal support by S.A. Mahadkar and S.C.R. Bhat.

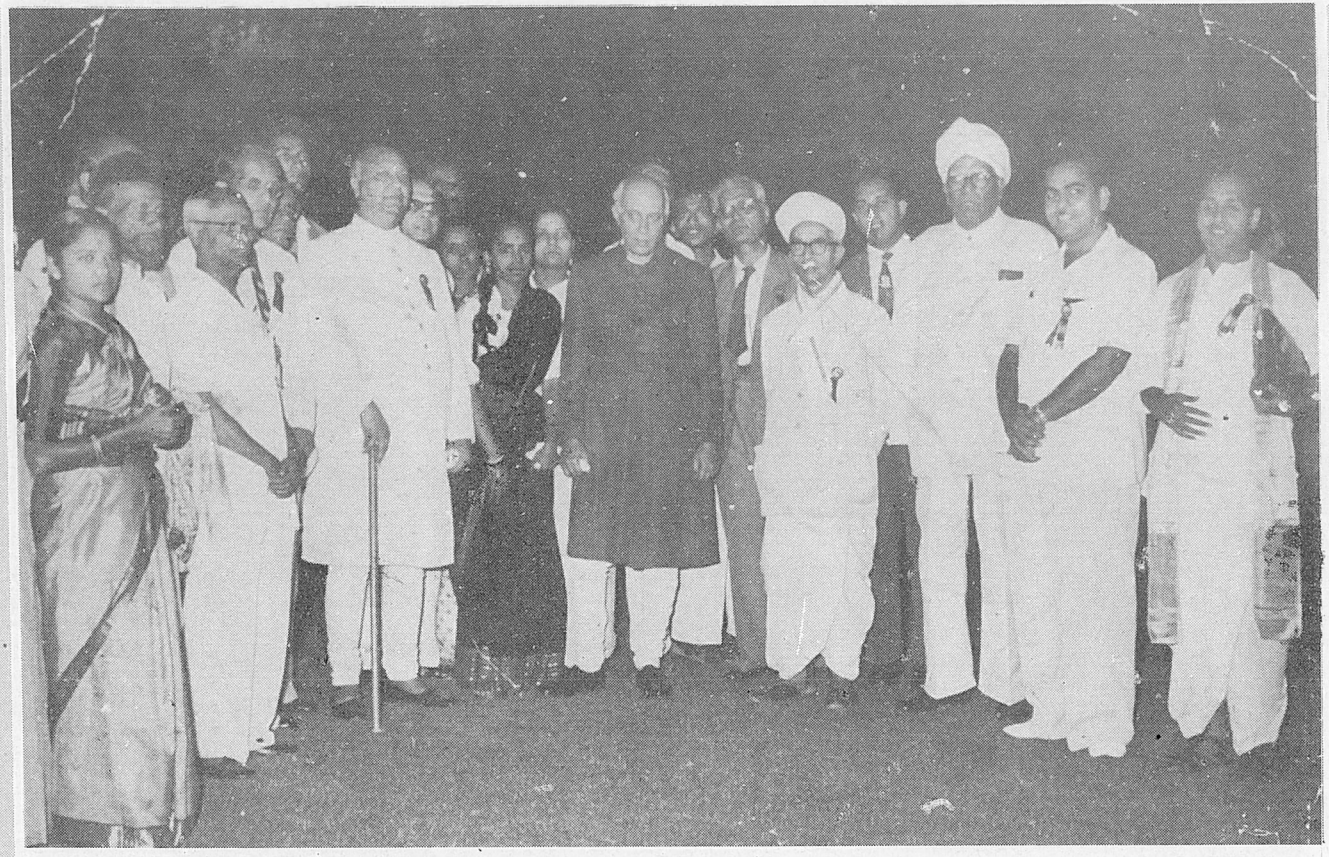

संगीत नाटक अकादमी नई दिल्ली के एक कार्यक्रम में—
कलाकारों के समवेत पं. जवाहरलाल नेहरू (बाएं से दूसरे क्रमांक पर) उ. मुश्ताक हुसेन, (तीसरे) पं. रातंजनकर



संगीत नाटक अकादमी में गण्यमान्यों की चरणधूलि
पं.रातंजनकर, पं. हक्सर, जस्टिस टी. एल. वेंकटराम अय्यर, श्रीमती रुक्मिणीदेवी अरुंडेल,
प्रो. पी. सांबमूर्ति...



संगीत नाटक अकादमी (दिल्ली) सलाहकार समिति —
प्रधानमंत्री पं. नेहरू के समवेत - उ. मुश्ताक हुसेन, श्रीमती निर्मला जोशी, पं. रातंजनकर, न्यायमूर्ति राजमन्नार (उनके पीछे की तरफ)श्री वामनराव देशपांडे, श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय, प्रो. बी. आर. देवधर, प्रो. सांबमूर्ति, न्यायमूर्ति वेंकटराम अय्यर.

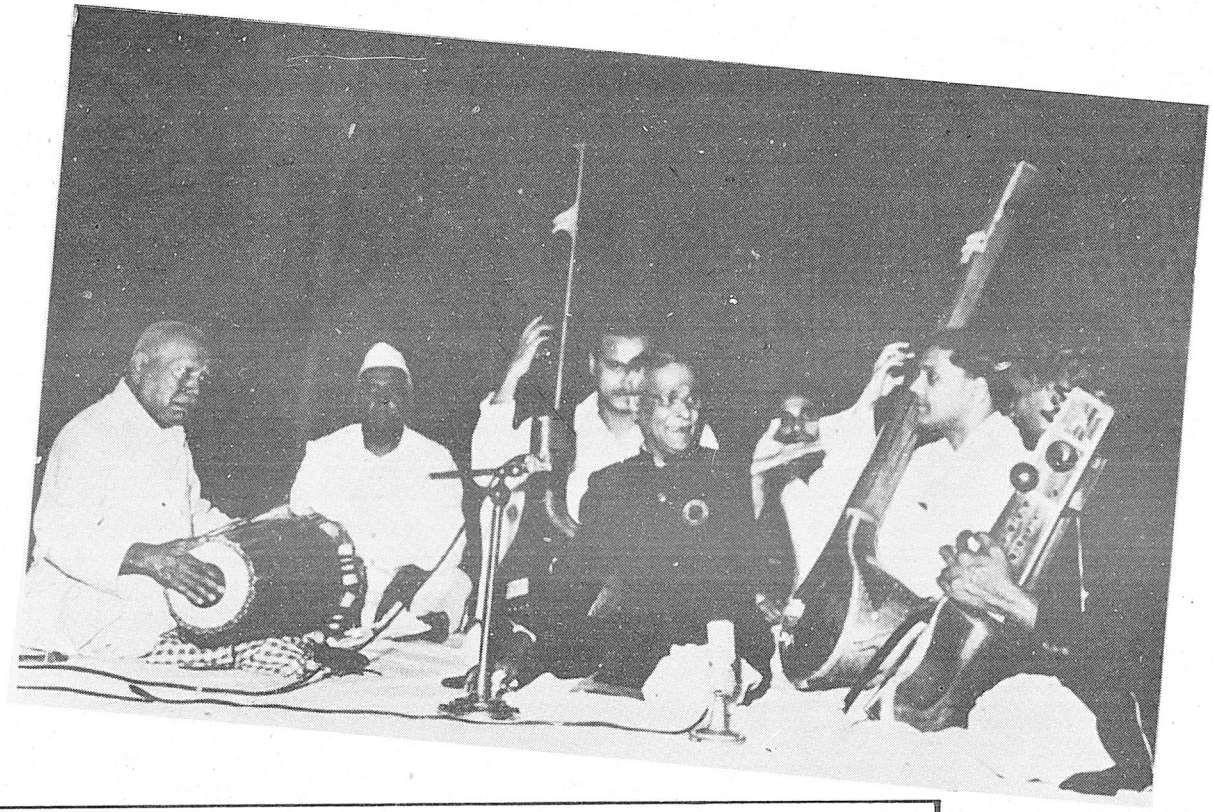

संगीत नाटक अकादमी दिल्ली ' ध्रुपद-धमार ' पेश करते हुए अपनी उपज पर प्रसन्न आचार्यजी (पखावज) पं. गोविंदराव बऱ्हानपुरकर, (तानपूरा)-पं. गिंडे और पं. एस.सी.आर. भट



आकाशवाणी लखनऊ उद्घाटन २ अप्रैल १९३९ के अवसर पर सजी हुई महफिल में गाते हुए (वायोलिन)
पं. वी. जी. जोग



एक तरुणाई मुद्रा



ऐसी निर्व्याज प्रसन्नता !



Bhatkhande Sraddhanjali Programme from the Lucknow Station of All India Radio presented by Principal Ratanjankar, members of the/teaching staff, and students from many provinces. Among the staff may be seen Pdt. G.N. Natu, Pdt. Sakharam, Sri. Jog, Sri. Umar Khan, Sri. Mohammad Ali, Sri. S.N. Bali, Sri. Sadashiv and others.

के विषय में अधिक गहराई तक ले जाने की दृष्टि रखी गई थी। हम लोग - एस्.सी.आर. भट, में खुद वगैरह - वहीं पर पढ़े हुए हैं। इस कॉलेज से स्नातक बनकर निकले हुए बहुत से छात्रों ने संगीत के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। पं. चिन्मय लाहिरी, रोशनलाल जैसे संगीत-निर्देशक, ठुमरी पर कार्य करनेवाले शत्रुघ्न सिन्हा, डॉ. सुमति मुटाटकर जैसी संगीत विदुषी ऐसे अनेक नाम बताए जा सकते हैं। तलत महमूदजी ने हमारे एस.सी.आर. भटजी से तालीम ली है। यह सब उस महाविद्यालय की शिक्षा-प्रणाली का, वहां के विशुद्ध संगीतमय वातावरण का और अण्णासाहब की गहन शैक्षणिक दृष्टि का सुफल था। अण्णासाहब के मन में यहां तक था कि विशारद तक एक सामान्य पाठ्यक्रम रखा जाए और उसके बाद जिसकी आवाज जिस पद्धति के लिए अनुकूल हो उसके अनुसार उसे अपना विकास करने दिया जाए। जैसे, जिसकी आवाज धीरगंभीर और ओजपूर्ण है उसे ध्रुपद धमार गायकी सिखाई जाए। जिसकी आवाज पतली है, भावुकता से भरी है उसे ठुमरी गायन सिखाया जाए। परंतु आर्थिक बाधाओं के कारण यह विचार साकार नहीं हो सका।

बहुआयामी कार्य

कॉलेज के प्रदीर्घ कार्यकाल में संगीत की दृष्टि से अण्णासाहब का कार्य बहुआयामी रहा। विभिन्न दायित्वों को उन्होंने अत्यंत गरिमा और ध्येयवादिता के साथ निभाया। संगीत के अध्यापक और प्रशिक्षक के रूप में तो आठों प्रहर छात्रों के लिए आप सदैव उपलब्ध रहते। जब जब अवसर मिले वे प्रात्यक्षिक के साथ संगीत की बारीकियों को समझा देते। महाविद्यालयों और विद्यालयों के पाठ्यक्रम बनाने के लिए उन्हें जगह जगह से निमंत्रित किया जाता। उसमें मैट्रिक्युलेशन से लेकर पीएच्.डी. तक की संगीतविषयक परीक्षाओं का अंतर्भाव रहता। तत्कालीन संयुक्त प्रांत एवं राजपूताना के विद्यालयों तथा इंटरमीजिएट पाठ्यक्रम के अध्ययन मंडल (बोर्डस्) तथा अलाहाबाद, आगरा, बनारस, राजपूताना, पंजाब, जम्मू-काश्मीर, नागपुर, बड़ौदा, बंबई, कलकत्ता, मद्रास और ग्वालियर का माधव म्यूझिक कॉलेज इत्यादि सभी को अण्णासाहब के मूल्यवान परामर्श की आवश्यकता रहती थी। इसी प्रकार अन्यान्य संगीत-परिषदों, संगोष्ठियों, परिचर्चाओं आदि में अण्णासाहब का निरंतर सक्रिय सहभाग रहता और जहां जहां अवसर मिलता वे संगीत के किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर अपना अभिनव प्रपत्र अवश्य प्रस्तुत करते। परवर्ती काल में आप दिल्ली की संगीत नाटक अकैडमी की कार्यकारिणी में उत्तर प्रदेश के प्रतिनिधि सदस्य भी बने। इन सभी कार्यकलापों के दौरान भी उनकी व्यक्तिगत संगीत-साधना, संगीत-चिंतन, बंदिशों की रचना, ग्रंथों का निर्माण इत्यादि कार्य भी चलता ही रहता। इन सब बातों से पता चलता है कि अण्णासाहब किस प्रकार उत्तर भारत के संगीत जगत् पर एक तरह से छा गए थे और अपनी विद्वत्ता एवं कार्यकुशलता के कारण दिखावटी नहीं बल्कि वास्तविक सम्मान के अधिकारी हो गए थे। अपने इस यश का श्रेय वे हमेशा अपने पथप्रदर्शक गुरुवर पं. भातखंडेजी को देते। अण्णासाहब के नाम के लिए किसी भी कोने से विरोधी स्वर प्रकट नहीं होता था। ऐसा नहीं कि केवल पढ़-लिखे बाबू वर्ग में ही वे सम्मान के अधिकारी थे, बल्कि व्यावसायिक महफिलों के उस्ताद और पंडित भी उनकी कला की दाद देते थे। गुरुवर हमें कभी बताया करते—

"यह स्थान मुझे क्यों मिला है जानते हो? मेरे गुरु वास्तव में 'चतुर पंडित' थे। उन्होंने

सोच समझकर ही मुझे फैयाजखांसाहब का गंडा बंधवाया था। अगर मैं खांसाहब का शागिर्द न होता तो मुझे इतनी मान्यता न मिलती। इसमें उनकी दूर दृष्टि थी।''

लखनऊ में अण्णासाहब के निकट संपर्क में रहते हुए मैंने यह बराबर अनुभव किया है कि कोई भी गायक, वादक या नर्तक लखनऊ आया हो और अण्णासाहब से भेंट किए बिना लौटा हो, ऐसा कभी नहीं हुआ। महाराष्ट्र के विख्यात ग्वालियर गायक पं. रामकृष्णबुवा वझे का उदाहरण बताता हूं। बुवासाहब को इच्छा हुई कि मृत्यु के पूर्व अपने गुरु के स्थान के दर्शन कर आऊं। साथ साथ काशीयात्रा भी उन्हें करनी थी। बुवासाहब अपने गुरुघर ग्वालियर पहुंचे। वहां कृष्णराव पंडितजी से मिले। आगे रेल से काशी जाते समय गाड़ी लखनऊ स्टेशन पर रुकी। बुवासाहब झट से उतर गए और तांगे में बैठकर सीधे कैसरबाग पहुंचे। उस वक्त हमारी क्लास चल रही थी। मैं, भट हम सब बैठे थे। अण्णासाहब खिड़की की ओर मुखातिब नहीं थे, लेकिन हमारे भटसाहब ने बुवासाहब को पहचान लिया। उन्होंने अण्णासाहब को बताया वे झट से उठे, बुवासाहब की अगवानी की। पूछा कि कैसे आना हुआ? इसपर बुवा बोले,

''ग्वालियर तक आया था। सोचा कि हमारा कृष्णा यहां होगा, तो उससे मिलकर जाना चाहिए, कौन कहे, आगे भेंट होगी या नहीं!'' फिर कुछ जलपान लेकर बुवासाहब स्टेशन चल पड़े और आगे काशी के लिए रवाना हुए। कहने का तात्पर्य यह कि केवल हमारे अण्णासाहब से भेंट करने के लिए वे, चंद घंटे के लिए ही सही लखनऊ आए। वस्तुत: वहां उनका कोई काम नहीं था।

इस प्रकार लखनऊ का स्थान भारतभर के मान्यवर कलाकारों के आकर्षण का एक केंद्र बना हुआ था। उस काल श्रीमती गंगूबाई हनगल यहां कई बार आ चुकी थीं। पं. विनायकराव पटवर्धन, नारायणराव व्यास भी आते। कानपुर के पं. शंकरराव बोड़स जब भी लखनऊ आते हमारे साथ ही ठहरते। कर्नाटक के गायक पं. गुरुराव देशपांडे धारवाड़ से रेडियो प्रोग्राम के लिए आए थे, वे भी हमारे साथ ही ठहरे थे। महाविद्यालय के अधिष्ठान और अण्णासाहब के व्यक्तित्व की इतनी मान्यता थी कि उस्ताद अल्लाउद्दिन खां, पं. रविशंकर, उ. मुश्ताक हुसैन खां, उ. रजबअलीखां जैसे धुरंदर कलाकार हमारी 'निपुण' की परीक्षा लेने पधारे थे। इसके पीछे रहस्य यह था कि मैरिस कॉलेज की संगीत शिक्षा का स्तर बहुत ऊंचा था। इसकी कसौटी परीक्षा के वक्त हो जाती। ये परीक्षाएं बहुत कसकर ली जाती थीं और छात्र गण उसका मुकाबला करने की स्थिति में रहते थे। इससे परीक्षक की हैसियत से आनेवाले महानुभावों को यहां के उच्च स्तर का परिचय मिलता और सहजभाव से वे इस बात का जिक्र बाहर किया करते कि लखनऊ में बहुत अच्छी तालीम दी जाती है।

कॉलेज के प्राचार्य के नाते अण्णासाहब का रहनसहन एकदम सादगी से भरा रहता। पहले उनके निवासस्थान को ही लें। कॉलेज का आज का महिला छात्रावास (होस्टेल) था उसके दो कमरों मे उनका कार्यालय और निवास दोनों की व्यवस्था थी। आगेवाले कमरे में कार्यालय था और उसके पीछेवाले कमरे में उनके सोने आदि की व्यवस्था थी। इसी लघुतम निवासस्थान में अण्णासाहब १९५६ तक रहे। डीमडौल नामकी कोई चीज उनके व्यक्तित्व में थी ही नहीं। न कपड़ों का शौक न कोई आदत या लत। उनके साथ उसी निवासस्थान में रहने का मुझे अवसर मिला था इसलिए मैं उन्हें अत्यंत निकटता से देख और समझ पाया। उसमें मैंने यही देखा कि हमारे गुरुवर अंतर्बाह्य सादगी और सरलता की मूर्ति थे। इसके संबंध में और बहुत

से अनुभव आगे जीवनी-कथन के सिलसिले में मालूम होंगे।

समय के साथ मैरिस कॉलेज की तरक्की और दिशाओं में होती रही। यह तो तब हुआ जब सन १९३९ में भातखंडे यूनिव्हर्सिटी ऑफ म्यूजिक की स्थापना हुई। जिसका रूपांतर आगे 'भातखंडे संगीत विद्यापीठ' में हुआ। वस्तुत: स्थानिक नेता राय उमानाथ बली मैरिस कॉलेज को एक 'परफॉर्मिंग फैकल्टी' के रूप में लखनऊ विश्वविद्यालय के साथ संलग्न करवाना चाहते थे। लेकिन कुछ तकनीकी बाधाओं की वजह से वह प्रयत्न विफल रहा। फिर भी भातखंडे संगीत विद्यापीठ की स्थापना अपने में एक महत्त्वपूर्ण घटना ही थी और उसके कारण अण्णासाहब के कार्यकर्तृत्व के और और जौहर प्रकट हुए। उस कहानी को सुनाएंगे अगले अध्याय में।

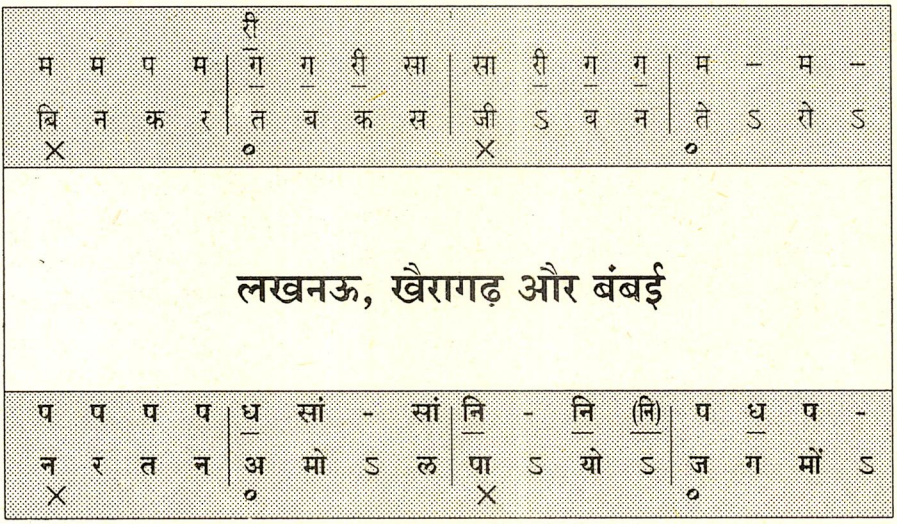

मैरिस म्यूजिक कॉलेज, लखनऊ की स्थापना संगीत शिक्षा एवं संगीत के पुनरुज्जीवन की दृष्टि से एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना सिद्ध हुई। और उतनी ही महत्त्वपूर्ण घटना यह भी रही कि कॉलेज के आरंभ से ही अण्णासाहब रातंजनकर जैसे विद्वान और त्यागी संगीताचार्य के नेतृत्व का उसे लाभ मिला। इस समस्त आयोजन के पीछे राय उमानाथ बली और पं. विष्णु नारायण भातखंडे के अथक प्रयास थे। हमने यह देखा है कि पं. भातखंडेजी के मार्गदर्शनपर महाविद्यालय का पाठ्यक्रम, परीक्षा-प्रणाली आदि का आयोजन हो चुका था। १९३६ में पं. भातखंडेजी का देहावसान हुआ और उसके कुछ वर्ष बाद १९३९ में राय उमानाथ बलीने पंडितजी की स्मृति में भातखंडे युनिवर्सिटी ऑफ इंडियन म्युजिक की स्थापना करवाई जिसमें प्रधान नेतृत्व उन्हींका था। पहले तो रायसाहब ने लखनऊ विश्वविद्यालय और बनारस हिंदू युनिवर्सिटी के पास अपील की थी कि हमारे मैरिस कॉलेज को आप अपने तत्त्वावधान में स्वीकृत कर लें, किंतु उसमें सफलता नहीं मिली थी। कॉलेज की परीक्षाओं को किसी विद्यापीठ जैसी संस्था की मान्यता प्राप्त होना अत्यंत आवश्यक था, क्योंकि उसके बिना उन परीक्षाओं की व्यापक सामाजिक क्षेत्र में व्यावहारिक तौरपर उपादेयता स्वीकृत नहीं हो सकती थी। किसी ऐसी संस्था की आवश्यकता थी जो पाठ्यपुस्तकों का निर्धारण करे, परीक्षाओं का संचालन करे और इलाके की अन्य शिक्षण संस्थाओं को मान्यता प्रदान कर सके।

भातखंडे संगीत विद्यापीठ

परंतु भातखंडे यूनिवर्सिटी की स्थापना में कई कानूनी अड़चनें भी थीं। क्योंकि कोई संस्था युनिवर्सिटी या विश्वविद्यालय तभी कहला सकती है जब कानून की धारा या 'स्टैट्यूट' के द्वारा उसकी प्रतिष्ठापना की गई हो। इस दिशा में डॉ. संपूर्णानंद और डॉ. बालकृष्ण केसकर जैसे विधायकों का मार्गदर्शन बहुत लाभकर रहा। डॉ. संपूर्णानंद अक्सर काँग्रेस पार्टी के काम के लिए लखनऊ आया करते थे। १९३८-३९ में काँग्रेस की मिनिस्ट्री आ गई थी। उसमें डॉ.

संपूर्णानंदजी शिक्षणमंत्री थे। बीच में जागतिक महायुद्ध की वजह से उस मिनिस्ट्री का काम ठप हो गया और कुछ कालावधि के लिए 'लोकल सेल्फ गवर्मेंट' बनाई गई जिसमें संपूर्णानंदजी मुख्यमंत्री बने। उस काल डॉ. केसकर भी काँग्रेस पक्ष के कामकाज के सिलसिले में लखनऊ आते रहते थे। और जब जब लखनऊ आते कॉलेज में अवश्य झांकते। इसी दौरान राय उमानाथजी ने भातखंडे युनिवर्सिटी के बारे में आपसे परामर्श किया। आपने बताया कि आप इसे युनिवर्सिटी नहीं कह सकते। उन्होंने उदाहरण भी बताया कि जब 'बनारस हिंदू विश्वविद्यालय' बन गया तब उसी शहर में महाराष्ट्र के भूतपूर्व राज्यपाल श्रीप्रकाशजी के पिता बाबू भगवानदास की संस्था काशी विद्यापीठ के नाम से ही स्थापित हो सकी। नियमत: विश्वविद्यालय के लिए अधिक्षेत्र या 'जूरिसडिक्शन' की पाबंदी रहती है। अत: डॉ. केसकरजी के सुझाव पर 'भातखंडे संगीत विद्यापीठ' नाम मुकर्रर हो गया।

जब इस प्रकार स्नातकोत्तर कक्षाओं के संचालन की व्यवस्था हो गई तब उस परीक्षा के लिए 'संगीत-निपुण' नामाभिधान दिया गया, जैसे गांधर्व महाविद्यालय की स्नानकोत्तर उपाधि 'अलंकार' है। भातखंडे विद्यापीठ के सबसे पहले 'निपुण' उपाधिधारी हैं हमारे अण्णासाहब के एक प्रिय शिष्य प्रभाकर नारायण चिंचोरे। 'निपुण' की कक्षाएं शुरू होने से पहले अण्णासाहब ने कई शिष्यों को अप्रचलित राग, गुरुकुल पद्धति से सिखाए थे, जैसे एस.सी.आर. भट, चंद्रशेखर पंत, कालविंट आदि। तब उसे 'पोस्ट ग्रेजुएट क्लास' नहीं कहा जाता था, सिर्फ 'स्पेशल क्लास' करके पहचाना जाता था। 'निपुण' के लिए जो राग सिखाए जाते थे वे उस काल अधिक लोकप्रिय नहीं थे। पंडित जी की क्रमिक पुस्तक मालिका के प्रथम चार संग्रहों में उनका अंतर्भाव नहीं हुआ था। उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित संग्रहों में उन्हें समाविष्ट किया गया। ये बंदिशें भातखंडेजी ने उस्ताद मुहम्मद अलीखां से प्राप्त की थीं, तो उन्हें यही वचन देकर कि हम इन्हें छापेंगे नहीं। किंतु जब पंडितजी बीमार हो गए तब उनके अनेक चाहनेवालों ने उनसे अनुरोध किया कि आपने इतना सारा भंडार खोल दिया है तो इन्हें भी क्यों नहीं प्रकाशित करते। तब आपने यह काम वाड़ीलालजी और अण्णासाहब को सौंप दिया और आपके जीवनकाल में ही वह काम पूरा हुआ। इन पुस्तकों पर ग्रंथकार के नाते पं. विष्णु नारायण भातखंडे का नाम है और सहसंपादक के रूप में वाड़ीलाल और श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर का।

'निपुण' की स्तरीयता

'निपुण' की कक्षा स्वयं अण्णासाहब ही लेते थे। उसकी कोई शाखा अन्यत्र नहीं थी। जिन चुनिंदा शिष्यों को अण्णासाहब से यह खास तालीम मिली उनका आगे चलकर काफी नाम हुआ। इस कक्षा में अण्णासाहब प्रत्येक स्वर का लगाव, रागांग-तत्त्व, राग का चलन, महफिल में उसकी प्रस्तुति का ढंग इत्यादि बातों पर विशेष ध्यान देकर शिष्यों से वह सब करवा लेते थे। वैसे इन बातों पर उनका शुरू से ही ध्यान था। किंतु सामूहिक कक्षाओं में उनपर पूरी तरह अमल होना कठिन ही था। इसलिए बड़ी कक्षाओं के लिए उन्होंने दूसरा तरीका अपनाया था - अपनी सूझबूझ से। जैसे कि प्रथम वर्ष में वे कर्ण संस्कार - 'इअर ट्रेनिंग' करा लेते थे। उसके लिए उन्होंने अपनी एक 'हस्त-संगीत' की पद्धति अपनाई थी। इसका कुछ ज्ञान उन्हें अपने पहले गुरु कृष्णंभट्ट होनावरजी से प्राप्त हुआ था। उसमें और संशोधन करके उन्होंने इसे विकसित किया। उदाहरणार्थ, तर्जनी को सीधा खड़ा करें तो 'सा' ; फिर

और और उंगलियों के अलग अलग संचालन से स्वरों के और और रूप आदि का संकेत केवल इशारे से छात्रों को दिया जाता था और उसके मुताबिक सबका स्वरोच्चारण होता था। अण्णासाहब ने अपनी इस पद्धति के बारे में 'अभिनव संगीत शिक्षा' प्रथम खंड में विशेष विवेचन किया है। लेकिन यह तो हुआ आरंभिक कक्षाओं में। स्नातकोत्तर कक्षाओं में उनके सिखाने का तरीका अधिक गहन व्यापक और व्यामिश्र रहता था। अपनी समस्त विद्या को उन्होंने कुछ खास खास छात्रों को अधिक से अधिक रूप में वितरित करके अच्छे विद्वान गायकों की एक पीढ़ी का निर्माण किया और यह सब नाममात्र वेतन- और वह भी अनियमित रूप से - प्राप्त होने के बावजूद किया।

अण्णासाहब के गरिमामय अस्तित्व के कारण 'निपुण' की परीक्षा के लिए परीक्षक के नाते ऊंचे से ऊंचे कलाकारों का आगमन मैरिस कॉलेज में होता था। इतनी मान्यता थी कि पं. रविशंकर, उनके गुरु अल्लाउद्दीन खां, उस्ताद मुश्ताकहुसेन खां, उस्ताद विलायत हुसेन खां, देवास के रजब अलीखां, बनारस के बीनकार सिवेंद्रनाथ बसु ये सब कलाकार 'निपुण' के परीक्षकों की हैसियत से कॉलेज पधारे थे। एक विद्यार्थी की परीक्षा प्राय: तीन घंटे चलती थी। ऐसे महान कलाकारों को परीक्षक के नाते बुलवाने में अण्णासाहब का उद्देश्य यह रहता था कि उनके सामने कॉलेज के छात्रों की कला पेश हो जाए। और इसका सुपरिणाम यह हुआ कि ये श्रेष्ठ कलाकार जहां जहां जाएं मैरिस कॉलेज की शिक्षा और छात्रों की तैयारी के बारे में प्रशंसोद्गार ही व्यक्त करते।

इस प्रकार अण्णासाहब का यह कार्यक्षेत्र १९५६ तक चला। इस बीच एक ऐसी अभूतपूर्व घटना हो गई कि जिसकी बदौलत अण्णासाहब के कर्तृत्व के लिए और ऊंचा और चुनौतीभरा क्षेत्र प्राप्त हो गया और उनका कार्यकौशल अधिक मात्रा में चमक उठा। वह घटना थी **'इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय'** की स्थापना और उसपर प्रथम उपकुलपति की हैसियत से अण्णासाहब रातंजनकरजी की नियुक्ति। घटना इसलिए अभूतपूर्व थी, कि संविधान की धारा के तहत शासकीय अनुदानप्राप्त और केवल संगीत के लिए समर्पित कोई भी विश्वविद्यालय १९५६ तक संपूर्ण देश में नहीं बना था। इसका श्रेय मध्यप्रदेश विधान सभा के नेता मुख्यमंत्री पं. रविशंकर शुक्ल, विलीन रियासत खैरागढ़ के राजासाहब और उनकी धर्मपत्नी रानी पद्मावती को है। राजासाहब, खैरागढ़ बड़े संगीत-प्रेमी थे। वे बाल्यकाल में ही भगवान को प्यारी हुई अपनी कन्या इंदिरा की स्मृति को कायम करने के हेतु एक संगीत विश्वविद्यालय की ही बुनियाद डालना चाहते थे, जिसके लिए वे अपना भव्य मनोहर राजप्रासाद दान करने के लिए तैयार थे। राजासाहब ने अपना यह सुझाव पं. रविशंकर शुक्लजी के सामने रखा। रविशंकरजी ने, जो कि स्वयं संगीत के प्रेमी थे, इस सुझाव का सोत्साह स्वागत किया और राज्य सरकार द्वारा सब कानूनी कार्यवाही के पश्चात् विश्वविद्यालय ऐक्ट क्र. XIX-, के तहत 'इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय' की स्थापना की घोषणा १९५६ में हुई।

उपकुलपति रातंजनकर

इस विश्वविद्यालय के लिए सुयोग्य उपकुलपति के रूप में सर्वानुमति से आचार्य अण्णासाहब रातंजनकर का ही नाम सामने आया। दिल्ली में उन दिनों डॉ. बालकृष्ण केसकर सूचना और प्रसारण मंत्री थे। उनकी आंखों के सामने भी अण्णासाहब की ही मूर्ति थी। अस्तु, ५ फरवरी

१९५७ को अण्णासाहब ने यह नया पदभार संभालना शुरू किया और १९६० तक (उम्र के पूरे साठ वर्ष होने तक) वे उपकुलपतिपद पर रहे। कहां लखनऊ का चहलपहलभरा नागरिक क्षेत्र और कहां नीरवता से भरा खैरागढ़ का ग्रामीण प्रदेश! परंतु अण्णासाहब संगीत के कर्मठ व्रती थे। उन्होंने मन ही मन यह सोच लिया कि संगीत-क्षेत्र का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और भविष्य के लिए सर्वथैव लाभकर अवसर उपस्थित हुआ है और उसमें मेरी सेवाओं की आवश्यकता है तो मुझे आगे-पीछे देखना ही नहीं चाहिए। किंतु इसमें एक विडंबना यह रही कि भातखंडे कॉलेज, लखनऊ से बिदा होते समय अण्णासाहब ने वहां की नौकरी पर अपना कानूनी पूर्वाधिकार या 'लीऐन' (lien) को सुरक्षित नहीं रखा। वैसी सलाह भी उन्हें कहीं से प्राप्त नहीं हो सकी। हां, यदि डॉ. संपूर्णानंदजी उस समय वहां होते तो उन्हें यह 'लीऐन' रखने की सलाह अवश्य देते। संपूर्णानंदजी तो अण्णासाहब के गायन के उत्कट भक्त थे। किंतु उस काल आप राजस्थान के राज्यपाल के पद पर नियुक्त हुए थे।

यहां पर जाते जाते डॉ. संपूर्णानंद के संगीतानुराग के संबंध में बताना चाहिए, क्योंकि वह बात अण्णासाहब से संबंधित है। संपूर्णानंद जी ने राय उमानाथ बली को सदा के लिए कह रखा था कि रातंजनकरजी का गाना जहां कहीं भी हो आप मुझे सूचित कर दिया करें। अण्णासाहब ने भातखंडे पुण्यतिथि के उपलक्ष्य में ७२ घंटे के निरंतर गायन-वादन समारोह की परिपाटी 'संगीत धारा' नाम से चलाई थी। समारोह का आरंभ एवं समापन (तीसरे दिन सुबह चार बजे) अण्णासाहब के गायन से ही होता था। और इन दोनों ही अवसरों पर डॉ. संपूर्णानंद अवश्य उपस्थित रहते।

यहां जाते-जाते इस 'संगीतधारा' स्मृति समारोह के बारे में भी बता देते हैं। यह एक खास किस्म का आयोजन रहता था, जिसमें सभी गायक-वादक तथा श्रोता उत्साहपूर्वक सम्मिलित होते थे। लगातार ७२ घंटे तानपूरे बंद ही नहीं होते थे। एक गायक गा रहा है तो वह वहां से तभी उठेगा जब दूसरा गायक वहां स्थानापन्न हो जाए। कोई लड़का पांच मिनट भी गाए, मगर तानपूरा चालू ही रहेगा। और ध्यान देने की बात यह कि इस पूरे आयोजन में स्वयं अण्णासाहब तीनों दिन लगातार उपस्थित रहते।

अब डॉ. संपूर्णानंद जी से संबंधित एक विशेष घटना का बयान करके इस प्रसंग को पूरा करेंगे। सन १९३९ में पहली कॉंग्रेस मिनिस्ट्री आई; किंतु उसके बाद सब नेता जेल में भरती हो गए। उस जमाने में हम तो अण्णासाहब के पास ही रहते थे। एक दिन रात को तीन बजे दरवाजा खटखटाया गया। देखा तो साक्षात् संपूर्णानंदजी खड़े हैं! मैंने नमस्कार किया। आपने पूछा - "रातंजनकरजी हैं?" मैंने कहा, "जी हां, सोए हुए हैं।" इसपर आपने कहा कि उन्हें बताओ कि मैं आया हूं। मैंने बत्ती जलाई और सामनेवाले कमरे में आपको बैठाकर अण्णासाहब को जगाया। उन्हें भी ताज्जुब हुआ। घड़ी देखी तो साढ़े तीन बज रहे हैं। उन्होंने मुंह पर पानी का हाथ फेरा और बाहर आए। उस समय संपूर्णानंदजी ने कहा –

"मैं जेल से छूटकर अभी आ रहा हूं। बहुत अरसा बीत गया; संगीत से वंचित हूं; सोचा घर पहुंचने से पहले आपका गाना सुनकर ही जाऊं!"

फिर क्या? किसीने बायां-तबला लिया, किसीने तानपूरा। डेढ़ घंटे तक महफिल जमी; तब संपूर्णानंद जी अपने निवास को चले गए।

इस घटना से हमें यह भी संकेत मिलता है कि उस कालखण्ड के राजनीतिक नेता सांस्कृतिक

मामलों में कितनी रुचि रखते थे। भूतपूर्व प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री, भूतपूर्व राष्ट्रपति बाबू राजेंद्रप्रसाद, उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री गोविंदवल्लभ पंत, उत्तर प्रदेश की पहली गवर्नर-कवयित्री सरोजिनी नायडू ऐसे अनेक गण्यमान्य नेताओं का आना-जाना उस काल में मैरिस कॉलेज में होता रहता था। पंडित जवाहरलालजी भी वहां कई बार आ चुके थे। मुझे याद है, अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के मेरठवाले अधिवेशन में 'वंदे मातरम्' गाने के लिए हम छात्र कॉलेज की तरफ से गए थे। तब इन श्रेष्ठ नेताओं को हमने नजदीक से देखा था।

गुरुदेव ठाकुर

कॉलेज पधारनेवाले इन महानुभावों में गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर भी थे। उनके संबंध में एक किस्सा ही बताया जाए जो कि मेरे वहां जाने से पहले घटी हुई बात है, जिसे मैंने गुरुबंधु नोनीगोपाल बंदोपाध्याय से सुना है। रवींद्रनाथ ने अपने शांतिनिकेतन के लिए अण्णासाहब की सेवाएं मांगी थीं। पं. मदनमोहन मालवीयजी ने भी बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी के लिए उनको भेजने के वास्ते पं. भातखंडेजी से अनुरोध किया था। भातखंडेसाहब ने अपना संगीत के अनुसंधान का कार्य आरंभ किया तो बंगाल के संगीत- शोधकर्ता राजा सौरींद्रमोहन टागोर से उनका पत्रव्यवहार बराबर चलता रहा। गुरुदेव उसी घराने के थे। उन्होंने भातखंडेजी की संगीतविषयक सामग्री को देखा था और उससे काफी प्रभावित हुए थे। एक बार गुरुदेव लखनऊ आए थे और यूनिवर्सिटी के वनस्पतिविज्ञान के प्रोफेसर सिद्धांत के यहां ठहरे हुए थे; कुछ बुखार हुआ था उनको। उन्होंने प्रो. सिद्धांत से कहा, "मुझे श्रीकृष्णा को सुनना है। उन्हें बुला लो।" तब अण्णासाहब गए और पास बैठकर उन्हें अपना गायन सुनाया। इस प्रकार गुरुदेव अण्णासाहब को निकट से जानते थे। अब अण्णासाहब न तो बनारस में तैनात हो सके न शांतिनिकेतन में; किंतु ध्यान देने की बात यह है कि मैरिस कॉलेज से इन दोनों संस्थाओं के संबंध बहुत निकट के रहे। जबतक पं. मदनमोहन मालवीय और डॉ. राधाकृष्णन् बनारस यूनिवर्सिटी से अधिकाधिक रूप से संबंधित रहे तबतक वहां भातखंडे-प्रणीत पाठ्यक्रम ही जारी रहा और शांतिनिकेतन में तो अद्यावधि यही पाठ्यक्रम कार्यान्वित होता है। इस सिलसिले में और बात भी उल्लेखनीय है। उत्तर भारत में जितने भी विश्वविद्यालय- इलाहाबाद, पटना, दिल्ली, कलकत्ता, पंजाब– हैं, वहां सब जगह भातखंडे पद्धति ही अपनाई गई है। इसका प्रधान कारण यह रहा कि जब इन विश्वविद्यालयों के संगीत विभाग खुले तो उनके पाठ्यक्रम के निर्माण और कार्यान्वयन के लिए, उस जमाने में, अण्णासाहब के सिवा कोई दूसरा विशेषज्ञ था ही नहीं। इस प्रकार अण्णासाहब का शैक्षणिक पक्ष अत्यंत बलवान और सर्वगामी रहा। उन्होंने उत्तर भारत के तमाम महाविद्यालयों में अपना योगदान देते हुए वहां के शैक्षिक स्तर को आरंभ से ही एक स्तरीयता प्रदान की। अनेक शिष्यों को उन्होंने आदर्श अध्यापक के रूप में ढाला और वे अलग अलग कॉलेजों में जाकर उस प्राप्त विद्या का सुचारु रूप से वितरण करने में लगे रहे।

मैरिस कॉलेज की एक खासियत यह रही कि उच्च कोटि के महफिली कलाकारों और उस्तादों का निकट संबंध कॉलेज के साथ बराबर बना रहता था, जिससे पूरे माहौल में ही विद्या की गहराई के साथ साथ कला की सौंदर्यवत्ता को भी महत्त्व दिया जाता रहा। ऐसे अनेक अनुभवों से तो हम सभी शिष्य लोग सराबोर हुए हैं। उसका बखान शब्दों के परे है। जैसा कि मैंने पहले बताया है कि जब कॉलेज की स्थापना हुई, बड़े बड़े उस्तादों की वहां पर मार्गदर्शक

के नाते नियुक्ति हुई थी। कॉलेज में आरंभ से ही गायन के अलावा सरोद, सितार, वायोलिन, इसराज इन सभी विषयों का समावेश था। खलीफा आबिद हुसैन, अहमद मियां, छोटे मुन्नेखां, तानरसखां घराने के बाबा नसीर,- ऐसे अनेक उस्तादों को अकबरपुर के राजा नवाब अली साहब की सिफारिश पर नियुक्त किया गया था। लेकिन उसमें एक बात यह थी कि इन उच्च कोटि के कलाकारों को कॉलेज के माहौल में पढ़ाने का अनुभव नहीं था, जहां सामूहिक तौर पर भी अध्यापन करना होता है । इससे शुरू के दिनों में वे अपने अध्यापन कार्य में उतने सफल नहीं हो सके। बादमें पं. भातखंडेजी अक्सर लखनऊ कॉलेज के लिए अपना समय देते थे और अध्यापकों को पढ़ाने के संबंध में मार्गदर्शन देते थे। उन्होंने सरोद सिखाने के लिए खास तौर पर सहारनपुर के उस्ताद सखावतहुसैन खां, एवं सितार सिखाने के हेतु उ. हामिद हुसैन खां को बुलवा लिया था। खैर, इन सब बातों के रहते हुए भी ऊंचे ऊंचे कलाकारों की बदौलत समूचे परिसर में गायनवादन कला के दिव्य अनुभव नित्यप्रति वहां के सभी संबंधितों को प्राप्त होते रहते थे।

ऐसे ही एक अनुभव का बयान मैं जरूर करना चाहूंगा। हमारे कॉलेज में उस्ताद हमिद हुसैन खां सितार के लिए नियुक्त हुए थे। मैं बिलकुल निश्चयपूर्वक कहूंगा कि ऐसी सितार मैंने अबतक सुनी ही नहीं। हमारे गजाननबुवा जोशी भी कहते थे कि मैंने जो थोड़ी-सी सितार मैसूर में उनसे सुनी थी वैसी फिर नहीं सुनने को मिली। इसका एक ही अनुभव मैं बताता हूं। लखनऊ में बंबई से तारद्वारा हमें एक खुशखबरी मिली कि अण्णासाहब को पुत्ररत्न प्राप्त हुआ है। बस, समाचार पूरे कॉलेज में पहुंच गया। उसी समय ग्वालियर से पं. राजा भैयाजी पूंछवाले वहां पधारे थे। सब लोग खाने के लिए अण्णासाहब के यहां बैठे थे और सबने देखा कि उ. हमीद हुसेन बगल में सितार लेकर आ रहे हैं। उन्होंने कहा - "जब हमने सुना तो सोचा कि इस खुशीको मनाने के लिए हमारी तरफ से भी कुछ सेवा हो जाए।" तो राजाभैय्या ने भी कहा कि इससे बड़ी बात और क्या हो सकती है?" फिर खाना खाने के बाद हमीद सितार लेकर बैठे और केदार बजाया। और उस राग का ऐसा माहौल पैदा किया कि उसका बयान शब्दों में करना असंभव है। राजाभैय्या ने मेरे पास उस घटना का जिक्र करते हुए कहा था कि ऐसा केदार मैंने नहीं सुना। उस बजाने में महफिलबाजी नहीं थी, विद्या का आदान-प्रदान था। दो गुणीजनों का आपसी संवाद था। राजाभैय्या आगे बोले–

"एक डेढ़ घंटे तक उन्होंने केदार का आलाप किया तब मुझसे रहा नहीं गया। मैं भीतर के कमरे में गया और अपने बॅग से कश्मीर के महाराज से भेंट में मुझे मिली हुई जरी के कामवाली शॉल लेकर आया और उसे खांसाहब को ओढ़ा दिया। मैंने उनसे कहा - "खांसाहब मैं गरीब ब्राह्मण हूं, मेरे पास इससे कीमती दूसरी कोई चीज नहीं। यह मेरी तरफ से आपको छोटा-सा नजराना है।"

तो ऐसा था मैरिस कॉलेज का माहौल! वहां गुनिजनों की कद्र होती थी और उन्हें भी अपनी कला का प्रदर्शन करने के लिए प्रोत्साहन मिलता था।

नृत्य विभाग

धीरे धीरे इन बड़े उस्तादों के जो शिष्य खास ढंग से तैयार हुए थे, उन्हें कॉलेज में सिखाने के काम पर नियुक्त किया गया। जैसे राम गोपाल वर्मा, जो सखावत हुसैन और हमिद हुसैन

से सीखे हुए थे। अण्णासाहब ने अपनी दूरदृष्टि से कॉलेज के लिए अच्छे अध्यापकों की नियुक्ति में विशेष ध्यान दिया। इसका एक और उदाहरण है नृत्यविभाग के लिए **श्री मोहनराव कल्याणपुरकर** (जानी-मानी नृत्य निपुण श्रीमती रोहिणी भाटे के गुरु) की नियुक्ति। नृत्य विभाग १९३६ में शुरू किया गया। वहां कथक नृत्य के लिए अच्छन महाराज और शंभू महाराज के मामा रामदत्त मिश्र की नियुक्ति हुई थी। नृत्य सीखने के लिए कॉलेज में संभ्रांत घर की अनेक लड़कियां आती थीं। सर तेजबहादुर सप्रू की पौत्री और फिल्म अभिनेत्री यशोधरा काटजू वहां नृत्य की शिक्षा लेने आती थीं। अण्णासाहब नृत्य विभाग को बढ़ाना चाहते थे, इसलिए वे किसी अच्छे, सुशिक्षित गुरु की तलाश में थे। उन दिनों बंबई में मोहनराव कल्याणपुरकर, पं. सुंदर प्रसादजी से तालीम पा रहे थे। उन्होंने अपने गुरु के नाम से बंबई में 'बिंदादीन स्कूल ऑफ डान्स' नाम से विद्यालय चलाया था। सर नारायण चंदावरकर के सुपुत्र श्री प्रभाकर ने अण्णासाहब के पास मोहनराव की सिफारिश की। अण्णासाहब खुद उनका नृत्य देखने गए और उनकी योग्यता की परख के बाद उन्होंने उन्हें लखनऊ कॉलेज के नृत्यविभाग के प्रमुख के रूप में नियुक्त कर दिया। मोहनराव लखनऊ आए और उन्होंने सर्वप्रथम नृत्य का सुविहित पाठ्यक्रम बना लिया। राय उमानाथ बली भी नृत्य में बहुत रुचि रखते थे। उनके प्रोत्साहन से 'अभिनय दर्पण' ग्रंथ का एक छात्रोपयोगी संस्करण भी छपकर पाठ्यपुस्तक के रूप में तैयार हो गया। इसके साथ साथ मोहनरावजी ने अच्छन महाराज से गंडा बंधवाया और साथ साथ शंभू महाराज से भी तालीम प्राप्त करने लगे। इस प्रकार अण्णासाहब ने सुयोग्य अध्यापक की नियुक्ति करके नृत्य की शिक्षा के विकास में बड़ा योगदान दिया। उन्होंने मोहनरावजी को अपने विभाग के विकास के लिए पूरी छूट दे दी थी। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि कथक नृत्यकला के साथ मुगल दरबार के जो पुराने संस्कार चिपके हुए थे, वे कम होते गए और उसमें आधुनिक युग के अनुकूल कलात्मक परिवर्तन हुए। यह श्रेय मोहनरावजी को है। मेरा सौभाग्य यह रहा कि हम सब साथ ही होस्टेल के एक कमरे में रहते थे। इसलिए उनके विचारों की जो गतिविधियां चलती थीं उसका मैं साक्षी रहा। मोहनराव जी की मान्यता इतनी बढ़ी थी कि उस काल में, मैंने देखा है, बिरजू महाराज भी उनसे हमेशा परामर्श करते। मोहनरावजी अच्छन महाराज से सीखते थे तब बिरजू ६-७ साल के थे।

मोहनराव जी की प्रतिभा के बारे में एक घटना सुनाने लायक है। जब जब अच्छन महाराज सिखाने आते तब अक्सर अण्णासाहब के दर्शन करके जाया करते। एक दिन ऐसे ही एक अवसर पर अण्णासाहब ने बीच में एक सवाल उठाया – "महाराजजी, एक फरमाइश है। त्रिताल में ऐसी एक रचना सुनाइए कि सम से सम तक एक पूरा टुकड़ा हो, मगर जहां जरब है वहां कोई बोल न हो।" महाराजजी थोड़ी देर तक सोचते रहे। मोहनराव वहीं बैठे हुए थे। उन्होंने कहा – "गुरुजी, आपने हमें यह सिखाया है।" और इतना कहकर उन्होंने अपनी ओर से उस फर्माइश की पूर्ति करके गुरु का नाम रख लिया। कहने का मतलब यह कि अण्णासाहब नित्य प्रति किसी नई सूझ बूझ से पूरे वातावरण में एक 'नित्यजागरण' का भाव जगा देते थे। हमेशा कोई न कोई अनोखी फरमाइश होती रहती थी और उससे सहभागियों को एक नई दिशा मिलती थी। मैंने पहले बताया ही है कि कोई ऊंचा कलाकार लखनऊ में आया हो और अण्णासाहब से मिले बिना लौटा हो, ऐसा कभी हुआ नहीं। और भेंट याने दुआ सलामवाली नहीं, संगीतमय भेंट, जिसमें कला-प्रस्तुति, वैचारिक आदान-प्रदान सब होता था।

इन सब बातों का अप्रत्यक्ष प्रभाव आसपास की छात्रमंडली पर पड़े बिना नहीं रहता था। उसमें पैसे का सौदा नहीं था, कद्रदानी महत्त्व की चीज थी। हमारे जमाने में कई बार गवैये-बजवैये आते रहते थे। रात रात भर महफिलें चलती थीं। पं. रविशंकर आ जाते और कहते, "आज रात बैठेंगे।" उस्ताद निसार हुसेन, रजब अली खां - ऐसे अनेक ऊंचे कलाकार। इसीलिए मैं कहता हूं कि १९५६ तक मैरिस म्यूजिक कॉलेज संगीत का तीर्थस्थान बन गया था।

उदार आदर्श प्रशासक

कॉलेज की स्थापना बहुत-सी असुविधाओं और आर्थिक समस्याओं का मुकाबला करते हुए हुई थी। प्रशासनिक दृष्टि से संपूर्ण उपस्करण और सज्जा के साथ युक्त कार्यालय, उसमें दो-तीन लिपिकों की नियुक्ति इत्यादि आवश्यक बातों के लिए कॉलेज में गुंजाइश ही नहीं थी। सारा काराबोर एक तरह से अकेले अण्णासाहब ही चला लेते थे। क्लर्क का काम भी वे खुद ही करते। कोई साधारण-सा पत्र भी आता तो उसका उत्तर खुद देने बैठे जाते। ऐसे छोटे-मोटे कामों के लिए किसी क्लर्क को तैनात करके उसका वेतन देने की व्यवस्था कॉलेज के प्रबंधक नहीं कर सकते थे। सच बात यह थी, जिसका पहले जिक्र हो चुका है कि, कॉलेज के आर्थिक पक्ष को राय उमानाथ बली ही संभालते थे। वस्तुत: राय उमानाथ और अण्णासाहब ही कॉलेज को चलाते थे। उन दोनों में अपने आप एक संकेत तय हुआ था कि कॉलेज का प्रशासनिक कार्य, शैक्षिक स्तर आदि का दायित्व अण्णासाहब निभाएंगे और इन कामों के लिए तथा अध्यापकों के वेतन आदि के लिए जो राशियां आवश्यक थीं उनका प्रबंध राय उमानाथ करेंगे।

ऐसी दशा में हम कल्पना कर सकते हैं कि अण्णासाहब को कितना काम करना पड़ता होगा। उन्हें व्यक्तिगत मनोविनोद आदि के लिए फुरसत ही नहीं मिलती थी। उनके सामने अपने महान गुरुवर भातखंडेजी का आदर्श था। पंडितजी ने अपना प्रत्येक क्षण संगीत के कार्य में लगा दिया था। अपनी अपनी लिखा-पढ़ी और शोध-कार्य में ही वे बराबर व्यस्त रहते। यदि वे सामाजिक गतिविधियों में दखल देते तो इतना विराट् कार्य कर ही न पाते। जो लोग उनसे मिलना और परामर्श करना चाहते उनके लिए उन्होंने सागरकिनारे की चौपाटी पर घूमने का अपना समय बता दिया था। लोग वहां उनसे भेंट करते। अण्णासाहब की प्रवृत्ति भी ऐसी ही बनी कि लखनऊ में अपने कमरे में बैठे हुए वे निरंतर अध्ययन या महाविद्यालयीन कार्य में लगे रहते थे। कभी कुछ नोटस् लिख रहे हैं, किसीको कुछ सिखा रहे हैं - ऐसा ही सिलसिला चलता। यदि परीक्षा के लिए प्रश्नपत्र बनाना हो तो उसे खुद ही चक्रमुद्रित (साइक्लोस्टाइल्ड) कर लेते; क्योंकि गोपनीयता का प्रश्न था। हां, दोस्त मंडली भी थी, जैसे डेप्युटी कमिशनर गोड़से साहब आदि कई एक मित्र थे। इन मित्रों ने तय किया था कि बीच में हम कभी मिलकर गपशप में समय बिताएं, 'रमी' का खेल भी हो। वे लोग अण्णासाहब को खींचकर ले जाते थे। अण्णासाहब कभी कभी जाते किंतु रमी-ताश वगैरेह में उन्हें दिलचस्पी नहीं रहती थी। इसपर मित्रों ने यह उपाय निकाला कि चलो अण्णासाहब के घर पर जाकर ही अड्डा जमाएंगे। वहां पर अण्णासाहब सबका खाना-पीना करवाते थे। फिर भी कुल मिलाकर वे मितभाषी और अंतर्मुखी प्रवृत्ति के थे। किंतु संगीत के विषय में आप सच्ची जिज्ञासावश कुछ जानना चाहेंगे या बहस करना चाहेंगे तो आधी रात को भी आप उनका द्वार खटखटा सकते थे। ऐसे अवसरों

पर वे बड़े प्रेम से और दिल खोलकर बात किया करते थे। बंबई में मैंने खुद देखा है कि संगीत-समीक्षक श्री वामनराव देशपांडे जैसे सज्जनों से उनकी चर्चाएं घंटों चलती थीं। एक व्यक्ति के रूप में देखा जाए तो ऐसा उदार व्यक्तित्व मिलना दुर्लभ है। ऊपर से वे कटहल की तरह कांटेदार लगते हों किंतु उस ऊपरी पटल को दूर करके देखेंगे तो मधुरता के सिवा और कुछ नहीं मिलेगा। कुल मिलाकर मैं यह कहना चाहूंगा कि विधाता ने उनकी योजना मैरिस कॉलेज के माध्यम से अखिल भारतीय सांगीतिक उद्‌बोधन और विकसन के लिए की थी। अपने इस मिशन में उन्होंने कोई कसर उठा नहीं रखी और अंतिम क्षण तक दक्षतापूर्वक अपने कार्य में दत्तचित्त रहे। उनके इस अपूर्व त्याग के ही मधुर फल आज की हमारी पीढ़ी को मिल रहे हैं।

●

'ऑडिशन और अण्णासाहब

डॉ. रातंजनकरजी के कार्यकाल में आकाशवाणी के 'ऑडिशन' का एक प्रकरण किसी आकस्मिक उपकथा की भांति उपस्थित हुआ और १९५२ से १९६० तक अण्णासाहब उसके साथ गंभीरता से संलग्न रहे। आकाशवाणी ऑडिशन की घटना गुरुवर अण्णासाहब के ही नहीं, बल्कि समस्त संगीत क्षेत्र की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। परंतु जबतक उसकी सही पृष्ठभूमि मालूम नहीं होगी, तबतक इस ऐतिहासिक कार्य में अण्णासाहब ने जो त्याग किया और उनकी जो दूरदृष्टि तथा दक्षता प्रकट हुई उसके सही दर्शन नहीं हो पाएंगे। वस्तुतः इस कार्य को अंत तक निभाते हुए उन्हें अपार कष्ट झेलने पड़े, उससे बढ़कर कलाकारों का भयानक विरोध सहना पड़ा और यहां तक कि अवकाशग्रहण के उपरांत बंबई में स्थित हो जाने पर भी उस विरोध के बादल नहीं छंटे। लेकिन मैं दावे के साथ कहना चाहूंगा कि ऑडिशन के मामले में अण्णासाहब की भूमिका सौ प्रतिशत निष्पक्षतापूर्ण और संगीतकला को ही वरीयता देनेवाली रही थी। किंतु यह तबतक साबित नहीं हो पाएगा जबतक संपूर्ण प्रमाणों के साथ सब आक्षेपों पर विचार न किया जाए। इसलिए शुरू में ऑडिशन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ही पहले जान लें।

'ऑल इंडिया रेडियो' के नाम से आकाशवाणी की स्थापना ब्रिटिशों के जमाने से ही हुई थी। आकाशवाणी प्रशासन और कार्यक्रम संयोजन का काम सरकारी कर्मचारी और अफसरों को ही सौंपा गया था। वे ही कार्यक्रमों की रूपरेखा तैयार करते, कलाकारों को भी निश्चित करते और इतना ही नहीं तो उनका स्तरीकरण या ग्रेडेशन भी वे ही लोग किया करते थे। बुजुर्ग कलाकारों को यह बहुत खटकता था कि जिन्हें संगीत-कला का 'क ख ग' भी मालूम न हो वे लोग हमारी परीक्षा करें और हमें मनमानी ग्रेड़ प्रदान करें। वे बराबर सरकार के पास शिकायत करते रहे कि हमारा ग्रेडेशन मान्यवर कलाकारों के द्वारा ही कराया जाए। इस विषय को लेकर काफी लिखा-पढ़ी हुई थी किंतु वे सब फाइलों में बंद करके रखी गई थीं। अंग्रेजी शासन ने उसपर कोई कार्यवाही नहीं की थी। आजादी के बाद हमारा मंत्रिमंडल बना और डॉ. रंगराव दिवाकर हमारे पहले सूचना एवं प्रसारण-मंत्री मनोनीत हुए। स्वाभाविक रूप से उन्होंने पुरानी फाइलों का निरीक्षण करना आरंभ किया तब उन्हें इस समस्या का पता चला। उन्होंने अपने कार्यकाल में उस दिशा में कुछ अनुकूल कदम उठाए, किंतु तब तक दूसरा मंत्रिमंडल अधिकार पर आ गया, जिसमें डॉ. बाळकृष्ण केसकर प्रसारण मंत्री बने। फिर उन्होंने जब पुरानी

फाइलें उलट पुलटकर देखीं तब उनमें डॉ. दिवाकर के नोटिंग्ज उन्हें मिले। हो सकता है कि इस बात को लेकर दिवाकरजी से उनका परामर्श भी हुआ हो। किंतु केसकरसाहब को किसी श्रेष्ठ कलाकार द्वारा आकाशवाणी के गायक-वादकों का ग्रेडेशन करने की कल्पना बहुत इष्ट लगी। सभी दृष्टियों से विचार करने के बाद यह तय हुआ कि अखिल भारतीय प्रतिनिधित्व के तौर पर कलाकारों की एक समिति नियुक्त की जाए। उसके मुताबिक १९५२ में समिति का गठन हुआ। समिति के चेअरमन रहे रियासत रामपुर के संगीत मर्मज्ञ राजासाहब नवाब रजाअली खां और वाइस चेअरमैन का पद अण्णासाहब को सौंपा गया। सदस्य प्रतिनिधि के रूप में ठाकुर जयदेवसिंह, रवींद्रलाल राय, वीरेंद्र किशोर राय चौधरी, उस्ताद मुश्ताक हुसेनखां और पं. विनायकराव पटवर्धन आदि कलाकारों को चुना गया। बाद में श्री गोविंदराव टेंबे तथा प्रयाग संगीत समिति के वी. एन. कशालकर भी सम्मिलित हुए। प्रत्येक ऑडिशन के दौरे के लिए तीन सदस्यों का पैनल रहता था, जिसमें वाइस चेअरमैनसाहब तो रहते ही थे शेष सदस्यों में से किन्हीं दो को सम्मिलित कर लिया जाता था।

गलतफहमियां

इस समस्त आयोजन के पीछे जो सराहनीय उद्देश्य था वह मानकीकरण (standardization) का था। १९५१ के आसपास जो गायक ऑडिशन के लिए आया करते थे उनमें से कइयों को बंदिशों के पूरे स्थायी-अंतरे भी याद नहीं रहते थे। केवल मुखड़े पर काम निभा लेते थे। समप्रकृतिक रागों के बारे में तो कई घपले हुआ करते थे। जरूरत इस बात की थी कि अखिल भारतीय श्रोताओं के सामने राग का शास्त्रशुद्ध सही रूप प्रस्तुत हो जाए, बंदिशों के मुखड़े के शब्द और स्थायी, अंतरा आदि का ज्ञान रखते हुए उनका गायन किया जाए जिससे कि गायन की आम प्रस्तुति में एक समरूपता आ सके और श्रोताओं को कलात्मक आनंद के साथ साथ संगीत के प्रति अपनी समझ को विकसित करने का अवसर मिले। उस काल तक जो कलाकार अपने को 'तैयार' मानकर आकाशवाणी पर आते थे, उनको पुराने ढंग की तालीम मिली थी, जिसमें स्थायी-अंतरा वगैरह के बारे में या विद्या को भलीभाँति खोलकर प्रदान करने के बारे में गुरुओं और उस्तादों के द्वारा शिथिलता और आलस्य से ही काम लिया गया था। मतलब यह कि दोष उन कलाकारों का नहीं था, बल्कि परिस्थितियों का था। ऐसी दिशा में ऑडिशन के इन कड़े नियमों के कारण ऐसे सभी बुजुर्ग कलाकारों पर कैसी गुजरी होगी इसका अनुमान किया जा सकता है! बहुत-से कलाकारों की तो यही दृढ़ धारणा हो गई कि हमपर जानबूझकर अन्याय किया जा रहा है। अब ऑडिशन समिति जो भी निर्णय लेती थी उसे सर्वानुमति से पारित किया जाता था। उसमें अकेले अण्णासाहब कारणीभूत नहीं रहते थे। और यदि कलाकारों में खोट पाई जाती तो उन्हें कभी अनुत्तीर्ण किया जाता , तो कभी उनको निचले ग्रेड पर रखा जाता। किंतु विडंबना यह रही कि सबकी सहमति से निर्णय होने के बावजूद सारा दोष अण्णासाहब के मत्थे ही मढ़ दिया जाता रहा। इस बात से अण्णासाहब के अनेक कलाकार सहयोगी एवं स्नेही उनपर सख्त नाराज हो गए और यह सिलसिला आगे तक चलता रहा।

अण्णासाहब को इन घटनाओं की बदौलत आत्यंतिक मानसिक यंत्रणा से गुजरना पड़ा। वह हमसे कहा करते थे कि फैयाजखांसाहब के गंडाबंध शागिर्द के रूप में जितने कलाकारों

ने मुझे अपना लिया था, वे सब मुझसे दूर हो गए। अपने लखनऊ के कार्यकाल में गुरुवर रातंजनकरजी जितने पूजनीय रहे, उतने ही ऑडिशन के इस कांड के कारण बदनाम हुए। इसे भाग्य की विड़ंबना ही तो कहा जा सकता है! क्योंकि इस दायित्व को उन्होंने केवल कर्तव्य के रूप में अंत तक निभाया था। अपने उसूलों से वे टस से मस नहीं हुए। उसमें धन या सम्मान की कोई अपेक्षा उन्होंने कतई नहीं रखी थी। किसीको विश्वास नहीं होगा कि उन्होंने इस कार्य के लिए कोई वेतन नहीं लिया था। परंतु इस अविवेकमय विरोध को रोकना असंभव था; क्योंकि उसके पीछे पूर्वग्रहदूषित दृष्टिकोण ही आरंभ से अंत तक रहा। और इस विरोध का कोई संघटित रूप भी 'भारतीय कलाकार मंडल' नामक एक गुट्ट के रूप में सामने आया था, प्रेरक प्रो. बी. आर. देवधर थे। उन्होंने अपने साथ उ. विलायतहसेन खां आग्रेवाले, श्रीमती मोगूबाई कुर्डीकर, अमीरखां, सितार नवाज विलायतखां आदि सबका एक संगठन बनाया। इसमें एक रहस्य की बात भी थी, जिसका जिक्र करने में अब कोई संकोच नहीं होना चाहिए। ऑडिशन कमिटी के पैनल पर पं. विनायकराव पटवर्धन का निर्वाचन प्रो. देवधर को अखर गया था। आप उस काल अखिल भारतीय गांधर्व महाविद्यालय मंडल के प्रेसिडेंट थे। यों देवधरसाहब को शुरू से ही ऑडिशन की शर्त से छूट दे दी गई थी। फिर भी अंदरूनी स्थितियां ये थीं कि पं. विनायकरावजी के साथ उनके काफी मतभेद थे। डॉ. केसकरजी ने पं. विनायकराव को एक सबसे 'सीनियर' व्यक्ति के रूप में स्थान दे दिया था। किंतु हरेक की देखने की दिशा भिन्न होती है। यह सारा इतिहास इसलिए खोलकर बताना पड़ रहा है, कि पर्दे के पीछे की वास्तविकता उस समय लोगों की नजरों के सामने नहीं आ पाई थी।

इस सिलसिलें में यह रेखांकित करना भी समीचीन होगा कि प्रो. बी. आर. देवधर के मन में अण्णासाहब के प्रति नितांत श्रद्धा और आदर का भाव था, जिसका अनुभव मैंने स्वयं किया है। सन १९३६ में प्रार्थना समाज की जगह में देवधरजी का 'स्कूल ऑफ इंडियन म्यूझिक' चलता था। वहां देवधरजी ने अण्णासाहब के अनेक सप्रयोग भाषण करवाए थे। वहीं पर मेरे बालमित्र कुमार गंधर्व से मेरी मुलाकात हुई। हम कितने ही सालों के बिछड़े साथी फिर वहां मिले। अण्णासाहब तीन महीने की गरमी की छुट्टी पर बंबई आया करते तब उनके भाषण रखे जाते। कुमार तो देवधरजी का ही शागिर्द था। वह भी भाषण में तथा अण्णासाहब के रियाज के वक्त उनके पास बैठा करता था। रियाज के वक्त देवधर जी भी झांकते और फिर अण्णासाहब के साथ उनकी चर्चाएं चलती रहतीं। प्रो. देवधर उस जमाने के ग्रेजुएट थे इसलिए भातखंडे परंपरा के शिक्षासंपन्न अण्णासाहब के साथ उनका मेलजोल हो जाना बिलकुल स्वाभाविक था। ...किंतु बीच की इन घटनाओं के कारण उसमें व्याघात आ गया।

अण्णासाहब की उदारता और दक्षता

अब इन गलत फहमियों के पीछे और एक अत्यंत साधारण-सी वजह थी। वह यह कि अण्णासाहब के बोलने का लहजा अपरिचित व्यक्ति को कुछ रूखा और कठोर-सा लगता था। वह सामान्य-सी बात भी कुछ परुषतापूर्वक कहने के आदी थे। इसीलिए किसीको लग सकता था कि ये गुस्से में आकर बोल रहे हैं। किंतु बात बिलकुल विपरीत थी। वह उनका एक खास लहजा था। उनके स्वभाव में ऋजुता और हमदर्दी किस कदर भरी हुई थी इसका एक उदाहरण आपको बताता हूं; इस ऑड़िशन से ही संबंधित है वह। एक जी. के. निमकर

नामके गायक थे। बंबई में मोहनराव पालेकर के पास सीखते थे, शौकिया गाते थे और सी ग्रेड़ के कलाकार थे। १५-२० मिनट के कार्यक्रम उन्हें मिला करते थे। जब उनका ऑड़िशन हुआ तब पैनल पर रवींद्रलाल रॉय, ठाकुर जयदेवसिंह और अण्णासाहब थे। जब सबने उनका गाना सुना तब डॉ. रॉय और ठाकुरसाहब ने तुरंत निर्णय दिया कि इन्हें 'डिबार' कर दिया जाए। लेकिन अण्णासाहब ने ही इस निर्णय को सौम्य कराते हुए यह मनवा लिया था कि इन्हें कार्यक्रम कम संख्या में दिए जाएं किंतु इन्हें पूरी तरह बंद न किया जाए। दूसरा उदाहरण महाराष्ट्र के उस जमाने के जाने-माने महफिली और नाट्यसंगीत के गायक पं. सुरेश हळदणकर का है। उनके ऑड़िशन में विलासखानी तोड़ी और कोमल ऋषभ आसावरी इन दो समप्रकृतिक रागों को लेकर उन्हें छेड़ा गया था। इसपर पहले तो वे अप्रतिभ हो उठे, कुछ नाराज भी हो गए। किंतु कुछ दिन बाद अण्णासाहब को एक महफिल में उन्होंने सुना और वे उनके पक्के कायल हो गए और रागचर्चा वगैरह को लेकर अण्णासाहब के साथ उनका काफी संपर्क बना रहा। तो अण्णासाहब का दृष्टिकोण यह था कि जो भी कलाकार आकाशवाणी पर अपनी कला प्रस्तुत करता है तो उसे सब दृष्टियों से आदर्श और निर्दोष होना चाहिए। उनके सारे प्रयत्न इसी दिशा में रहते थे। इसके आगे की बात मैं आपको बताऊं कि उन्होंने डॉ. केसकर को पत्र लिखा था कि मैं भी एक कलाकार हूं, तो मेरा भी ऑड़िशन होना चाहिए! केसकरजी को उन्हें बताना पड़ा कि आप वाइस चेअरमैन हैं तो आप अपने आप ऑडिशन के परे ठहर जाते हैं।

ऐसा एक आक्षेप सुनने में आता है कि खास घराने के कलाकारों के साथ रियायत बरती जाती थी। अगर ऐसा होता तो प्रो. नारायणराव पटवर्धन 'प्रोड्यूसर' न होते। पं. पद्माकर बर्वे भी प्रोड्यूसर न होते। अगर इसकी नामावली निकालकर देखी जाए कि भातखंडे परंपरा के कितने 'संगीत निर्माता' (प्रोड्यूसर) उस कालखंड में आकाशवाणी पर थे और दूसरे घरानों के कितने थे तो अपने आप पता चल जाएगा। अब जिस समय डॉ. सुमति मुटाटकर 'डाइरेक्टर ऑफ प्रोग्राम्स' नियुक्त हुईं उस समय भी यही बात फैलाई गई कि डॉ. रातंजनकरजी की सिफारिश पर ही केसकरसाहब ने उन्हें यह पद दिलवाया। लेकिन हकीकत एकदम दूसरी है। उन दिनों आत्माराम गोविंद खेर उस समय की लोकल सेल्फ गर्वमेंट की मंत्री श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित के साथ उसी विभाग में डेप्युटी मिनिस्टर और एसेंब्ली में स्पीकर भी थे। इन खेर साहब की पत्नी और डॉ. सुमति चचेरी बहनें लगती हैं। अब क्योंकि आप संगीत में डॉक्टरेट हो चुकी थीं और ये लोग काँग्रेस के कार्यकर्ता थे, तो स्वाभाविक रूप से श्रीमान खेर ने डॉ. केसकर के पास बात छेड़ दी कि अगर आप इन्हें योग्य समझते हों तो इनकी नियुक्ति 'डाइरेक्टर ऑफ प्रोग्राम्स' के पद पर करवा दीजिए। फिर स्वाभाविक रूप से ही केसकरजी ने अण्णासाहब से इसके बारे में राय की। तब उन्होंने कहा कि शिक्षा और संगीत दोनों में इन्होंने अच्छी तरक्की कर ली है; इस पद के लिए वह योग्य हैं। तो इस पूरी घटना में पहल किसने की थी, यह अपने आप स्पष्ट हो जाता है।

इसमें संदेह नहीं कि ऑडिशन समिति का नेतृत्व करने की बदौलत अण्णासाहब को अपार व्यक्तिगत हानि उठानी पड़ी किंतु यह भी सत्य है कि ऑड़िशन ने व्यापक तौर पर संगीतक्षेत्र में एक जागरण की लहर को भी दौड़ा दिया। इसमें दो राय नहीं हो सकती और इस बात को मैंने खुद अनुभव किया है। ऑड़िशन की शर्तोंने कलाकारों को चौकन्ना बना दिया था।

साधारण से लेकर बुजुर्ग कलाकारों तक स्थाई-अंतरे के शब्दों, रागों के वादी-संवादियों, समप्रकृतिक रागों के साम्यभेद आदि को लेकर बराबर चर्चाएं होने लगीं। पं. जगन्नाथबुवा पुरोहितजी का ही उदाहरण बताता हूं। वे एक जानेमाने बुजुर्ग कलाकार थे। उन्हें किसीको परीक्षा के लिए वगैरह तैयार करना नहीं था। किंतु एक बार मैं उनके यहां गया था, संयोगवश पं. वि.रा. आठवले भी वहां मौजूद थे और बुवासाहब उनके साथ चर्चा में लगे हुए थे कि पूरिया धनाश्री में गंधार वादी क्यों नहीं होना चाहिए, पंचम ही क्यों? फिर वहां उस चर्चा में मैं भी शामिल हो गया। तो कहने का मतलब यह कि ऑड़िशन की नई परिपाटी ने सबको संगीत के बारे में अपने अपने बलबूते पर सोचने के लिए प्रेरित कर दिया। जो छात्र विद्यालय में सीखते थे, उनकी भी जिज्ञासाएं जागृत हो उठीं और वे अपने अध्यापकों से नाना प्रकार की शंकाएं पूछने लगे। महफिली कलाकार यह कहते हुए पाए जाने लगे कि आजकल श्रोताओं में से कोई व्यक्ति ऐसा प्रश्न पूछ बैठता है कि जवाब देना मुश्किल हो जाता है। इस प्रकार देखा जाए तो ऑड़िशन की परिपाटी के लिए अण्णासाहब की नि:स्वार्थ, नि:ष्पक्ष और संगीतोपकारक दृष्टि के कारण आरंभ से ही एक ठोस दिशा प्राप्त हो सकी जिससे व्यापक तौर पर संगीत के कलाकारों को मार्गदर्शन प्राप्त हो सका।

अवकाशोत्तर स्थितियां

खैरागढ़ से अवकाश ग्रहण करने के उपरांत अण्णासाहब सीधे बंबई चले आए और इतने अरसेतक बिछड़े हुए अपने परिवार के साथ रहने लगे। उनकी अवकाशोत्तर गतिविधियों का बयान करने से पहले एक बात पर ध्यान दिलाना जरूरी है कि ३४ वर्ष की प्रदीर्घ महाविद्यालयीन उच्चपदवाली नौकरी के बावजूद अण्णासाहब आर्थिक दृष्टि से एकदम कोरे ही थे। न तो मैरिस कॉलेज से उन्हें कोई ग्रेच्युइटी या पेन्शन मिली और न खैरागढ़ विश्वविद्यालय की अत्यल्प कालावधि की सेवा के कारण उन्हें कोई राशि मिल सकी। दूसरी बात यह है कि उम्र की ऐन पचीसी में ही आखिर तक दूर प्रदेश में रहने के कारण बंबई के माहौल से उनका संपर्क टूट-सा गया था। एक तीसरी बात भी थी कि बंबई पहुंचने पर कुछ कालावधि में ही अण्णासाहब को मर्मांतक मानसिक पीड़ा पहुंचानेवाले एक अनुभव से गुजरना पड़ा जब कि आकाशवाणी की ओर से उनके नाम गायन के कांन्ट्रैक्ट आने बंद हो गए। किंतु संयोगवश दो-एक सूत्र ऐसे भी जुड़ गए थे, जिनकी बदौलत उनके अवकाशोत्तर १३ वर्ष किसी हद तक सांगीतिक कामों में बीत सके। इनमें एक महत्त्वपूर्ण सूत्र था श्रीवल्लभ संगीतालय के निदेशक (डायरेक्टर) के रूप में उनकी ससम्मान नियुक्ति।

वस्तुत: आकाशवाणी के कार्यक्रम बंद होने के पीछे कोई तात्त्विक या वैधानिक कारण हो ही नहीं सकता था। यह सब भाग्य की विडंबना ही थी। इसे स्पष्ट शब्दों में कह देने में मुझे कोई संकोच नहीं लगता है कि इसके पीछे केवल वैयक्तिक वैमनस्य था और इस वैमनस्य को संगीत एक अत्यंत श्रेष्ठ तपस्वी और ज्ञानी गायक और उच्च कोटि के वाग्गेयकार की मानसिक हत्या करने तक तूल दिया गया था। और मैं यह भी स्पष्टतापूर्वक कह देना चाहता हूं कि इसके पीछे श्री बृहस्पति का हाथ था। डॉ. बालकृष्ण केसकर के जमाने से ही बृहस्पतिजी अण्णासाहब के विरोध में खड़े थे। ऑड़िशन की गतिविधियों में उन्हें कोई स्थान नहीं दिया गया था। इसका प्रतिशोध उन्होंने इस प्रकार चुकाया।



७२ घंटों का अविरत ' संगीत धारा ' कार्यक्रम संपन्न होने के पश्चात् मैरिस (भातखंडे) म्यूजिक कॉलेज के श्रुतिमंडल सदस्यों एवं अध्यापकों के साथ। (दाहिनी ओर आखिर में) डॉ. सुमति मुटाटकर के पिताश्री अंबर्डेकर



मैरिस कॉलेज का एक परिदृश्य: (रजत जयंती के अवसर पर, 1952) राय उमानाथ बली, राजाभैय्या पूंछवाले, अण्णासाहब तथा अध्यापकगण एवं छात्र

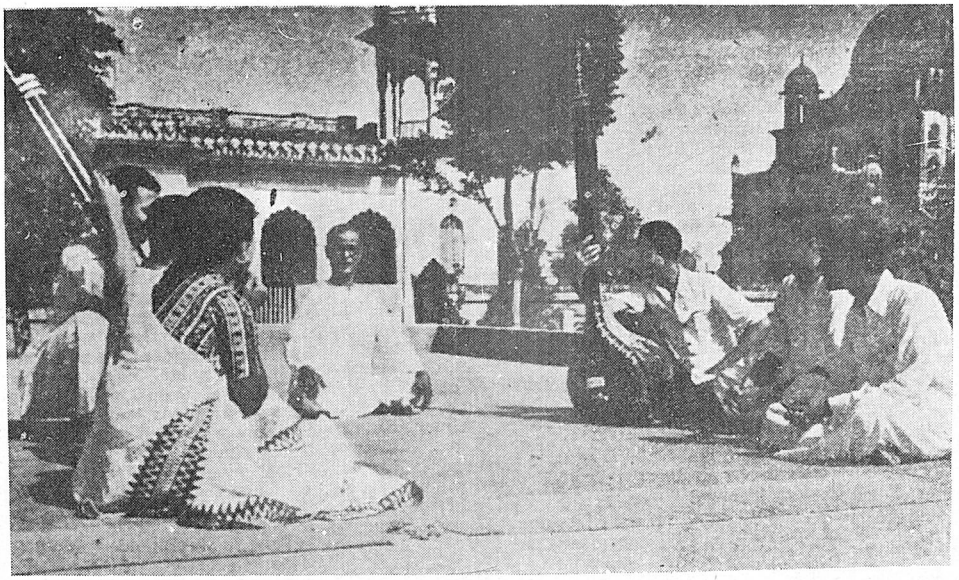

कॉलेज के खुले प्रांगण में गुरुशिष्य परंपरा का परिदृश्य

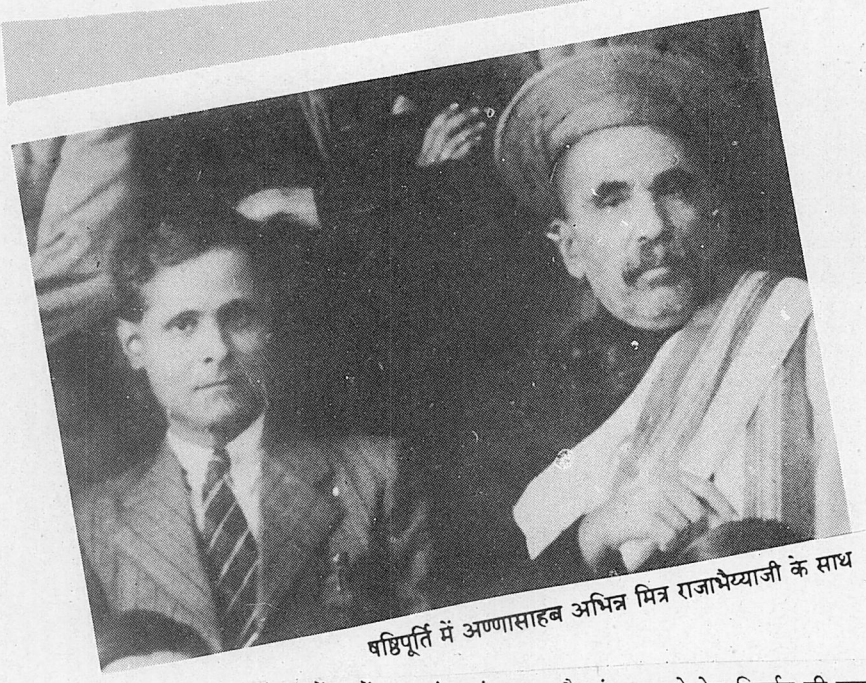

षष्ठिपूर्ति में अण्णासाहब अभिन्न मित्र राजाभैय्याजी के साथ

नोंकझोंक : पं. रातंजनकर और पं. पूछवाले वेष-विपर्यय की मुद्रा में

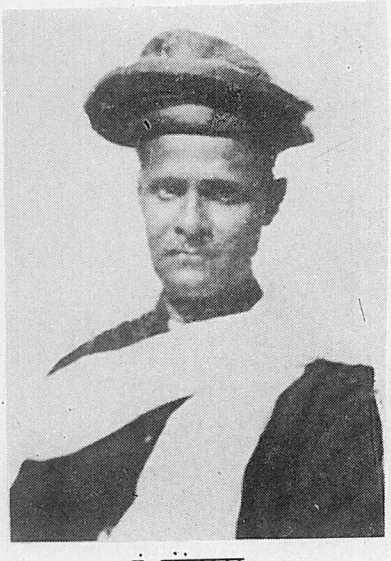

पं. रातंजनकर
राजाभैय्या के वेष में

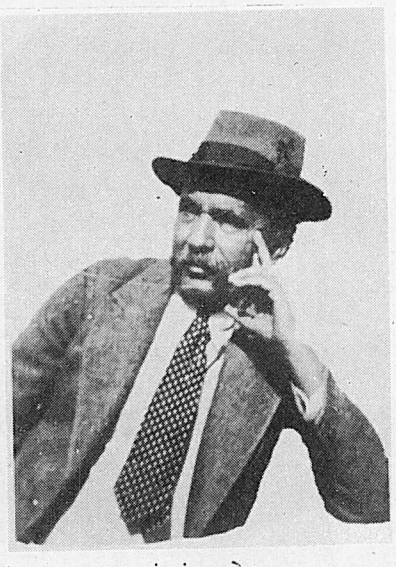

पं. पूंछवाले
रातंजनकर के वेष में

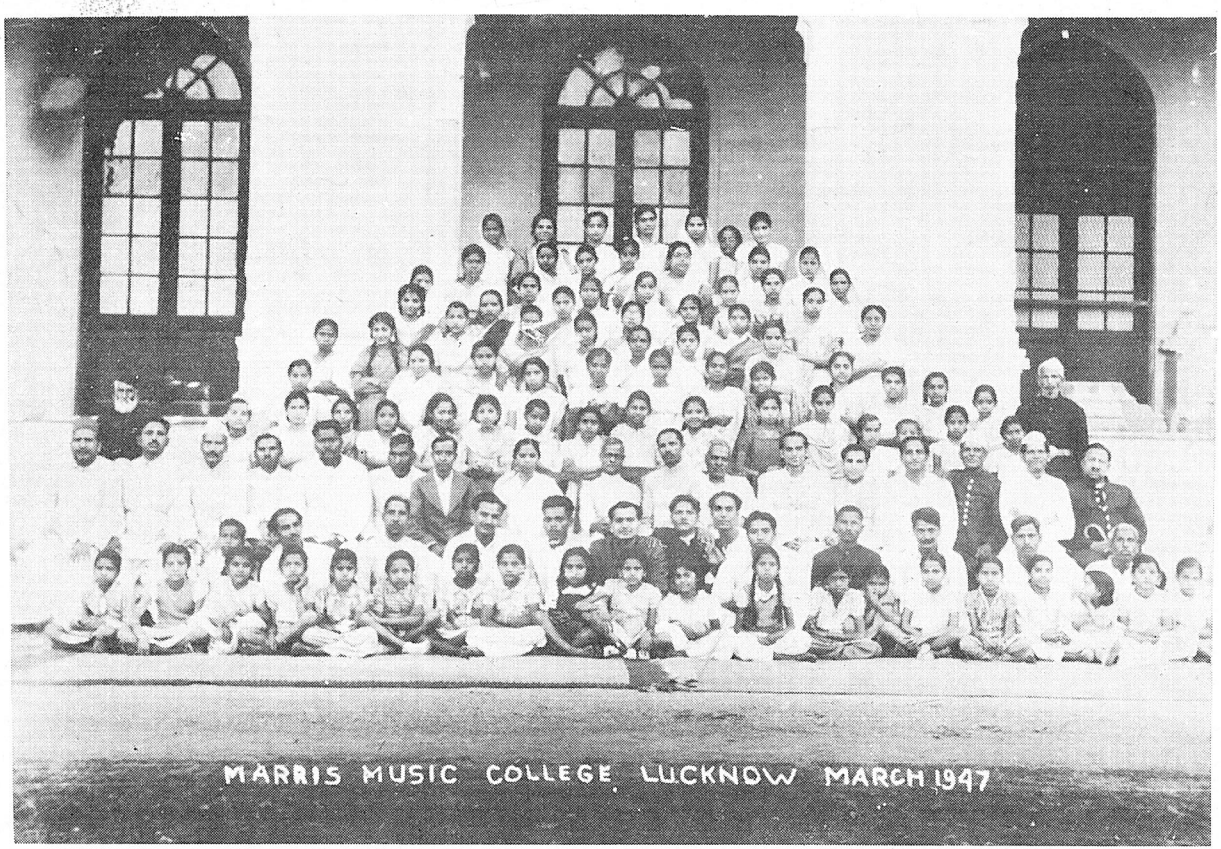

मैरिस कॉलेज, लखनऊ मार्च १९४७ : पं. गतंजनकर, अध्यापक तथा छात्रों समवेत

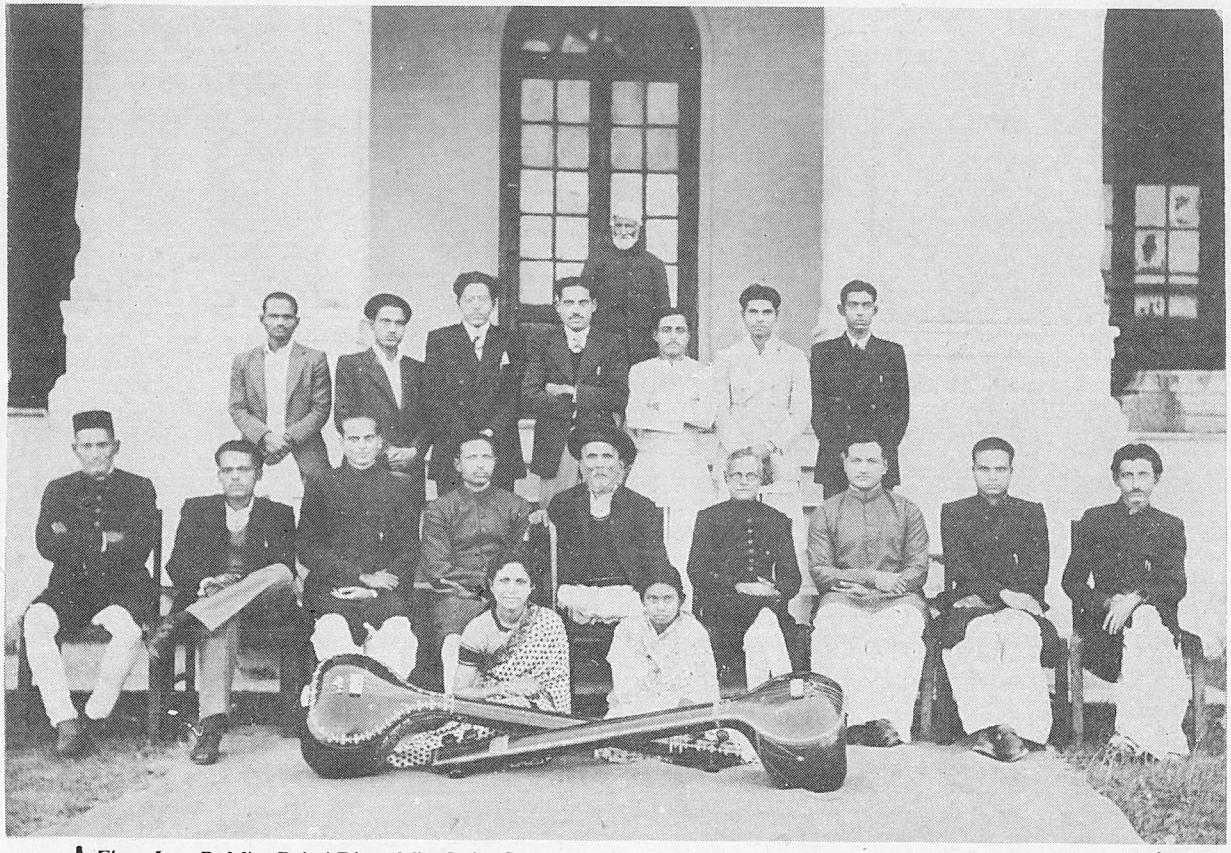

Floor L to R : Miss Bakul Dhar, Miss Indra Saxena
Chairs L. to R. : Shri Kotasthane, Profs. D. Goswami, M.S. Kalyanpurkar, G.N. Natu *(Vice-Principal)*, Raja Bhaiya Poochhwale *(Chief Examiner)*, S.N. Ratanjankar *(Principal)*, K.G. Ginde, S. Shukla, B.M. Tripathi.
Standing L to R. : C.L. Yadav, K.B.L. Johri, R.N.S. Lakhauria, G.B. Mathur, V. Bobde, *(4th Year)*, K. Lalji, V.V. Mahadane, Jamal Khan *(Peon)*

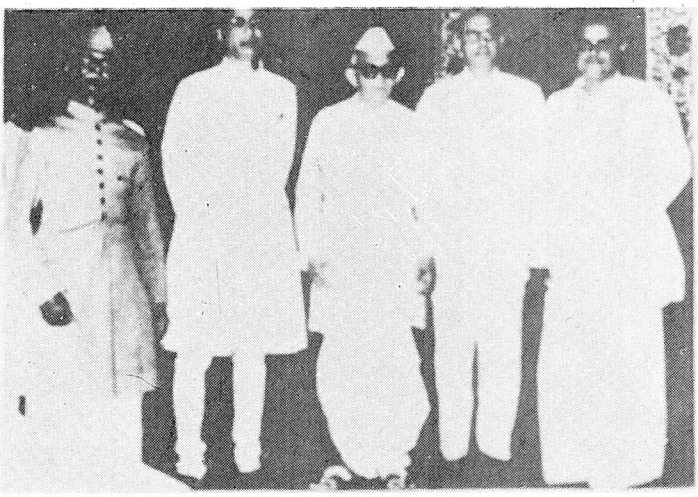

भारती विद्याभवन स्थापना
कुलपति कन्हैय्यालाल मुन्शीजी के साथ (बाएं से) पं. रातंजनकर, डॉ. बालकृष्ण केसकर, के. एस्. मलिक, चिदानंद नगरकर

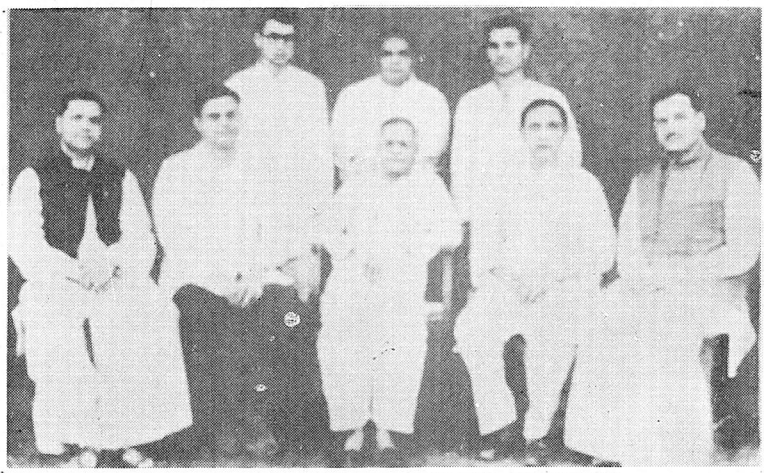

गुरुशिष्य परंपरा
बैठे हुए : (बाएं से) एस्.सी.आर.भट, चिदानंद नगरकर, पंडितजी, महमदखां (बीनकार), के. जी. गिंडे
खड़े - (बाएं से) वसंत पर्वतकर, के. बी. चौगुले, सी. आर. व्यास

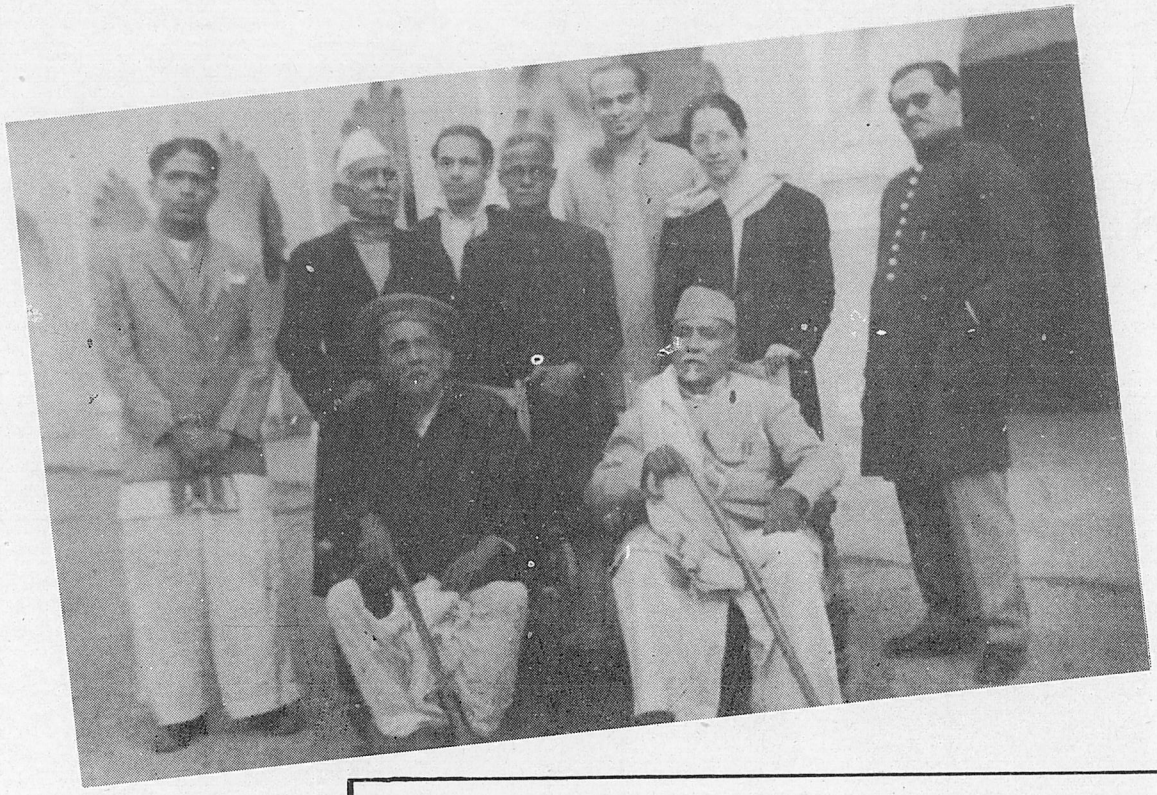

'शिष्टागमने परीक्षाध्यायः'— भातखंडे कॉलेज लखनऊ के परीक्षासंचालन के लिए विशेषागत विद्वानों के साथ अण्णासाहब, पं. राजाभैया पूंछवाले, अल्लाउद्दिनखां; (पीछे खड़े) : पं. गजाननराव जोशी, पं. सखारामजी; (आखिर में) उ. निसारहुसेनखां, पं. रातंजनकर और उनके बाएं पीछे पं. मोहनराव कल्याणपूरकर

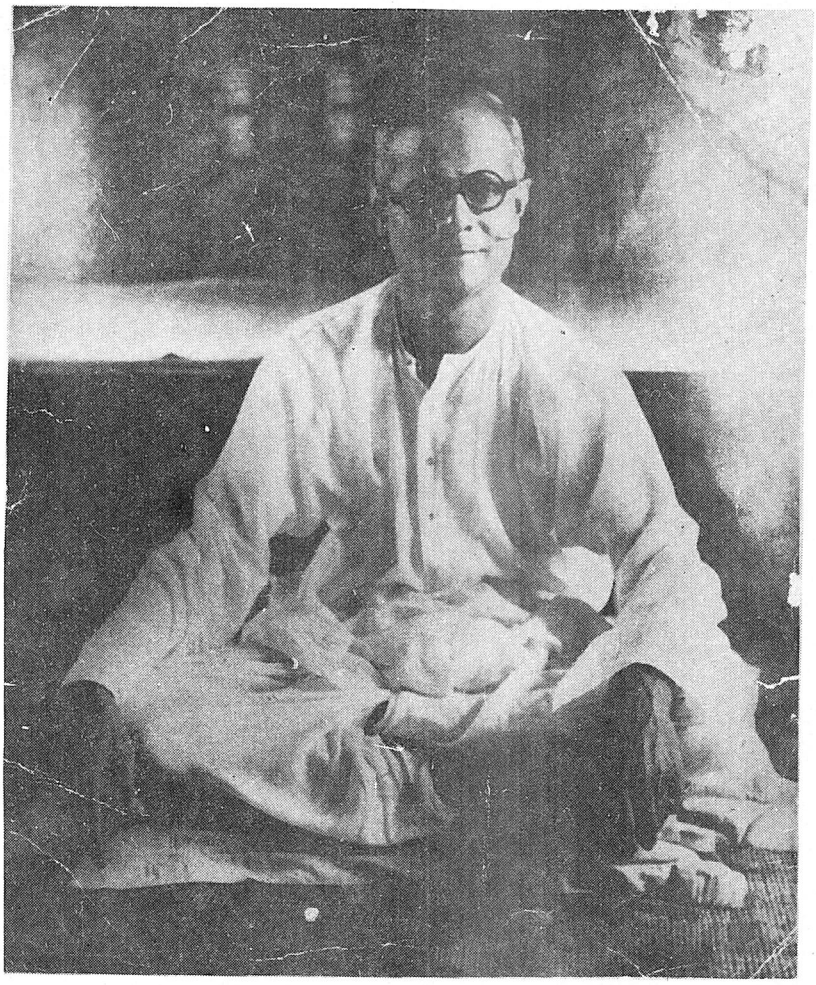

'**वास प्रधानम्**!' पंडितजी औपचारिक बंगाली भेस में....

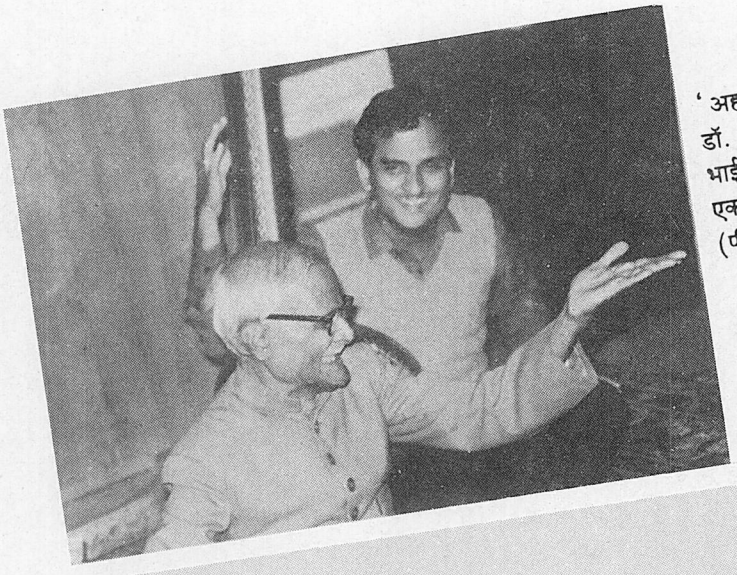

'अहा, कैसी उपज गई!'
डॉ. एम.आर. गौतम के
भाईसाहब के यहां (दिल्ली),
एक फरमाइशी प्रोगाम में
(पीछे दिनकर कायकिणी)

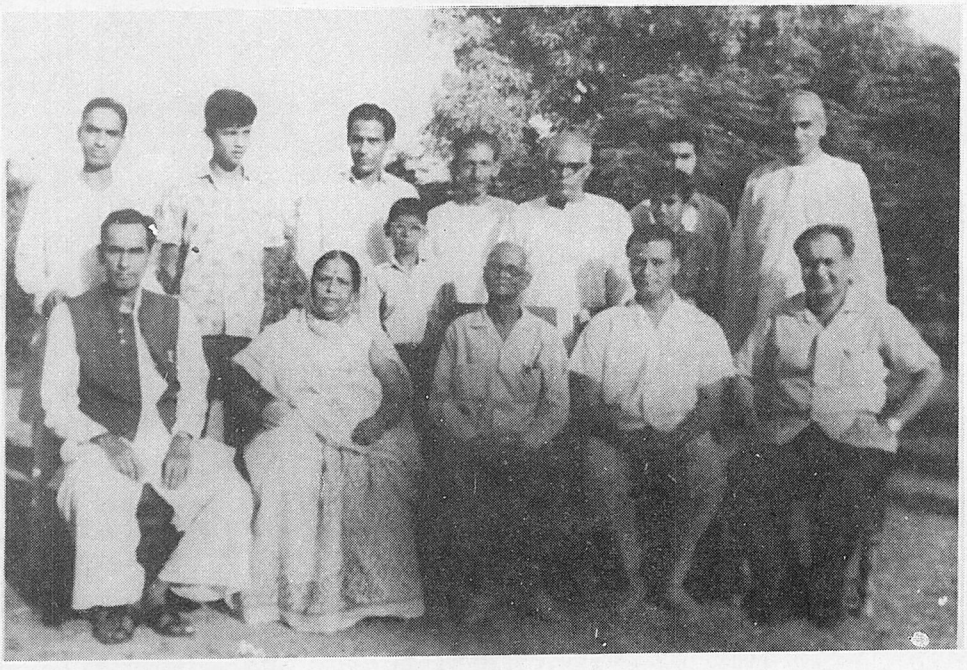

भातखंडे संगीत महाविद्यालय में बम्बई के पं. यशवंतबुवा जोशी के गायनोपरान्त —
स्वयं पं. जोशी, श्रीमती सिद्धेश्वरी देवी, उ. हफीज अहमद खां, पं. वी. जी. जोग, पं. मोहनराव कल्याणपुरकर

'अथ स्वागतम्' गुरुवर पं. रातंजनकर छात्रसेनासमवेत
छात्रा : डॉ. सुमति मुटाटकरजी के साथ उनके निवास में



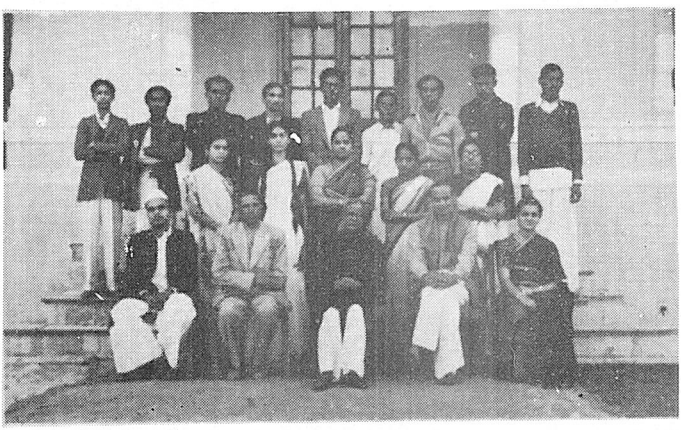

भातखंडे (मैरिस) कॉलेज १९५१ का 'विशारद'-दल :
'दलपति' पं. रातंजनकर और सहकर्मी श्री. शत्रुघ्न शुक्ल,
पं. जी. एम. नातू, पं. मोहनराव कल्याणपूरकर,
श्रीमती सुनीति कौशिक



राय उमानाथ बली, तत्कालीन गवर्नर तथा डॉ. रातंजनकर

पं. रातंजनकर जी के अभिनंदन के प्रसंग में

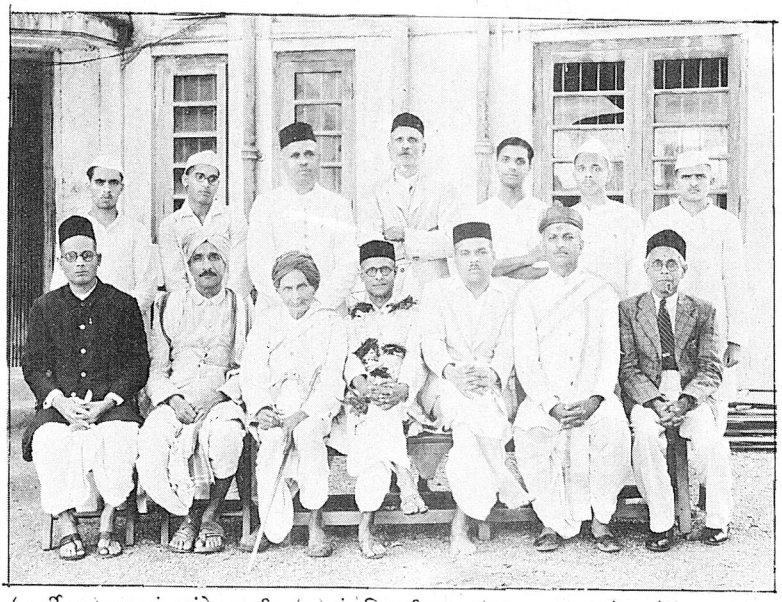

(कुर्सी पर) क्र. पं. तांबे शास्त्री, (२) पं. मिराशीबुवा, (३) .... (४) पं. रातंजनकर
(५) प्रो. ग. ह. रानडे, (६) सरदार आबासाहब मुजुमदार (७) .....
(खड़े) क्र. (१) .... (२) नारायण मोडक (३) पं. विनायकरावजी पटवर्धन,
(४) श्री. पंडित
(५) पं. एस्. सी. आर् भट, (६) पं. ना. वि. पटवर्धन, (७) श्री. गोविंद पांडुरंग जोशी

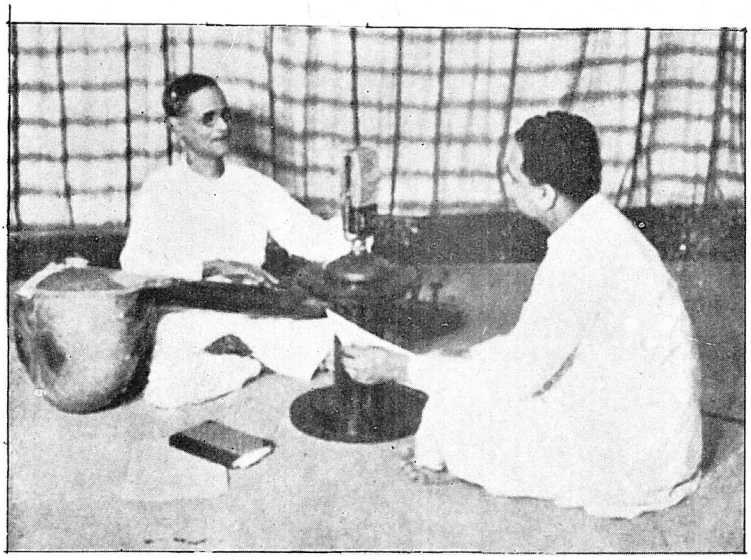

Dr. K. G. Ginde at &he feet of s Guru, Annasaheb

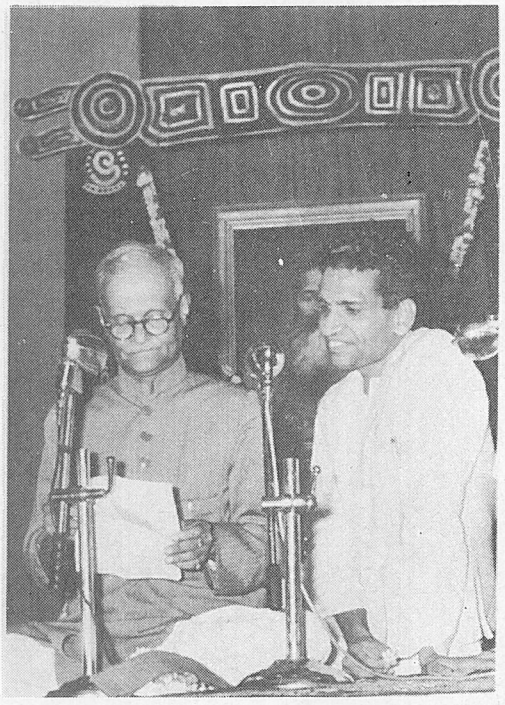

गां.म.वि. दिल्ली एक
समारोह में भाषण।
साथ में पं. विनयचंद्र

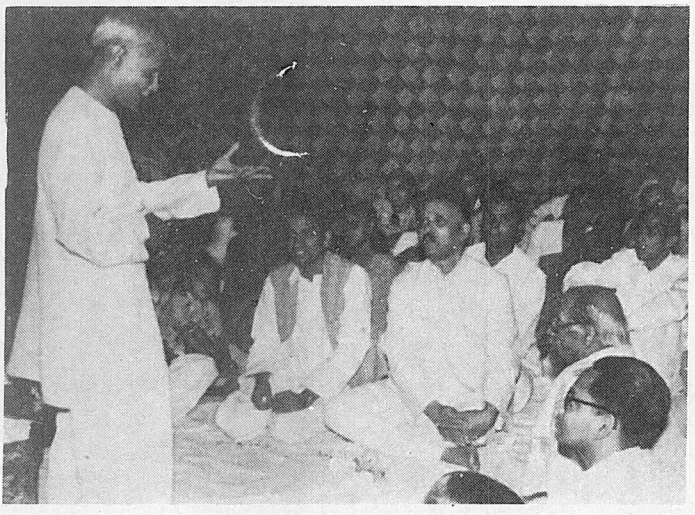

चर्चासत्र में एक विचारबिंदु पर पंडितजी उस बिंदु की
गंभीरता को आंकते हुए दिग्गज पं. विनायकराव पटवर्धन,
पं. कशालकर तथा अन्य सहभागी

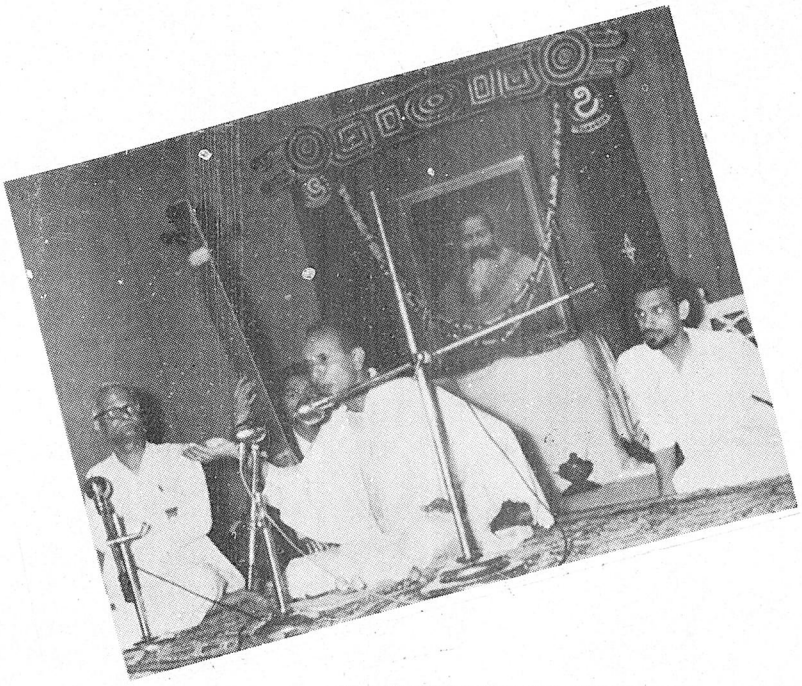

गां.म.वि. दिल्ली : **विचार गोष्ठी में भाषण** देते हुए
पं. दिलीपचंद्र बेदी (दाएं) पं. रातंजनकर, (बाएं) श्री प्रमोद मौद्गल्य



गांधर्व महाविद्यालय, दिल्ली :
एक संगोष्ठी में प्रतिपादन की मुद्रा में (१९५९)
साथ में पं. वि.रा. आठवले और
पं. विनयचंद्र



पं. रातंजनकर, अपने चचेरे भाई के साथ अपने मूल स्थान
जवळगांव (ता. बार्शी) में आयोजित छोटी महफिल में—

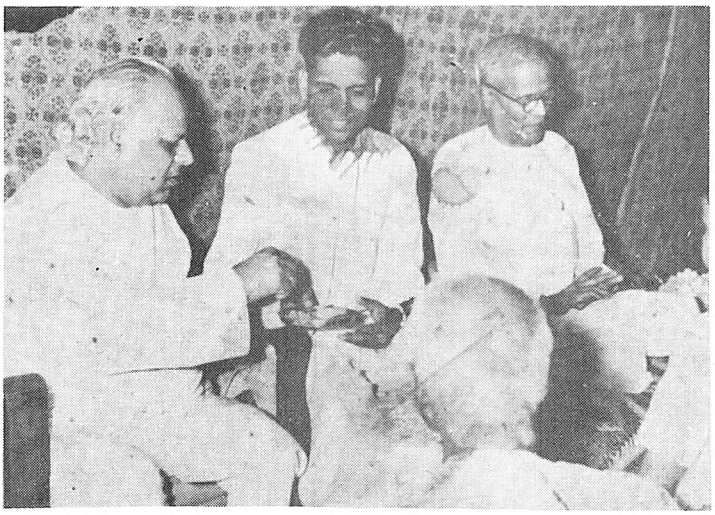

गांधर्व महाविद्यालय
एक समारोह में
दो महनीय एक साथ
पं. ओंकारनाथ,
पं. रातंजनकर,
बीच में
पं. विनयचंद्र (प्राचार्य)

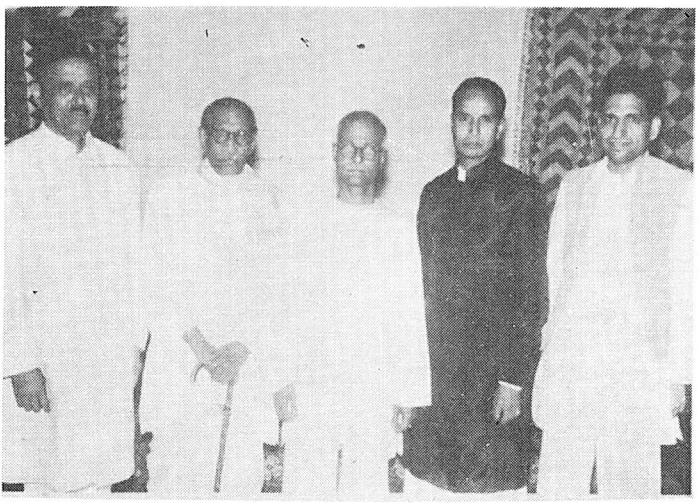

गांधर्व महाविद्यालय के
एक कार्यक्रम में
पंडित चतुष्टय,
पं. विनायकराव पटवर्धन,
पं. वी.ए. कशाळकर,
पं. रातंजनकर,
पं. दिलीपचंद्र वेदी तथा पं. विनयचंद्र मौदगल्य (प्राचार्य)

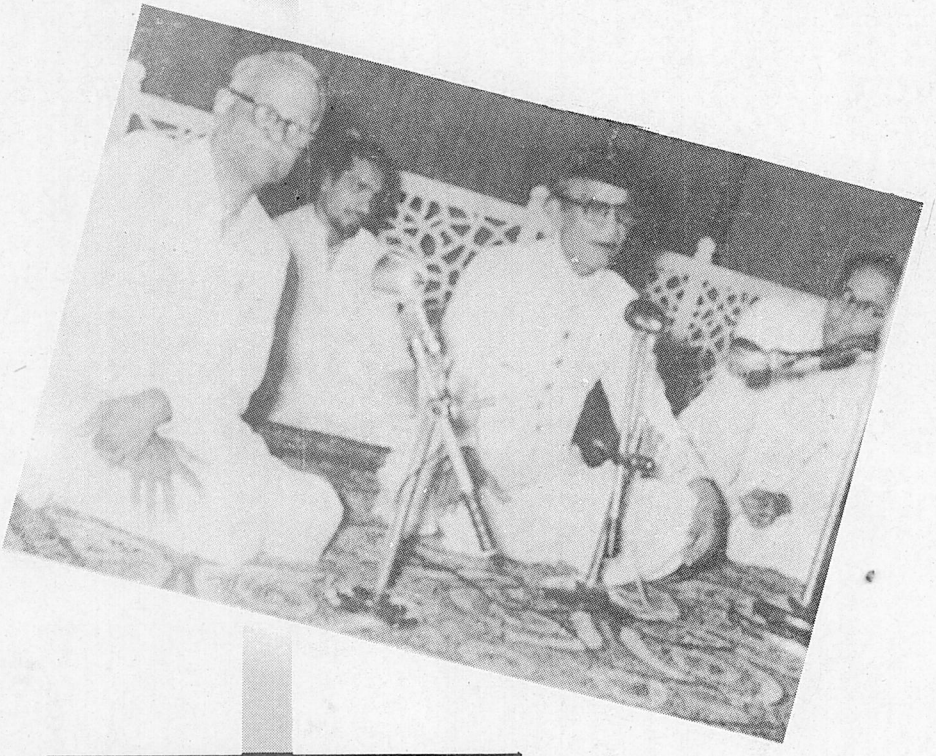

गांधर्व महाविद्यालय, दिल्ली, विचारगोष्ठी
एक सत्र में सहभागी होते हुए
पं. रातंजनकर, उस्ताद चांदखां तथा
पं. वि. रा. आठवंले



गांधर्व महाविद्यालय में संगीतविषय पर भाषण में पं. रातंजनकर अपने मुद्दे को रेखांकित करने की मुद्रा में– (पं. विनयचंद्र तथा ठाकुर जयदेवसिंह की उपस्थिति में)

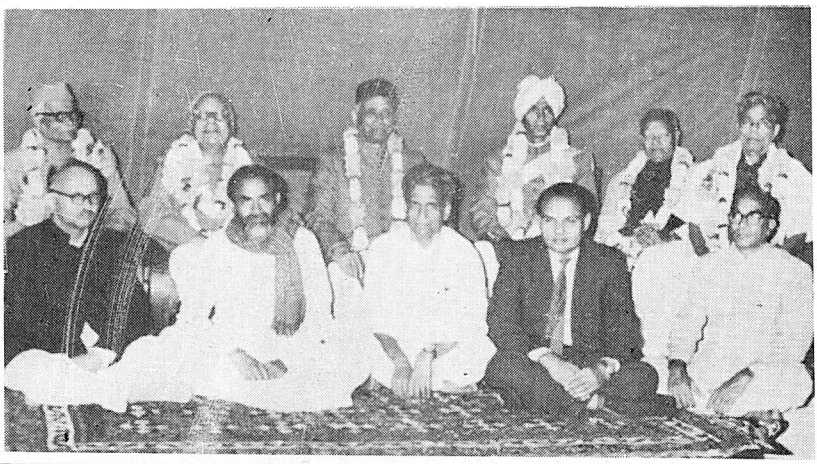

गांधर्व महाविद्यालय द्वारा आयोजित सामूहिक अभिनंदन समारोह में (कुर्सीपर बाएं से) पं. रातंजनकर, पं. ओंकारनाथ, पं. विनायकराव, पं. अंतुबुवा जोशी तथा पं. गोविंदराव बऱ्हानपुरकर (नीचे मध्य में) पं. विनयचंद्र मौदगल्य



हैदराबाद संगीत विश्वविद्यालय में महफिल (१९६१) (तबला) शेख दाऊद खां,
(तानपूरा) ज्ञानेश्वर रातंजनकर, दंताळे, (सारंगी) गुलाम महमद

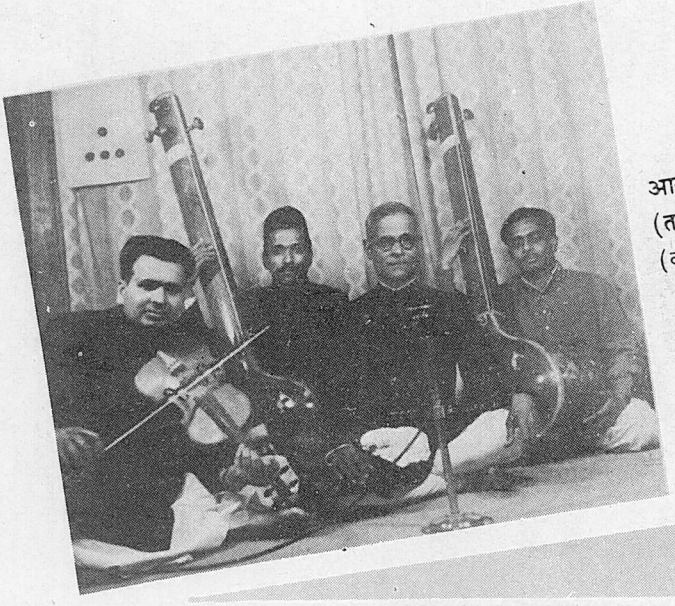

आकाशवाणी अहमदाबाद
(तानपूरा) दंताळे, वसंत बोबडे
(वायलिन) वी.जी. जोग

अनौपचारिक मेलमिलाप

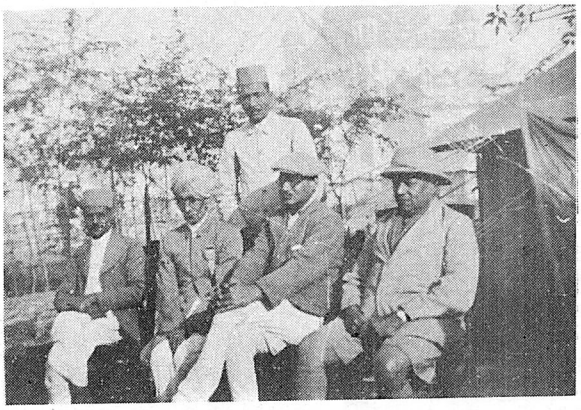

मैरिस म्यूजिक कॉलेज : १९३६

आचार्य रातंजनकर, पं. वाडीलालजी, रायसाहब, पं.पी.बी. जोशी, (प्रधानाध्यापक गवर्मेंट हायस्कूल, अजमेर), डॉ. जी. आर. गिंडे (बैलहोंगल) (पं.के.जी. गिंडे के पिताश्री), (खड़े) पं. वाडीलालजी के एक सुहृद श्री केदार भातखंडे

छात्रमिलाप

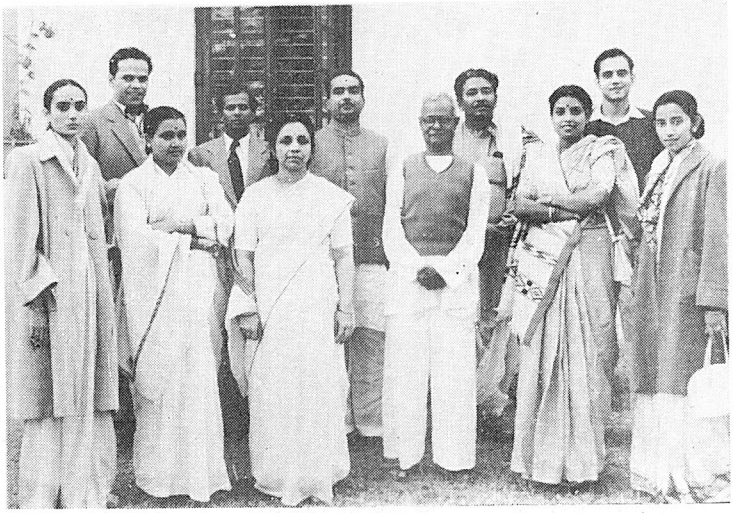

भातखंडे (मैरिस) कॉलेज में (१९५५-५६)
अपने कतिपय छात्र-छात्राओं के साथ आचार्यदेव

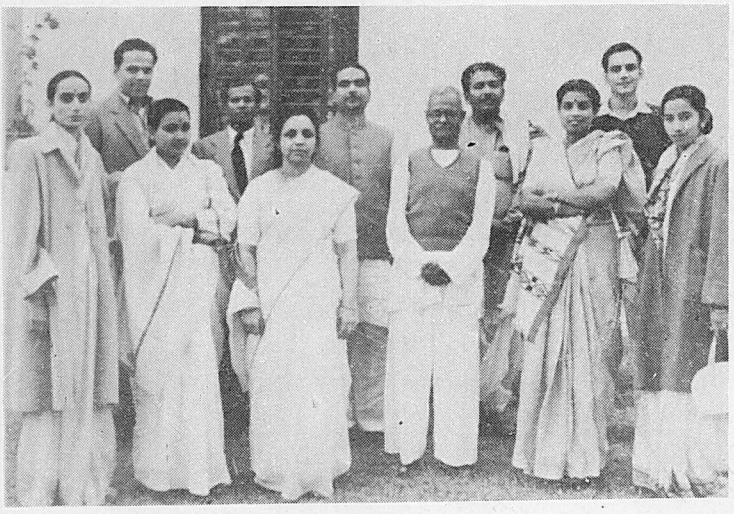

छात्रमिलाप—
भातखंडे (मैरिस) कॉलेज में (१९५५-५६)
अपने कतिपय छात्र-छात्राओं के साथ आचार्यदेव

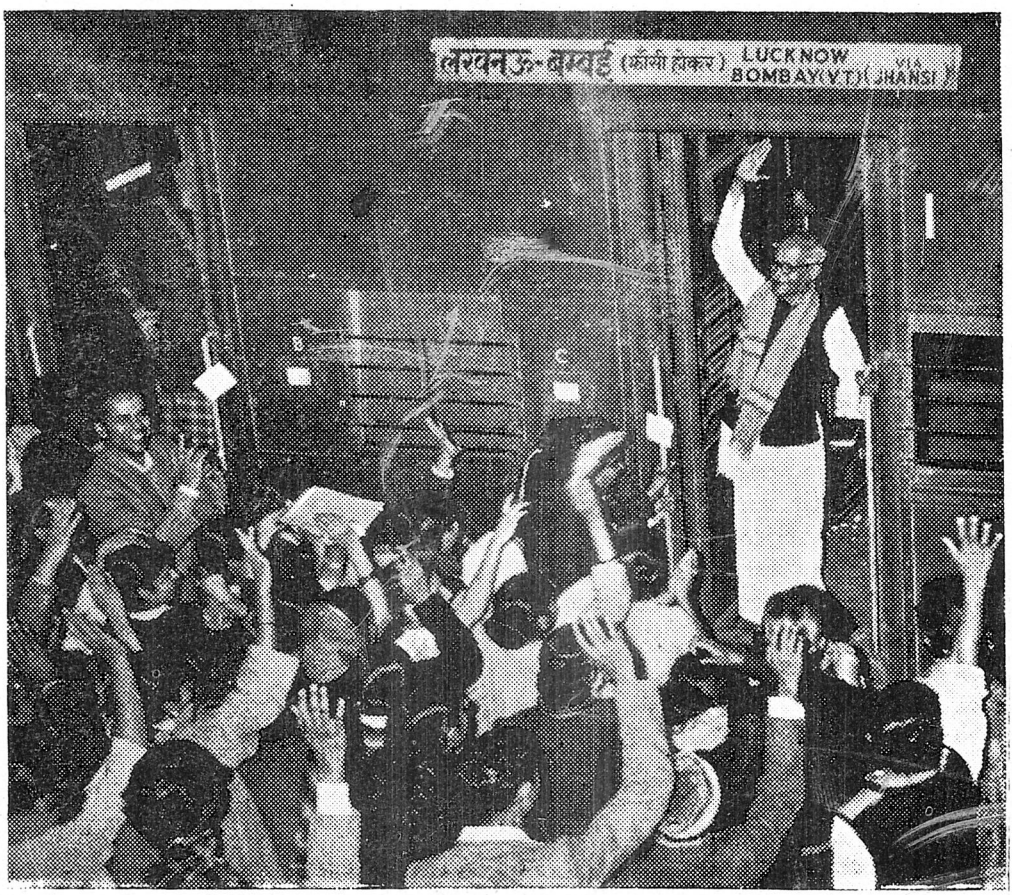

Biddling farewell to his students of Lucknow to assume charge of Vice Chancellorship of Indira Kala Sangeet Vishwavidyalaya, Khairagarh.

विदा का क्षण !

जब प्रोग्राम्स आने बंद हुए तब हम शिष्य लोग भी अचंभे में पड़ गए। मैंने बंबई केंद्र पर जाकर पूछताछ की तब बताया गया कि ऊपर से ऑर्डर आया है कि डॉ. एस्. एन. रातंजनकर को भविष्य में कार्यक्रम न दिए जाएं। बंबई केंद्र पर उस समय संभवत: हाफिज अहमद खां – सहसवां घराने के जाने माने गायक- 'प्रोड्यूसर' थे। खांसाहब तो पहले से ही अण्णासाहब को बेहद चाहनेवालों में एक थे। किंतु ऊपर से आदेश आ जानेपर वे भी क्या कर सकते थे! आगे चलकर खांसाहब भी 'डाइरेक्टर ऑफ प्रोग्राम्स' हो गए, किंतु तब तक अण्णासाहब का निधन हो चुका था।

मुझे इस संदर्भ में यह कह देना आवश्यक लगता है कि डॉ. केसकरजी के मिनिस्ट्री से हटने के बाद रातंजनकर और भातखंडे परंपरा के गायकों को आकाशवाणी के सम्मानित कार्यक्रमों से वंचित रखने की एक परिपाटी ही बन गई, जिसका शिकार हम उस परंपरा के बहुतांश गायक आजतक हुए हैं। मुझीको लीजिए। अर्सेसे मेरी टॉप क्लास आर्टिस्ट के रूप में मान्यता है, संगीत नाटक अकादमी का पुरस्कार भी मुझे मिला, कलकत्ते के म्यूजिक रिसर्च सेंटर के साथ मैं बराबर जुड़ा हुआ हूं, किंतु १५-१६ वर्षों में राष्ट्रीय कार्यक्रम में मेरा गायन प्रस्तुत नहीं हुआ है। और यही हाल हमारे कतिपय गुरुबंधुओं का है। हां, लेकिन मैं यहीं पर यह भी रेखांकित कर देना चाहता हूं कि हम सभी भातखंडे परंपरा के गायकों ने संगीत की साधना धन या मान की अपेक्षा से कभी की ही नहीं थी और न हमने किसीके सामने हाथ फैलाया है। पं. भातखंडे और पं. रातंजनकर जी से उच्चतम संगीतज्ञान का जो प्रसाद हमने पाया है उसमें हम परितृप्त हैं। और गुरुकृपा के फलस्वरूप हम सभी गुरुभाइयों का सांगीतिक जीवन सफल ही रहा है। मुद्दा जो उठा था वह व्यक्तिगत वैमनस्य को नाजायज रूप में तूलकर सार्वजनिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में किसीको नष्ट कर देने की मनुष्यताहीन प्रवृत्ति को लेकर था।

किंतु इस घटना का परिणाम अण्णासाहब के मानसिक स्वास्थ्य पर हुए बिना नहीं रहा। उन्होंने प्रकट रूप से गायन करने से ही हाथ खींच लिया। स्वभाव से मितभाषी और अंतर्मुखी प्रवृत्ति के होने की वजह से उन्होंने खुले तौर पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की, किंतु बैठकों में गाना सुनाना उन्होंने बंद कर दिया। आग्रह हो जानेपर कहते–"मेरा क्या गाना, मेरे ये शागिर्द गाएंगे, उनका गाना सुनिए" हां, संगीत-चर्चाओं में सहभागी होते रहे और अपनी मूलभूत रचनात्मक प्रतिभा के कारण बंदिशों की रचनाएं करने में अपना समाधान पाते रहे।

संगीतालय की पृष्ठभूमि

श्रीवल्लभ संगीतालय के साथ अण्णासाहब का जो आपस में संबंध प्रस्थापित हुआ उसके पीछे अनेक घटनाएं जुड़ी हुई हैं। यों इन घटनाओं से अण्णासाहब का कोई सीधे ताल्लुक नहीं था, मैं और मेरे गुरुभाई एस्.सी.आर. भट ही उनमें थे; परंतु अण्णासाहब के श्रीवल्लभ संगीतालय के निदेशक पद पर नियुक्त हो जाने के पीछे ये घटनाएं अप्रत्यक्षत: कारणीभूत हुई थीं। उन सबका यहां संक्षेप में बयान करना आवश्यक है।

श्रीवल्लभ संगीतालय १९५० से बंबई के सायन विभाग में संगीत-शिक्षा के कार्य में संलग्न है। इस संगीतालय का निर्माण मूलत: उस्ताद फैयाज हुसेन खांसाहब की प्रेरणा से हुआ और उसके निर्माता और विधाता स्वामी श्रीवल्लभदास रहे, जो कृष्णभक्ति परंपरा के अंतर्गत गुजरात में स्थित स्वामीनारायण संप्रदाय के साधु और महंत थे और संगीत में उस्ताद फैयाजहुसेनखां

के शागिर्द थे। मैं और पं. भट हम दोनों इसी संगीतालय में सेवा कर रहे थे जब १९६१ में अण्णासाहब अवकाश ग्रहण करके बंबई पहुंचे। मैं उस समय वहां प्रधानाचार्य था और पं. भट भी ज्येष्ठ अध्यापक थे।

अब हमारा संबंध श्रीवल्लभ संगीतालय से जुड़ जाने के बारे में भी बताना होगा। सन १९५१ में मैं लखनऊ से बंबई आ गया और भारतीय विद्याभवन के तत्त्वावधान में संचालित भारतीय संगीत और नर्तन शिक्षा पीठ में संगीत अध्यापक के नाते काम करने में लग गया। इस शिक्षा-पीठ का निर्माण १९४८ में विद्याभवन के कुलपति डॉ. कन्हैय्यालाल मुंशी के नेतृत्व में हुआ था। इस शिक्षापाठ की परामर्श-दाता समिति के उपाध्यक्ष अपनी आयु के अंत तक अण्णासाहब ही थे। यह संस्था अबतक भातखंडे संगीत विद्यापीठ, लखनऊ से ही संलग्न है। प्रधानाचार्य हमारे ही गुरुभाई पं. चिदानंद नगरकर थे। वहां आगे चलकर पं. सी. आर.व्यास भी शामिल हो गए, जो समानांतर तौर पर मुझसे प्रगत गायन के लिए परामर्श लेते थे। तबला-पंडित श्री तारानाथ भी विद्याभवन से जुड़े हुए थे और स्वामी श्रीवल्लभदास जी से उनका घनिष्ठ परिचय था। तबले पर स्वामीजी की संगत करने वे हमेशा जाया करते। उनके साथ रहते हुए हमें भी स्वामीजी का गायन सुनने के अनेक अवसर मिले और हमें बड़ा सुख और आश्चर्य हुआ कि स्वामीजी के गायन में हमारे एक दादागुरु उस्ताद फैयाजहुसेन खां की प्रतिमा बखूबी झलक उठती।

धीरे धीरे स्वामीजी से मेरा भी परिचय बढ़ा और उनकी संगीत-साधना के बारे में मालूम हुआ कि शुरू में आप जयपुर में जमालुद्दीन बीनकार के सुपुत्र खां आबीद हुसैन के पास गाना सीखते थे। कुछ अर्से बाद जमालुद्दीनजी की नियुक्ति बड़ौदा में राजवादक के रूप में हुई तो आबीद हुसैनखां भी साथ हो लिए। तब स्वामीजी ने बड़ौदा में अपनी संगीत शिक्षा को जारी रखा। बड़ौदा जाने पर खांसाहब फैयाजहुसेन का गायन सुनने का अवसर मिलना स्वाभाविक ही था। हर सप्ताह में एक बार राजघराने के दिवंगत व्यक्तियों की छतरियों के सामने शाही बगीचे में खांसाहब के गाने की 'ड्यूटी' रहती थी। स्वामीजी ने वहां उनका गाना सुना और मन ही मन निश्चय कर लिया कि हम गायन सीखेंगे तो इन्हींके पास। उसके मुताबिक उस्तादजी से वे मिले। तब खांसाहब ने उसमें से जरिया यह निकाला कि-"बाबाजी, आपके मठ में आकर मैं आपको सिखा नहीं पाऊंगा। आप तालीम मेरे ही शागिर्द अता हुसेन के पास लीजिए और हर मौका लेकर मेरा गाना सुना कीजिए।" स्वामीजी का इरादा इतना पक्का था कि उन्होंने इस व्यवस्था को स्वीकार किया और 'एकलव्य' साधना के तौर पर अपना सारा चित्त खांसाहब की गायकी में ही लगाकर उनकी शैली को भलीभांति आत्मसात् कर लिया।

इसी बीच एक बात ऐसी हुई थी कि स्वामीजी के अनेक भक्तों में से श्री दामजीभाई ठक्कर नामके एक सज्जन थे, जिन्होंने भक्तिभाव से सायन विभाग में स्थित ३३०० चौ. फीट जगह स्वामीजी को दान में दे दी थी। फैयाजखांसाहब को इसके मालूमात थे; तो खांसाहब ने स्वामीजीसे कहा कि बाबाजी अब मेरे भी दिन ढल चुके हैं। आप वहां बंबईवाली जगह में एक आश्रम बना दीजिए, मैं अपने अंतिम दिन वहीं पर बिता दूंगा। स्वामीजी भी शायद यही चाहते थे; क्योंकि अल्पावधि में १९५० तक वहां पर दो कमरोंवाला एक आश्रम बन गया। वह जगह उस काल में शहर से अत्यंत दूर निहायत एकांत से युक्त थी। लोग-बाग उसे 'भूत एरिया' कहकर पहचानते थे!

१९५० को विजयादशमी के दिन गुजराती के महान साहित्यकार राष्ट्रभक्त काकासाहब कालेलकर जी की अध्यक्षता में श्रीवल्लभ संगीत-आश्रम का उद्घाटन हुआ। उल्लेखनीय बात यह है कि उस्ताद फैयाजहुसेना खां बदन में १०२° का बुखार रहते हुए भी उस समारोह में पधारे थे और वहां गाए भी थे। इसके बाद दुर्भाग्यवश खांसाहब का अंतकाल हो गया। तो इस प्रकार आश्रम का श्रीगणेश हो जाने के बाद स्वामीजी ने उस जगह पर श्रवण-शिक्षा की प्रवृत्ति चला दी। रोज वे खुद गाने के लिए बैठ जाते थे और श्रोताओं को मुक्तद्वार दे रखा था। फिर उसमें अलीअकबर खां, अनंत मनोहर जोशी आदि आदि गण्यमान्य कलाकारों के भी कार्यक्रम होने लगे। तब स्वामीजी के मित्रों और हितैषी ने उन्हें यह सुझाव दिया कि यहां पर संगीत विद्यालय के साथ साथ आप एक सर्वसाधारण शिक्षा विद्यालय भी खोलिए और उसकी एक प्रवृत्ति के रूप में संगीत-शिक्षा की व्यवस्था करवा दीजिए; आपको आर्थिक सहायता भी मिलेगी और संगीत का प्रसार भी होगा। उसके अनुसार सन १९५८ में 'श्रीवल्लभ शिक्षण संगीत आश्रम' नाम से संस्था का ट्रस्ट एक्ट के अंतर्गत पंजीकरण हुआ और तत्पश्चात् संस्था श्रीवल्लभ संगीतालय के नाम से अद्यावधि कार्य कर रही है।

इस तरह प्रकारांतर से यह संगीत संस्था रातंजनकर परिवार के अंतर्गत ही आती है। इसीलिए हम सबके मन में संस्था के प्रति विशेष आस्था का भाव था और जब वहां पर सेवा करने का अवसर हमारे सामने आया तब हम तुरंत प्रस्तुत हो गए। १९५७ तक तो मैं भारती विद्या भवन में ही था। किंतु वहां अण्णासाहब की ही मध्यस्थता से एक दूसरे कार्य में भी मैं व्यस्त हो गया था। बंबई में रेव्हरंड फादर प्रॉक्श (Proksch) नामके एक जर्मनभाषी कॅथालिक पादरी अंधेरी उपनगर में अपना ध्यानाश्रम चलाया करते थे। वे हिंदी के भी काफी जानकार थे और उन्होंने 'ग्यान प्रकाश शर्मन्' नाम भी धारण किया था। संगीत भी अच्छा जानते थे। वे लखनऊ गए थे तब अण्णासाहब से मिलना स्वाभाविक ही था। उन्होंने कॉलेज देखा तब विश्वास हो गया कि प्रिन्सिपलसाहब सचमुच ही बड़े अधिकारी व्यक्ति हैं। उन्होंने अण्णासाहब से कहा कि मैं हिंदुस्तानी संगीत सीखना चाहता हूं। किससे सीखा जाए? तब गुरुवर ने उन्हें बताया कि आप बंबई जाइए मेरा एक शिष्य वहां है, उससे संपर्क कीजिए वह आपकी सहायता करेगा। तदनुसार वे मुझे खोजते हुए भारती विद्या भवन पहुंचे। उसके बाद उनका और मेरा संबंध काफी दृढ़ हो गया। उन्होंने अपने जो प्रार्थनागीत तर्ज के साथ बनाए थे, उनमें संशोधन करने उनकी स्वरलिपि बनाने आदि का काम मुझे करना था। वह सिलसिला चल पड़ा; यहां तक कि १९६० की जर्मनी में संपन्न यूकॅरिस्ट कॉन्ग्रेस के समारोह में आप मुझे अपने साथ ले गए थे। खैर, कहने का मतलब यह कि १९६० के लगभग मैं विविध कार्यों में व्यस्त था।

मेरे ये काम इतने बढ़ गए थे कि मैं १९५७ में भारतीय विद्या भवन की नौकरी से अलग हो गया। ठीक इसी काल में मेरे उस समय के शिष्य और सहयोगी श्री सी. आर. व्यासजी ने मुझे प्रस्ताव दिया कि आपको श्रीवल्लभ संगीतालय से जुड़ जाना ही चाहिए। यहां आपकी बहुत जरूरत है। हुआ यह कि स्वामी श्रीवल्लभदासजी अपने संगीताश्रम के वास्ते धनार्जन के लिए प्राय: विदेशों में दौरे पर रहते थे। तो प्रधान अध्यापक का कार्यभार चलाने के लिए किसी व्यक्ति की आवश्यकता थी। बीच में श्री एल्. बी. पाटकर (टाइम्स ऑफ इंडिया के अवकाश प्राप्त अधिकारी) इस पद को संभालते रहे; यह १९६५ की बात है। उस समय मैं जर्मनी से

लौटा था; और मेरी कोई नौकरी नहीं थी। उसके पूर्व डॉ. श्रीमती सुमति मुटाटकर के भाई डॉ. अंबर्डेकर के साथ मैं पं. भट आदि स्वामीजी के आश्रम को देखने गए थे। तो इस प्रकार का अवसर आ जाने पर पाटकरजी के स्थान पर मैं प्रधान अध्यापक के रूप में विद्यालय में आ गया। उस वक्त स्वामीजी तो दौरे पर ही थे। मैं अपने साथ अपने गुरुभाई पं. भट को भी विद्यालय ले आने में सफल हुआ था। १९६१ में स्वामीजी दौरे से आए; हम दोनों को वहां पाकर हर्षातिरेक से गले लगा लिया और कहा कि अब मैं चिंतामुक्त हो गया हूं। लेकिन जब उन्हें इस बात का पता चला कि मैं साधारण शिक्षक के सिर्फ १७५ रु. ही वेतन पर ही वहां काम करने लगा हूं, तब उन्हें कुछ पीड़ा हुई। किंतु आश्रम की आर्थिक स्थितियां उतनी अनुकूल नहीं थीं। फिर भी उन्होंने ३०० रु. तक मेरी तनखा बढ़ा दी और आगे चलकर वह रु. १२०० तक बढ़ती गई।

अस्तु, इस प्रकार मैं और भटसाहब श्रीवल्लभ संगीतालय में काम कर रहे थे, तो १९६१ में अण्णासाहब का बंबई आगमन हुआ। स्वामीजी से उनका पहले से ही परिचय था। इस नई व्यवस्था को देखकर वे भी प्रसन्न हुए। संगीतालय में उनका आना-जाना शुरू हो गया। मैं जब कक्षा लेता तो आप वहां अक्सर आकर बैठने लगे। इसी बीच स्वामीजी के मन में विचार आया कि क्यों न डॉ. रातंजनकरजी को भी संगीतालय से संबद्ध किया जाए। उन्हें संकोच इस बात का था कि इतनी बड़ी हस्ती को हम क्या दे सकेंगे । कैसे उनके पद के अनुकूल राशि उन्हें दे पाएंगे। उन्होंने मुझसे बात छेड़ी तब मैंने उन्हें उनकी आर्थिक स्थिति के बारे में बता दिया। तब तो उनका निश्चय पक्का ही हो गया और अण्णासाहब को श्रीवल्लभ संगीतालय संस्था के निदेशक के रूप में पूरे सम्मान के साथ और माहवार मानधन के साथ नियुक्त किया गया। इससे आश्रम के साथ उनका संपर्क और अधिक घनिष्ठ हो गया। किंतु अपने नि:स्पृह स्वभाव के कारण उन्हें यह बात अखरती थी कि मैं कोई काम तो यहीं करता नहीं और यह वेतन और पद किसलिए? उनकी इस तरह की शिकायत पर स्वामीजी ने उनसे कहा कि आपका अधिष्ठान ही हमारे लिए सब कुछ है, फिर भी आपको हम काम भी सौंपते हैं। आप मुझे संगीत की प्रगत शिक्षा देते रहिए! कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सब समझाने की बात थी; फिर भी अण्णासाहब और स्वामीजी के बीच घंटों संगीत का रियाज और चर्चाएं चलती रहती थीं। वैसे डाइरेक्टर के पद पर वे नियुक्त हुए सन १९६२ में। किंतु यह सिलसिला बीच में एक विशेष कारण से डेढ़-दो वर्षों के लिए टूटा था। १९६२ में ही लखनऊ के भातखंडे संगीत कॉलेज के प्राचार्य की जगह रिक्त हो गई थी। तब नए प्राचार्य की नियुक्ति तक मध्यावधि व्यवस्था के तौर पर डेढ़ वर्ष के लिए अण्णासाहब को पुनश्च लखनऊ बुलाया गया था। यह नियुक्ति अनुबंध पर (Contract basis) आधारित थी। लखनऊ के इस डेढ़ वर्ष के कार्यकाल में अण्णासाहब के लिए कोई विशेष कार्य करने की गुंजाइश ही नहीं के बराबर थी। क्योंकि सन १९५८ से भातखंडे संगीत महाविद्यालय का सारा कारोबार शासन को सौंप दिया गया था। और उसका रूपांतर शासकीय महाविद्यालय में हो गया। अत: वहां पर नियमों और आदेशोंका राज अधिक चलता था। अण्णासाहब पुराने अनुभवी प्राचार्य थे; उन्होंने प्रशासनिक दृष्टि से कॉलेज का कार्यभार सुचारु रूप से संभाला। संतोष की बात इतनी ही थी कि अण्णासाहब को पुनश्च अपने उस पुराने माहौल में शामिल होने का अवसर मिला, इससे उनके वे दिन काफी सुखपूर्वक बीत सके । हां लेकिन लखनऊ से मुक्त हो जाने

के बाद अण्णासाहब को अहमदाबाद के एक संगीत केंद्र में बुलाया गया। श्रीमती गीताबेन मयोर, सेठ अंबालाल साराभाई की पुत्री इस केंद्र को चलाती थी। वह पं. वाड़ीलाल शिवराम की शिष्या हैं। उनके पास पं. भातखंडेजी की कुछ बंदिशों की पांडुलिपियां थीं, उन्हें संशोधित करके उनका मुद्रण करने की आवश्यकता थी। इसके लिए अण्णासाहब ही सर्वथा सुयोग्य व्यक्ति थे। यह काम लगभग दो-ढाई साल तक चलता रहा, जिसमें अण्णासाहब महीने में १५ दिन अहमदाबाद जाते और १५ दिन बंबई में ठहरते। बस, इन चंद व्यस्तताओं के बावजूद और कोई खास कार्य अण्णासाहब के जिम्मे नहीं था; अत: ६३-६४ के बाद आप श्रीवल्लभ संगीतालय के परिसर में अपना समय बिताने लगे। वहांका वातावरण प्रेम और आदर से भरा हुआ था। स्वामी श्री वल्लभदास जैसे महानुभावों का सान्निध्य था और संगीत के सिवा और कोई विषय वहां था नहीं ।

●

अब तक संगीताचार्य डॉ. श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकरजी ने अपनी ७३ वर्षों की आयु में जो जो कार्य किए, जो संगीत-साधना की और भातखंडे कॉलेज को उभारने में तथा खैरागढ़ के संगीत कला विश्वविद्यालय का श्रीगणेश कराने में अपना जो बहुमूल्य योगदान दिया, उसका एक सिंहावलोकन किया गया। परंतु अण्णासाहब जैसे संगीत-विद्यानिधि के व्यक्तित्व का वास्तविक रूप में उद्घाटन तो तभी हो सकता है जब हमें उनके गायक, वाग्गेयकार, ग्रंथकार, विद्यागुरु इत्यादि उनके पहलुओं के भलीभांति दर्शन हो सकेंगे। एक आदर्श व्यक्ति के रूप में उनमे जो गुणसंपदा थी उसकी झलक हम जैसे शिष्यों को अनेक छोटी मोटी घटनाओं में बराबर मिलती रहती थी। खासकर मैं अभिमान के साथ यह कहना चाहता हूं कि अपने बचपन से लेकर ही उनके निकट सान्निध्य में उनके परिवार का एक सदस्य बनकर रहने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ और १९५० तक मैं उन्हीं के बिलकुल साथ में रहा। इसलिए अण्णासाहब के गरिमामय व्यक्तित्व, दिव्य ज्ञान, अद्भुत गान-कौशल, अत्युच्च 'नायक'त्व एवं औघड़ विद्यादानीपन के दर्शन नित्यप्रति पाने का अहोभाग्य मुझे प्राप्त हो सका है। इन सब पहलुओं का सोदाहरण विवेचन तो परमावश्यक है। क्योंकि एक संगीतकार की जीवनी में सर्व सामान्य लौकिक घटनाक्रम की अपेक्षा उसके सांगीतिक कर्तृत्व का ही लेखा-जोखा प्रस्तुत हो जाना अवश्यभावी होता है।

..... और इसी बिंदु पर हम अगले अध्याय के लिए प्रस्तुत हो सकते हैं।

▶

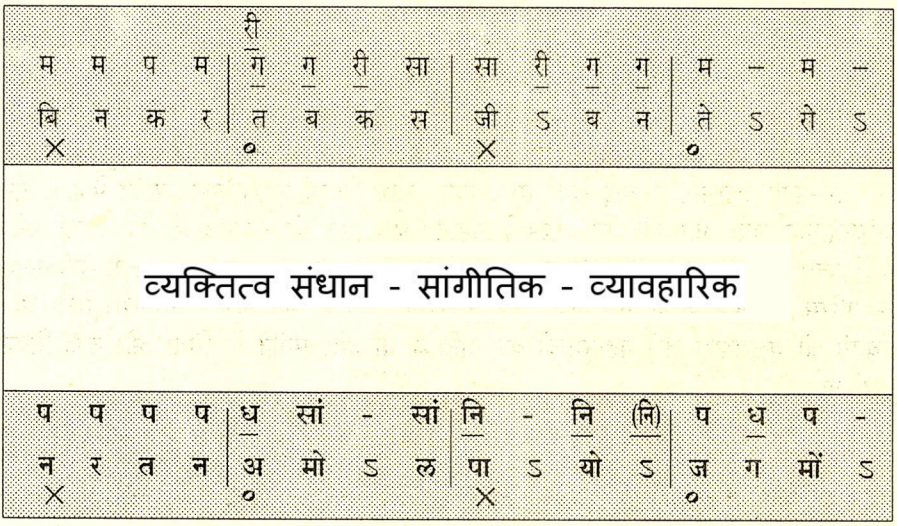

सर्वप्रथम मुझे अपने श्रद्धेय गुरुवर अण्णासाहब रातंजनकर के दर्शन करने का सौभाग्य मई १९३६ में मिला। इसका श्रेय मेरे बड़े भाई राम गिंडे, जो आगे चलकर विख्यात न्यूरोसर्जन हुए, को है। बंबई में वैद्यकीय विद्यालय में अध्ययन करने के साथ साथ संगीत-साधना में भी वे रस लेते थे। गायन में मेरा श्रीगणेश उन्होंने ही करवाया था। मैं अपनी छोटी उम्र में महाराष्ट्र की परिपाटी के अनुसार बालगंधर्व के नाटकों के पद गाया करता था; यहां तक कि छठी उम्र में मेरे भैया ने मेरा एक प्रकट कार्यक्रम भी करवाया था, जिसमें हारमोनियम उन्होंने बजाई थी और तबले पर मेरे मंझले भाई थे। ऐसा वह संगीत के प्रेम से भरापूरा काल था। मेरे डॉक्टर भैया की तमन्ना थी कि 'कृष्णा' (मेरा नाम) को किसी सर्वथा समर्थ गुरु की व्यक्तिगत तालीम का लाभ मिलना चाहिए, यही उसका क्षेत्र है, इसीमें वह अपने जीवन की सफलता पा सकेगा। फिर वे ऐसे गुरु की तलाश में रहने लगे। संयोगवश अपने परिचित कुछ डॉक्टर सज्जनों की बातचीत में कई बार उन्होंने भातखंडेजी के नाम का उल्लेख आत्यंतिक आदर के साथ होते हुए सुना। उन्होंने पं. भातखंडे से मिलना तय किया और कुछ कोशिश के बाद भातखंडेसाहब की पद्धति के अनुसार शाम को विल्यम कॉलेज के बगीचे के बेंच पर वे उनके दर्शन कर पाए। धीरे धीरे पंडितजी से उनका परिचय बढ़ा। भातखंडे जी ने उन्हें अपने ग्रंथ भेट में दे दिए। किंतु जब मुझे गायन सिखाने के संबंध में भैया ने बात छेड़ी तब उन्होंने अपनी मजबूरी बताते हुए सुझाव दिया कि आप मेरे शिष्य श्रीकृष्ण रातंजनकर से मिलिए। वह आपके काम आएंगे। वे छुट्टियों में लखनऊ से बंबई आया करते हैं, उन्हें मेरा नाम बताकर संपर्क कीजिए।

मेरे भाईसाहब ने निश्चय किया था कि इसे भातखंडे परंपरा में ही दीक्षित करना है। उन्होंने मुझे बैलहोंगल (जिला बेलगाम) से बुला लिया। (मैं उन दिनों अपने चाचा के यहां अन्य भाइयों समेत गदग के शिक्षालय में पढ़ता था और बैलहोंगल में गर्मियों की छुट्टियों में मातापिता के साथ रहता था ।) ७-८ साल की मेरी उम्र थी। उस काल रातंजनकर परिवार बंबई के

अंधेरी विभाग में स्टेशन के सामने एक ईसाई सज्जन के मकान में किराए पर रहता था। मेरे भाई अपने संगीतप्रेमी मित्र के साथ वहां पहुंचे। परिचय हुआ। कुछ ही अवधि में अण्णासाहब, उनके पिता आदि सबके साथ मेरे भाईसाहब की घनिष्ठता-सी हो गई। मुझे सिखाने के बारेमें जब भी बात निकलती तब अण्णासाहब ने भाई से कहा कि यह अभी छोटा है, थोडी उम्र बढ़ने दीजिए। उसके बाद भाईसाहब उनके साथ संपर्क बनाए ही रहे। १९३६ में अण्णासाहब ने कहा कि आप बहुत जिद कर रहे हैं, तो इस बार गर्मी की छुट्टियों में आप अपने भाई को बुलवा लीजिए। यहां हम अपने परिवार के साथ रहते हैं, तो हमारे साथ वह भी रहेगा और यदि परच जाएगा तो मैं उसे अपने साथ लखनऊ ले जाऊंगा। यदि उसका मन वहां नहीं लगा तो लौट आएगा।

इस प्रस्ताव के अनुसार हम अण्णासाहब के निवासस्थान पर गए। उन दिनों यह परिवार अंधेरी का मकान छोड़कर नाना चौक विभाग में किराए के मकान में रहता था। १९३४ में अण्णासाहब के पिताजी का देहांत हो चुका था। हम गए तब अण्णासाहब के ज्येष्ठ बंधु ने हमारा स्वागत किया। चंद समय में ही अण्णासाहब बाहर से आए। और आकर मेरे सामने बैठ गए। गुरुदेव से वह मेरी पहली ही भेंट थी। उनका पहला कटाक्ष मेरी तरफ रहा। उन्हें देखते ही न जाने क्यों, मुझे रोना आया। अब उसपर सोचता हूं तब महसूस होता है कि उस क्षण को उनके व्यक्तित्व के प्रभाव से मैं द्रवित हो गया था। मेरे आंसू देखकर मुझे सांत्वना देते हुए वे बोले–"ठीक है। ठीक है।" फिर उनके घर की स्त्रियां मुझे अंदर ले गईं और मुझे समझा-बुझाकर शांत किया।

मैं बाहर आया तो अण्णासाहब ने कहा, "तुम्हें जो कुछ आता है, गाकर सुनाओ। मैंने दो नाट्यपद सुनाए, भाईसाहब ने रागदारी के दो-एक पद सिखाए थे, वे भी सुना दिए। उस दिन अण्णासाहब भी गाने के लिए बैठे। उन्होंने पूर्वी राग की 'मथुरा न जाओ कौन वहां है' यह चीज गाई थी। उसकी शक्ल ज्यों की त्यों आज भी मेरे स्मरण में ताजा है।

इस शुभारंभ के बाद मैं भाईसाहब के साथ दो-तीन दिन उनके होस्टेलपर रहा। हम रोज आते थे। शाम को गाना होता था। उसके बाद हम उस घर से इतने समरूप हुए कि चौथे दिन से मैं अण्णासाहब के घर पर ही रहने लगा। दूसरे दिन से ही मेरी तालीम शुरू हो गई थी। भैरव राग से। शुरू से ही मैंने अण्णासाहब के स्नेहल व्यक्तित्व का अनुभव पाया। उस परिवार के सभी सदस्य ऐसे ही थे। किसीने मुझे परायापन महसूस होने नहीं दिया। हां, एक बात यह हुई कि मेरा नाम 'कृष्ण' था अण्णासाहब का नाम श्रीकृष्ण था। घर की स्त्रियों को इसमें संकोच होने लगा; इसलिए मेरा नाम 'छोटू' रखा गया और आज बड़प्पन में भी मैं सब मित्रों के लिए 'छोटू' ही हूं।

स्वभाव-दर्शन

अण्णासाहब के साथ रहते हुए मुझे उनके स्वभाव की अनेक विशेषताओं ने प्रभावित किया। पहली बात जो मुझे महसूस हुई वह यह थी कि अण्णासाहब अत्यंत कोमल हृदय के व्यक्ति थे। उनका रहन सहन अत्यंत सादा था। ज्यादा 'सोशल' प्रकृति के आदमी नहीं थे। इसका कारण मैंने यों समझा कि उनके पिताजी सोलापुर जिले के बार्शी तालुकावाले अपने रातंजन गांव से रिश्ता तोड़कर आए थे। यह परिवार बंबई में अपरिचित ही था। केवल अण्णासाहब

के पिताजी उनके बंबई के रिश्तेदार थे। फलत: उनका कहीं आना-जाना नहीं के बराबर रहता था। शुरू से वातावरण ही ऐसा था। और जब अण्णासाहब छोटे थे तब स्वयं नारायणराव ही अपने बच्चों को घर पर ही पढ़ाया करते थे। इस प्रकार घर में ही पिताजी के साथ रहते हुए शिक्षा पाने से, इनका बाहरी दुनिया से कोई संबंध नहीं रहा। और अल्पायु में ही रोज स्कूल से छुट्टी हो जाने पर तुरंत पिताजी उनका संगीत-अभ्यास शुरू करा देते थे। तो सारा समय एक ही दिशा में लगने की वजह से अण्णासाहब को अपने तईं सामाजिक संबंध विकसित करनेका मौका नहीं मिला। इस वजह से हुआ यह कि अपना काम करते रहना और स्वयं किसी वजह से लोगों में जाकर दखल देना और मेलमिलाप रखना जैसे काम उनसे नहीं बन सके। इन सब बातों के फलस्वरूप संपर्क में आनेवाले किसी दूसरे का स्वभाव मिलनसार और खुला होनेपर भी इनका रवैया वैसा नहीं रह पाता था। किसी आदमी को ठीक से पहचानने में उन्हें कुछ विलंब लगता था।

अण्णासाहब निरंतर अपने काम में मशगूल रहते तो कुछ अनुचित, अन्याय्य आरोप के लहजे में किसीने उनसे बात की तो वे तुरंत क्रुद्ध हो उठते थे। किंतु दूसरे ही क्षण वे अपनेको संभाल भी लेते थे। शीघ्र ही उनका अपनापन जाग उठता। संक्षेप में कहें तो उनका स्वभाव कटहल जैसा था। ऊपर से बहुत खुरदरे और कठोर किंतु भीतर से नितांत कोमल और मधुर। कोई विद्यार्थी गरजमंद है या किसीके साधन मर्यादित हैं, ऐसा पाने पर वे अपने पास जो कुछ है उसे उसको दे देने के लिए तत्पर रहते थे। कुछ आगा-पीछा नहीं सोचते थे।

वैसे देखा जाए तो संगीत के विषय में प्रामाणिक जिज्ञासा लेकर कोई उनके पास उपस्थित होता तो वे समय निकालकर उसे समझाने में तत्पर रहते थे। जान-पहचान न होने पर भी। दूसरी बात यह है कि वे अपने कार्य में इतने व्यस्त रहते थे कि उनको 'सोशल विजिट' करने के लिए फुरसत ही नहीं मिलती थी। फिर भी संगीत के मामले में ज्ञान और कला से संबंधित विषय हों तो ऐसे व्यक्तियों के साथ उनकी हमेशा मित्रता हो जाती थी। मैंने प्रो. बी.आर. देवधरजी का उदाहरण बताया ही है। हमारे कुमार गंधर्व तो अपने निश्छल सांगीतिक व्यक्तित्व के कारण उनके बहुत नजदीक आ गए। आखिर तक कुमारजी उन्हें अपना मानस गुरु मानते थे। ऐसे कई कलाकारों के साथ अण्णासाहब के व्यक्तिगत स्नेह की झलक मैंने कई बार पाई है। मैं बंगाली विद्वान, इंग्लिश के प्रोफेसर धूर्जटीप्रशाद मुखर्जी का उदाहरण बताता हूं। उन्होंने अपने संस्मरणों की एक पुस्तक लिखी है जिसमें वे कहते हैं– "To hear shrikrishna I will run miles...." इसमें भाव यह है कि बड़े बड़े उस्तादों को मैंने सुना है लेकिन मैं रातंजनकरजी का गाना सुनने के लिए, कहीं से भी दौड़कर आ जाऊंगा।

मिलने-जुलने का स्वभाव न होनेपर भी उनकी कुछ थोड़ी मित्रमंडली जरूर थी। किंतु बिलकुल चुने हुए लोगों का अंतर्भाव उसमें था। लखनऊ में मैंने देखा कि वहां महाराष्ट्रीय सज्जनों का 'नवग्रह' नामक एक मंडल था। उसके साथ अण्णासाहब जुड़े हुए थे। इस मंडल में प्रसिद्ध गायिका श्रीमती पद्मावती शालीग्राम के ससुर श्री गोखले, लोकमान्य तिलक के जामात श्री साने, बॉटनी के प्रोफेसर नागपुर के श्री भाके, कमिशनर श्री चंद्रकांत गोड़से आदि उन मित्रों में थे। संगीत का सूत्र इन सबको एक साथ बांधे हुए था। इसके साथ हिंदी साहित्यकारों से भी अण्णासाहब का मिलना काफी होता था। उनमें सर्वश्री सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' भगवतीचरण वर्मा तथा श्रीमती महादेवी वर्मा आदि साहित्यकार थे। निराला तो

कॉलेज अक्सर आया करते थे, उन्हें संगीत में विशेष रुचि और गति थी। इन सज्जनों के अलावा प्रसिद्ध शिल्पवेत्ता श्री असितकुमार हलधर, जो लखनऊ आर्टस् स्कूल के निदेशक थे, इंजिनियरिंग के प्रोफेसर सिद्धांत, भारत के विद्यमान राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा (जो उस समय लखनऊ युनिवर्सिटी में थे) इन सबके साथ अण्णासाहब का मेलजोल था।

उच्चशिक्षित होने का लाभ

अण्णासाहब उस जमाने के ग्रॅजुएट रहे। इसका उनके व्यक्तित्वपर जो असर हुआ था, वह उनके व्यवहार में से झलकता होगा। अण्णासाहब की वह एक बड़ी उपलब्धि रही। पं. भातखंडेजी के शिष्य होने के कारण उच्च शिक्षा के प्रति उनके मन में पहले से ही आकर्षण था। और उनका बी.ए. तक पढ़ना उनके गुरुवर के उसूलों के अनुसार ही था। उस कालखंड में भारत में जो मान्यवर गायक थे उनमें सबसे पहले ग्रेज्युएट अण्णासाहब ही रहे। प्रो. बी.आर. देवधर उनके बाद बी.ए. हुए। बी.ए. की उपाधि धारण करने का लाभ प्रो. देवधर जी को मिला, संगीत के क्षेत्र में उनका एक विशेष स्थान रहा। वही बात अण्णासाहब के बारे में भी अनेक बातों में उजागर हुई। एक तो यह कि अण्णासाहब में अंग्रेजी साहित्य के प्रति रुचि, जागृत हुई और उसीके दौरान मराठी और हिंदी साहित्य की ओर भी वे उन्मुख हुए। अपनी व्यस्तताओं में से समय निकालकर वे साहित्य-पठन भी किया करते थे। उच्चशिक्षित रहने के कारण उनके व्यक्तित्व में एक विशेष गरिमा और आत्मविश्वास भी विकसित हुआ। प्रशासनिक कार्यो में पत्राचार आदि के सिलसिले में अंग्रेजी भाषा पर प्रभुत्व रहना उनके लिए काफी लाभकर हुआ। मैंने बताया है कि शेक्सपियर के कई नाटक उनके कंठस्थ थे। मैं जब लखनऊ में स्कूली शिक्षा पा रहा था तब मिल्टन, वर्डस्वर्थ आदि की कविताएं, शेक्सपिअर का नाटक आदि उन्होंने मुझे पढ़ाया था।

अंग्रेजी साहित्य के साथ ही उर्दू शायरी में भी उन्हें दिलचस्पी थी। लखनऊ तो शायरों का शहर है। अण्णासाहब शायरी में खूब रमते थे। इसके सिवा हिंदी की व्रजबोली को भी उन्होंने काफी आत्मसात् किया था, जिसका उपयोग उन्हें बंदिशों की रचना में बखूबी हो सका।

अण्णासाहब हिंदुस्थानी संगीत के तो महापंडित थे ही; कर्नाटक संगीत की तरफ भी उन्होंने काफी ध्यान दिया था। कर्नाटक संगीत का स्वरूप और उसकी बारीकियों का उन्होंने मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया था। इसके फलस्वरूप वे हिंदुस्थानी और कर्नाटक शैली के समन्वय से कुछ नए रागों का भी निर्माण कर सके, जिसके संबंध में हम उनके रचनाकार पक्ष पर बात करते समय अधिक विस्तार से देखेंगे। कर्नाटक संगीत की मर्मज्ञता के कारण दक्षिण में उनका बहुत मान था। कर्नाटक संगीत के उस समय के श्रेष्ठ विद्वान टायगर वर्धराचार्य से लेकर अराइकुड़ी रामानुज अय्यंगार तक सभी, इतना ही नहीं तो दक्षिण की एक संस्था 'मद्रास म्युजिक अकेड़ेमी' ने उनको मानपत्र भी दिया था। जिसमें उल्लेख था- "Best musician and musicologist of the North." कर्नाटक संगीत के प्रोफेसर और मद्रास म्यूजिक अकेड़ेमी के संगीत के प्रोफेसर डॉ. वी. राघवन जी के नाम से चलाए गए प्रथम "Endowment Lecture" देने का सम्मान अण्णासाहब को ही मिला था।

यह तो स्वाभाविक ही है कि उत्तर भारत में रहने के कारण ग्वालियर के श्रेष्ठ मराठी कवि भास्कररराव तांबे का उनसे घनिष्ठ परिचय था। कविराज तो अण्णासाहब के गायन के अत्यंत

प्रेमी थे। और आप तो जानते हैं कि तांबे जी स्वयं गाना बहुत अच्छा जानते थे। यही नहीं आप अण्णासाहब की एक महफिल से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने एक कविता भी लिखी थी, जो उनके काव्यसंग्रह में प्रकाशित है और १९६० में अण्णासाहब के अभिनंदन में प्रकाशित स्मारिका में भी छपी है। महराष्ट्र के इस तरफ के जो कवि थे उनसे उनका ज्यादा संपर्क नहीं हो सका, लेकिन जो कवि इंदौर और आगे के प्रदेश में बसे थे उनसे उनका परिचय था।

भाषा-प्रभुत्व

डॉ. अण्णासाहब की अभिरुचि संगीत के साथ साथ साहित्य में भी रहने का लाभ संगीत की दृष्टि से यह हुआ कि उन्होंने ७५० तक बंदिशों की जो रचना की है, उसमें उनकी साहित्यिक अभिरुचि और व्यापक ज्ञान का उपयोग उन्हें भलीभांति हो सका। किंतु उसके विषय में हम आगे विवेचन करेंगे। यहां पर उनकी अध्ययनशीलता का प्रमाण बननेवाली एक घटना का बयान करना है।

लखनऊ में महाराष्ट्रीय समाज की तरफ से लोकमान्य तिलक जन्मशती के अवसरपर सन १९६० में एक संगीत का आयोजन करने की कल्पना सामने आई। डॉ. केसकर इस समारोह के अध्यक्ष थे। उस समय अण्णासाहब ने व्रज भाषा में एक गेय नाटक लिखा था, जिसमें सब संभाषण गेय पद्य में थे। किंतु अपनी काव्यरचना में भाषा की कोई भूल न रहे इस हेतु अण्णासाहब ने हस्तलिपि हिंदी के कविश्रेष्ठ सुमित्रानंदन पंत के पास भेजी थी, जो उन दिनों आकाशवाणी के प्रधान साहित्यिक निर्माता (प्रोड्यूसर) थे। तब कविवर पंत जी ने उसपर जो अभिप्राय दिया वह तारीफ के काबिल है। एक तो हस्तलिपि पर एक भी लाल निशान नहीं था। उलटे उन्होंने कहा था - "मैं शत शत प्रणाम करता हूं, महाराष्ट्रीय होते हुए भी व्रज भाषा पर इतना प्रभुत्व है! इस काव्य में कहीं पर किसी सुधार की गुंजाइश ही नहीं है।" इस प्रमाणपत्र से अण्णासाहब के व्रजभाषाप्रभुत्व का सबूत मिलता है। अण्णासाहब ने सूरदास, अष्टछाप के अन्य कवि तथा वैष्णव संप्रदाय के अन्य प्रधान कवियों का काव्य मन लगाकर पढ़ा था। इसलिए वे उस भाषा की प्रकृति को भली प्रकार समझ पाए थे। व्रजभाषा के साथ ही खड़ी बोली में भी उन्होंने 'झांसी की रानी' संगीतिका ('ऑपेरा') लिखी थी। हम सब शिष्यों ने उसके मंचन में भाग लिया था।

इन कार्यक्रमों के अतिरिक्त अण्णासाहब ने संस्कृत भाषा में 'शिवमंगलम्' नामक काव्य लिखा जो उनकी रचनात्मक प्रतिभा का सबसे प्रशंसनीय प्रमाण है। यह समूची रचना उनकी नहीं थी; वह कालिदास के 'कुमारसंभवम्' पर आधारित थी। जहां जहां आवश्यकता पड़ी वहां अण्णासाहब ने जोड़ देने के लिए स्वरचित श्लोक लिखे थे। यह आयोजन महाकवि कालिदास की पंच जन्मशती के अवसर पर उनकी कर्मभूमि उज्जैन में आयोजित हुआ था। समारोह की अध्यक्षता राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्रप्रसाद ने की थी। उस काल विद्यमान राष्ट्रपति आदरणीय डॉ. शंकरदयाल शर्मा मध्य प्रदेश के मुख्य मंत्री थे। सब गण्यमान्य अतिथियों ने कार्यक्रम की बड़ी सराहना की। उस समय संस्कृत के मर्मज्ञ अतिथियों ने यहां तक कहा कि रातंजनकरजी की संस्कृत रचना इतनी साधु है कि कालिदास की रचनाओं की श्रेणी में वह भलीभांति शोभायमान हुई है। इन सराहनेवालों में संस्कृत भाषा के प्रथम श्रेणी प्राप्त अध्येता डॉ. राजेंद्रप्रसाद भी थे। इसी

ढंग पर अण्णासाहब ने और तीन नाटक भी लिखे थे, किंतु आज उनके संबंध में कुछ अधिक बताया नहीं जा सकता।

संगीतेतर पहलू

हम अण्णासाहब के कुछ संगीतेतर पहलुओं की झलक देख रहे हैं। तो इस सिलसिले में यह जानना भी आवश्यक है कि अपने घर-परिवार से बिछुड़कर पैंतीस वर्ष तक दूर प्रदेश में रहते हुए अण्णासाहब अपना फुरसत का समय किस तरह बिताते थे? उनकी खान-पानविषयक आदतें क्या थीं? उनके और और शौक क्या थे? इन सब बातों का एक शब्द में उत्तर यह है कि अण्णासाहब अपने प्रशासनिक, शैक्षणिक और सांगीतिक कार्य में ही इतने निमग्न रहते थे कि उन्हें फुरसत का समय यदा-कदा ही मिल पाता था। आइए, उनकी दिनचर्या पर ही नजर डाले। सवेरे साढ़े सात तक जागना। फिर आठ से बारह तक पोस्ट ग्रेजुएट कक्षाओं को पढ़ाना। दोपहर को विश्राम। तीन से आठ तक महाविद्यालय के समयचक्र के अनुसार अध्यापन, प्रशासन आदि। रात आठ के बाद पत्राचार आदि में लग जाना। फिर नौ बजे तक भट, जोग, मैं, दिनकर आदि उनके आसपास जमा होते थे तो बारह एक तक गाना बजाना चलता। उसके बाद अण्णासाहब अपने व्यक्तिगत वाचन में लग जाते और दो-ढ़ाई बजे आपके सोने का समय आ जाता।

इन समस्त व्यस्तताओं के बावजूद अण्णासाहब के व्यक्तित्व में कुछ न कुछ विशेषताएं अवश्य परिलक्षित होती थीं। कपड़ों की दृष्टि से देखें तो वे एकदम सादगी-पसंद व्यक्ति थे। प्राचार्य के नाते साधारण-से सूट में रहते थे। कभी कभी बुश शर्ट-पैंट और आम तौर पर कुर्ता पाजामा यही उनका वेष रहता था। एकाध बार शौकिया तौर पर बंगाली भेष या साफा-पगड़ी वगैरह हो जाता, किंतु वह सब अपवाद के रूप में माना जाए। खान-पान के लिहाज से देखें तो आपको मिताहारी ही कहना होगा। मीठे की अपेक्षा तीखे को पसंद करते थे और सामिष आहार को विशेष तौर पर, उसमें भी मछली के लिए अधिक चाह थी। किंतु खाने के बारे में नियमितता से काम लेने की आदत नहीं थी। दस बजे बना खाना एक बजे भी खाएंगे। पहले काम और संगीत में दखल देंगे। हां, जब छुट्टियों में बंबई आते तब बड़े भैया आदि के सामने सब कुछ समयानुसार चलता।

स्वास्थ्य के लिहाज से देखा जाए तो वे पहले से ही कमजोर रहे। शुरू में जिक्र हो चुका है कि उनकी माताजी का स्वास्थ्य बहुत दुर्बल था और उसीका परिणाम उनपर हुआ था। लखनऊ में बराबर गैस (gas) की बीमारी से परेशान रहते थे। फिर भी अपनी तंदुरुस्ती को ठीकठाक करने की ओर उनका ध्यान बिलकुल नहीं रहता था। यों उन्हें पीने वगैरह की या अन्य कोई आदत बिलकुल नहीं थी; हां, तमाखू का सेवन काफी मात्रा में होता था। किंतु वह भी चस्के के रूप में नहीं होता था। हुआ यह था कि बचपन में उनको मिरगी के दौर आते रहते थे। किसी हितैषी ने उन्हें सलाह दी थी कि तुम तमाखू खाना शुरू करो। उन्होंने वैसा किया तो उनकी वह पीड़ा दूर हो गई। तब से तमाखू की जो आदत लग गई वह हल्के चस्के के रूप में आगे भी रही।

स्वावलंबन अण्णासाहब की लक्षणीय विशेषता थी। अपने कपड़े स्वयं धोया करते। (बूट पालिश भी स्वयं ही करते और) अपने पत्र वगैरह स्वयं ही लिखते। आगे आगे उनका हाथ

कांपने लग गया तब 'टाइपिंग' करने लगे किंतु स्वावलंबन को नहीं छोड़ा। इतने शिष्य आठों पहर आस पास रहते थे किंतु किसीकी कोई सेवा नाम के वास्ते भी अण्णासाहब ने नहीं ली। इसका अधिक बयान आगे करेंगे। यहां उनकी शिष्टरीति या तहजीब की बात बताता हूं। कभी उन्होंने किसीको 'अरे' कहकर संबोधित नहीं किया। पं. एस्. सी. आर. भट को भी 'भटसाहब' कहकर पुकारते। अपरिचित व्यक्ति को, उसका सामाजिक स्तर कैसा भी हो, वे 'आप' कहकर संबोधित करते थे।

अण्णासाहब की वक्तृत्व में उतनी रुचि नहीं थी। शायद गंभीर विचारों को सूत्रमय रीति से प्रस्तुत करते समय भाषा और विचार के बीच जो तात्कालिक तालमेल बैठना आवश्यक होता है उसकी उनमें कमी थी। परंतु लिखते समय उनकी सारी शक्तियाँ जैसे जागृत हो उठतीं। हमेशा उनका हरित स्याहीवाला 'पेन' कागज पर दौड़ता रहता था। कहीं खाली बैठे हों तो तुरंत कागज निकालकर कोई बंदिश, स्वरलिपि, नोटस् इत्यादि लिखते रहते थे। और लिखने के लिए हरे रंग की स्याही उन्हें बहुत पसंद रहती थी, मानो उनके लेखन की औरों के लिए वह एक खास निशानी थी।

उनका खास आकर्षण था रेल-यात्रा! और संयोग भी ऐसा हुआ था कि संगीत की सभाओं, परीक्षाओं तथा आकाशवाणी के ऑडिशन आदि के सिलसिले में उन्हें अंधाधुंध यात्रा करने के अवसर मिला करते थे। अपने फर्स्ट क्लास के 'कंपार्टमेंट' में वे निहायत प्रकृतिस्थ और प्रसन्न रहते थे। कागज कलम, चाय बनाने के लिए स्पिरिट का 'स्टोव' आदि सब सज्जा के साथ उनकी यात्रा बड़े इत्मीनान से चलती। प्रेक्षणीय स्थलों और प्रकृति-सौंदर्य का आस्वादन भी उन्हें बहुत प्रिय था और उनकी यह ख्वाहिश यात्राओं के दौरान पूरी हो जाती थी। उनका एक और शौक था चित्रपट देखना। जब समय मिलता तब चित्रपट देखने जाया करते। यहां तक कि रेल में यात्रा को बीच में खंडित हो जाना पड़ता तब प्रतीक्षालय में असबाब रखकर एकाध चित्रपट देखकर आते! पढ़ने का शौक तो उन्हें विरासत में ही मिला था - पिताजी से और पंडितजी से। उर्दू और बंगला भाषा भी पढ़ सकते थे। एक तरफ संगीत और साहित्य के उच्चस्तरीय ग्रंथों को पढ़ते तो दूसरी तरफ 'चंदामामा' को भी शगल के तौर पर पढ़ने में रस लेते! अण्णासाहब कविता और शेरोशायरी पर भी रीझनेवाले कद्रदान थे और प्रकृतिसौंदर्य के वैभव को देखकर कभी कभी उनके मन में कोई कविता भी जाग उठती! .....ऊपर से नीरस और खुरदरे लगनेवाले इस व्यक्तित्व की गहराई में जजबातों का ऐसा झरना बहता था! और इसीका तो प्रतिचित्र उनकी खूबसूरत बंदिशों में उभर आता!

जिन्होंने अण्णासाहब के साथ नैकट्य प्राप्त किया हो उन्हें यह भी अनुभव हुए बिना नहीं रहता था कि जब वे अपनी बाहरी परत को हटाकर सामने आते तब उनके अंदर छिपे हुए परिहासपटु और हाजिरजवाब ठठोलिया के दर्शन भी हो जाते थे। और भावुक भी कम नहीं थे। किंतु आम आदमियों की तरह अपने इन सभी जिंदादिली के पहलुओं का ढिंढ़ोरा पीटने की आदत उनमें नहीं थी। मेरा ही एक व्यक्तिगत अनुभव बताता हूं। १९४८ में मेरे पिताजी का स्वर्गवास हुआ, तब खास तौर से हम सब घर पर मिलकर सांत्वना देने के लिए गुरुपर लंबा सफर करके मेरे गांव बैलहोंगल (कर्नाटक) पधारे थे! और मेरी माताजी को उन्होंने सांत्वना दी थी।

अण्णासाहब के एक दूसरे शौक के बारे में भी बताना होगा। उन्हें पक्षियों और कुत्ता-बंदर

जैसे मूक प्राणियों के लिए विशेष आकर्षण था। पक्षियों के लिए उनके मन में जो प्यार और आकर्षण था उसके दर्शन उनकी एक खास कृतिद्वारा अनोखे रूप में हो जाते थे। लखनऊ में 'नक्खास' नाम से एक उपविभाग है। वहां हर इतवार के बाजार में उन दिनों पालने के हेतु प्यारे प्यारे पंछियों को बेचनेवालों की भीड़ रहती थी। इन पंछियों को बड़े पिंजड़े में बंद करके ग्राहकों को एक-एक, दो-दो के हिसाब से बेच दिया जाता था। अण्णासाहब फुरसत मिलने पर अक्सर उस विभाग में घूमने जाया करते और कुछ पंछियों को जरूर खरीदते। लेकिन खरीदकर घर नहीं ले आते; उन्हें वहीं का वहीं आसमान में उड़ा कर बंधन से मुक्त कर देते थे। क्या उनकी इस कृति पर अलग से कोई टिप्पणी की आवश्यकता है? अण्णासाहब ने अपने निवासस्थान पर कुत्ता और बंदर पाले थे। उन्हें घूमने के लिए खुली छूट रहती थी और जब जब थोड़ा समय मिलता वे इन प्राणियों से थोड़ा मजाक भी कर लिया करते और उनकी लीलाओं को देखकर अपना रंजन कर लेते।

यह भी बताना आवश्यक है कि ईश्वर के लिए उनके मन में श्रद्धा थी किंतु अंधश्रद्धा, पूजापाठ का अतिरेक आदि की पकड़ में वे कभी नहीं आए। संगीत-साधना और नियत कर्म ही उनके लिए ईश्वर था। संगीताचार्य अण्णासाहब के व्यक्तित्व का यह संगीतेतर हुलिया जितना रोचक है, उतना ही उनके व्यक्तित्व के सांगीतिक पक्ष को पुष्टि प्रदान करनेवाला है!

अनेक संबोधन

डॉ. श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर अपने सभी शिष्यों के लिए 'अण्णासाहब' ही थे। यद्यपि उनके गुरु पं. भातखंडे भी महाराष्ट्र में 'अण्णासाहब' ही कहलाते थे, तथापि हम सभी शिष्य मंडली के लिए पं. रातंजनकर 'अण्णासाहब' ही बन गए। इस नाम की पृष्ठभूमि यह रही कि जब मैं बचपन में गुरुवर के घर रहने गया, तब देखा कि घर के छोटे भाई-बहन इन्हें 'अण्णा' कहकर पुकारते हैं। यह संबोधन महाराष्ट्र और कर्नाटक में आदर दिखाने के लिए बहुप्रचलित है। तो मैंने भी इसी नाम से गुरुवर को संबोधित करना आरंभ किया। आगे लखनऊ जाने के बाद यही सिलसिला जारी रहा और आगे चलकर सभी शिष्यों में यही नाम चलता रहा। इस 'विशेष' नाम के सिवा और और परिवेश में गुरुवर को अन्यान्य नामों से संबोधित किया जाता रहा और ध्यान से देखने पर यह प्रतीत होगा कि प्रत्येक अलग संबोधन के पीछे अण्णासाहब और उस व्यक्ति के बीच होनेवाला कोई भावनिक संबंध है। उदाहरणार्थ, बचपन से लेकर अण्णासाहब को उनके माता-पिता 'बिट्टू' के नाम से पुकारते, जो एक तरह से स्वाभाविक था। पं. भातखंडे उन्हें 'बाबू' कहा करते जिसमें प्यार, स्नेह, निकटता का भाव अभिव्यक्त होता था। पं. वाड़ीलाल शिवराम तथा अन्य गुजराती स्नेही उन्हें गुजराती ढंग पर 'बाबूभाई' कहा करते, जिसमें बंधुभाव का संकेत मिलता था, तो पं. राजाभैया पूछवाले उन्हें 'बाबूराव' कहकर संबोधित करते, जिसमें निकटता के साथ आदर भी ध्वनित होता था। दूसरी ओर उस्ताद फैयाजखां और राय उमानाथ बली अण्णासाहब को 'श्रीकृष्णा' कहकर उनपर होनेवाला अपने बुजुर्गाना अधिकार का संकेत दे देते। इसीके साथ समाज के अन्यान्य स्तरों में 'पंडितजी', 'डाक्टरसाहब', 'प्रिन्सिपल साहब' इत्यादि परिचयात्मक विशेषण भी चलते ही रहते थे। संबोधनों के इस इंद्रधनुषी विविधता की मनोवैज्ञानिक भूमिका भी अण्णासाहब के व्यक्तित्व के संधान में एक तरह से सहायक ही हो गई! अस्तु। इस संगीतेतर पहलू को किनारे रखकर

रखकर अब हमें अण्णासाहब के सांगीतिक व्यक्तित्व की ओर उन्मुख होना चाहिए।

गायकी का स्वरूप

अण्णासाहब की गायकी के जो दर्शन मुझे हुए हैं और मेरे कंठ पर उनकी गायकी का जो असर हुआ है उसके अनुसार सूत्ररूप में यह कहना चाहूंगा कि उनकी गायकी को हम त्रिवेणी संगम या चार स्रोतों का संगम कह सकते हैं। इस बात को समझने के लिए हमें उनकी संगीत-साधना की यात्रा पर नजर दौड़ानी होगी। शुरू में उन्हें श्री कृष्ण भट्ट होनावरजी से तालीम मिली, जो पटियाला शैली के गायक थे। अत: अण्णासाहब के संस्कारों का आरंभ पतियाला शैली के उलट फेरवाले पलटों को घोखने से हुई। उसके बाद उन्हें पं. अनंत मनोहर जोशी ने सिखाया। वे ग्वालियर गायकी के पंडित थे। यह उनकी गायकी का दूसरा प्रवास था। इसके उपरांत पं. भातखंडेजी के शिष्यत्व में रहने का सौभाग्य उन्हें मिला। उसके दौरान उस जमाने की जयपुर परंपरा के (जो वर्तमान जयपुर घराने से भिन्न है) मनरंग घराने की गायकी के संस्कार उनपर हुए। इसके बाद अंतिम दौर में रंगीले घराने के फैयाजखांसाहब की सन्निधि में रहकर पांच वर्षतक आपने भरपूर तालीम पाई। ध्यान रहे कि उस समय वह फैयाजखांसाहब की अंतिम अवस्था की गायकी नहीं, बल्कि उनकी जवानी की गायकी थी जिसको निकटता से ग्रहण करने का सुवर्ण अवसर अण्णासाहब को मिला था। मेरी इस बात पर गौर कीजिए। आज भी खांसाहब की 'गरवा मैं सन लागी' और 'फुलवन की गेंद मैका न मारो।' ये दो अलग अलग काल के रिकार्ड सुने जाएं तो मेरी बात समझ में आ सकती है। तो कहने का मतलब यह कि अण्णासाहब की गायन-शैली में उपर्युक्त चारों रंग एक दूसरे के साथ अच्छी तरह मिलकर एक हो गए थे।

अण्णासाहब की गायन-शैली की एक लक्षणीय विशेषता यह थी कि उनके गायन को सुनते समय यही प्रतीत होता था कि इसकी कोई ठोस शक्ल बना लेना कठिन है। उनका गाना इस दृष्टि से सुनिश्चित अनुमान के परे (unpredictable) था। एक क्षण बाद वे कौन-सी उपज लेंगे, इसका अंदाजा बांधना कठिन रहता था। बड़े-बड़े कलाकारों को उस जमाने में कहते हुए मैंने सुना है कि रातंजनकरजी रागों के बगीचे लगाते हैं। वे कहते थे- "जहां सुर, शब्द और लय दास हैं, वहां और क्या चाहिए!"

अण्णासाहब के पास रागों का भंडार था। मैं दावे के साथ कहूंगा कि बड़े बड़े उस्ताद होते हैं, उनके सीखे हुए दो राग रहते हैं, किंतु सुने हुए बीस। बड़े बड़े गायकों की यही स्थिति रही है। गायनाचार्य बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर को ६०-७० राग याद होंगे, लेकिन महफिल में वे उनमें से चंद राग ही गाये थे। फैयाजखां जो इस शतक के गायक समझे जाते थे (Musician of the century), उन्होंने भी २५-३० रागों से आगे गाया नहीं। लेकिन डॉ.रातंजनकर एक ऐसे गायक थे जो कि २५०-३०० राग यों पेश करते थे मानो उन्हें उसकी पूरी तालीम मिली हो। व्यापक तालीम पाए हुए गायक वे थे। बेलगांव के विख्यात हारमोनियम-वादक विठ्ठलराव कोरगांवकरने मुझसे कहा था कि यमन से लक्ष्मी तोड़ी तक सभी रागों को समान अधिकार से प्रस्तुत कर सकनेवाला एक ही गवैया मैंने देखा- पं. रातंजनकर। इस दृष्टि से उन्हें हम गायकों के गायक कह सकते हैं। मैंने यह बराबर अनुभव किया है कि उनका गायन सुननेवालों में ४० प्रतिशत श्रोता गायक ही रहा करते थे। वे सोचते थे कि आज कुछ नया सुनने को

मिलेगा, कुछ नई सामग्री सामने आएगी। और जब अण्णासाहब ऐसे उत्सुक श्रोताओं को देखते तब उनका भी उत्साह बढ़ता और दाद पर दाद के साथ महफिल सज उठती।

बहुत से लोगों का कहना है कि डॉ. रातंजनकरजी को महफिली कलाकार के रूप में अभूतपूर्व लोकप्रियता हासिल नहीं हो सकी। यह एक गंभीर प्रश्न है। इसपर समझ-बूझ के साथ सोचना आवश्यक है। लोकप्रियता एक ऐसी चीज है कि उसको संपूर्णत: हासिल करने के लिए आपको अपना मूल्य घटाना ही पड़ता है। वहां लोकरुचि के तंत्र और मंत्र को अमल में लाना लाजिमी हो जाता है। आपका कर्तव्य है कि आप लोकरुचि को ही उचित रूप में ढालें, उसका उन्नयन करें। आप बना भी सकते हैं और बिगाड़ भी सकते हैं। यदि आप कला के प्रति सच्चे होंगे तो लोग आपको सुनते सुनते सच्ची कला के कायल होने लगेंगे। यदि आप उन्हें हल्का-हल्का ही देने लगेंगे तो वजनदार चीज उन्हें अरुचिकर लगेगी।

अब इसे कुछ लोग समय का दोष कहेंगे; किंतु मैं इसे मानने को तैयार नहीं। दुर्भाग्यवश आज अनेक कलाकार ख्याल को ठुमरी बनाकर प्रस्तुत कर रहे हैं। क्या वे लोग नहीं जानते कि ख्याल वास्तव में क्या है? वे ऐसा क्यों नहीं सोचते कि हम कला के मूल्यों को सुरक्षित ही रखेंगे, उसे बिगाड़ेंगे नहीं; भले ही सुननेवाले श्रोता दो-चार ही मिल जाएं। पुराने जमाने में यही दस्तूर था। इसीलिए कुछ गवैये लोकप्रिय हुए तो कुछ नहीं हो सके। फैयाजखांसाहब का भारतभर में नाम था, लेकिन अल्लादियाखांसाहब को महाराष्ट्र के बाहर कौन जानता था? सचमुच वे कितने विद्वान थे! किंतु गायक के रूप में उनकी लोकप्रियता कहां थी?

दरअसल अण्णासाहब की विशेषता यह थी कि उनके गायन में बुद्धि और मस्तिष्क दोनों का समन्वय था। उनका गाना महज भावात्मक नहीं था। उनके गायन में वैचारिकता और भावात्मकता दोनों का मिलाप रहता था। इसीलिए मैंने पहले कहा कि उनके गायन की कोई सुनिश्चित शक्ल पकड़ में नहीं आती थी। यहां मैं एक ही उदाहरण देता हूँ कुमार गंधर्व का। कुमारजी ने खुद कहा है कि वे अपनी तरुणाई में बड़े बड़े गवैयों की नकल उतारने में माहिर था। एक बार ग्वालियर में एक प्रसंग हुआ था। मुले साहब के यहां बैठक सजी थी। अण्णासाहब बैठे हुए थे। राजाभैया पूछवाले भी थे। राजाभैया ने कुमार से कहा, "आज नकल का प्रोग्राम हो जाए" तो कुमार ने फैयाजखां, अब्दुल अली खां... राजाभैय्याजी आदि गवैयों की हूबहू नकल उतारकर रख दी। अण्णासाहब ने कहा, "कुमार, हमारी भी नकल उतारो।" कुमार ने जवाब दिया, "ना, आपकी नकल मैं नहीं कर सकता। आपका कोई एक ढांचा है नहीं, जिसे मैं नकल में उतार सकूं।"

परवर्ती गायन

अण्णासाहब के गान-कौशल के बारे में यह भी एक अभिप्राय मिलता है कि उनका गाना उनके पूर्ववर्ती काल में जितना प्रभावशाली था उतना आगे नहीं रहा। कुछ हद तक यह बात सही है। उनका गाना शुरू शुरू में सचमुच ही अत्यंत उच्च कोटि का था। पुराने जमाने के लोगों ने इसे अनुभव किया है और वैसा लिख के रखा है। आगे उन्हें संगीत के जिस क्षेत्र में उतरना पड़ा उसके कारण उनके व्यक्तित्व में जोर मारनेवाला कलाकार दब गया। महफिलों में अपने जौहर दिखाने के स्थान पर उन्हें दूसरों के गले में अपनी कला को उतारने का काम जीवनभर करना पड़ा। बात यह है कि कलाकार जो बनता है वह प्रतिभा और उत्स्फूर्तता के

बल पर बनता है। इसीको हम 'उपज (creativity)' कहते हैं। ज्यों ज्यों आप अध्यापन के क्षेत्र में गहरे उतरते जाते हैं त्यों त्यों आपकी उपज का माद्दा मद्धिम पड़ने लगता है। इसलिए पुराने बड़े-बड़े गायक शिक्षक नहीं बनते थे। फैयाजखांसाहब ने किसीको नहीं सिखाया। सच बात तो यह है कि चूंकि अण्णासाहब पं. भातखंडेजी के पास तैयार होके आए थे, फैयाजखां ने उन्हें शागिर्द के रूप में अपना लिया और कहा कि बस मेरे साथ रहा करो, तानपूरे पर आवाज लगाया करो। मेरे सान्निध्य में रहकर तुम जितना ले सको, उतना ले लो।

इधर अल्लादियाखांसाहब की मिसाल दूसरी है। कोल्हापुर से बंबई तक उन्होंने अनेक शिष्यों को तालीम दी। शिक्षा-कार्य में ही वे ज्यादा दखल देते रहे उतना महफिलों में वे नहीं दिखाई दिए। वस्तुत: वे बहुत उच्च कोटि के गायक थे। मैंने अण्णासाहब से सुना है कि मुखड़ा सुनना हो तो अल्लादियाखां से सुनना। वे एक खास फिरत में 'उठते' थे और उसीके अंग से मुखड़ा बांधकर बड़े ठाठ के साथ सम पर हाजिर हो जाते थे। ये सब बातें हमारे गुरुवर ने ही हम शिष्यवर्ग को बताई हैं। किस गवैये में क्या खासियत है, इसे उन्होंने समझाकर बताया था और उन उन गवैयों का गाना उस दृष्टिकोण से सुनने की हिदायत दी थी।

अण्णासाहब ने उस्ताद अल्लादियाखां का गाना बंबई में खूब सुना था। बहुत सुना था। सच तो यह है कि बंबई में म्यूजिक सर्कल की योजना का आरंभ अण्णासाहब के पिताजी ने ही किया था। चौपाटी विभाग में सॉलिसिटर माड़गांवकर का बंगला था। वहां श्री नारायणराव रातंजनकरजी ने अल्लादियाखांसाहब के पांच जलसे करवाए थे। और वह भी अलग अलग समय के। सुननेवाले तीस के लगभग रहते थे। हरेक से २० या २५ रु. चंदा लिया जाता था। और सारी दक्षिणा खांसाहब को भेंट की जाती थी। एक महफिल सुबह की, एक दोपहर की, एक शाम की, एक रात की - यों पांचों महफिलें अण्णासाहब ने सुनी थीं। खांसाहब भी उन्हें बहुत चाहते थे।

अण्णासाहब ने खांसाहब के सुपुत्र मंजीखां को भी लखननऊ कान्फ्रेन्स में बुलाया था। उनकी दृष्टि बहुत व्यापक, घराने के परे थी। उन्होंने अपनी गायकी को खुद की एक शैली में ढाल दिया था। कभी लगता था कि यह आगरा घराने की शैली है, किंतु गौर से देखने पर ध्यान में आता था कि इसमें किसीकी नकल नहीं है। लेकिन एक दूसरी विशेषता उनके गायन की मैं बताना चाहूंगा। गायन की अन्यान्य शैलियों पर उनका अद्‌भुत अधिकार था। एक बार पं. नारायणराव व्यास महाराष्ट्र समाज की ओर से आयोजित गणपति समारोह के सिलसिले में लखनऊ पधारे। वहां भातखंडे कॉलेज में उनका गायन हुआ। उनके गायन के बाद अण्णासाहब बैठे। उन्होंने नारायणराव की पूरी गायकी गाकर बताई और उसके बाद अपनी गायकी का भी रंग दिखाया।

इससे भी बढ़कर एक किस्सा बतानेलायक है। महाराष्ट्र के जानेमाने गायक श्री. कागलकरबुवा रेडियो प्रोग्राम के सिलसिले में लखनऊ पहुंचे। उन दिनों व्ही.जी. जोग, एस..सी.आर. भट ये सब साथी मकान लेकर रहते थे। कोई महमान आ जाता तो उनके यहां ठहरता। फिर वहीं पर गाने की बैठक सजती। उसमें लेन-देन का सवाल था ही नहीं, प्रेम का सौदा था। कालगकरबुवा ने अण्णासाहब से कहा कि मुझे एक दिन आपका गाना सुनने की इच्छा है। वहां की घरेलू बैठकों का रिवाज यह था कि महमान आखिर में गाएगा, घर के लोग पहले गा लेंगे। अण्णासाहब ने कहा, "बुवा, मैं पहले गाऊंगा, आप आखिर में गाइए।" बुवासाहब

बोले, "नहीं, आप मुझसे बड़े हैं, मैं पहले गाऊंगा।" फिर सफेद चार में तंबूरे मिले। कागलकरबुवा ने भूपाली राग पेश किया। ऐसा जम के गाए कि समां ही बांध दिया। 'सूधे बोलत नाहीं' बंदिश उन्होंने पेश की थी। उनके गायन से वाकई सब लोग प्रभावित हुए। अण्णासाहब ने कहा कि बुवा आज आप इतना बढ़िया गाए हैं कि यहींपर हम रुक जाएंगे; मेरा गाना फिर कभी हो जाए। बुवा माने नहीं। वे जिद पकड़कर रहे। फिर अण्णासाहब बोले, "बुवा, हमारा गाना तो अध्यापकी गाना है, बेरियाजी। रहने दीजिए इस वक्त।" मगर नहीं, बुवासाहब मानने को तैयार ही नहीं! आखिर अण्णासाहब ने गुनगुना पानी और नमक मंगाकर कुल्ला कर लिया और चाय-वाय लेकर तानपूरों के बीच बैठे और शाम कल्याण गाना आरंभ किया। बीस एक मिनट शाम कल्याण हो जाने के बाद उसी स्वर में राग परज उन्होंने शुरू किया। वह परज इस कदर जमा कि कागलकरबुवा से रहा नहीं गया। उन्होंने अण्णासाहब के पैर छुए और कहा, "ऐसा गाना मैंने आज तक नहीं सुना था।" मैं भी इस घटना का साक्षी हूं। आगे चलकर बुवा अण्णासाहब के इतने भक्त हो गए कि उम्र में बड़े होने पर भी उन्होंने मुझसे अण्णासाहब की कई बंदिशें सीख लीं।

मेरा सौभाग्य रहा कि बिलकुल कोरी स्लेट लेकर मैं गुरुवर के चरणों में पहुंचा था। सिवाय नाट्यसंगीत के और कोई शैली मेरे गले पर चढ़ी नहीं थी। हां, अनुकरण-शक्ति थी तो उस हिसाब से उन्होंने मेरा गाना बनाने का प्रयास किया। उन्होंने मुझे और हम सब शिष्यों को किस तरह विद्या प्रदान की इसके संबंध में आगे हम देखने ही वाले हैं। प्रस्तुत संदर्भ दूसरा है। जब मैं उनके पास गया तब वे अक्सर कहा करते कि मेरा गाना खत्म होने के बाद तुम मेरे पास आए हो। यानी शुरू में वे गायक के रूप में जो कुछ थे उसके बाद उनकी ऊर्जा कम होने से हम शिष्यों को उनके पास जाने का अवसर मिला। उसके पहले जिन जिन लोगों ने उन्हें सुना है, उनमें से बहुतों ने उन्हें फैयाजखांसाहब के रूप में ही देखा है। कई लोगों ने उन्हें भातखंडेसाहब के मनरंग घराने के हिसाब से भी देखा है। कइयों को उनमें 'ग्वालियर' की झलक दीखती थी। लेकिन हमारे गुरुवर की जिस परिपक्व गायकी का रसग्रहण और अनुसरण हम शिष्यों ने १९३६ के बाद किया उसमें इन सभी शैलियों का एकरूप समन्वय ही हमने पाया।

गायनशैली

अण्णासाहब के गाने में सबसे महत्त्व की चीज थी, सुर का लगाव - एक वैशिष्ट्यपूर्ण स्वरात्मक रागोच्चार। राग के अनुरूप याने रागों का भाव जहां होना चाहिए था, उसके अनुरूप स्वर का लगाव करना, यह सबसे बड़ी विशेषता उनकी गायकी में थी। इसलिए कोई एक राग शुरू करते समय, वे कहीं से भी 'उठते' थे और उसी क्षण महसूस होता कि यह स्वरोच्चार बिलकुल इसी राग का है। मतलब यह कि वे स्वरों के माध्यम से रागों का उच्चार कभी नहीं करते थे, बल्कि राग के अनुसार स्वरों का प्रस्तुतीकरण करते थे।

मैंने पहले जिक्र किया था कि मेरे गुरुबंधु एस.सी.आर. भट ने मुझे दृष्टि दी थी - तो यही वह दृष्टि थी। एक कलाकार की गायकी तभी समृद्ध होती है, जब वह ४०-५० वर्ष बाद खुलने लगता है और स्वतंत्र रूप से अपना एक ढंग या ढांचा बना लेता है। तबतक वह प्रयोगात्मक मात्रा से ही गुजरता रहता है। १९३६ तक अण्णासाहब की विचारधारा पक्की हो गई थी। उसके बाद हमने उनकी गायकी में कोई परिवर्तन नहीं देखा।

बंदिशों के प्रस्तुतीकरण का भी उनका एक खास ढंग था - मैं उसे 'बनठन के साथ बंदिश प्रस्तुत करने का ढंग' कहूंगा। बंदिश का हरेक स्वर वे कणयुक्त लगाते थे। कड़े और खड़े स्वर वे नहीं लगाया करते कभी। यह खासियत उन्हें पं. भातखंडेजी की तालीम से प्राप्त थी। पंडितजी की विचारधारा का असर उनके ऊपर काफी मात्रा में रहा। इसीमें फैयाजखांसाहब की 'बोल बनाव' की शैली को स्थान मिला - बोलबनाव का अंग और लयकारीयुक्त तानें, तो आगरा घराने की खासियत थी। इस सिलसिले में मेरे अनुभव की एक विशेष बात भी बतानी चाहिए कि वे अपने गायन में अल्लादियाखांसाहब की शैली में कूटतानों का भी काफी मात्रा में प्रयोग करते थे। उनके इस विशेष पक्ष का मैंने ही खास तौर पर अनुकरण किया है, अन्य किसी शिष्य ने नहीं किया।

फिर स्वरयुक्त पुकार उनके गायन का एक और आकर्षक अलंकार था। एक ही स्वर को वे अलग अलग 'पुकारों' के साथ प्रस्तुत करते। उनके गायन में सुनकर सीखी हुई चीजें बहुत कम थीं, जो कुछ था वह तालीम से प्राप्त हुआ था। इसके बाद उनकी गायन-कला का एक दूसरा सौंदर्यपक्ष था उनका शब्दोच्चार। मैं इसे उस्तादी ढंग के शब्दोच्चार कहूंगा। पहले हमने देख ही लिया है कि ब्रजबोली वगैरह को उन्होंने ध्यानपूर्वक समझ लिया था। वे बंदिशों के शब्दों का उच्चारण खास हिंदी के लहजें मे करते थे, इससे उनके गायन के सौंदर्य में इजाफा हो जाता था। चाहे पंजाबी भाषा की बंदिश हो या हिंदी की। शब्दों के सही उच्चारण से उसकी लहक बदल जाती है। एक दिल की बात खोलकर बताने जैसा ढंग उसमें आ जाता है। उदाहरण के लिए एक चीज है - 'दैं ऽ दी अल्ला....।' उसका उच्चारण दैं दी नहीं बल्कि 'दैं' पर यत्किंचित रुककर फिर दी कहना चाहिए। एक और बंदिश राग बिहाग में है। 'हा वे चंगी बोलले तू जानूदा जिंद साड्डे नाल' 'यहाँ' शब्द में 'साड्डे' अनुनासिक उच्चारण करना नहीं है। यह तो तभी होता है जब बंदिश के अर्थ पर भी हम ध्यान दें। अण्णासाहब में यह विशेषता थी। वे शब्दार्थ को समझने पर बल देते थे।

कुल मिलाकर एक शब्द में कहना हो तो अण्णासाहब के गायन में 'गवैय्यापन' कूट कूट कर भरा था। इसीलिए उस जमाने के जानेमाने उस्ताद उन्हें अपनी बिरादरी का गवैया मानते थे। 'पंडत' तो थे ही, किंतु साथ साथ गवैयापन भी उनमें उतनी ही मात्रा में था। किंतु जैसा कि इसके पहले मैंने जिक्र किया है, शैक्षणिक कार्य को हाथ में लेने के उपरांत ये विशेषताएं कुछ कुछ मंद पड़ती गईं। उसके बाद आप महफिलों की अपेक्षा कद्रदानों और गुणीजनों की खानगी महफिलों में बेहद रंग जमाने लगे। क्योंकि ऐसे माहौल में उनके अंदर बसे हुए सच्चे कलाकार को तहेदिल से दाद मिलती थी। ग्वालियर में हर साल एक महीने की कालावधि तक परीक्षाओं के कार्य की बदौलत उनका रहना होता था। वहां राजभैय्या पूछवाले जैसे चाहनेवालों की संगत रहती और फिर आए दिन महफिलें सजतीं। पं. राजाभैया तो अण्णासाहब के गाने पर फिदा ही होते थे। उन्होंने एक बार मुझसे कहा -"हमने इतने बड़े बड़े धुरंधर गायकों को सुना है लेकिन अगर तुम मेरे मन की बात पूछोगे तो मुझे अपने जीवन में दो ही आदमियों का गाना पसंद आया - एक शंकर पंडितजी का और उसके बाद बाबूराव (अण्णासाहब) का।"

सवाल हो सकता है कि पं. राजाभैया पूछवाले तो ग्वालियर घराने के गायक थे; तब अलग शैली के इस गायन पर वे इतने कैसे रीझ गए? इसका श्रेय राजाभैयाजी की 'नजर' को देना चाहिए। यों आप तो ग्वालियर घराने के ही गायक रहे; किंतु सौंदर्य की खोज में कुछ थोड़ी

मात्रा में लीक से हट भी गए और अण्णासाहब की गायन-शैली के कायल बन गए। राजाभैयाजी को पं. भातखंडेसाहब के प्रति नितांत आदरभाव था। उन्हींके शिष्य के नाते वे अण्णासाहब की ओर देखते थे। उनकी इस बात के कारण रूढ़िप्रिय ग्वालियरवालों ने उन्हें अपनी बिरादरी से अलग घोषित कर दिया और कहने लगे कि हमारी गायकी से यह भ्रष्ट हो गया है। यों हम उन बेचारों को भी दोषी नहीं ठहरा सकते। उस जमाने में कलाकारों के अंदर इतनी विश्लेषणात्मक और गुणग्राहक दृष्टि कहां विकसित हुई थी? जिस प्रकार आज हम विश्लेषणात्मक रूप में चर्चाएं करके सार निकाल लेते हैं वैसी स्थितियां सौ-सत्तर साल पहले नहीं थीं। तो मैं जो कह रहा था उसपर आता हूं कि ग्वालियर की गुनिजन बैठकों में अण्णासाहब का गाना खूब खुलता था और ताज्जुब की बात यह कि यह उपक्रम लगभग २५ वर्ष तक बराबर चलता रहा। और जैसे कि पहले मैंने जिक्र किया था, कुमार गंधर्व जैसे कलाकार भी उसमें समय समय पर शामिल होते और उसका रंग और गहरा हो जाता।

मैं यहांतक बताना चाहूंगा कि इन प्रदीर्घ वार्षिक अनुभवों का परिणाम यह हुआ कि ग्वालियर के गायकों और रसिक श्रोताओं के,कान 'बिगड़' गए और कइयों ने इस गायकी की खूबियों का मनन चिंतन करके अपनी गायकी में परिवर्तन कर लिया। और यह मैं केवल अनुमान के तौर पर नहीं बता रहा हूं, प्रमाण भी दे सकता हूं। सर्वश्री नारायणराव गुणे (राजाभैया के शिष्य), गंगाप्रसाद पाठक, गोविंद नारायण नातू, मुकुंद विष्णु कालविंट ये सभी ग्वालियर के माधव संगीत महाविद्यालय के स्नातक थे। खुद राजाभैया के सुपुत्र बालासाहब जो आजके गायकों में मान्यता पाए हुए हैं, वे भी इस माहौल में रहते थे। और राजाभैयाजी की उदारता और सांगीतिक दृष्टि को भी देखिए कि उन्होंने खुले तौर पर इन स्नातकों को छूट दे दी थी कि यदि तुम्हें अण्णासाहब के गायन में अपने लिए अनुकूल आदर्श गुण मिलते हों तो अवश्य उनका अनुकरण कर सकते हो, मुझे उसमें कोई आपत्ति नहीं। किंतु इन सब बातों के बावजूद मैं यह भी बताना चाहूंगा कि राजाभैया स्वयं आखिर तक ग्वालियर की गायकी ही गाते रहे। क्योंकि मैंने राजाभैया का गायन कई बार सुना था और उसमें मैंने शंकर पंडितजी के श्यालक श्री काशिनाथ मुले के गायन की ही शक्ल पाई थी (और श्री मुले तो शंकर पंडित की ही गायकी में पले थे)। तो कहने का तात्पर्य यह कि राजाभैया ने अपनी शैली में परिवर्तन नहीं किया; किंतु विचार-शैली में अवश्य किया। यों कहिए कि अण्णासाहब की प्रभावपूर्ण गायकी ने वैसा करने पर उन्हें बाध्य किया।

राजाभैया बातों बातों के सिलसिलें में बताया करते - "हमारे जमाने में पूरिया, मारवा, सोहनी एक ही ढंग से गाया जाता था। उनमें होनेवाले अंतर को हम अंदरूनी तौर पर समझ ही नहीं पाते थे। मारवा का विशेष अंग कहां है, पूरिया कहां खुलता है, सोहनी में किस स्वरसंगति की जरूरत रहती है - यह सारा सूक्ष्म ज्ञान मुझे पं. भातखंडेजी की संगति में आने पर प्राप्त हुआ। जैसे 'सपने में आए' बंदिश लीजिए। राग पूरिया की इस बंदिश में स्वरों का चलन कैसा है - ये सारी बारीकियां अपने आप खुलने लगीं। तो इस 'नजर' से भरे हुए गायन के संस्कार भातखंडे और बाद में अण्णासाहब की बदौलत ग्वालियर के जिज्ञासु संगीतसाधकों को प्राप्त होते रहे और उनके कान बदल गए। राजाभैया ने मुझसे कई बार कहा था - "भातखंडेजी की संगति में मेरा गाना चक्षुमय हो गया।"

ग्वालियर में श्री बालाभाऊ उमड़ेकर नाम के गायक थे, जो कानों में कुंडल के कारण 'कुंडल गुरु' कहलाते थे। वह भी अण्णासाहब की गायकी से बहुत प्रभावित थे। याने ग्वालियर के

लोग हमेशा राह देखते थे कि बाबूरावजी यहां परीक्षक के नाते कब पधारनेवाले हैं! कुछ लोगों को मैंने यह कहते हुए भी सुना है कि उनके आने पर हमारा संगीत का यज्ञ शुरू हो जाता है।

अण्णासाहब का ग्वालियर जाने का सिलसिला १९३३ के बाद जारी हो गया। उसके पूर्व परीक्षाओं के लिए बड़ौदा, ग्वालियर, लखनऊ को स्वयं पं. भातखंडेजी ही जाया करते थे। परंतु १९३३ में लकवे की बीमारी से पंडितजी स्थानबद्ध ही हो गए, तो यह काम अण्णासाहब के जिम्मे आया। बड़ौदा में भी अण्णासाहब के अनुभव काफी रोचक रहे। श्री पंढरीनाथ कोल्हापुरे वहीं पर सीखते थे उस काल में। उनके पिता कृष्णराव कोल्हापुरे (गानसम्राज्ञी लता मंगेशकर के मामा) बड़ौदा की संगीत पाठशाला में बीन - वादन के अध्यापक थे। पंढरीनाथजी के मन में अण्णासाहब की वहां की बैठकों का स्मरण आज भी ताजा है।

लय प्रभुत्व

स्वरलगाव, शब्दोच्चारण आदि के साथ साथ अण्णासाहब का लयतत्त्व पर भी उतना ही अधिकार था। हम उनकी रची हुई बंदिशों में लय का सौंदर्य अनुभव कर सकते हैं। लय की समझ उनमें न होती तो इतनी बंदिशें बन ही न सकतीं। वे बंदिशों का प्रस्तुतीकरण लयात्मक शैली में ही करते थे। झिंझोटी राग की उनकी बंदिश 'मेरो मन सखी हर लीनो सांवरिया ने' तो लयकारी की सूझ से ओतप्रोत भरी हुई है। कहने का तात्पर्य यह कि सुर, शब्द और लय तीनों का अच्छा समन्वय उनके गायन में मिलता था। पिछले अध्याय में मैंने अच्छन महाराज और मोहनराव की घटना बताई ही है। यदि अण्णासाहब लय का सूक्ष्म ज्ञान न रखते तो अच्छन महाराज को भी अप्रतिभ करनेवाला सवाल न कर पाते। हां, यह मैं अवश्य कहूंगा कि यदि गायक के नाते नाम कमाने का अवसर उन्हें मिलता तो उनकी लयकारी के जौहर अच्छी तरह खुलते। किंतु गुरु के आदेश से वे संगीत के प्रसार में ही दत्तचित्त रहे। कॉलेज के दायित्व को संपूर्ण शक्ति के साथ निभाने के दौरान उन्होंने एक तरह से अपना गायकपन त्याग दिया था।

परंतु यह मैं अवश्य बल के साथ कहूंगा कि उन्होंने अपने शिष्यों में लय भर दी थी। उनका गायन निरंतर सुनते हुए मैंने तो उनका यह पक्ष अनुकरण से अच्छी तरह आत्मसात् कर लिया है। मेरा तो कोई दूसरा गुरु नहीं है, मेरे वे ही एकमेव गुरु रहे। जो लयात्मक प्रक्रिया मेरे गायन में विकसित हुई है वह उन्हींका प्रसाद है। उसका बीज उन्होंने ही बोया और उसे मैंने बढ़ाया। इसलिए वे मुझे हमेशा कहते थे कि मेरी बंदिशों को तुम्हीं समझ सकते हो। खैर, उनकी बंदिशों के बारे में और उनके सिखाने के ढंग के बारे में हमें आगे बात करनी है; परंतु यहां संदर्भ की एक बात कुछ विस्तार से बताना आवश्यक है। अण्णासाहब ने कुछ चुने हुए शिष्यों को इस ढंग से तैयार किया था कि जरूरत पड़ने पर किसी भी घराने की गायकी में वे अपने को ढाल सकते थे। इसलिए मैं ग्वालियर शैली में भी आसानी से घूम सकता था। और जब जब मौका मिलता पं. गजाननबुवा जोशीजी के पीछे तंबूरे पर गा लेता था। एक बार दिल्ली आकाशवाणी पर बुवासाहब का राष्ट्रीय कार्यक्रम था। मुझे कहा गया कि 'वोकल सपोर्ट' के लिए आपको बुक करना है। मैंने कहा, मेरी एक शर्त है, मैं सिर्फ तंबूरा बजाने के लिए नहीं बैठूंगा, मैं उनके साथ गाऊंगा भी। उस दिन बुवासाहब की आवाज तकलीफ दे रही थी, उन्हें बीच बीच में विश्राम की जरूरत थी। मैंने राग केदार में ग्वालियर की शैली

में ही बुवासाहब का साथ दिया। श्रोताओं में डॉ. केसकर, सरदार आबासाहब मुजुमदार जैसे ऊंचे श्रोतागण बैठे थे, किंतु मैं पूरे आत्मविश्वास के साथ सहगायन करता रहा। हमारे गुरु ने हमें इस तरह व्यापक दृष्टि दे दी थी।

यह भी देखना चाहिए कि अण्णासाहब गायन में लय को कितनी हद तक विलंबित रखते थे?

अब उस जमाने में लय जो चलती थी उसके दो धागे थे। पुरानी पीढ़ी के जितने भी गवैये थे, बहुत विलंबित लय रखते ही नहीं थे, चलती लय या मध्यविलंबित लय रखते थे। तबलची को मात्रा भरने की जरूरत न पड़े, इस ढंग की लय रहती थी। फैयाजखांसाहब, विलायतहुसेनखां सब इसी लय में गानेवाले गायक थे। अल्लादियाखांसाहब का गाना मैंने नहीं सुना, लेकिन केसरबाई को खूब सुना है। मल्लिकार्जुनजी को आज भी सुन रहा हूं। ये सभी चलती लय में गानेवाले गायक ही रहे हैं। ऐसी लय में आप को ठेके का छंद दीखता है और उसके आधार पर बंदिशों की लयात्मक अभिव्यक्ति हो सकती है। आजकल हम अनेक महफिलों में देखते हैं कि लय एक चौथाई घटा दी जाती है। ऐसे गायन में सिर्फ मात्राएं गाई जाती हैं। गानेवाला सिर्फ मुखड़े का देनदार हो जाता है। अण्णासाहब विलंबित मध्यलय में अपना गाना प्रस्तुत करते थे। अतिविलंबित लय उन्होंने कभी भी नहीं ली। लय के संबंध में उनका एक और बात पर बराबर ध्यान रहता था। हरेक बंदिश की अपनी एक लय रहती है। अण्णासाहब हमेशा उस लय का खयाल रखके गाते थे। हरेक स्वर का अपना एक आयाम होता है, एक विश्रांति उसमें स्वयमेव अनुस्यूत रहती है। उसीके सहारे संगीत के माध्यम से हम रागात्मक संवेदनाएं श्रोताओं तक पहुंचाते हैं। बंदिश की लय का और इस संवेदना का घनिष्ठ संबंध रहता है। अण्णासाहब अपने गायन में लय के इस स्वरूप पर अमल करते थे।

अण्णासाहब उनके गायन में स्वरालाप, बोल उपज, नोम्-तोम् में से किस पहलू को अधिक प्राधान्य रहता था और ख्याल के विस्तार की उनकी क्या पद्धति थी, यह भी एक विचारणीय बात होगी। इस संबंध में कहें तो आगरे की शैली के हिसाब से ख्याल के आरंभ में वे नोम्-तोम् आलाप करते थे। आकाशवाणी पर गायन होता तो उसमें भी आधे घंटे के ख्याल में पहले ५-१० मिनट वे नोम्-तोम् के आलाप लेते थे। बड़ी महफिलों में इस आलापी के लिए वे और ज्यादा समय देते थे। इस आलापी के बाद जो ख्याल शुरू हो जाता था वह मध्यलय में रहता था, विलंबित में नहीं। अब आगे ख्याल का विस्तार बंदिश के अनुरूप शुरू हो जाता था। ख्याल का विस्तार स्वर-दर-स्वर करने की अपेक्षा बोल के हिसाब से करना उनकी खासियत थी। बंदिश के अक्षरों के दायरे से विस्तार करते समय उसमें आगरा शैली और ग्वालियर शैली दोनों का सुंदर मिलाप बन आता था। उसमें बीच बीच में आकारयुक्त आलापों का भी प्रयोग होता था। ग्वालियर गायकी के बहलावे भी उनके गायन के सौंदर्य को बढ़ा देते थे। एक बार बंदिश को भलीभांति प्रस्थापित कर देने के बाद उसे नाना प्रकार से अलंकृत करके उसके भीतरी सौंदर्य के एक एक पहलू को उजागर करते हुए चलते थे। तो इस प्रक्रिया में अमुक के बाद अमुक तरीका, ऐसा कोई हिसाबी चक्र उनके गायन में नहीं रहता था, इसीलिए तो उनके गायन में अद्भुतता और अनोखेपन का अनुभव श्रोताओं को पग पग पर मिलता।

धातु एवं मातु

जैसा कि मैंने पहले बताया अण्णासाहब बंदिश के साहित्य पक्ष को भी नजरअंदाज नहीं

होने देते थे। उस जमाने में प्राय: गायक लोग बंदिश के भावपक्ष, उसके सही शब्दोच्चारण, अर्थ आदि अंगों की ओर उपेक्षा की नजरों से ही देखा करते थे। शायद उसका एक कारण यह भी रहता होगा कि उन्हें स्वयं बंदिश का काव्यार्थ ज्ञात ही नहीं रहता था; यही नहीं स्थायी और अंतरे के शब्द भी उन्हें ठीक ठीक मालूम नहीं रहते थे। धातु पक्ष पर ही सारा बल देते थे, मातु पक्ष की एक तरह से अवहेलना ही होती थी। अण्णासाहब की अत्यंत सराहनीय विशेषता यह थी कि उनके गायन में धातु और मातु दोनों पक्षों को समुचित न्याय मिलता था। हम इसका पहले जिक्र कर ही चुके हैं कि फैयाजखांसाहब की सन्निधि में रहने, लखनौ जैसे हिंदी भाषी प्रदेश में वास्तव्य होने और हिंदी की ब्रज, अवधि इत्यादि बोलियों और उर्दू भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त करने की वजह से बंदिशों के भाषा पक्ष के प्रति वे स्वभावत: ही जागृत रहते। इसके अतिरिक्त स्वयं एक उत्तम श्रेणी के रचनाकार भी थे। तो बात यह कि अण्णासाहब के गायन की इस खासियत के कारण उस काल के सुशिक्षित श्रोतागण उनकी ओर विशेष आकृष्ट रहते थे। अन्य गायकों की तुलना में इस गायन में उन्हें साहित्य का भी आनंद मिलता था। इस बारे में गौर करने की बात यह है कि अण्णासाहब आजकल की तरह एकदम भावविभोर होकर के गानेवाले गायक नहीं थे। उनकी कला की विशेषता यह भी थी कि उसमें कलात्मक संयम की याने अभिजातता की गरिमा भरी हुई थी। वे राग के 'मूड' को शिथिल नहीं होने देते थे। वे साहित्यिक रस को प्राधान्य देकर नहीं, बल्कि संगीतरस को प्राधान्य देकर गानेवाले गायक थे। फिर यह पूछा जा सकता है कि ठुमरी के संबंध में उनके भाव क्या थे? उस जमाने में प्राय: ख्याल गायक ठुमरी गाने के पक्ष में रहते ही नहीं थे। आज स्थितियां ऐसी हैं कि आपको एक ही महफिल में सब कुछ प्रस्तुत करना आना चाहिए। उस कालखंड में श्रोता वैसी अपेक्षा ही नहीं रखते थे। हां, लेकिन महाराष्ट्र में यह पद्धति कुछ हद तक रही। किंतु महाराष्ट्र के बाहर ख्यालगायक अपनी लीक से हटकर दूसरे दूसरे प्रकारों को नहीं अपनाते थे। आगरा घराने में सिर्फ फैयाजखांसाहब ही ठुमरी गाते थे। क्योंकि उन्हें मोइजुद्दीनखां और गणपतभैया से तालीम मिली थी। आगरा घराने में किसीने उन्हें ठुमरी नहीं सिखाई। इसलिए नसिरुद्दीखां, विलायतहुसेन खां, नत्थनखां - कोई भी ठुमरी गायन नहीं करते थे। पं. भास्करबुवा बखले को महफिलों में मराठी नाटक पद गाने का आग्रह होता था, लेकिन वे कहते थे– "यह नारायण का (याने बालगंधर्व का) काम है।" हां, यह ठीक है कि नाट्यगीतों के प्रचार के कारण महाराष्ट्र में महफिलों के अंदर भी नाट्यगीत प्रस्तुत करने की प्रथा चल पड़ी थी। किंतु इसे नहीं भूलना चाहिए कि इन पदों को गानेवाले गायक शास्त्रीय संगीत में गहरी तालीम पाए हुए कलाकार थे।

उत्तर भारत में स्थितियां भिन्न थीं। वहां ठुमरियां गाने के लिए एक से एक बढ़कर बेहतरीन गायिकाएं थीं - सिद्धेश्वरीजी, रसूलनबाई, विद्याधरीदेवीजी। फिर भी महफिलों में बंदिश की ठुमरी जरूर गाई जाती थी। मसलन, 'नीर भरन कैसे जाऊं' यह ठुमरी है। किंतु उसे बंदिश के हिसाब से भी पेश किया जाता था। तो पते की बात यह कि आजकल आम महफिल में बोल बनाव की ठुमरी गाने की जो प्रथा मिलती है, वैसी स्थिति अण्णासाहब के जमाने में नहीं थी। इस संदर्भ में यह बताना चाहिए कि अण्णासाहब को विपुल-सी ठुमरियों और टप्पों की घरानेदार तालीम सुविख्यात ठुमरी नायक कदर मिया के सुपुत्र लखनऊ निवासी नवाब चौलक्खी मिर्जा नूर उद दहर जैसे अधिकारी उस्तादों से मिली थी। यों खानगी महफिलों में फरमाइश होने पर एकाध बार ठुमरी गा भी देते थे, किंतु ख्याल और ध्रुपद धमार ही उनका

वास्तविक क्षेत्र था।

ध्रुपद धमार के गायन पर अण्णासाहब का गहरा अधिकार था। ख्याल से ध्रुपद कहां अलग पडता है, धमार की उपज किस तरह होती है, इसके बारेमें सूक्ष्म दृष्टि उन्होंने हम शिष्योंको और खासकर मुझे और भटसाहब को दी। यों हमारे पाठ्यक्रम में ही ध्रुपद और धमार का अंतर्भाव था। जब हमारा स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम शुरू हुआ तब एक एक गायकी की विशेषताओं को विस्तार के साथ सिखाया गया। उस्ताद रहीमुद्दिनखां डागर को ३-४ साल लखनऊ कॉलेज में अध्यापक के रूप में रखा भी गया था।

डॉ. बी. वी. केसकरजी की ख्वाहिश थी कि ध्रुपद धमार गायकी को पुनरुज्जीवित किया जाए। इसके लिए वे आकाशवाणी पर उसका महत्त्व बढ़ाना चाहते थे। इस दृष्टि से डागर बंधुओं को उन्होंने प्रोत्साहन दिया था। इसीके साथ वह यह भी जानते थे कि रातंजनकरजी भी इस दिशा में कुछ करा सकते हैं। तो उन्होंने हमारे गुरुदेव के द्वारा मुझे और श्रीमान भट को ध्रुपद में तैयार करवाया। फिर हमने भी उसमें अधिक ध्यान देना आरंभ किया। आगे चलकर हमने उसमें भी अपनी एक शैली बना ली। किंतु इस सफलता के पीछे अण्णासाहब का ही मार्गदर्शन था। उन्होंने काफी पहले डेढ़ साल तक भैरव के नोम्-तोम् की शिक्षा देने के उपरांत हमे उसी राग में 'विष्णुचरण ब्रह्मकमंडल' ध्रुपद सिखाया था। जो स्वर-लगाव हमें अण्णासाहब ने सिखाए थे उसीसे हमने अपने नोम् तोम् आलाप की प्रक्रिया शुरू की। इसलिए हमारे नोम् तोम् में आपको आगरा शैली के नोम्-तोम् आलाप नहीं दिखेंगे, उसमें आप ध्रुपदियों के नोम्-तोम् आलाप पाएंगे।

अण्णासाहब भी जो नोम्-तोम् करते थे उसमें ध्रुपद अंग ही ज्यादा रहता था। उन्होंने उ. जाकिरुद्दीन अल्ला बंदे को काफी सुना था। पं. भातखंडे स्वयं जाकिरुद्दीन साहब से बहुत प्रभावित थे। खांसाहब अपनी आलापी के लिए बहुत मान्यता पाए हुए थे। इसलिए लोग उन्हें जाकिरुद्दीन ध्रुपदिए नहीं, जाकिरुद्दीन अलापिए कहकर पहचानते थे। इस प्रकार अण्णासाहब ने ध्रुपद धमार की प्रस्तुति की दृष्टि से हमारी प्राथमिक तैयारी करा ली थी और उसीको फिर हमने आगे विकसित रूप दिया। गुरुवर की यही विशेषता थी कि वे शिष्यों को केवल अनुकरण में बांधकर नहीं रखते थे, वे 'दृष्टि' प्रदान करते थे; सूत्र रूप में हिदायतें देकर और मुख्यत: अपने गायन के माध्यम से।

अण्णासाहब के सांगीतिक व्यक्तित्व का अबतक जो अवलोकन किया, उसमें दो महत्त्वपूर्ण आयामों पर ध्यान नहीं दिया गया। - (१) रचनाकार तथा वाग्गेयकार और (२) विद्यागुरु। वस्तुत: उनके व्यक्तित्व के ये दो पक्ष इतने बुलंद हैं कि परवर्ती काल में उनके 'गवैयेपन' की अपेक्षा इन्हींपर सबका ध्यान आकर्षित हुआ। गुरुमहोदय की ये दो विशेषताएं इतनी परिग्राही और व्यापक हैं कि उसके लिए दो अलग अध्यायों की आवश्यकता है।

आइए, हम वही करें!

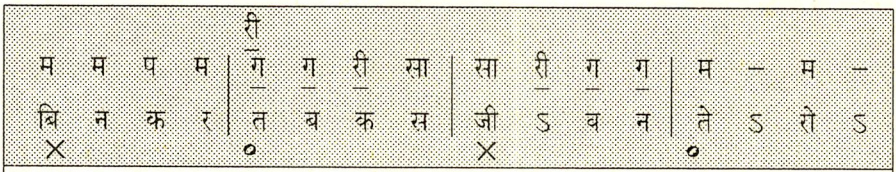

प्रतिभासंपन्न रचनाकार एवं वाग्गेयकार

पं. एस. सी. आर. भट

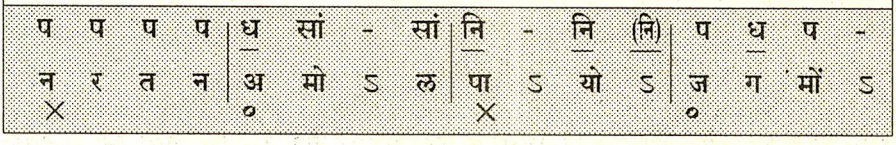

पिछले अध्याय में हमने एक गायक के रूप में अण्णासाहब के सांगीतिक व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त किया। मैंने कहा था कि उनकी गायन-शैली में विभिन्न घरानों की खास खास विशेषताओं का समावेश था और ये विशेषताएं उसमें एकरूप होकर मिल गई थीं। इन सब घरानों के सम्मिश्रण से उन्होंने अपनी एक स्वतंत्र गायकी बना ली थी, जिसपर अधिकतर प्रभाव जयपुर-मनरंग घराने का तथा ग्वालियर और आग्रा घराने का था। फिर बाद में किराना घराने के तहत अब्दुल करीमखांसाहब के स्वर-लगाव और अल्लादियाखांसाहब की फिरत को भी उन्होंने अपनी गायन-शैली में अंतर्भूत कर लिया था।

अब हम अण्णासाहब के एक अत्यंत उज्ज्वल पक्ष पर ध्यान देंगे - 'डॉ. रातंजनकर एक रचनाकार और वाग्गेयकार के रूप में।' अण्णासाहब के सांगीतिक व्यक्तित्व का यह अंग इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि आजकल की पीढ़ी उन्हें वाग्गेयकार के रूप में अधिक जानने लगी है; क्योंकि आजकल उनकी बंदिशों का उपयोग अन्यान्य महफिलों में काफी मात्रा में होने लगा है। अण्णासाहब के अंदर यह जो रचनाकार की प्रतिभा थी उसका प्रस्फुटन बहुत पहले याने १९२०-२२ में, जब वे उम्र से बीस-बाईस के ही थे तब हुआ था। उस काल में उन्होंने सबसे प्रथम एक रचना बनाई, जिसमें उन्होंने महात्मा गांधी के सत्याग्रह का वर्णन प्रतीकात्मक शैली में किया था। हम जानते ही हैं कि १९२०-२२ में गांधीजी का सत्याग्रह-आंदोलन आरंभ हो चुका था और इस आंदोलन ने भारत के सभी नागरिकों को प्रभावित और कार्यप्रवण कर दिया था। इस बात को लेकर अण्णासाहब ने बिलावल राग में जो बंदिश बनाई वह इस प्रकार थी-

मुरली बजावे मोहना । भूल गई सब सुधबुध मो मन ॥
बांसुरी की धुन संग, नाचत सब द्रुम छननन पायल बाजे ॥

स्पष्ट है कि उन्होंने मोहनदास नाम को लेकर मनमोहन गोपालकृष्ण के प्रतीक की योजना इसमें

की थी । वस्तुत: बंबई में उनकी हिंदी भाषा से उतनी घनिष्ठता नहीं हुई थी । किंतु सहजभाव से उनसे यह रचना बन पड़ी थी । लखनऊ जाने से पहले दो-तीन बंदिशें और उन्होंने रची थीं । यह पहली रचना बन जाने के बाद अण्णासाहब ने उसे पं. भातखंडेजी के सुहृद एवं शिष्य वकीलसाहब शंकरराव कर्नाड़ को सुना दी । क्योंकि उन्हें अपने गुरुवर भातखंडेजी का रवैय्या मालूम था। जब भातखंडेजी स्वयं कोई बंदिश बनाते तो शंकररावजी को नियमत: सुनाते । यदि कर्नाड़जी के द्वारा उसे मान्यता मिल जाए, तभी वह ठीक मानी जाती थी, अन्यथा नहीं । अण्णासाहब ने भी सोचा कि यह रचना शंकररावजी को दिखानी चाहिए। यह घटना मुझे बताते हुए अण्णासाहब ने कहा था कि शंकररावजी ने मेरी उस पहली रचना को काफी पसंद किया; इससे मेरा उत्साह बढ़ा । तो शंकररावजी के प्रोत्साहन का फल यह हुआ कि उनका बंदिशें बनाने का सिलसिला आगे खूब चला । लखनऊ जाने से पूर्व उन्होंने २-३ और रचनाएं की थीं, किंतु लखनऊ पहुंचने के बाद उन्होंने एक से एक सुंदर बंदिशें बनाईं, यहांतक कि उनकी कुछ बंदिशों को विशुद्ध पारंपरिक बंदिश समझकर जानेमाने उस्ताद लोग भी गाने लगे थे; गुरुजन अपने शिष्यों को ये बंदिशें सिखाते थे । और उसमें नाट्यमयता यह रही कि बंदिश में सब समय अपनी नाममुद्रा न रखने की अण्णासाहब की रीति के कारण बहुत अरसे तक यह रहस्य छिपा ही रहता था । जब बात खुल जाती तब सच्चे कद्रदान खुले मन से दाद देते तो खुदपरस्त गवैये उन बंदिशों को किनारे रख देते । किंतु अण्णासाहब की बंदिशें अपने आप में ही इतनी सौष्ठवयुक्त, राग के अलक्षित सौंदर्य का उद्घाटन करनेवाली और सांगीतिक निरूपण से ओतप्रोत रहती थीं कि किसीके स्वागत या विरोध की उनके लिए आवश्यकता ही नहीं थी ।

अण्णासाहब ने एक बंदिश अपने गुरुवर पं. भातखंडेजी के जन्मदिवस के अवसर पर १९३३-३४ में उनके अभिनंदन में बनाई थी - यमनी बिलावल में विलंबित ख्याल की । उसके शब्द इस प्रकार हैं-

जुग जुग जियो रे मेरे गुरुराई । चतुर सुजान गुणनिधान,
अपनो संवारो काज ॥
जो मोपै दया कीनो तें का विध होऊं अब उतराई ।
देहो बताय ॥

तो यह 'कांपोजीशन' उन्होंने अण्णासाहब को उनके जन्मदिवस पर समर्पित किया । पंडितजी ने भी उसे पसंद किया, उसके सांगीतिक निरूपण को और उसके साहित्य को भी । यहां तक कि आपने इस बंदिश का अंतर्भाव अपनी क्रमिक पुस्तकमालिका के पांचवें भाग में यमनी बिलावल के अंतर्गत समाविष्ट किया है । सोचने की बात है कि पं. भातखंडे जैसे प्रखर, पारंगत, तपस्वी संगीतसौंदर्यवेत्ताद्वारा बंदिश का इस हदतक स्वागत होना कोई सामान्य बात नहीं है ।

नव-राग-निर्माण

लखनऊ आ जाने के बाद अण्णासाहब का बंदिशें रचने का उपक्रम अधिक उत्साहपूर्वक चलता रहा किंतु इस उपक्रम में उनकी रचनात्मक प्रतिभा का एक और आयाम जुड़ गया। अण्णासाहब ने कुछ अभूतपूर्व नए रागों का निर्माण भी किया और ये राग आगे चलकर इतनी मान्यता

पा गए कि आज आम महफिलों में उनका गायन होना अवश्यंभावी हो गया है। उनके बनाए नए रागों के बारे में आज संगीतवेत्ताओं तक में ऐसी भ्रांत धारणा मिलती है कि यह राग पुराना और पारंपरिक ही है। इतना उन रागों का स्वरूप कसा हुआ और ठोस बन पड़ा है।

इस रागनिर्माण की मानसिक पृष्ठभूमि में बाहरी प्रेरणा और भीतरी तकाजा, दोनों विद्यमान थे। अधिकतर तो यह उनके भीतर की सर्जनात्मक प्रतिभा का तकाजा था। और सौभाग्यवश उसके लिए अनुकूल पृष्ठभूमि भी प्राप्त हो सकी। लखनऊ जाने के बाद कर्नाटक संगीत विद्वानों से अण्णासाहब का संपर्क बढ़ता गया। अक्सर वे मद्रास की तरफ जाया करते। इससे आप कर्नाटक संगीत के काफी परिचित हो गए थे, यानी प्रत्यक्ष प्रयोगात्मक रूप से। तो इस सिलसिले में कर्नाटक शैली में पूर्व कल्याणी नामक जो राग है उसकी ओर अण्णासाहब का ध्यान आकृष्ट हुआ। उस राग के साथ हिंदुस्तानी संगीत की शैली को मिलाकर अण्णासाहब ने 'पूर्व कल्याण' नामक राग की सर्जना की। और उसमें 'होवन लागी सांझ' बंदिश बनाई, जो चंद दिनों में काफी प्रचार में आई। क्योंकि उन दिनों लखनऊ मैरिस कॉलेज से निकलनेवाले 'संगीत' नाम के त्रैमासिक मुखपत्र में यह बंदिश मय स्वरलिपि के छपकर आई। (यह मुखपत्र डेढ़ एक साल तक चला, आगे बंद हो गया।) तो इस मुखपत्रमें यह बंदिश छपी थी किंतु रचनाकार का नाम नहीं दिया गया था। इस बातको लेकर आगे बड़ी नाट्यमय घटनाएं हुईं।

रोचक घटना

१९३३-३४ में प्रो. बी. आर्. देवधर किसी कार्यवश कलकत्ता पधारे थे। एक मित्र के यहां आपने 'संगीत' का वह अंक देखा और उसमें वह बंदिश उनकी नजरों में आई। उन्हें वह बंदिश बहुत पसंद आई; उस अंक को अपने साथ लेते गए। उस काल में हमारा बालमित्र कुमार गंधर्व उनके पास ही रहकर तालीम पाता था। देवधरसाहब ने कुमार को वह बंदिश सिखा दी। कुमारजी अक्सर लखनऊ आया करते थे। १९३६-३७ में जब वे लखनऊ आए तब उन्होंने हमारे गुरुबंधु एस्.सी.आर. भट को वह बंदिश सुनाई। उन्होंने कहा - "देखो भट, यह नई बंदिश मुझे काकाजी (देवधरसाहब) ने सिखाई है।" तबतक भट साहबको भी इसका पता नहीं था कि इसका रचनाकार कौन है। यों पं. भातखंडेजी की क्रमिक पुस्तक मालिका के छठे भाग में यह बंदिश तब तक छप गई थी; किंतु वह ग्रंथ उस समय हाल ही में प्रकाशित हुआ था और उसमें भी रचनाकार का नाम नहीं था। इसलिए बहुतों को उसका पता नहीं था। भट साहब को भी वह ग्रंथ तब तक देखने को नहीं मिला था। और न मुझे भी उसके बारे में कोई मालूमात थे और अण्णासाहब ने तब तक कभी इस इस बंदिश को गाया नहीं था। यों अपने अभ्यास के लिए किसी राग को नित्यप्रति गाने का उनका विधान रहता था। और मान लीजिए वे उस बंदिश को गाते तो भी उसकी ओर इस दृष्टि से देखनेवाला हमारा ज्ञान उस समय नहीं था। अस्तु। भटसाहब को कुमार ने वह बंदिश सुनाई और उन्हें वह बहुत प्यारी लगी।

दूसरे दिन भटसाहब गुरुवर से मिले तो सराहना के भाव से उन्होंने उन्हें बताया कि कल कुमार ने हमें एक बहुत बढ़िया बंदिश सुनाई; कोई पूर्वकल्याण राग वह बता रहा था। सब कुछ जानने के बाद अण्णासाहब ने मुस्कुराते हुए पूछा, "कुमार को यह बंदिश किसने सिखाई?" ... तब बातें खुल गईं और हम सबको इससे बड़ा सुख और आश्चर्य हुआ।

यहां प्रस्तुत राग के नामाभिधान के संबंध में कुछ बातें निर्णायक तौर पर बताना आवश्यक लगता है। 'पूरिया कल्याण' नाम से जो राग आजकल चलता है वह पूर्व कल्याण से न केवल भिन्न है, बल्कि उस राग की जमीन ही ढुलमुल है। कहने के लिए तो सब लोग दावा करते हैं कि पूरिया कल्याण बहुत पुराना राग है, लेकिन बात वैसी है ही नहीं। इसके लिए मैं सबूत भी दे सकता हूं। इसके संबंध में मेरी अनुभव की हुई बात मैं कहता हूं। उस्ताद अमीरखांसाहब यह बंदिश बहुत पहले गाया करते थे, हम लोग उनकी महफिलों में कई मर्तबा इसे सुन चुके थे। शायद वे इसलिए इस बंदिश को गाना पसंद करते थे कि उन्हें उसका हुलिया पुरानी पारंपरिक बंदिश की तरह लगता था। किंतु जब उन्हें पता चला कि यह रचना रातंजनकरजी की है तब से उन्होंने उसे गाना बंद कर दिया। यही हाल और भी कई एक उस्तादों का था, जिसका अनुभव मैंने स्वयं किया है। अस्तु, इस बात से यही सिद्ध होता है कि यह राग हमारे यहां पहले प्रचार में नहीं था। 'आज सो बना बन आई री मां' बंदिश बाद की बनी हुई बंदिश है – याने 'होवन लागी सांझ' के बाद। पूर्व कल्याण राग ही तो अण्णासाहब का बनाया हुआ है। अगर यह बंदिश बहुत पुरानी है तो क्या इस राग में कोई ध्रुपद और कुछ सादरे मिल सकते हैं? यदि राग पुराना होता उसमें एक से अधिक बंदिशों की रचना हो जाना जरूरी था। फिर कई घरानों में यह राग प्रचलित है ऐसा मान लिया जाए तो राग का प्रचलन एकम् एक बंदिश पर तो नहीं हो सकता। जैसे दूसरा उदाहरण लीजिए। 'रसिया हौं न जाऊं वाहू देश' यह मारु बिहाग की चीज है; लेकिन इसके अलावा और कोई भी चीज इस राग में नहीं मिलती। इसके मायने यही हैं कि अल्लादियाखां साहब ने उस राग की एक कल्पना बना ली और यह बंदिश रचा दी। इसे पहले यमनी बिहाग कहा जाता था। अल्लादियांखासाहब ने मारुबिहाग नाम प्रचलित किया। पूर्वा कल्याण भी एक नाम बनाया जाता है किंतु पूर्वा कल्याण हो या पूरिया कल्याण हो सब नाम कपोलकल्पित हैं क्योंकि रागरूप के साथ इन नामों का मेल ही नहीं बैठ पाता। जो भी गायक और वादक – मैं वादकों को भी इसमें लूंगा - पूरिया कल्याण के नाम से राग की अवतारणा करते हैं वे जबतक गंधार तक बढते हैं तब तक उसमें पूरिया की झलक रहती है किंतु ज्यों ही वे पंचम को छू लेते हैं त्यौं ही पूरिया की शक्ल गायब हो जाती है और पूरिया धनाश्री होने लगता है। फिर धैवत के परे जाने के बाद तो वे राग के स्वरूप को कतई कायम नहीं रख सकते। मेरा कहना है कि यदि हम राग के नाम के साथ न्याय बरतना चाहते हैं तो पूरिया कल्याण में कल्याण अंग भी स्पष्ट दीखना चाहिए और पूरिया अंग भी। गंधारपूरिया का जोरदार स्वर है और निषाद उसका संवादी बन जाता है। तो उसमें मं ग ध़ नि़ रे़ सा, ऐसी संगतियां आप लेते हैं और पूरिया खुलता है। लेकिन 'नि़ रे़ ग मं प' करने के बाद 'प मं ग मं रे़ ग' और 'रे़ ग मं प ग मं रे़ ग' करेंगे तो पूरिया धनाश्री की ही शकल उभरने लगती है। तो इस चर्चा का निष्कर्ष यह है कि पूर्व कल्याण नाम ही सही है और उसका प्रचलन हिंदुस्तानी संगीत के अंदर अण्णासाहब के द्वारा ही हुआ है।

अब 'आज सो बना' को ही लीजिए। उसका मुखड़ा ही कहता है कि यहां पूरिया का संबंध नहीं है। बाद में उसमें 'ए ऽऽ' करके 'ग' स्वरको लगाकर उसे पूरिया कर लेंगे लेकिन उस बंदिश में जो तानें समाविष्ट की गई हैं उनमें पूरिया की कोई स्पष्ट छाप नहीं दिखाई देती। इसके बारेमें एक दूसरा किस्सा बताता हूं। एक बार पं. जगन्नाथबुवा ऊर्फ गुणीदास के पास एक शागिर्द 'होवन लागी सांझ' बंदिश गा रहा था। बुवासाहब उसे उस बंदिश का विस्तार

समझा रहे थे। इसी बीच उनके शिष्य पं. सी. आर. व्यास वहां पहुंचे। शिष्य के जाने के बाद उन्होंने बुवासाहब को बताया कि यह बंदिश वह शिष्य ठीक से नहीं गा रहा था। बुवा भी बोले कि मैंने उसे नहीं सिखाई है, वह गा रहा था, तो उसका विस्तार मैं उसे समझा रहा था। किंतु व्यासजीद्वारा राग का सही चलन मालूम हो जाने पर बुवासाहब को भी अपनी भूल महसूस हुई। एक और बात यह है कि इस राग में जोड़ की बंदिशें भी बहुत कम मिलती हैं। यदि यह पारंपरिक राग रहता तो उसमें और और जोड़ की बंदिशें मिलतीं। एक इधर के वर्षों में बनी 'बहुत दिन बीते' वाली बंदिशों के सिवा और बंदिशें लगभग नहीं हैं। हां, अण्णासाहब ने बहुत दिन बाद उसमें एक तराना बनाया और तत्पश्चात् द्रुत त्रिताल में उन्होंने एक सुंदर बंदिश रचना बना ली।

उसके शब्द हैं –

धन धन भाग, जागे आज मेरे आगम भयो पीको मोरे आली।
गूंध लाओ री मालनियां,
सरस सुगंधित हरवा डारूं गरवा, प्रीत जताऊं॥

इस बंदिश में पूरिया कहीं नहीं दिखेगा आपको।

अन्य नूतन राग

पूर्व कल्याण की तरह ही एक गोपीबसंत नामका राग उन्होंने बनाया। उन्होंने 'दक्षिण' से 'गोपिका वसंत' नामक राग सुना था। उसीका यह हिंदुस्तानी शैली का रूप था। इस राग में सिर्फ अण्णासाहब की ही बंदिशें प्रचलित हैं। किंतु उन्होंने **'सालग वराळी'** नामक जो नया राग सर्जित किया उसका बहुत बोलबाला हुआ। वह प्रसंग ही सुनाने लायक है। जिक्र हो चुका है कि उनकी महफिल में अधिक संख्या प्राय: गायकों और कलाकारों की ही रहती थी। जब कहीं किसी 'सर्कल' में कोई खास प्रोग्राम रहता या ऐसा ही कोई महत्त्वपूर्ण सांगीतिक आयोजन रहता तो अण्णासाहब हर समय कोई न कोई नयी चीज श्रोताओं के सामने प्रस्तुत कर देते थे। १९४६-४७ की बात है। गर्मीकी छुट्टियां थीं। उन तीन महीनों में मैं दो महीने अण्णासाहब के साथ बम्बई रहता और एक महीना अपने गांव माता-पिता के साथ बिताता। इस प्रोग्राम का आयोजन मई महीने में हुआ था, जब मैं वहां नहीं था। हस्बमामूल कुमार जी वहां थे और भटसाहब थे। उस महफिल में अण्णासाहब ने 'सालग वराळी' सर्व प्रथम गुणिजनों को सुनाया। पहले उहोंने कुमार और भट जी को उसकी तालीम दी और तब दोनों को तंबूरे पर साथ में लेकर यह राग पेश किया। सामने बड़े बड़े गायकों की कतार बैठी थी, जिसमें विलायत हुसेनखां, खादिम हुसेन खां जैसे आगरा घराने के उस्ताद भी शामिल थे। अण्णासाहब पंचम तक बढ़ रहे थे, आलाप कर रहे थे, लेकिन मध्यम कहीं दीख नहीं रहा था और इधर तोड़ी का भी आभास हो रहा था। स्वरसंगति कोई ठीक शकल पकड़ में नहीं आ रही थी। श्रोताओं में हलचल शुरू हुई–"क्यों खांसाब, कौन-सा राग है?" "अमा, ठहरो कुछ आगे बढ़ने दो उन्हें" इस तरह की कानाफूसियां होने लगीं। इतने में अण्णासाहब ने शुद्ध धैवत लगाया और लोग चौकन्ने हो गए। तब अण्णासाहब ने सोचा कि इस संदिग्धता को बहुत तानना नहीं चाहिए; उन्होंने थोड़ा रुककर बताया कि इस राग में मेरी एक कल्पना

है। कर्नाटक संगीत में तोड़ी को 'वराळी' कहते हैं। उसमें किसी अन्य रागांग का 'लाग' देकर याने उसका 'स-लग' रूप बनाकर मैंने यह 'सालग वराळी' नामक राग का निर्माण किया है। इस नाम से कोई राग कर्नाटक संगीत में प्रचलित नहीं है, जैसा कि पंत वराळी आदि रागों के नाम सर्वज्ञात हैं। यहां मूल वराळी के साथ दूसरे-दूसरे अंगों का जोड़ देकर यह नया राग मैंने बनाया है।

अब इस राग में उन्होंने जो बंदिश बनाई थी उसने भी लोगों की हैरानी को बढ़ा दिया था। क्योंकि जोड़ की बंदिश के शब्द निहायत उस्तादी ठाठ से और भारी वजन से यों फब रहे थे कि बड़े बड़े गुणिजन यही समझ बैठे कि यह बंदिश सोलह आने पुरानी और पारंपारिक ही हो सकती है। बंदिश के शब्द देखिए–

मन सुमिर साहेब सुलतान आलम।
निजामुद्दीन औलिया, मन॥
कर याद नाम, परवर दिगार, करतार रच्यो संसार।
वही अप्रंपार॥ मन सुमिर .....

इसकी विलंबित उन्होंने की थी– 'आज बधाई बाजे नंद महलमो सखि जनम पियो ब्रिजराज कुंवर' (एकताल)। तो बंदिश में अण्णासाहब शब्दों की योजना भी खास ढंग से करते थे। उनकी बंदिशों की मुख्य विशेषता यह थी कि वे एक ओर परंपरा से जुड़ी हुई थीं तो दूसरी ओर उनमें नये युग की कल्पनाएं भी थीं। यों कहा जाए कि उन्होंने पारंपारिक बंदिशों की धारा को ही आगे बढ़ाया। इसका श्रेय उनके भीतर जो गवैयापन था उसे देना चाहिए। दूसरी बात यह कि उनमें अध्ययनशील वृत्ति जबर्दस्त थी। खैर तो इस राग की विलंबित और द्रुत बंदिशों को और राग को खास तौर पर कुमारजी ही प्रचार में लाए। आकाशवाणी के कार्यक्रमों में, महफिलों में, सर्वत्र उन्होंनें इस राग की धूम मचा दी थी।... यहां मैं जाते-जाते इसी राग से संबंधित और कुमारजी की अध्ययनशील वृत्ति पर प्रकाश डालनेवाला एक संस्मरण बताना चाहूंगा। कुछ १५ एक साल पहले बंबई म्युनिसिपल अकेड़मी में कुमारजी का प्रोग्राम था। हम सब उसमें उपस्थित थे। चाय के वक्त कुमारजी मुझे थोड़ा किनारे ले गए और मुझसे पूछा, "छोटू, तुमसे एक बात पूछनी है। सालगवराळी में निषाद शुद्ध लगती है?" मैंने कहा, "नहीं तो" तब वे बोले, "हमारे पास अण्णासाहब के हाथ के लिखे हुए आलाप हैं। उसमें उन्होंने शुद्ध निषाद लिखा है।" मैंने कहा–"वह काफी अंग से चढ़ी हुई निषाद है, इसलिए शायद उन्होंने शुद्ध निषाद लिखा होगा। तब उन्होंने बताया, "वसुंधरा ने (पत्नी ने) मुझे सालगवराळी सिखाने का आग्रह किया था। तब मैंने उसे कहा कि नहीं, मैंने बहुत सालों से इस राग को गाया नहीं है। मैं बंबई में छोटू से पूछ लूंगा, बाद ही में तुम्हें सिखाऊंगा।" यह थी उनकी ईमानदारी।

अण्णासाहब की बंदिश रचना के संबंध में एक और विशेष बात को रेखांकित करना आवश्यक है। इससे अन्य रचनाकारों को भी कुछ मार्गदर्शन प्राप्त हो सकता है। अण्णासाहब शौकिया तौर पर उठते बैठते बंदिशें बनानेवाले रचनाकार नहीं थे। उनके पास कल्पनाएं, साहित्यज्ञान, भाषाप्रभुत्व, शब्दभंडार और नायकी भरपूर मात्रा में थी। किंतु उन्होंने बंदिशों की रचना के संबंध में तीन दृष्टिकोण अपनाए थे और अंततक उनपर अमल करते रहे। सबसे प्रथम, जिन

रागों में उस जमाने में बंदिशों का अभाव था यानी बंदिशें संख्या में बहुत कम थीं उनकी पूर्ति करने का प्रयास उन्होंने किया। उदाहरण के लिए देसी राग में बंदिशें बहुत कम थीं और आज भी कम ही हैं। 'म्हारे डेरे आओ' ही हम बार बार सुनते हैं और उसके साथ 'मोरा मन हर लीनो' का जोड़। ऐसे और कई राग उस जमाने में 'अप्रचलित' के अंतर्गत आते थे। जैसे नारायणी राग। पं. भातखंडेजी ने इसे दक्षिण में ही सुना था और उसका एक लक्षणगीत बनाया था। - *'नारायण को नाम भज रे मन मेरे ।'* इसके अलावा नारायणी में ख्याल-व्याल कुछ थे नहीं। तब अण्णासाहब ने 'सहेलरियां गाओ री आज' यह द्रुत ख्याल पहले बनाया और *'बमनारे विचार। सगुन भलो री भलो । बालम मेरा परदेसी अत बेधल होत जिया।'* यह विलंबित ख्याल बाद में बनाया, जिसे आजकल श्रीमती मालिनी राजूरकर प्राय: अपनी महफिलों में गाती हैं; जिसकी दीर्घ ध्वनिमुद्रिका (एल.पी.) भी बनी है।

दूसरा उद्देश्य यह था कि किसी राग में बंदिशें तो पर्याप्त हैं। किंतु उस राग का कोई ऐसा सौंदर्यात्मक पहलू है जिसे उद्घाटित करनेवाली बंदिश नहीं है, तो उस पहलू को लेकर वे बंदिश की रचना करते थे। याने किसी राग में कोई स्वरसंगति है जो उस राग का कोई नया ही रंग प्रकट करती है, तो अण्णासाहब उस स्वरसंगतित को रेखांकित करनेवाली बंदिश बनाते थे। उदाहरणार्थ बताता हूं। केदार राग तो बहुत प्रचलित है, उसमें बीसों बंदिशे हैं। लेकिन अण्णासाहब के मन में विचार आया कि मध्यम इसका वादी स्वर है, यह तो ठीक है, लेकिन हम उसके साथ पंचम को क्यों न बढ़ाएं? इस विचार से उन्होंने बंदिश बनाई–

हे ऽ जगत उधार, हे ऽ करतार।
भवभय हार, सब कुछ सार, तुम हो अपार॥
जपत हूं नाम पावन सहज, आनंद पावे, चित मोह सुजान॥

इसी प्रकार केदार में उन्होंने और एक बंदिश बनाई– 'बिरज में रास रच्चो है आज। धूम मची है जमुना तट पर।' इसमें सा नि ध प म का जो प्रयोग मिलता है उसके उदाहरण कहीं नहीं मिलते। इस प्रकार कुछ नया कहना हो, कोई नई सूझ अगर मिले तो उसे प्रकाशित करने के लिए उन्होंने बंदिश बनाई। इसमें 'जमुना तट पर' के गायन में 'तट पर' के लिए 'सा नि ध प म' की योजना कितनी मोहक है।

अण्णासाहब के बनारस के एक मित्र थे, जो उनके शिष्य भी थे, श्री महादेवराव सामंत और जिनका पं. भातखंडेजी से भी संबंध रहा। उन्होंने अण्णासाहब की बंदिशों का गहरा अध्ययन किया है। उनकी बेटी भी गाती है, श्रीमती मंजु सुंदरम्। वसंत कालेज बनारस में प्रोफेसर हैं। वह भी गाती हैं, अणासाहब के पास और मेरे पास सीखी हैं। एक बार श्रीमान सामंतजी ने अण्णासाहब को पत्र में लिखा– ''अण्णाजी, भटियार राग में इस 'उचट गई' बंदिश से अब जी उचट गया। उस 'बरनी न जाइ' का भी अतिरेक हो गया। इन बंदिशों के अलावा कोई नई बंदिश बनाइए न!'' इसपर अण्णासाहब ने मुझे और भटसाहब को कागज पेन्सिल लेनेको कहा और बंदिश बन गई–

'कहियो ब्रिजराज, महाराज। रैन कहां ते गँवाई डगमग चाल॥' लेकिन वहां भी उन्होंने मांड के अंग को उसमें प्रबल दिखाकर एक नया आयाम सर्जित किया।

प्रो. गोविंद नारायण नातू, जो लखनऊ में उपप्राचार्य थे, के साथ अण्णासाहब के बंदिशों

में जवाब चलते, तो भटियार राग की एक बंदिश को लेकर बात छिड़ गई। उन दिनों कुमारजी 'दिन गए बीत सुख के' की बंदिश बहुत गाते थे। इस बंदिश में नायिका की निराशामय दशा का वर्णन है। वह विह्वलता से अपनी पीड़ा व्यक्त करती है। आगे शब्द हैं—

दिन गए बीत दुख के री। पड़ गई लीक स्मृति की मनपटल पै।
अब कौन उपाव मिटाऊं, जतन सब हारे॥

तो प्रो. नातू ने इस बंदिश को सवाल के रूप में अण्णासाहब के सामने फेंक दिया। तो उसके जवाब में अण्णासाहब ने दार्शनिक भाव से भरी एक बंदिश रच डाली, जो आगे बहुत लोकप्रिय हो गई।

तनिक सुन री सत वचन अब। सुख कल्पना दुख कल्पना।
कल्पना ही मन की॥ मन वासना मिटाए, मिटत सब बंद॥
जग जीवन जंजाल भरम को। ताको पार लगाए।
लगे नहीं हाथ कछुहू।
मन अधीन किए सो होत अपार आनंद॥

भाव यह है कि यह सब तुम्हारे मन की वासना है, उसीपर काबू पा जाओ, तो तुम मानसिक पीड़ा से बच सकती हो। इसलिए कहा– 'कछु मन अधीन किए सो होत अपार आनंद।' इस तरह उन्होंने साहित्यिक रचना का जवाब तो दे ही दिया, साथ साथ भटियार में 'ललित' राग का यत्किंचित् 'लाग' देते हुए इस राग को और ज्यादा समृद्ध किया।

याने इस प्रकार एक ही राग में अण्णासाहब की ५-६ बंदिशें भी मिल सकती हैं। और गौड़ मलार में तो उनकी १५-१६ बंदिशें हैं। किंतु सब एक दूसरी से अलग हैं।

एक बार राजाभैयाजी ने राग हमीर की 'चमेली फूल चंपा' को लेकर फरमाइश की (मराठी में)– 'बाबूराव, ह्या चिजेला द्रुत नाही आहे.' अर्थात् इस बंदिश के साथ कोई जोड़वाली द्रुत चीज नहीं मिलती। तब अण्णासाहब ने "मन मोहन ब्रिजराज दुलारो" की बंदिश बनाई। इसी तरह राजाभैयाजी के अनुरोध पर उन्होंने यमन राग में टप ख्याल की भी बंदिश बना दी और 'करीम करतार करतार गरीब नवाज सुनो अरज मोरी आज' यह अति मनोहर जोड़ भी उसके साथ बना दिया।

इस प्रकार अण्णासाहब का मन-मस्तिष्क सांगीतिक कल्पनाओं से भरा रहता था, मानो उनका मन झरने की तरह था। जिस किसी कद्रदान को जरूरत महसूस हो वह उनसे मनमुताबिक बंदिश प्राप्त कर सकता था। ऐसा ही एक वाकया श्रीमान वि. द. अंभईकर के साथ हुआ, जो बंबई में आकाशवाणी पर प्रोड्यूसर थे और आज अवकाश ग्रहण कर चुके हैं। उन्होंने एक राग 'यमनी हिंडोल' के नाम से बनाया था। राग का स्वरूप तो उनके मन में स्पष्ट था किंतु बंदिशें बनाने का अनुभव न होने से वे अड़ गए थे। उन्होंने एक बार अण्णासाहब को घर पर पधारने का अनुरोध किया और उन्हें अपनी अड़चन बता दी। अपनी कोशिश के तौर पर वे अपने नए राग में शुद्ध कल्याण की 'बोलन लागे पपीहरा' बंदिश गाकर सुनाने लगे। अण्णासाहबने कहा, "अंभईकरजी, आप भूल रहे हैं, इतनी प्रसिद्ध बंदिश को आप अपने राग में फिट कर रहे हैं।" तब उन्होंने अपनी मजबूरी बता दी और उसके बाद अण्णासाहब

ने उन्हें विलंबित और द्रुत की बंदिशें वहीं की वहीं बना दीं।

उल्लेखनीय बात यह है कि अण्णासाहब की यह सर्जनात्मक प्रतिभा आखिर तक वैसी ही बनी रही।

अवकाशग्रहण के बाद जब वे श्रीवल्लभ संगीतालय में मानद निदेशक बनकर रहे तबकी घटना बताता हूं। विद्यालय में त्र्यंबकराव जाधव नामके तबला और सितार के अध्यापक थे। उन्हें सितार सिखाने के लिए कुछ नई नई गतें चाहिए थीं। उन्होंने पं. एस्.सी.आर. भट से इसके बारेमें कहा, तब वे बोले– "तुम अण्णासाहब से क्यों नहीं पूछते?" किंतु जाधवजी तो अण्णासाहब से बात करने तक से डरते और हिचकते थे। भटसाहबने उन्हें तरीका बताया तब उन्होंने अण्णासाहब से कहा– "पंडितजी, आप हमारी क्लास में चलिए ना।" यह उन्होंने इसलिए कहा कि उन्हें मालूम था कि अण्णासाहब कुछ अध्यापकों की कक्षाओं में जाके बैठना पसंद करते थे। जाधवजी की बात सुनकर अण्णासाहब को संतोष हुआ। बाद में जाधवजी को उन्होंने ४५ रागों में विलंबित और द्रुत लय की गतें बनाकर दे दीं। यही नहीं त्र्यंबकराव से उन्होंने यह भी कहा कि इन गतों को अपने नाम पर छाप दीजिए। याने इतनी रचनाएं बनाकर भी उनका श्रेय वे जाधवजी को देने के लिए तैयार थे।

अपनी बंदिशों में सुर और शब्द का संतुलन रखने पर अण्णासाहब का बड़ा ध्यान रहता था। यह तो उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। इसकी वजह यह है कि उनका सुर और शब्द, दोनों पर प्रभुत्व था। अत: उनकी बंदिशों में बराबर शब्द और सुर का चोली दामन का साथ रहता था और साथ ही गवैयापन। उनकी बंदिशों को गाते समय किसी को क्लेश, विसंवाद या विसंगति का अनुभव नहीं होगा। कोई भी बंदिश लीजिए। झिंझोटी राग की प्रसिद्ध बंदिश को ही लीजिए -

मेरो मन सखी हर लीनो सांवरिया ने। सुंदर सूरत अत रंगभरी चितचोरी।
सुधबुध बिखर गई मोरी सारी॥
(अंतरा) सोवत जागत मन लागी रहत नित। कछु नाही मोहे अब
सूझबूझ आज, लाजकाज देखि देखि री मैं भई वाके चरनन की चेरी॥

यानी जैसी इस बंदिश की स्वरसंगतियां हैं इसीके अनुसार उसके शब्दों की रचना भी है। इसीलिए वह अधिक प्रभावी हो जाती है। लेकिन उसमें एक शर्त है कि इन बंदिशों का गायन मात्राओं को गाने जैसा नहीं होना चाहिए। इन बंदिशों में खास खास विराम-स्थल रहते हैं। उनका प्रयोग करते हुए बंदिश का गायन होना चाहिए। इन विराम-स्थलों (Pauses) की खासियत यह मिलेगी कि वे एक साथ भाव को भी उभारते हैं और लय के सौंदर्य में भी वृद्धि करते हैं।

असाधारण रागप्रभुत्व

एक ही बंदिश को दो रागों में प्रस्तुत करने का भी चमत्कार अण्णासाहब ने किया है। किंतु उसमें सांगीतिक दृष्टि से कोई व्याघात नहीं पैदा हो सकता था। क्योंकि उन्होंने ऐसा केवल तभी किया है जब वैसा करना उनके लिए अत्यावश्यक हो गया। और जहां उन्होंने इस तरह का प्रयोग किया वहां भी वे सौ प्रतिशत सफल रहे हैं। क्योंकि शब्द और सुरपर ही नहीं, रागों पर भी उन्होंने उतना ही अधिकार हासिल कर लिया था। अब इसके लिए उनके जीवन

का एक अद्‌भुत प्रसंग बता देता हूं। ग्वालियर में बरसों से प्रतिवर्ष तानसेन समारोह मनाया जाता है। १९५७ की बात है। उन दिनों ठाकुर जयदेवसिंह आकाशवाणी दिल्ली पर चीफ प्रोड्यूसर थे। उस कार्यक्रम में डॉ. बी. वी. केसकर ने एक कार्यनीति बनाई थी कि समारोह के प्रत्येक सत्र की शुरुआत तानसेन रचित एक ध्रुपद के सामूहिक गायन से हो जाए और तत्पश्चात कलाकारों के एक एक कार्यक्रम प्रस्तुत किए जाएं। इस तरह से यह आयोजन दो-तीन दिन चलता था। व्यवस्था के अनुसार ठाकुर जयदेवसिंह वगैरह ने कुछ ध्रुपद चुने थे– अलग अलग समय के रागों में। अन्यान्य संस्थाओं के संचालकों के पास उन्होंने ध्रुपद स्वरलिपिसमेत भेज दिए थे और कतिपय संस्थाओं ने अपने ध्रुपद समूहगान के रूप में तैयार भी किए थे।

इन समारोहों के क्रम में इस वर्ष (१९५७) अण्णासाहब को अपने शिष्यों समवेत निमंत्रित किया गया था। उसमें आपका गायन भी निश्चित हुआ था। अण्णासाहब ने मारवा ठाठ के विभास में दो बंदिशें बनाईं, जिनमें तानसेन प्रशस्ति थी। 'रहे नाम तेरो' इन शब्दों से उसका आरंभ है और द्रुत के बोल थे– ''बंधा समां...'' उन दिनों मैं बंबई के भारती विद्याभवन में अध्यापक था। मैंने भी वहां से अपना एक गुट्ट तैयार किया था। अण्णासाहब ने मुझे पत्र लिखा कि तुम पंजाब मेल से आ रहे हो तो मैं भोपाल स्टेशन पर तुम्हारे साथ हो लेता हूं। वह खैरागढ़ से आनेवाले थे। इस प्रकार हमारे दो ग्रुप भोपाल से एक साथ झांसी तक चले। भोपाल से जब गाड़ी चली तब झांसी तक अण्णासाहब ने रेलगाड़ी में ही मुझे दो रचनाओं की तालीम दी। मेरे हाथ में कागज देते हुए कहा, ''गाओ इसको'' फिर उसमें सुधार कराते हुए उन्होंने वे बंदिशें मुझे सिखा दीं। हम ग्वालियर गए। वहां दिल्ली गांधर्व महाविद्यालय के प्राचार्य पं. विनयचंद्र मौद्‌गल्य अपना 'ट्रूप' लेकर उपस्थित हुए थे। विनयचंद्र जी अण्णासाहब को बहुत मानते थे और उन्होंने उनको अपनी संस्था की सलाहकार समिति पर भी रखा था। अण्णासाहब को उन्होंने अनेकों बार दिल्ली निमंत्रित किया था, उनके भाषण कराए थे, अनेक चर्चा-सत्रों में उनको ससम्मान सहभागी किया था। तो अण्णासाहब के पास विनयचंद्रजी गए और कहने लगे, ''पंडितजी मैंने तानसेन का एक ध्रुपद 'खट' राग में समूहगान के लिए तैयार किया है, कृपया इसमें कुछ सुधार की जरूरत हो तो एक नजर आप हमारे समूह को सुन लें और इसे देख लें।'' तो अण्णासाहब तुरंत उनके गुट के स्थान पर गए। उन्होंने खट राग के खास स्वरोच्चारण के बारे में छात्रों को समझाना शुरू किया तो छात्रों को वह सब इतना बेढंगा लगा कि वे हंसने लगे। खैर, अण्णासाहब अपने कमरे में लौट आए, उन्होंने मार्गदर्शकों से इतना ही कहा कि इस ध्रुपद की अवतारणा इसी प्रकार होनी चाहिए।

'विभास' से 'खट'

इसके बाद रात हमने खाना खा लिया। सुबह हम उठे तो अण्णासाहब कहने लगे कि देखो वह मैंने विभास की जो चीज बनाई है, उसे मैं 'खट' में ही गा रहा हूं आज। और क्या आश्चर्य देखते ही देखते उन्होंने विभास की बंदिश के उन शब्दों को तुरंत 'खट' में फेर दिया! मुझे समझाया कि देखो इस तरह से इसे गाना है। उस समय हमारे खेमेके आवास में विलायत हुसेनखां, निसारहुसेनखां, मुश्ताकहुसेनखां, हाफिज अलीखां, सब गुरुजन बैठे हुए थे। उन सबकी उपस्थिति में उन्होंने 'खट' गाया। गजाननबुवा तो इसपर इतने लट्टू हो गए कि उनके पीछे पड़ गए कि अण्णासाहब वह चीज हमको सिखाइए। और बहुत प्रभावी ढंग से उनका वह

गायन संपन्न हुआ। यहां सोचने की बात यह है कि हिंदुस्तानी संगीत की गायकी में 'खट' एक अत्यंत बीहड़ राग माना जाता है। उसमें होनेवाले छः रागों के एकरूप सम्मिश्रण का साधिकार निर्वाह करना बड़े बड़े गवैयों के लिए भी कष्टप्रद मालूम होता है। इसीलिए इस राग में 'विद्याधर गुनियन' को छोड़ और कोई दर्जेदार बंदिश देखने को नहीं मिलती। इधर डॉ. अण्णासाहब रातंजनकर हैं कि मारवा ठाठ के विभास राग में मूलतः रची हुई बंदिश को बड़े बड़े बुजुर्ग गुनिजनों की उपस्थिति में खट राग में यों गा देते हैं कि मानो बंदिश वस्तुतः मूल में इसी राग में बन गई हो। ऐसा था अण्णासाहब का राग-प्रभुत्व!

अण्णासाहब की विशेषता यह थी कि उनके भीतर का रचनाकार हमेशा जागृत रहता था। उसे छेड़ने भर की देरी थी कि वह एकदम सन्नद्ध हो जाता था और रसिक जनों को एक अत्यंत सौंदर्यपूर्ण रचना का लाभ मिलता था। एक बार गुरुवर पोस्ट ग्रेज्युएट की क्लास ले रहे थे। उन्होंने देवगिरी बिलावल का विलंबित ख्याल सिखाना आरंभ किया था। उन्हें गैसेस की तकलीफ रहने के कारण वे प्रायः एक जगह पर बहुत कम बैठते थे, बीच बीच में चहलकदमी करते हुए पढ़ाया करते। तो उस दिन उस क्लास में भटसाहब ने अनुरोध किया कि अण्णासाहब हमें देवगिरी बिलावल की द्रुत बंदिश नहीं मिलती। आप हमें सिखाइए। अण्णासाहब ने तत्काल त्रिताल का ठेका पकड़ने को कहा और घूमते घूमते एक तराने की रचना कर दी और उसे सिखा दिया। और इस राग का यह तराना सभी गान-साधकों के लिए अत्यंत प्रिय हो गया है।

एक बार गर्मियों की छुट्टियों में आकाशवाणी बम्बई पर अण्णासाहब का प्रोग्राम था। याने जब आप छुट्टियों में बंबई आते, तो प्रोड्यूसर दिनकरराव अमेंबल उन्हें 'बुक' कर देते। एक ही दिन में सुबह, शाम और रात की तीन बैठकों में गाने की पद्धति उन दिनों थी। क्योंकि सभी कार्यक्रम सीधे प्रसारित होते थे। अग्रिम रूप में ध्वनिफीती पर रिकार्डिंग कर रखने की व्यवस्था उन दिनों शुरू नहीं हुई थी। तो अण्णासाहब का सुबह का गाना प्रसारित हुआ। फिर शाम को साढ़े पांच बजे का प्रसारण हुआ। अब रातको सवा दस से ग्यारह तक के आखिरी प्रसारण के लिए फिर आना था। मैं और अण्णासाहब के छोटे भाई गजाननराव हम दोनों अण्णासाहब के साथ थे। सोचा गया कि शाम साढ़े छः से रात के दस बजे तक के बीच दूर घर जाकर फिर यहां लौटने के बजाय वहीं कहीं पास में वक्त बिताया जाए। हम लोग लिफ्ट से नीचे उतर रहे थे। संगीत विभाग के प्रोड्यूसर श्री दिनकरराव अमेंबल भी घर जाने के लिए उसी लिफ्ट में आए थे। उन्होंने अण्णासाहब को देखा तो प्रणाम किया और कहा– "पंडितजी, बहुत बढ़िया सुरीला प्रोग्राम रहा आपका। लेकिन .... मेरी एक फर्माइश है। मुझे आपसे साजगिरी सुननी है। कभी मौका निकालेंगे तो बहुत भला होगा।"

दिनकरराव जी विदा हुए और घूमते-टहलते क्रॉस मैदान की तरफ गए। मैदान पर स्व. गोपाल कृष्ण गोखलेजी का जो पुतला है, वहां नीचे बेंच पर हम लोग बैठे। मैं और गजानन कुछ इधर-उधर की बातें कर रहे थे और अण्णासाहब अपने किसी विचार में मशगुल थे। बीच में उन्होंने कहा– "कुछ कागज पेन्सिल है?" गजाननराव ने डाक के लिफाफेनुमा कोई अधूरा टुकड़ा उन्हें दिया। उसपर अण्णासाहब ने कुछ शब्द लिखे। बीच में पास की दूकान पर हमने चाय ली और बेंचपर आके बैठ गए। अण्णासाहब ने मुझे पास बैठने को कहा। कहा कि मैं जो बता रहा हूं वैसा गाओ। राग का नाम तो बताया नहीं। वे गवा रहे थे। वहीं

बैठे बैठे उस बंदिश की तालीम उन्होंने मुझे दे दी और इसी तरह समय बिताते हुए हम करीब पौने दस बजे स्टुडिओ पहुंचे। वहां आधा घंटा पहले पहुंचना था। सुपरवाइजर रत्नकांत रामनाथकर ने पूछा– "क्या गाएंगे आप? एनाउन्समेंट लिखवानी है।" "साजगिरी लिखिए विलंबित एकताल और तराना त्रिताल में।"

दूसरे दिन सुबह आपको बताऊं दिनकररावजी दौड़ते हुए उनके घर पर आए (मैं अण्णासाहब के साथ ही रहता था) और उनके चरण पकड़ कर बोले– "पंडितजी, आज मुझे साजगिरी सुनने को मिली।"

दूसरे एक प्रसंग पर इसी तरह श्री. दिनकरराव अमेम्बल ने अण्णासाहब से 'हेम-नट' की फरमाइश की। उस वक्त दो ही बैठकें उनकी थीं। रात के कार्यक्रम के लिए उनके घर पर गाड़ी आती थी। रेडियो स्टेशन जानेपर उन्होंने एनाउन्समेंट के बारे में हिदायत देते हुए कहा कि इसे हेम-नट करके घोषित न करते हुए 'नट का एक प्रकार' कहकर घोषित कीजिए। इसके पीछे कारण यह था कि अल्लादियाखांसाहब के घराने के गायक तथा आग्रा घराने के गायक 'हेम-नट' गाते हैं लेकिन उसका स्वरूप हेम और नट इन दो रागों के संयोग जैसा नहीं प्रतीत होता। तो उनके हेम-नट पर आक्षेप न आए इस हेतु अण्णासाहब ने उसे नट का एक प्रकार कहलवाया। लेकिन वस्तुत: वह हेम-नट ही गाए थे। इसका सबूत उनकी रचना में मिल सकता है। इस प्रकार अण्णासाहब का रागज्ञान और रचनाकौशल उच्च कोटि का था। अब जैसे मीराबाई की मलार, चंडी की मलार, चंचलसस मलार, परजू की मलार जैसे राग गानेवाले आज कोई नहीं मिलेंगे। लेकिन यदि अण्णासाहब को फरमाइश की जाती तो इन रागों के सही रूपों के दर्शन आपको निश्चय ही प्राप्त होते। मैं यह दावे के साथ कह सकता हूं कि उनके जमाने में उनके जोड़ का विद्वान गायक कलाकार दूसरा कोई नहीं था। उस्ताद फैयाजखांसाहब तक उनको मानते थे। अपने शिष्योंसे वे कहते थे- "श्रीकृष्णा के सामने गाने में बहुत डर लगता है।" यह हमारी सुनी हुई बात है, कल्पना की बात नहीं। लखनऊ पधारते तब कहा करते- "भैया, यहां गाना यानी जरा समझ के गाना पड़ेगा। यहां हमारे श्रीकृष्णा के शागिर्द जो हैं!" इसका मतलब इतना ही है कि खांसाहब की यह भावना थी कि हमारी कला की सच्ची कद्र करनेवाले यहां मिलते हैं। साधारण श्रोता तो उनकी हर हरकत पर 'वाह वाह' करेंगे किंतु 'ये क्या गा रहे हैं और कैसे गा रहे हैं' इसकी भीतरी परख रखनेवाले श्रोता उन्हें लखनऊ में पक्के तौर मिल सकते थे।

जागृत प्रतिभा

अण्णासाहब के नवरागनिर्माण और नई बंदिशों को जानने और सुनने का अवसर तो उनके शिष्यों को समय समय पर मिलता ही था, किंतु इस मामले में मैं बहुत ही बड़भागी रहा हूं। अण्णासाहब की प्रत्येक बंदिश का गवाह और संग्राहक मैं रहा हूं। वे तो मुझे अपनी बंदिशों का 'सेफ डिपाजिट वॉल्ट' कहा करते थे। और उन दिनों मेरी स्मरणशक्ति भी गजब की थी। छात्रदशा में तो और भी अधिक! एक बार सुनी हुई बंदिश मेरे जेहन में तुरंत दर्ज हो जाती थी। इसलिए जब अण्णासाहब कोई बंदिश बनाते तब उसकी पांडुलिपि नोटेशन के साथ सबसे पहले मेरे पास पहुंच जाती थी। वह कहा भी करते कि एक बार यह बंदिश छोटू के 'सेफ डिपाजिट वॉल्ट' में जमा हो जाए तो वह सुरक्षित हो जाती है। कभी भी हम उसकी निकासी

(withdrawl) कर सकते हैं। मैं उनके साथ ही रहता था, तो बंदिश के बनते ही वे मुझे सुना देते और मैं अपने पास नोट करके रख देता। जब वे लखनऊ से बाहर रहते तब डाक से वह बंदिश मेरे पास पहुंचती। उसपर हमेशा उनका एक नोट रहता- "If you like it, preserve it. If you want any alteration, you are free to do it. If you do not like it, throw it into the waste paper basket." [तुम्हें पसंद हो तो रख लो। यदि उसमें सुधार चाहते हो, तो तुम अपने तईं कर सकते हो। अगर नापसंद हो तो इसे फाड़कर फेंक देना।] तो इस कदर अण्णासाहब को मुझमें विश्वास था।

अण्णासाहब की रचनात्मक प्रतिभा इतनी जागृत रहती थी कि जब वे रेलयात्रा पर रहते थे - और ऐसा कई बार होता था - तब अपने फर्स्ट क्लास के एकांत में उनका संगीत-चिंतन चलता रहता था और उसीमें किसी नई बंदिश की रचना बन जाती थी। ऐसे अवसर पर हमारे गुरुवर आनेवाले स्टेशन पर उतर पड़ते और पोस्ट कार्ड पर वह बंदिश लिखकर मेरे पते पर पोस्ट बक्स में डाल देते। इसका एक सबूत भी बताए देता हूं। आकाशवाणी के 'चेन बुकिंग' वाले कार्यक्रमों के सिलसिले में अण्णासाहब दौरे पर थे। राजकोट में उनका कार्यक्रम था। उनके साथ पं. सी. आर. व्यास भी थे (जिनका जिक्र अबतक हो चुका है और जिन्हें इधर 'पद्मभूषण' की उपाधि से भूषित किया गया है)। सौराष्ट्र की उस यात्रा में अण्णासाहब की कुछ बंदिशें बन गईं। उन्होंने वे बंदिशें पोस्ट कार्ड पर लिखीं और व्यासजी के हाथ में थामकर उनसे कहा कि जाके इसे पोस्ट करो। व्यासजी स्टेशन पर उतरे। खुला पोस्ट कार्ड था, सो उन्होंने उसपर नजर दौड़ाई। देखा तो कुछ स्वरलिपियां लिखी हुई हैं और कार्ड पर मेरा पता है। कार्ड को डालकर व्यासजी आए तो उन्होंने कौतूहलवश पूछा कि ये नोटेशन आप छोटू को क्यों भेज रहे हैं? अण्णासाहब बोले, "हां, तो क्या हुआ? मेरी भाषा समझता है वह।" तो इतना विश्वास था उनका।

और इस विश्वास के फलस्वरूप उनकी किताबों की पांडुलिपि बनाना, उनके प्रूफ जांचना आदि की जिम्मेदारी बराबर मेरी रही। यह तो नहीं था कि हरेक बंदिशें मेरे सामने बनी हो। मेरे परोक्ष में भी कई एक बंदिशें बनती थीं। लेकिन उन सबकी रचनात्मक विशेषता को मैं तुरंत समझ जाता था। क्योंकि उनकी कल्पना क्या है, वे क्या कहना चाहते हैं, इस मैं भलीभांति जानता था। इसीलिए जब कभी फुरसत के वक्त हम दोनों साथ बैठते या कभी सफर करते होते तो वे कहते, "वह मेरी फलानी चीज जरा सुनाओ तो।" या कॉलेज पर कोई मेहमान आते और उन्हें अपनी कोई रचना वे सुनाना चाहते तो मुझे पुकारते और कोई खास बंदिश सुनाने के लिए कहते। वह यह भी कहा करते कि मैं जो कहना चाहता हूं वह तुम्हारे गले से प्रभावी बनकर आता है। इन सारी घटनाओं की वजह से उनकी तमाम बंदिशें मुझे कंठगत हो गई थीं।

वस्तुत: अण्णासाहब की बंदिशों का पुस्तक रूप में प्रकाशन बहुत पहले हो जाना चाहिए था। अण्णासाहब इसके लिए बहुत उत्सुक नहीं थे। हम शिष्यों ने और हितैषियों ने उन्हें उसके लिए आग्रह किया। उसका भी एक कारण था। हुआ था यह कि चूंकि अण्णासाहब

.....

* *इस पत्र की हस्तलिपि परिशिष्ट में है।*

अपनी बंदिशों में अपने नाम की मुद्रा हर समय नहीं रखते थे, इसलिए उनकी बंदिशों को पारंपरिक बंदिशें समझकर लोग उन्हें गाने लगे थे। उनके बनाए एकाध नए राग की भी कुछ ऐसी ही हालत हो रही थी। अब मसलन 'गोपीबसंत', जिस विषय में बताया गया है। वस्तुत: यह राग दक्षिण के 'गोपिका वसंत' के ढर्रे पर अण्णासाहब ने निर्मित किया था। वह राग इतना चलने लगा कि कइयों ने उसमें बंदिशें भी बना डालीं; यह समझकर कि चलो इस पारंपरिक राग में हम भी अपनी रचना बनाएं। याने इस राग का सर्जन डॉ. रातंजनकरजी ने किया है, इसका ज्ञान उन्हें नहीं रहता था। हम सबने सोचा कि यदि ऐसा ही होता रहा तो संगीत-क्षेत्र की दृष्टि से वह हितकर नहीं और गुरुवर के लिए अन्यायकारक भी है। फिर १९४९ में 'अभिनव गीत मंजरी' का पहला भाग प्रकाशित हुआ, जिसमें ७५ बंदिशें संग्रहीत हैं। उसके बाद १९६१ में 'अभिनव गीत मंजरी' दूसरे भाग का पूर्वार्ध और १९६२ में उत्तरार्ध प्रकाशित हुआ।*

अण्णासाहबे के पास समस्त रागों की ओर विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक दृष्टि से देखने की अद्‌भुत सामर्थ्य थी। उनकी दूसरी विशेषता उनकी थी रचनात्मक प्रतिभा। इसे केवल अपूर्व ही कहना होगा। वे बैठे हैं, शिष्य या कोई एक राग गा रहा है, ये सुन रहे हैं और बीच में ही इनके मन में कोई प्रेरणा जाग उठती थी और उस एक राग को सुनने के सिलसिले में ही मन में किसी और राग के आलाप तैयार हो जाते थे। उनके राग-ज्ञान की ऐसी गहराई और ऐसी विशालता थी कि श्री वल्लभ संगीतालय में मेरी कक्षा के समय अण्णासाहब ने शंकरा को सुनते हुए यमनी बिलावल का तराना रच डाला था। एक घटना 'रजनी कल्याण' राग से संबंधित है। स्व. पं. शंकरराव बोड़स को तो जानते ही हैं, पं. विष्णु दिगंबरजी के शिष्य और कानपुर के गांधर्व विद्यालय के संचालक आकाशवाणी के प्रोग्राम के सिलसिले में अक्सर लखनऊ आया करते। हमारे साथ ही ठहरते। उन दिनों यात्रा-व्यय की बचत के लिए बाहर के कलाकारों के एक साथ दो कार्यक्रम प्रसारित हुआ करते थे, पहले दिन को और फिर तीसरे दिन को। एक दिन बीच का खाली रहता था। तो फिर खानगी महफिल हो जाना आवश्यक ही था। जहां दो कलाकार मिल गए वहां संगीतसंवाद और पारस्परिक गायन होना ही है।

ऐसे ही एक अवसर पर पं. शंकररावजी ने उस अतिथि-प्रकोष्ठ में अपना गायन प्रस्तुत किया। कुछ १०-१२ व्यक्ति श्रोता के रूप में उपस्थित थे। क्योंकि कॉलेज के माहौल में जिस किसी कोने से तंबूरे की आवाज कान पर आ जाती वहां श्रोतागण अपने आप जाते थे। तो शंकरराव एक राग गा रहे थे। अण्णासाहब भी बैठे थे। बाद में आपकी बारी आई। तो बैठे बैठे तंबूरे उसी सुर में मिला लिए और एक कल्पना मन में लेकर ये शुरू हो गए। उन्होंने कोमल निषाद को 'सा' बनाया। तंबूरे तो षड्‌ज में ही मिले थे; किंतु इन्होंने कोमल निषाद में अपने स्वर को कायम कर लिया। और उस स्वर को आधार बनाकर 'कल्याण' गाने लगे। फल यह हुआ कि उस विशेष 'षड्‌ज' के कारण 'कल्याण' का रूप कुछ न्यारा ही प्रतीत होने लगा। क्योंकि तंबूरे पर हम सुन रहे हैं साऽऽ, सा रे ग म प ध नि सां, सां नि ध प म ग रे सा।

.....

** इन सबकी प्रतियां बिक चुकी हैं। अत: 'आचार्य एस्. एन्. रातंजनकर प्रतिष्ठान' के द्वारा पुनर्गठित रूप में एवं उनकी अप्रकाशित बंदिशों के साथ उसके प्रथम भाग का पुनर्प्रकाशन १९९० में और दूसरे भाग का १९९२ में किया गया है। शेष तृतीय भाग १९९४ में प्रकाशित होगा।*

यह अब कल्याण ठाठ के अंदर एक भेद बन गया। उसमें निषाद की मूर्च्छना का अंतर्भाव था। यह निषाद की मूर्च्छना 'रजनी मूर्च्छना' के नाम से पहचानी जाती है। इसीलिए उसगायन-प्रस्तुति के दौरान यह जो नया राग बन गया, उसका नामकरण हुआ - 'रजनी कल्याण'। रिषभ को प्रबल रखकर उन्होंने वादी बना दिया। जैसे हमारा गोरख कल्याण राग है, उसकी निर्मिति निषाद की मूर्च्छना से ही हुई है। इस प्रकार 'नि सा रे ग प म प ध नी। नी ध प म ग रे सा नी।' वाली 'रजनी मूर्च्छना' से यह रजनी कल्याण बना। आगे चलकर उसका प्रचलन बड़े पैमाने पर होता रहा। महाराष्ट्र के जाने-माने गायक स्व. डॉ. वसंतराव देशपांडे तो इस राग पर बहुत ही लट्टू थे। हमेशा अपनी बैठकों में इस राग को पेश करते थे।

इसके लिए भी एक घटना हुई कि बम्बई में उस्ताद विलायतहुसेन खांसाहब की पुण्यतिथि के अवसर पर हरि माधव वैद्य हॉल में डॉ. वसंतरावजी का गायन हुआ। उनके साथ श्रीमान पु. ल. देशपांडे भी आए थे। पिछले दिन रात को हम रातंजनकर-शिष्यों ने रजनी कल्याण सुनाया था। वसंतरावजी ने वह सुना और उन्हें वह बहुत पसंद आया। उस महफिल में नए तौर पर ही यह राग प्रस्तुत हो रहा था। लोग असमंजस में पड़े कि यह कोमल निषाद को 'सा' कैसे बनाया जा रहा है। कौन-सा प्रकार चल रहा है यह! तब अण्णासाहब खुद उठकर मंच पर गए और उन्होंने समझाया कि इस राग का विश्लेषण इस प्रकार है। अब संगीत-प्रेमी तो जानते हैं कि हमारे डॉ. वसंतराव अत्यंत मेधावी गायक थे। वे स्वयं भी अपने गायन में स्वर संक्रमण का प्रयोग बहुत किया करते थे। वह विश्लेषण तुरंत उनके दिमाग में पैठ गया और वे उस राग के प्रेमी बन गए। हम देख सकते हैं कि 'सालग वराळी' के पीछे भी रजनी कल्याण के जैसी ही विचारप्रणाली अण्णासाहब ने अपनाई है।

एक राग अण्णासाहब ने 'कुमुद्वती' नाम से बनाया। सन १९६६ में, जब वे शरद्काल में अपने परम स्नेही श्री महादेवराव सामंत के यहां (वाराणसी में) ठहरे हुए थे। (श्री. सामन्त का उल्लेख भटियार राग के संदर्भ में हम पहले कर चुके हैं) उनकी कन्या और अण्णासाहब की शिष्या (आज) श्रीमती मंजु सुंदरम् वहींपर थी। शाम के समय श्री सामंत के साथ संगीत संबंधी विविध विषयों पर वार्तालाप हो रहा था। इस बातचीत के दौरान ही अण्णासाहब ने इस राग का सृजन किया। इस राग के पीछे भेद यह है कि यों देखें तो उसमें 'दुर्गा' के ही स्वर हैं। केवल आरोह में तीव्र मध्यम का प्रयोग होता है। जैसे सा रे म प ध सां। सां ध प म रे सा।' यह तो उसका सीधा सादा आरोह-अवरोह का चलन हुआ लेकिन केवल आरोह-अवरोह से तो राग नहीं बन सकते। अण्णासाहब की खूबी यह रही कि उन्होंने इस मूर्च्छना में कामोद के रागांग का आभास समाविष्ट कर दिया। जैसे - रे म प ध म रे प, प म प ध रें, सां रें मं प मं प सा रे, रे सां रे मं प ध, म प ध सां, प प म रे॥ इसमें कामोद का आभास स्पष्ट झलकता है। अत: यह राग कामोदनुमा याने कामोदवत् हो गया, सो उसका नाम कुमुद्वती रखा गया।

यहां यह देखा जाए कि इन सभी रागों के नाम कितने अर्थपूर्ण और सांकेतिक प्रतीत होते हैं!

यही तो अण्णासाहब की खूबी है। उनका बनाया कोई भी राग उठा लीजिए आपको उसके नामकरण में ही उसके सांगीतिक व्यक्तित्व का संकेत मिल जाएगा। रजनी कल्याण, सालग वराळी, कुमुद्वती, पूर्वकल्याण - सभी ऐसे ही नामाभिधान हैं। एक बार मिया मलार गा रहे

थे। तो गाते-गाते एक नया ही संवाद-तत्त्व उनकी अंतश्चेतना में उभरने लगा जिसमें मलार और केदार का संवाद जमने लगा था। जब राग बन गया तब उन्होंने उसका नाम रखा सावनी केदार। अब इसमें सोचने की बात यह है कि यहां सावनी उपपद के लिए कोई एक भावसंदर्भ है। अपना जो आम सावनी राग है उससे इसका कोई ताल्लुक नहीं। यों देखें तो हमेशा गाए जानेवाले सावनी राग का नाम राग के भावसंदर्भ से नहीं जुड़ा है। यहां सावनी शब्द का सावन से और सावन का वर्षाऋतु से मेल बैठता है। पूर्वांग में मियां मलार और उत्तरांग में मलुहा केदार यह उसका स्वरूप है। सावनी केदार के 'सोलहु शृंगार किए सजि सजनी' इस मुखड़े में इसलिए उसको मलुहा केदार का अंग कहेंगे, शुद्ध गंधार का नहीं।

अब यहां जाते-जाते एक बात का जिक्र करना अस्थान में नहीं होगा। देखा जाता है कि बहुत-से नए रागों के नामों का उनके स्वरूप के साथ मेल नहीं बैठता। आजकल ये कोटियां होने लगी हैं। परंपरा में भी ऐसा मिलता है। जैसे तिलक कामोद। इसमें तिलक और कामोद कहां हैं? जैतश्री ऐसा ही नाम है। यही बात पूरिया धनाश्री की है। वस्तुतः पूरिया और धनाश्री स्वतंत्र राग हैं और पूरिया धनाश्री एकदम स्वतंत्र राग है। इन रागों का स्वरूप पहले कुछ रहा होगा, कालक्रम से उसमें किस तरह परिवर्तन होता गया इसे हम नहीं जान सकते। क्योंकि लोकरुचि के लिहाज से कलाकार अपने प्रयोग करते हैं और मूल रूप में कई बदलाव आ जाते हैं। ऐसी हालत में पूरिया धनाश्री राग गाते समय धनाश्री के अंग का निर्वाह करने की बात पीछे छूट गई होगी।

हमारे दादागुरु पं. भातखंडे जी ने रागरूप के लिए बंदिशों का प्रामाण्य स्वीकार किया। वही इस दिशा में सुरक्षित मार्ग है। पारंपरिक बंदिशें उन्हें जो मिलीं उन्हें वे गाते, मनन करते। उनका जो स्वरूप अपनी नजरों में आया उसके आधार पर उन्होंने रागों के लक्षण बांधे। तो फिर अपने विषय पर आने की दृष्टि से मैं कहूंगा कि अण्णासाहब को अपने निजी चिंतन-मनन के दौरान जो नई-नई कल्पनाएं सूझती थीं उसके जरिए वे नए रागों तथा बंदिशों के माध्यम से उन्हें संगीत-संसार के सामने प्रस्तुत कर देते। इसलिए रागों का नामकरण भी पूरी सूझ-बूझ के साथ वह करते। लेकिन ध्यान रहे, उसमें उनका यह दावा कभी नहीं रहता कि देखो, मैंने क्या नई वस्तु बनाई! कभी ऐसा भी हुआ है कि उन्होंने एक नया राग बनाया और उसकी कल्पना उन्हें प्राचीन ग्रंथों में बाद को प्राप्त हुई। तब उन्होंने मुक्त मन से उसे स्वीकार किया और अपने प्रतिपादन में संशोधन भी किया। सालग वराळी का ही उदाहरण है। उसके संबंध में मैंने जो बातें कहीं उसी वक्त इसका भी उल्लेख होना चाहिए था। एक बार हम पं. अहोबल का 'संगीत पारिजात' ग्रंथ पढ़ रहे थे। अण्णासाहब के मार्गदर्शन में हमारा रागाध्ययन चल रहा था। तो देखते-देखते राग मेघनाद पर उनकी दृष्टि पड़ी। उन्होंने देखा तो उसका चलन पूरा-पूरा सालग वराळी का ही है। पंडित अहोबलाचार्य ने मेघनाद के वर्ज्यावर्ज्य, उसके वादी-संवादी, उसका विस्तार सब दिया हुआ है और नितांत रूप में सालग वराळी के जैसा ही है। उन्होंने तुरंत हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए कहा कि देखो सालग वराळी के दर्शन यहां हो रहे हैं। तो कहने का मतलब, पं. अहोबल के समय में यह राग मेघनाद के नाम से प्रचार में रहा होगा और बाद में लुप्त हुआ होगा। इस प्रकार अण्णासाहब ने गीत मंजरी के दूसरे संस्करण (१९४९) में इस राग के साथ टिप्पणी जोड़ दी कि प्राचीन संगीत ग्रंथ 'पारिजात' में इस राग को मेघनाद नाम से जाना गया है। अण्णासाहब अपनी कला के प्रति कितने समर्पित थे,

इसका सबूत यहां मिलता है। अपने गुरुवर पं. भातखंडेजी के समान ही वे सच्चे 'रिसर्च स्कालर' थे। उन्होंने भी अपने ग्रंथों में निर्व्याज भाव से स्वीकृत किया है कि अमुक राग का जो स्वरूप हमें मिला है, वह इस प्रकार है। इन महापुरुषों को अपने नाम का ढिंढोरा पीटना नहीं था। संगीत के लिए उन्होंने पूर्णरूपेण अपने को समर्पित कर दिया था।

अण्णासाहब की बंदिशों की एक अनुपूरक विशेषता थी सृष्टिचारित्र्य के विविध विषयों का चुनाव। उन्होंने पुराने पिटे-पिटाए विषयों की अपेक्षा युगानुकूल नए विषयों पर बंदिशें रचने का उपक्रम अपनाया। सास-ननद और पिया-प्यारी की बातों से बाहर आकर जीवनानुभूति के और और संदर्भों पर आधारित काव्य-रचना उन्होंने की। इसी सिलसिले में महान गायकों की प्रशस्ति में भी उन्होंने बंदिशें बनाईं।

महान गायकों की प्रशस्ति में उन्होंने जो बंदिशें लिखी हैं, उसकी प्रेरणा उनके भीतर तो थी ही, किंतु कुछ बाहरी कारण भी उसके पीछे थे। तानसेन की प्रशस्ति में 'बंधा समां सुर लय राग ताल सो' की बंदिश के बारेमें बताया ही गया है। अण्णासाहब ने शुरू के दिनों में ही अपने गुरुवर पं. भातखंडे की प्रशंसा में बंदिश बनाई थी, जिसका जिक्र हो चुका है। लेकिन गायक प्रशस्तिवाली बंदिशों के अंतर्गत उन्होंने पं. विष्णु दिगंबरजी के यशोगान के रूप में जो एकाधिक रचनाएं की हैं उनका बयान करना बहुत आवश्यक है। संगीत-संसार में अद्यावधि यह भ्रम फैला हुआ है कि पं. भातखंडे और उनकी परंपरा एवं विष्णु दिगंबर और उनकी परंपरा के दो खेमे हैं। दोनो पक्षों में एक तरह की दुश्मनी है। किंतु वस्तुस्थिति इसके एकदम विपरीत है। एक क्षणार्ध्द का विषयांतर करके कहूंगा कि यदि ऐसी स्थितियां रहतीं तो दिल्ली के गांधर्व महाविद्यालय में प्राचार्य पं. विनयचंद्र मौद्गल्य ने अण्णासाहब को परामर्शदायी समिति पर न लिया होता, समय समय पर संगोष्ठियों और सभाओं में उन्हें बराबर निमंत्रित न किया होता। अण्णासाहब ने पं. विष्णु दिगंबर जी की स्तुति में जो पदरचनाएं की थीं उनमें से दो-एक रचनाएं 'संगीत कला विहार' में उसी काल (५०-५५ में) प्रकाशित भी हुई थीं। अब इसके आगे की बात भी ध्यान खींचनेवाली है। श्रीवल्लभ संगीतालय में अण्णासाहब की ही प्रेरणा से. पं. भातखंडे और पं. विष्णु दिगंबर की पुण्यतिथि एक ही दिन संयुक्त रूप में मनाने की परंपरा कायम हुई थी, जो आज भी जारी है।

अब पं. विष्णु दिगंबर के प्रति अण्णासाहब के मन में नितांत आदरभाव था, जिसके दर्शन हमें उनकी अंग्रेजी में लिखी हुई लघु आत्मकथा में हो सकते हैं। परंतु उनकी प्रशस्ति में बंदिश बनाने के लिए यह भी एक बाहरी कारण रहा - पुण्यतिथि का। अण्णासाहब ने ऐसे तीन-चार गीत बनाए हैं। उदाहरण के लिए काफी राग का यह गीत -

नमो नमो गुणि गंधर्व चरण।
सुस्वर कंठ मधुरतातें बस भयो सकल संसार तिहारे।
धन्य गुणि गंधर्व कहायो॥

एक बार प्रो. बी. आर. देवधर किसी समारोह के उद्घाटक की हैसियत से श्रीवल्लभ संगीतालय पधारे थे। एक रचना पं. भातखंडेजी की स्तुति में और एक रचना पं. विष्णु दिगंबर की स्तुति में हमने समूहगान में प्रस्तुत की। देवधरजी ने मुझसे कहा - "गिंडे, यह चीज हमें दे दो, हम 'संगीत कला विहार' में छापेंगे।" उस वक्त अण्णासाहब भी वहां थे। बाद में हमने उनसे

कहा - "अण्णासाहब एक ही एक बंदिश गा के हम ऊब गए हैं" तो उन्होंने कहा, "दूसरी लो।" और गौड़ मलार में 'विप्र दिगंबर जन्म लियो है' बंदिश बन गई।

लक्षणीय रचना

हम रचनाकार के रूप में अण्णासाहब की विशेषताओं पर बात कर रहे हैं, तो उनके लक्षणगीतों पर विचार होना अत्यावश्यक ही है। हिंदुस्थानी संगीत के क्षेत्र में लक्षण-गीत की संकल्पना पं. भातखंडेजी की है और वे ही इसके प्रवर्तक रहे हैं। यों मूल कल्पना उनकी नहीं है। जब अपने अनुसंधान के सिलसिले में कर्नाटक संगीत के विद्वानों के साथ उनका संपर्क हुआ तब उन्होंने पाया कि इस संगीत-प्रणाली में हर राग के लिए लक्षण-गीत मौजूद है। विशेषत: वहां दीक्षितार संप्रदाय में लक्षण गीतों की पद्धति है। कर्नाटक संगीत की त्रिमूर्ति है - त्यागराज, श्यामशास्त्री और मुथुस्वामी दीक्षितार। पं. भातखंडेजी ने दीक्षितार परंपरा का अनुसरण अपने लक्षण-गीतों में किया है। कर्नाटक संगीत के आचार्य व्यंकटमखी इस दीक्षितार परंपरा में ही आते हैं। पं. भातखंडेजी ने ही हमारे संगीत के अंतर्गत रागों के लक्षण बतानेवाले स्वतंत्र गीतों की रचना को प्रचलित किया। उन्होंने न केवल हरेक राग के लक्षणगीत लिखे, बल्कि राग के हर पहलू को उन्होंने लक्षणगीतों द्वारा समझाया। इसके पीछे उनकी खास शैक्षिक दृष्टि थी। उनका एक उद्देश्य यह भी रहा कि जो सूरदास (याने अंध) संगीत-छात्र होंगे, जो अनपढ़ होंगे वे भी इन गीतों को कंठस्थ करके रागज्ञान को अवगत कर सकेंगे। कुछ उदाहरण बताएंगे - (१) सप्त सुरन के नाम बखाने सा रे ग म प ध नि सां। सां नि ध प मग रे सा॥ (२) दस ठाठों के बारे में कहना हो तो - दसविधि ठाठ चतुर्भुज माने। 'यमन, बिलावल और खमाजी। भैरव, पूर्वी, मारवा, काफी, आसा, भैरवी तोड़ी, बखानी॥' (३) राग समय के लिए "तीन वर्ग 'रिध तीवर तीवर ग' प्रथम त्रय संधी प्रकाश अपर त्रय जागो। गनी कोमल निश्चित अंतिम॥"

इस प्रकार अलग अलग पहलुओं पर पंडितजी ने लक्षण-गीत बनाए। अब अण्णासाहब को पाठ्यक्रम के अनुसार नए सिरे से कुछ लक्षण-गीतों की रचना करनी पड़ी तब उन्होंने अपने गुरुमहोदय की परंपरा को ही आगे बढ़ाया और पाठ्य-पुस्तक के हिसाब से कई रागों के लक्षण-गीत उन्होंने लिखे। लेकिन इस बारेमें मेरी धारणा यह है कि इस कार्य में वे पंडितजी से एक सीढ़ी आगे बढ़े हुए थे। हां, हरेक राग के लक्षण-गीत उन्होंने नहीं बनाए। जहां पर उनको सूझा वहां उन्होंने उसकी रचना की, जैसे 'रामकली' का लक्षणगीत। उन्होंने खंबावती का विलंबित ख्याल लक्षणगीत के रूप में बनाया है। उसके शब्द हैं -

नाद नगर बसायो आज। राग जुगल सुंदर मेल रचायो॥
देस के संग झिंझोटी मिलाओ। बीच चमके सुर मांड॥

इसी प्रकार विलासखानी तोड़ी का लक्षणगीत देखिए-

'विलसे अत नारी सुरागिनी। भैरवी होत निराली रंग रस की खानी॥'....इत्यादि।

कभी ख्याल के रूप में लक्षण-गीत बन जाता था तो कभी ध्रुपद के रूप में। उनके लक्षण-गीतों में रागों के नाम का आधार लेकर कहने की शैली थी। जैसे हमने 'विलसे अत नारी' में देखा। इसीके साथ कभी वे अपने को संबोधित करते हुए रचना करते थे। जैसे- 'ऐ ऽऽ सुनो

सुजनवा रागनी को।' इस मिया मलार के लक्षण-गीत में दो निषादों का प्रयोग आपको मिलेगा। 'सुजनु अब राग खमाज सुनो।' में भी ऐसा ही संबोधन है। रागनाम के आधार के कुछ और उदाहरण भी देखे जाएं (१) 'सजत कानर अब का ऽ नर' में कानडा राग है। (२) मलि-हरि संजोगिनी रंजनी। सुनो सुजनवा रागिनी-' में मलार का वर्णन है।

इसमें तिलमात्र संदेह नहीं कि अण्णासाहब महान वाग्गेयकार थे। कि उनके जोड़ का कोई अन्य वाग्गेयकार आधुनिक युग में मेरे देखने में नहीं आया। इस संदर्भ में बीसवीं शताब्दी में तो आपका ही नाम सर्वोपरि रहेगा। बंदिश के धातु और मातु दोनों पक्षों पर उनका अधिकार तो था ही लेकिन धातु और मातु के बीच जो संतुलन और न्याय होना चाहिए उसके दर्शन अण्णासाहब की रचनाओं में विशेष रूप में मिलते हैं। नवराग-निर्माण, बंदिश रचना, लक्षणगीत किसी भी स्तर पर देखें उनका अपना एक पैमाना है, जिसपर वे सदा के लिए याने आखिर तक स्थिरपद रहे।

हमने अबतक डॉ. रातंजनकरजी के व्यक्तित्व के अलग अलग पहलुओं को भरसक निकटता से जान लिया और इस पूरे विवेचन में उनके 'विद्यागुरु' के स्वरूप के संकेत बराबर मिलते गए। किंतु उनके इस पहलू को अधिक जान लेने की आवश्यकता है। इसी प्रकार उनके व्यक्तित्व के कुछ और पहलू और उनका पारिवारिक जीवन आदि के बारे में भी जिज्ञासुओं में कुतूहल हो सकता है। अगले अध्यायों में यही देखना है।

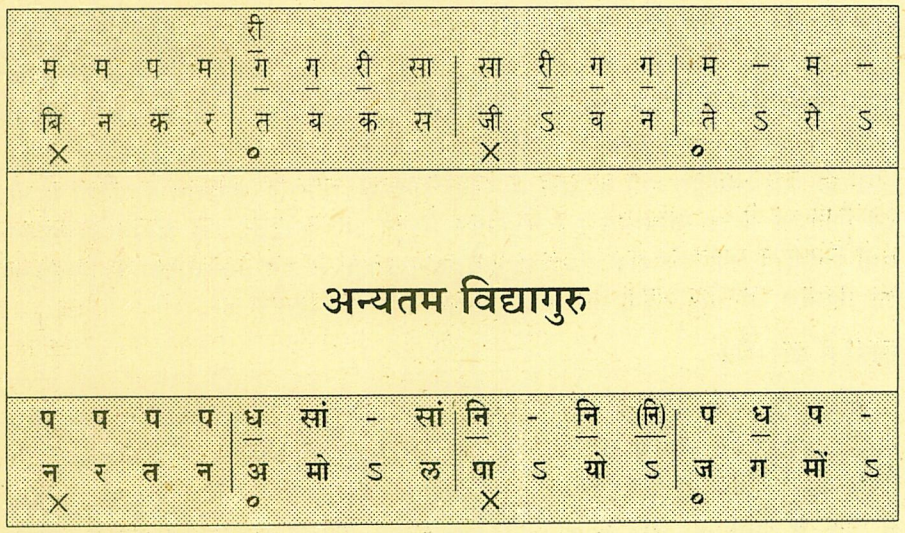

संगीत विद्या एवं कला की साधना में सुयोग्य गुरु से पक्की तालीम प्राप्त होना अत्यंत महत्त्वपूर्ण और उतनी ही दैवयोग से नसीब होनेवाली न्यामत है। ऐसा गुरु जो स्वयं अपनी विद्या में प्रवीण हो, गायनकला के सौंदर्यपक्ष पर अधिकार रखता हो और शिष्यों का योग्य रूप में मार्गदर्शन करने तथा शिष्य को पूरी विद्या प्रदान करके उसे परिपूर्ण बनाने की दृष्टि और लगन रखता हो। आदर्श गुरु का यह भी एक लक्षण है कि उसे शिष्य का विकास अंधानुकरण के रास्ते से नहीं होने देना चाहिए। उसे शिष्यों को अपनी 'फोटोकापी' बनाना नहीं होता है। जो गुरु धनलाभ पर नजर रखकर विद्यादान करता है वह आदर्श गुरु के पैमाने से गिर जाता है। हमारे महामहिम गुरुवर अण्णासाहब रातंजनकरजी में ये सभी गुण पूरी बुलंदी पर मौजूद थे। उनके हम सभी शिष्य अपने भाग्य को बराबर सराहते रहते हैं कि कितने खुशनसीब हम हैं कि हमें ऐसे सर्वश्रेष्ठ गुरु का प्रदीर्घ निकट सान्निध्य और मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। खासकर हम जैसे वे शिष्य जिन्हें अण्णासाहब से सीना-ब-सीना तालीम मिली, इतने लाभान्वित हुए कि संगीत के सारे द्वार मानो हमारे लिए खुल गए। अण्णासाहब ने केवल हमें संगीत का ज्ञान नहीं प्रदान किया बल्कि जीवन-दर्शन का पाथेय भी उन्होंने हमें जुटा दिया। त्याग, तपस्या, सेवा, निगर्विता, अध्यवसाय और अनुसंधान उनके विद्या-गुरु व्यक्तित्व की लक्षणीय विशेषताएं थीं। हम उन्हीं आदर्शों को अपने जीवन में उतारते रहे हैं और अपनी शक्तिभर इन्हीं आदर्शों पर अद्यावधि चल रहे हैं।

लखनऊ मैरिस कॉलेज १९२६ में खुला। उस वक्त शुरू में उस प्रदेश के ही छात्र अधिक मात्रा में रहते थे। उसके बाद सर्वप्रथम बंगाल से आए हुए व्यक्तियों का अंतर्भाव हुआ। धीरे धीरे महाराष्ट्र से और दूर दूर से छात्र आने लगे। पं. भातखंडेजी का अधिष्ठान और अण्णासाहब का नेतृत्व निकट से लेकर दूर दूर तक के होनहार संगीत-साधकों के आकर्षण का केंद्र बन गया। इसके फलस्वरूप लखनऊ मैरिस कॉलेज में अखिल भारतीय संगीत-साधकों का एक परिदृश्य ही मानो उभरता गया। धीरे धीरे महाराष्ट्र से और अन्य राज्यों से छात्र आने लगे।

अन्य राज्यों से आनेवालों में सबसे प्रथम कर्नाटक (बंगलोर) से हमारे चिदानंद नगरकर आए १९३५ में - फिर जुलाई '३६' में श्री एस.सी.आर. भट और अगस्त १९३६ में मैं। इसके बाद दो-एक वर्षों के अंतराल से दिनकर कायकिणी, प्रभाकर चिंचोरे, गोविंद दंताळे, श्रीमती सुमति मुटाटकर, श्रीमती सुशीला मिश्रा-नंबियार ऐसे कुछ शिष्य संपूर्ण जीवन को ही संगीत विद्या के पीछे समर्पित करने के इरादे से आए थे। इसके साथ ही आसपास के प्रदेशों से भी ऐसे निष्ठावान शिष्य सम्मिलित हुए थे। आज मैं यह अभिमानपूर्वक कह सकता हूँ कि इन सभी शिष्यों ने संगीत के क्षेत्र में अपना एक स्थान बनाया है और अण्णासाहब के ही उसूलों का अनुसरण करते हुए अपनी साधना और विद्यादान में प्रवृत्त रहे हैं।

छात्रों में स्तर-भेद

मैरिस कॉलेज में छात्रसंख्या तो विपुल रही । तो इन शिष्यों में स्तरभेद होना स्वाभाविक ही है। छ:सात सौ छात्रों में स्तरभेद तो था ही। आम तौर पर देखा जाए ऐसे तीन-चार स्तर मिल सकते हैं। एक तो वे कि संगीत को ही अपना 'करिअर' या जीवनक्षेत्र बनाने के उम्मीद से आए थे, दूसरे ऐसे छात्र थे जो संगीत को आधार बनाकर व्यावसायिक क्षेत्र में पदार्पण करना चाहते थे - जैसे विद्यालय चलाना, चित्रपटों को संगीत देना इत्यादि । तीसरे वे छात्र थे जो शौकिया तौर पर संगीत सीखना चाहते थे - और ऐसे छात्रों की संख्या सर्वाधिक थी । लेकिन यहां पर ध्यान देने की बात यह है कि जो छात्र जिस कामना से कॉलेज में दाखिल हुए थे वे अपनी कामना में आगे सफल भी हुए।

अब म्यूजिक डाइरेक्टर रोशनजी नागरथ को लीजिए, जिनका नाम आज भी फिल्मी जगत् में बहुत ऊपर है। ये पंजाबी संगीतकार अण्णासाहब के शागिर्द रहे हैं। आज राकेश रोशन और राहुल रोशन, उनके दोनों बेटे, संगीत की दुनिया में चमक रहे हैं। श्रीमान एस. एम. (श्रीनाथ) त्रिपाठी (हिंदी के कविसम्राट्, 'निराला' के भतीजे,) पारसी महिला खोर्शेद होमजी ऊर्फ सरस्वती देवी, जो पहले पंडितजी से तालीम ले चुकी थीं, लेकिन उसके बाद ज्यादातर शिक्षा उन्होंने अण्णासाहब से ही पाई । वे 'बॉम्बे टॉकीज' की संगीत निर्देशक थीं; अशोककुमार आदि अभिनेताओं को उन्होंने गवाया था। एक और शागिर्द न्यू थिएटर्स, कलकत्ता के पहाड़ी सन्याल जो गायक, संगीत निर्देशक और अभिनेता सब कुछ थे। फिर अंबिक मजूमदार जो मॅडम मेनका के ट्रूप के साथ म्यूजिक डाइरेक्टर की हैसियत से जर्मनी गए थे। अण्णासाहब मेरे पास हमेशा उनकी आवाज की तारीफ किया करते। श्री. रवींद्रलाल रॉय, आज की ख्यातिप्राप्त गायिका मालविका कानन के पिता। इन्होंने अण्णासाहब से तालीम ली और संगीतशास्त्रज्ञ (म्यूजिकालॉजिस्ट) के रूप में अपने व्यक्तित्व को विकसित किया। उन्होंने मंच पर गाया भी है, फिर भी अधिकतर विद्वत्ता के पक्ष को ही अपनाया। इनके बड़े भाई हेमेंद्रलाल रॉय महर्षि अरबिंदो के निकटवर्ती प्रख्यात संगीतप्रेमी दिलीपकुमार रॉय के भतीजे थे। उनको दिलीपकुमारजी ने सलाह दी थी कि तुम हमारे श्रीकृष्णा के पास जाओ और वहां सीखो। दोनों भाई साइन्स ग्रेज्युएट थे। उन्होंने कॉलेज की त्रैमासिक पत्रिका 'संगीत' को चलाया था।

उस काल की एक विशेष बात यह थी कि बंगाल में जो बुद्धिसंपन्न लोग थे उनमें से कतिपय परिवार यू. पी. में आकर बस जाते थे। इस प्रकार कई बंगाली सज्जन लखनऊ, इलाहाबाद वगैरेह शहरों के विश्वविद्यालयों-महाविद्यालयों में प्राध्यापक बनकर तथा और इसी प्रकार का

कोई काम पाकर आ गए थे। इनमें श्री चिन्मय लाहिरी का नाम उल्लेखनीय है, जो एक अच्छे मंच गायक रहे। आज की जानी-मानी गायिका बेगम परवीन सुलताना उनकी शिष्या हैं। परवीनजी ने अपनी सबसे पहली दीर्घ ध्वनिमुद्रिका (एल्. पी.) में अण्णासाहब की ही बंदिशें और सालग वराळी और नारायणी राग गाए हैं। बंगलोर से आए हुए हमारे चिदानंद नगरकर उस समय के मंच के तगड़े कलाकार थे। वे अल्पायु में चल बसे, किंतु फिर भी उनका बड़ा नाम हो गया था। भारती विद्याभवन, बंबई के संगीत विभाग के वे प्रिंसिपल भी रहे। चिन्मय लाहिरी 'मैरिस' में उन्हीं की कक्षा में थे।

महाविद्यालय से शिक्षक के रूप में जिन साधकों ने नाम कमाया उनकी संख्या भी कम नहीं है। कइयों ने संगीत पर पुस्तकें भी लिखीं। श्री श्रीपदो बंदोपाध्याय ने 'सितार मार्ग' और संगीतशास्त्र पर अन्य पुस्तकें लिखीं जो उस काल में काफी प्रसारित हुईं। श्रीमान रामनारायण त्रिपाठी गोरखपुर विश्वविद्यालय में संगीत के प्राध्यापक थे। श्री शत्रुघ्न शुक्ला थे जो दिल्ली विश्वविद्यालय कलासंकाय के अधिष्ठाता (डीन ऑफ म्यूझिक फैकल्टी) थे। उन्होंने ठुमरी पर शोध-कार्य किया है। मेरे ज्येष्ठ गुरुबंधु पं. एस. सी. आर. भट का नाम आज भी एक आदर्श शिक्षक के रूप में चमकता है। हमारे पं. सी. आर. व्यास तो कहते हैं कि अगर पत्थर को गवाना हो तो भटसाहब गवा सकते हैं, इतना धैर्य उनके पास है। भट साहब पहले अण्णासाहब के प्रथम गुरु श्री कृष्णभट्ट होनावर के पास कुछ काल सीखे हुए थे। मंच के कलाकार तो आप रहे ही, लेकिन उनको विशेष सफलता छात्रों में सुर और ज्ञान भरने में मिली। यह अण्णासाहब का ही करतब था कि उन्होंने भटसाहब को एक शिक्षक के रूप में विकसित किया। होनावरजी से सीखे हुए होने से उन्हें स्वरज्ञान देने का तरीका मालूम था। अण्णासाहब ने एक दिन उन्हें अपने आफिस में बुलाकर आदेश दिया कि कल से तुम्हें एफ़. वाय. की कक्षा लेनी होगी। उन्होंने दो-तीन वर्ष तक प्राथमिक कक्षाएं लीं और उसके बाद उच्च कक्षाएं भी लेने लगे। मैं स्वयं जब चौथे वर्ष में था तब हमारे बालकवर्ग की कक्षा आप ही लेते थे। उस हिसाब से वे एक साथ मेरे गुरुबंधु और गुरु हैं। अपने अध्यापक होने की घटना का जिक्र भटसाहब अक्सर किया करते हैं। जब अण्णासाहब ने उन्हें अचानक एक कक्षा की पढ़ाई सौंप दी तो पहले तो वे सिटपिटा गए। फिर धीरज बटोरकर बोले -

"मैं एक शर्त पर क्लास लूंगा।"

"बोलो क्या है?"

"यदि आप हफ्ते में दो एक बार मेरी कक्षा में आकर मार्गदर्शन करेंगे तभी यह दायित्व मैं उठा सकूंगा।"

इसपर अण्णासाहब खुलकर हंस पड़े और कहा -

"अरे, हम तो इसीलिए यहां बैठे हैं। और आगे सुनो । सिखाते वक्त तुम्हें कोई कठिनाई महसूस हो तो सीधे मेरे पास आके पूछो। मैं तुम्हारी समस्या हल कर दूंगा।"

लक्षणीय विशेषताएं

एक आदर्श विद्या-गुरु के नाते अण्णासाहब की जो सबसे बड़ी विशेषता थी, जिसने मुझे बहुत प्रभावित किया है वह यह कि वे कभी पाठ्य पुस्तक, परीक्षा आदि को मद्देनजर रखकर सिखाते नहीं थे। एक गवैये के ढंग से वे क्लास लेते थे। छात्रों के सामने उच्च श्रेणी के गायन

का आदर्श प्रस्तुत करते थे और उसीका अनुसरण करने की प्रेरणा छात्रों में अपने आप जाग उठती थी। कक्षा में प्रवेश करते ही उनकी आज्ञा होती थी - "किताबें बंद करो।" मैं जीती-जागती किताब जो तुम्हारे सामने हूं! मैं गाता चलूंगा, तुम मेरा अनुसरण करते करते सीख लो।

१९३८-३९ का मेरा अनुभव रहा है कि यदि कोई विद्यार्थी क्लास में पुस्तक लाता तो उसे ५० रुपये जुर्माना देना पड़ता। उस जमाने के हिसाब से पचास की कीमत आंकिए। अण्णासाहब का मंतव्य था कि किताब की वजह से संगीत की तालीम में ध्यान बिखर जाता है। संगीत की भाषा किताबों में नहीं कंठ में होती है। उसका उच्चारण गुरुमुख से सुनकर अपने कंठ के द्वारा उसे पक्का कर लेना होता है।

शुरू में तीसरे से लेकर चौथे वर्षतक की कक्षाएं अण्णासाहब ही लेते थे। किंतु जब छात्रसंख्या बहुत बढ़ गई और शिक्षकगण भी भरती हो गए तब उन्होंने ज्यूनियर विशारद (चौथा वर्ष) और सीनियर विशारद (पांचवां वर्ष) की कक्षाएं अपने जिम्मे ले लीं। इन ऊंची कक्षाओं में उनके गहन और विशाल ज्ञान के लिए अधिक गुंजाइश मिलती रही। इस दौरान अनेक कूट रागों का ज्ञान उन्होंने छात्रों को दिया।

अण्णासाहब की कक्षा का ठाठ भी शानदार रहता था। कक्षा में हमेशा एक सारंगिया तैनात रहता और तबलिया। यानी उनकी क्लास एक महफिलनुमा ही बन जाती थी। फलत: उनकी इस क्लास का आकर्षण उस कक्षा में न पढ़नेवाले छात्रों और दूसरे दूसरे रसिकों को भी रहा करता। जब वे पढ़ाते होते तो उनकी कक्षा सुनने के लिए कक्षा के कमरे के बाहर खिड़की के पास कम से कम पचास व्यक्ति खड़े रहते थे। और यों नियमित रूप से सुननेवाले स्टाफ में भी कम नहीं थे। इनमें उस्ताद हामिद हुसेन खां सितारिए को तो हमने कई बार देखा है। अब इस समूचे माहौल का असर हम शिष्यगणों पर हुए बिना कैसे रहता? इस वातावरण से एक 'प्रॅक्टिकल म्यूजिशियन' का आदर्श ही हमारे सामने उपस्थित हो जाता। क्योंकि इस पढ़ाई में मात्र पाठ्यक्रम को पूरा कर छोड़ने का मकसद नहीं था।

एक और अभिनव प्रक्रिया को वे अपनी शिक्षा-विधि में गंभीरतापूर्वक कार्यान्वित करते थे। हर शनिवार को किसी न किसी विद्यार्थी को सामने बिठाकर प्रात्यक्षिक के द्वारा वे उसे मंचगायन की कला का सबक देते। मंच पर उस छात्र का गायन या वादन श्रोताओं की उपस्थिति में करवाया जाता और इसी प्रस्तुति के दौरान गुरुवर वहीं बैठकर उसे बीच बीच में हिदायतें देते हुए उसे मंचगायन की दिशा में विकसित करते। इसमें राग के चलन के जो अलग अलग दायरे हैं उन्हें वे उसके सामने खोल देते। और यह सब सौ डेढ़-सौ की सभा में हो जाने से छात्र को भी ढाढ़स बंधता। हमारे भटसाहब का ही उदाहरण लीजिए। उन्हें सीधे 'मध्यमा' में प्रवेश दिया गया था। चार महीने बाद उन्होंने परीक्षा दी और चौथे वर्ष में दाखिल हो गए। हर महीने की मंचशिक्षा के लिए उनका नंबर आया। अण्णासाहब ने श्री भट साहब को 'श्री' राग पेश करने का आदेश दिया। अब कुछ कारणवश, 'श्री' राग में जो कि वस्तुत: मध्यमा के लिए मुकर्रर था, भटसाहब की तैयारी नहीं हो सकी थी। तब अण्णासाहब ने दो महीने इस राग की तालीम उन्हें दी। फिर कहने लगे कि मुझे देखना है कि तुमने इस राग को कहां तक ग्रहण किया है। मंचगायन के प्रसंग में भट साहब ने 'श्री' राग को पेश किया। जब बढ़त शुरू हो गई तब गाड़ी बीच बीच में अड़ने लगी। अण्णासाहब वहां मौजूद थे ही। उन्होंने वहींपर श्री राग के प्रस्तुतीकरण की तालीम उन्हें दे दी। डेढ़ दो घंटे तक यह उपक्रम चलता

रहा और इस प्रकार भटसाहब के दिमाग में इस राग के मंचगायन का तरीका पक्का बैठ गया। उन्होंने इस अवसर पर इतनी सुंदर प्रस्तुति की कि अण्णासाहब ने उसी वक्त उन्हें आश्वासन दिया तुम जब कभी हो सके मेरे पास आते रहो। फिर क्या? कहने मात्र की देरी थी भट साहब उनसे चिपक गए। जब भी देखो, मैं भट साहब को गुरुवर के साथ देखने लगा। आगे ऐसा हुआ कि कॉलेज के लिए कमरे कम पड़ने लगे, सो जो कमरे होस्टेल के रूप में इस्तेमाल होते थे कक्षाएं होने लगीं। भटसाहब के लिए आवाज की और कोई व्यवस्था नहीं थी, इसलिए वे हमारे साथ ही रहने के लिए आ गए। इससे अण्णासाहब की और अधिक निकटता का लाभ उन्हें हुआ। और अनौपचारिक तालीम का सिलसिला बन गया। सच तो यह है कि वक्त से तालीम होना दुश्वार ही था। कॉलेज के प्रशासनिक और शैक्षणिक दायित्वों के कारण अण्णासाहब को हमारे लिए समय बहुत कम मिलता था कि यों कहें कि "आओ बैठो, शुरू हो जाओ।" लेकिन हमें टाइम टेबल की परवाह कहां? हम तो विद्याध्ययन के लिए ही वहां पहुंचे हुए थे। बस, जब मिले, जितना मिले उसे ग्रहण करते चलते थे। और मैं आपको यह बताना चाहूंगा कि बेवक्त की जो तालीम अण्णासाहब से हमको मिली वह जितनी रोचक और रंजक उतनी ही लाभकर हुई। होता यों था कि कॉलेज आठ बजे बंद हो जाता था। कॉलेज का प्रधान चपरासी ही हमारा रसोइया भी था। इसलिए रात आठ बजे के बाद उसका खाना बनाने का उपक्रम आरंभ हो जाता था, १०-१०॥ तक खाना बन जाता था। तब तक अण्णासाहब अपने कक्ष में पढ़ाई-लिखाई करते हुए बैठे रहते थे। दैनंदिन क्लासों के समाप्त हो जाने के बाद बीच के समय में हम लोग बगल के कमरे में ही रियाज करते थे। इसी बीच गुरुवर उपस्थित हो जाते और फिर तालीम का सिलसिला जारी हो जाता । ऐसे वक्त में घंटे दो घंटा का सवाल ही नहीं उठता था। इधर खाना ठंडा हो रहा है, चपरासी खाना तैयार होने की सूचना दे रहा है - लेकिन उसे कहेंगे - "ठहरो, अभी फुर्सत नहीं" और यह सिलसिला रात के डेढ़ दो बजे तक चलता रहता। खाने का प्रोग्राम उसके बाद हो जाता।

कभी उलटे ढंग से भी वही क्रम चलता था। बीच बीच में अत्यधिक कार्यों से निपटने के बाद कपड़े बदलकर अण्णासाहब आरामकुर्सीपर विश्राम करने बैठे जाते थे और श्रमपरिहार के तौर पर कुछ गुनगुनाने लगते। इधर उनकी आवाज हमारे कान तक पहुंचती। हम कह उठते - "अरे, अण्णासाहब कुछ गुनुगुना रहे हैं।" तब भटसाहब चुपके से उनके दरवाजे से कान लगाकर उस स्वर को पकड़ लेते और कमरे में आकर उसी स्वर में तंबूरा मिलाकर उसे छेड़ते हुए उनके कमरे में प्रविष्ट हो जाते। तब "अरे, अच्छा तुम आ गए। चलो बैठो।" जैसी बात से गाने का और समझाने का क्रम घंटों तक चलता रहता। इस प्रकार अण्णासाहब की व्यस्तता को देखते हुए भी हम लोग भी उन्हें सिखाने पर मजबूर कर देते थे। याने हम ऐसा वातावरण बना लेते कि उन्हें सिखाने में उत्साह का अनुभव होता।

इस प्रकार हमने लखनऊ के कॉलेज में सही अर्थ में गुरुकुल के वातावरण की अनुभूति बराबर पाई है। इसलिए तो हम लोगों तक अण्णासाहब का कुछ प्रसाद पहुंच पाया।

अन्य कलाकारों पर असर

शिक्षा क्रम का असर वहां आनेवाले जानेमाने गायकवादक कलाकारों पर भी होना स्वाभाविक था। बड़े बड़े कलाकार लखनऊ अक्सर आया ही करते थे । आकाशवाणी के सिलसिले में,

संगीत समारोहों में या और किसी कारण से। भातखंड़े महाविद्यालय के परिसर में होनेवाले विद्या और कला के समन्वय से युक्त वातावरण से वे अत्यधिक प्रभावित होते थे और अपनी प्रतिक्रिया को खुले मन से घोषित करके अपना संतोष व्यक्त करते थे। ऐसे अनेक संस्मरण मेरे पास हैं। उनमें से दो-एक का जिक्र यहां करता हूं। उस जमाने के अखिल भारतीय ख्यातिप्राप्त पं.डी.वी. उर्फ बापूराव पलुस्कर प्रोग्राम के लिए प्राय: लखनऊ आया करते थे और जब आते तो भट साहब और वी. जी. जोग के यहां टिकते। फिर घरेलू महफिल हो जाती थी। बापू और हम सब हमउम्र ही थे। तो अनौपचारिक महफिल आरंभ हो गई। भट साहब ने पहले डेढ़ घंटे तक शुद्ध कल्याण जमके गाया। बाद में बापू ने मल्हार पेश किया। दूसरे दिन खाना खाने के लिए हम सब इकठ्ठे बैठे थे। बापू कहने लगे -

"भटसाहब, मैं ब्राह्मण का लड़का हूं। अन्न मेरे हाथ में है। मैंने भी शुद्ध कल्याण सीखा है, लेकिन शुद्ध कल्याण को किस तरह गाना चाहिए, इसे मैंने आज आपके गायन से सीखा।"

ये बापू के शब्द थे!

एक और प्रसंग। पं. ओंकारनाथ एक बार लखनऊ पधारे थे। उस काल पंडित ओंकारनाथजी की धाक सर्वत्र बंधी हुई थी, जिसके वे अधिकारी भी थे। किंतु किसी तात्त्विक कारणवश पंडितजी और हमारे अण्णासाहब के बीच एक वैमनस्य-सा पैदा हो गया था। खूब लड़ाई-झगड़े तक बात पहुंच गई थी। पं. दिलीपचंद वेदीजी ने बीचबचाव करके उस विवाद को तुलने नहीं दिया था। पं. ओंकारनाथजी को लखनऊ के म्यूजिक सर्कलने निमंत्रित किया था, जिसका गठन स्थानीय विश्वविद्यालयीन प्राध्यापकों ने किया था। संयोगवश उसी वर्ष लखनऊ रेड़ियो स्टेशन खुल गया था। इलाहाबाद के युनिवर्सिटी प्रोफेसर दक्षिणारंजन (ड़ी. आर.) भट्टाचार्य के सुपुत्र एन. आर. भट्टाचार्य जो कि एक ही साथ अण्णासाहब के शागिर्द थे और ओंकारनाथजी भी परम भक्त थे । उस काल आकाशवाणी पर संगीत के प्रोड़यूसर थे। उन्होंने ओंकारनाथजी को मनाने में सफलता पाई और परिषद में गाने के लिए उनका आना तय हो गया । इसीके साथ उनके और दो एक प्रोग्राम भी तय हुए। अब ओंकारनाथ जी के व्यक्तित्व में एक प्रकार की अकड़ तो थी ही। उन्होंने लखनऊ पहुंचने पर संयोजकों से पूछा -

"तंबूरा छेड़ने के लिए कोई संगीत विशारद है यहां?"

याने व्यंजना यह थी कि यहां के सभी संगीत विशारदों की दौड़ तंबूरा छेड़ने तक ही है। भटसाहब ने यह बात सुनी और मन ही मन तय किया कि इनके व्यंग्यबाण का प्रत्युत्तर देना ही होगा। तंबूरे पर साथसंगत के लिए भटसाहब और हमारे गुरुबंधु भट्टाचार्य का बैठना तय हो गया। बिछायत बिछ गई थी। भटसाहब ने भट्टाचार्य को पहले मंच पर चढ़ने दिया और पंडितजी के विराजमान होते ही उनके पीछेसे आप दूसरा तंबूरा लेकर बैठ गए। 'छायानट' का ख्याल शुरू हो गया - 'करत हो मोसे नेहा की बतियां।' पंडितजी बीच में रुकते तो भट्टाचार्य सुर लगाते - इधर ओंकारनाथजी ने एक पेचीदा हरकत निकाली तो तुरंत उसके उलटी पेचीदा हरकत भटसाहब ने लेकर दिखाई। जिस क्रम से ओंकारनाथजी पलटे भरते थे, उसके उलटे क्रम से भटसाहब पलटे भरने लगे। परिषद का माहौल भी खास था । सामने मुश्ताक हुसेन तथा और कलाकार हाजिर थे। ओंकारनाथजी भटसाहब की 'संगति' पर प्रसन्न हुए। आखिर वे भी तो हृदय से कद्रदान कलाकार ही थे! उनके मुख से निकल पड़ा "शाबाश, बेटा!" तो भटसाहबने धीरे से कहा– "जी, मैं तो एक संगीत-विशारद हूं"।

तो वह यह जमाना था, जब मैरिस कॉलेज का शिष्य वर्ग भी जाने माने कलाकारों की प्रशंसा का पात्र बना था। और यह सब अण्णासाहब के चतुरस्र विद्यागुरु नेतृत्व का फल था।

विविधमुखी प्रेरणा

अपने शिष्यों की विचारशक्ति और रचना-चातुर्य को बढ़ावा देने की दृष्टि से अण्णासाहब किस प्रकार के अनेक उपायों का अवलंब करते थे। उनकी विशेषता यह थी कि हरेक शिष्य को उसकी बुद्धिमत्ता के अनुसार उन्होंने पनपने दिया। जब हम लोग उनके साथ गाते तब वे हमेशा बताते कि हमारा मत गाओ, अपना गाओ। उनके शिष्यों में से कई एक मंच के कलाकार हुए, कुछ संगीत-शास्त्री हुए, कुछ अच्छे शिक्षक बने पर सबको उन्होंने स्वतंत्र रूप से विचार करने के लिए पर्याप्त छूट दे रखी थी।

इस सिलसिले में अण्णासाहब बीच बीच में कोई ऐसा नया सवाल उपस्थित कर देते जिससे छात्रों को अपने बूते पर सोचकर ही उसका जवाब खोजना होता था। इसके संबंध में एक संस्मरण बताना ठीक होगा। स्नातकोत्तर कक्षा में मैं स्वयं, प्रभाकर चिंचोरे, सुमति मुटाटकर, दाउजी गोस्वामी, गजाननराव आयलवार, गोविंद दंताळे आदि सब लोग थे। उन दिनों अण्णासाहब को परीक्षाएं भाषण, परिषद आदि कारणों से दौरे पर जाना पड़ता था। और हमारी कक्षाएं तो उन्हींके जिम्मे थीं। इसलिए प्राय: अण्णासाहब खासकर जब लंबी यात्रा पर जाते तब हम छात्रों को कुछ न कुछ अध्ययन कार्य सौंपकर जाते और कह रखते, कि मेरे आनेतक इसे तैयार करके रखो। तो इस संबंध में दो-एक रोचक प्रसंगों का बयान करनेलायक है। पहले मेरा व्यक्तिगत अनुभव बताता हूं। एक बार दौरे पर जाने से पूर्व उन्होंने हमें पूर्वी ठाठ के गौरी राग की तालीम दी थी। बंदिश की रूपरेखा हमें समझा दी, आलाप लिखवाए और उसके बाद कहने लगे कि इसपर तुम रियाज करो और जब मैं वापस लौटूंगा तब फिर आगे चलेंगे। अब मैं रोज नियमित रूप से उन विस्तारों को पढ़ता, गाता, मनन करता लेकिन पंधरा मिनिट के बाद अंधकार दिखाई देने लगता। कहीं रास्ते ही नहीं मिलते। यों तो अण्णासाहब जो लिखवाते उसे किस तरह अभिव्यक्त करना चाहिए। इसे हम जानने लगे थे। यानी किस स्वर को किस लगाव से कहने पर वह राग आएगा, यह तो हम समझने लगे थे। फिर भी अड्डोस-पड्डोस के जो समप्रकृतिक राग रहते हैं उन्हें सम्हालना कठिन हो जाता था। जरा-सा फर्क हो जाने पर रागरूप के बदल जाने की नौबत आ जाती। क्योंकि वहां हमें जो दृष्टि दी गई थी, उसमें इस बात पर बल दिया गया था कि स्वरों से राग नहीं बनता बल्कि स्वरों के विशिष्ट लगाव से राग बनता है। गौरी के बारे में मुझे इसी समस्या ने रोक रखा था। जब अण्णासाहब दौरे से लौटे तब मैंने उन्हें अपनी समस्या बताई और सो भी अकेले में। तब उन्होंने मेरी बुद्धि के अनुसार मुझे समझाया। यह उनकी एक खासियत थी। शिष्य को या किसी अन्य जिज्ञासु को वह उसके अपने स्तर के मुताबिक समझा देते थे।

गुरुवर ने मुझसे पहला सवाल किया कि तुमने बंदिश को कितनी बार दुहराया? मैंने बताया कि बस सामान्य तरीके से दो-एक बार बंदिश गाकर मैं उसके विस्तार में लग जाता हूं। तब उन्होंने स्पष्ट किया कि नहीं, ऐसा नहीं। पहले बंदिश को भलीभांति समझ लो। उसे बार बार दुहराकर देखो कि उसमें कितने सांगीतिक वाक्य हैं। उन वाक्यों के सवाल-जवाब किस प्रकार एक-दूसरेसे मिलते हैं या नहीं मिलते, तुम्हें अपने आप उसका ज्ञान होता जाएगा। तो इस

तरह उनका एक ही इशारा काफी हो जाता था, फिर हमारा दिमाग अपने आप चलने लगता था। वे हमेशा बताया करते कि प्रत्येक राग में पूर्वांग और उत्तरांग संतुलित रहना चाहिए। तभी समतौल तरीके से उसका विस्तार किया जा सकता है। इस प्रकार छात्र को दृष्टि देना, उसकी आंखें खोलना जरूरी होता है। सिर्फ यह नहीं कि हम गाते हैं, वैसा तुम गाओ। वे उसमें छिपे हुए मर्म को खोलकर बता देते थे।

अब इस गौरी का ही उदाहरण लेते हैं। पहले जब उन्होंने 'गौरी' सिखाना आरंभ किया तब शुरू में ही उन्होंने इंगित दिया कि देखो, यहां पर तुम्हें 'श्री' गाना है, लेकिन वक्र गति से गाना है। वैसे तो गौरी याने 'संपूर्ण श्री' का रूप है। याने वह सातों स्वरों से युक्त 'श्री' है। इसे और स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि 'श्री' में 'सा रे म प नि सां । रें नि ध प, म ग रे साः' ऐसे स्वर लगते हैं किंतु टुकडों-टुकडों से वह संपूर्ण हैं। जैसे–

सा ऽ रे ग ऽ रे ,ग ऽ रे सा । सा रे ग रे, प । म प ध रे ....यहां 'सा रे म प' नहीं हो सकेगा। सा रे ग रे , म प, ध म, ग रे सा रे नि सा । प ध ऽ प ध नी, प ध प, प ध नी, प ध म प ग, रे ग, म ग रे सा, रेनि सा नि ध नि । ध नी सा रे, सा रे प, म ग रे, ग सा रे सा ॥

इस तरह से वे मुझे सुझाव देते गए। फिर जब बंदिश में इन स्वरावलियों का प्रयोग होने लगा तब दिशाएं और खुलने लगीं। 'ऐरी दैया, का के पास रहिलो, मोरा पियु सिगरे घोसे चिड़िया बोलन लागी सांझ की।'' फिर इस बंदिश का एक एक वाक्य या उसका अंश लिया और उसे सजाया। एक ही वाक्य अलग अलग रूप में पेश करने की कला ही ख्याल भरना है।

इस प्रकार बराबर बंदिश का ध्यान रखकर ही ख्याल भरने पर अण्णासाहब का बल रहता था। शिक्षा-प्रणाली में बंदिश को बहुत महत्त्व दिया जाता है। वे हमें बताते कि बारबार श्रोताओं को यह लगना चाहिए कि हम बंदिश को और उसके विस्तारित रूप को सुन रहे हैं। गायक की विचारधारा या विचारशक्ति उस बंदिश के दायरे से किस प्रकार प्रकट हो रही है, इसकी अनुभूति श्रोताओं को मिलनी चाहिए। इसलिए स्थायी और अंतरे के सही पठन और उसपर मनन और चिंतन को वे बहुत महत्त्व देते थे। इसके आगे वे शिष्य की रुझान के मुताबिक उसे बढ़ने देते थे। जैसे, किसीको सरगम अंग में रुचि है तो उसे उस अंग से बताते थे। कभी कभी स्वरों पर न्यास लेने के बारे में वे कुछ मौलिक संकेत दे देते थे। उदाहरण के तौर पर जैजैवंती राग को लिया। तो वे कहते कि इस राग में सभी स्वरों पर न्यास हो सकता है - रिषभ, गंधार, पंचम, धैवत सभी पर । लेकिन यह न्यास स्वरों के अलग अलग जर्रे से होना चाहिए। आप कहां पर विराम (Pause) लेते हैं, उसपर भी उसका रूप अवलंबित रहता है। इसी प्रकार यद्यपि जैजैवंती में रिषभ वादी है, तो भी यदि हम गंधार पर हल्का-सा बल देंगे तो रिषभ अपने आप कमजोर पड़ जाता है; किंतु उसे इतना कमजोर नहीं होने देना चाहिए कि राग का रूप ही बदल जाए। कहने का मतलब यह कि अण्णासाहब के विद्यादान में इस प्रकार के तारतम्य को विशेष स्थान रहता था। अण्णासाहब से हम सबने तालीम इसी ढंग से पाई; आगे प्रत्येकने अपनी अपनी बुद्धिमत्ता और अभिरुचि के समान अपना विकास कर

लिया। और यह भी, उन्हींकी उदार दृष्टि का सुफल था। उन्होंने किसीको गुरु की फोटोकापी होने नहीं दिया।

ध्रुपद-गायन का श्रेय

अण्णासाहब से हमें ध्रुपद-धमार की जो तालीम मिली थी वह सतही तौर पर नहीं मिली थी। अण्णासाहब को स्वयं पं. भातखंडेजी ने ध्रुपद की शिक्षा दी थी और भातखंडेसाहब को ध्रुपद के संस्कार पुणे के पं. रावजीबुवा बेलबागकर, तथा उत्तर में उस्ताद जाकिरुद्दिन और सुपुत्र उस्ताद अलाबंदेखां (आधुनिक डागर गायकों के पूर्वज), तथा कच्छ के उ. नसिरउद्दिन आदि जैसे घरानेदार ध्रुपदियों को को पर्याप्त मात्रा में सुनने का अवसर मिला था। मुझे और भटसाहब को आकाशवाणी पर ध्रुपद-धमार की जुगलबंदी प्रस्तुत करने का अवसर (श्रीमान काकासाहब अंबर्डेकर आदि के प्रयत्नों से) प्राप्त हुआ तब अण्णासाहब हमें बढ़ावा देने और हमें और अधिक तैयार करने के लिए सोत्साह आगे बढ़े। इसीका फल था कि २५ वर्ष तक (१९५४ से १९७९) तक (याने भटसाहब के अवकाशग्रहण तक) हम दोनों की जुगलबंदी के प्रोग्राम आकाशवाणी पर तथा महफिलों में होते रहे। भट-गिंडे जोड़ी का ध्रुपद गायक के रूप में बोलबाला हो गया। इस संदर्भ १९५४ में घटित एक विशेष घटना का बयान करना होगा, जिस में अण्णासाहब के विद्यागुरु व्यक्तित्व का एक और पहलू उजागर होगा।

१९५६ में, जब डॉ. श्रीमती सुमति मुटाटकर आकाशवाणी पर 'डाइरेक्टर ऑफ प्रोग्राम्स' थीं, मुझे और भटसाहब को आकाशवाणी संगीत सम्मेलन का प्रातःकालीन सभा में जो दिल्ली के सप्रू हाऊस में आयोजित हुई थी, धमार के 'आइटेम' के लिए 'बुक' किया गया। (उसके पूर्व बंबई आकाशवाणी पर ऑडिशन के तौर पर हमारी जुगलबंदी पहले हो चुकी थी और १९५४ से राष्ट्रीय कार्यक्रम तथा संगीत-संमेलनों में हमने ध्रुपद गाना आरंभ किया था।) उन दिनों संगीत सभा के माध्यम से सीधा प्रसारण होता था और रागों की पुनरावृत्ति टालने के हेतु कलाकार को पूर्वसूचित तीन या चार रागों में से किसी एक का गायन/वादन करना होता था। हमें आकाशवाणी से यह सूचना भेजने के वक्त संयोगवश अण्णासाहब दिल्ली आकाशवाणी कार्यालय में ही उपस्थित थे। तब डॉ. सुमतिजी ने यह ठीक समझा कि यहीं के यहीं गुरुवर से ही पूछकर हमारे नाम कोई राग लिख दिया जाए। तीन रागों के नाम थे। अण्णासाहब ने झट से कहा- "लक्ष्मी तोड़ी लिख दो।" .... अब हमें तो इस राग की तालीम नहीं दी गई थी। बंबई में पत्र हाथ आया तो हम असमंजस में पड़ गए। इसी बीच अण्णासाहब का पोस्ट कार्ड भी मिला। गुरुवर हमें आधे रास्ते पर कैसे छोड़ते? उन्होंने लिखा था-"मैं पंजाब मेल से आ रहा हूं। तुम और भट शाम को हमारे घर आ जाना"

तय किए अनुसार हम मिले। और तीन छोटी छोटी बैठकों में अण्णासाहब ने हमें लक्ष्मी तोड़ी के आलाप सिखाए। सिखाने के दौरान धमार की एक बंदिश भी बना दी और उसकी भी तालीम हुई। इस प्रकार उस तात्कालिक तालीम की तीन बैठकें हुईं। तीसरी बैठक की समाप्ति के अवसर पर भटसाहब ने हिम्मत जुटाकर अण्णासाहब से कहा कि राग के स्वरूप के बारे में अभी भी हमारी कल्पनाएं पूरी स्पष्ट नहीं हुई हैं। आप हमें नमूने के तौर पर कुछ आलाप लिख दें तो हमारा मार्ग और खुलेगा। इसपर अण्णासाहब हंसते हुए इतना ही बोले कि कल तुम हमें स्टेशन पर मिलो। हम स्टेशन पर गए। अण्णासाहब ने श्रीमान भट को एक

कागज थाम दिया, जिसपर तीन-चार आलाप लिखे गए थे। उन्होंने कागज देते हुए कहा– "अब हम दिल्ली में ही तुम्हें सुनेंगे।"

संगीत-सभा शुरू हो गई। सामने विलायत हुसेन खा, पं. अंतुबुवा, निसार हुसेनखां, अण्णासाहब आदि दिग्गज बैठे हुए थे। हमारा वह कार्यक्रम बहुत कामयाब रहा और हमारी आगे की ध्रुपद यात्रा के लिए यह एक 'श्रीगणेश' ही हो गया और उसमें गुरुमहोदय का प्रसाद भी मिला। इसीके साथ अण्णासाहब का हम शिष्यों के प्रति जो दृढ़ विश्वास था उसके भी हमें दर्शन हुए जो अतीव उत्साहवर्धक थे! एक आदर्श गुरु की हैसियत से अपने शिष्यों की सुप्त सामर्थ्य का ज्ञान उन्हें बखूबी था और उसीके अनुसार समय समय पर वे शिष्यों को बढ़ावा देकर उनके लिए नई दिशाएं खोल देते थे।

आधुनिकतावादी दृष्टि

गुरुशिष्य संबंध को लेकर अण्णासाहब का दृष्टिकोण विशुद्ध और वस्तुनिष्ठ था। गुरु के पांव छूना, उनकी पूजा करना, दक्षिणाएं और भेंट-वस्तुएं देकर उन्हें प्रसन्न करना ऐसी बातों के लिए उनके स्वभाव में कोई स्थान न था। सच कहें तो इस मामले में वे अपने समय से आगे थे। किसीको विश्वास नहीं हो सकेगा, लेकिन हम लोगों को 'गुरु-पूर्णिमा' नामक संस्कार-विधि का ज्ञान तक नहीं था। मैरिस- भातखंडे कॉलेज में 'गुरु-पूर्णिमा' का समारोह कभी मनाया ही नहीं गया। बाद में जब हम बंबई में रहने लगे तब इस समारोह के बारे में हम जानने लगे। जब अण्णासाहब अवकाशप्राप्ति के उपरांत बम्बई आकर रहने लगे, तब गुरुपूर्णिमा के दिन मैं, भटसाहब मिठाई का बक्सा और एक हार लेकर उनसे मिलने जाते तो हम पर बड़ी डांट पड़ती थी। "यह क्या 'बुवाबाजी' (गुरुडम) कर रहे हो? यह हमारे सामने नहीं चलेगा।"

जीवन भर में अण्णासाहब ने किसीको पैर छूने नहीं दिया। वे हम शिष्यों से कहा करते थे "सारी भावनाएं तुम अपने मन में रखो। अपनी भावना से मन के द्वारा तुम हमारे सामने नतमस्तक हो जाओ। यह ऐसा नाटक मत करो। तुम्हारी भावनाएं सच्ची हों तो उनका फल तुम्हें अवश्य मिलेगा।" मैं कभी कभी उनके जूते उठाके देने लगता तो तुरंत रोक लेते।

यह सब आधुनिकतावादी दृष्टिकोण पं. भातखंडेजी की विचारप्रणाली का फल था, यों कहा जा सकता है। पंडितजी के ही संस्कार अण्णासाहब पर हुए थे। एक और अनुकूल बात भी उनके बारेमें हुई। उस्ताद फैयाजखांसाहब ने भी उन्हें पुरानी शिष्यपरंपरा की परिपाटी पर नहीं चलने दिया। यह बहुत बड़ी याने अहम बात है। यों अण्णासाहब जब भी उनके यहां जाते तो पैर छूकर बैठते; लेकिन उन्होंने खुद हमें बताया है कि खांसाहब ने मुझसे कभी घर या बाहर का कोई काम नहीं करवाया। एक बार खांसाहब बाहर निकलने को हुए तो अण्णासाहब ने उनके जूते लाकर सामने रख दिए। तुरंत खांसाहब ने कहा- "खबरदार! श्रीकृष्णा, यह तुम्हारा काम नहीं। इसके लिए घर में दूसरे लोग हैं।" खांसाहब की उदारता और गरिमा ऐसी थी कि वे अपने इस खास शिष्य को भी अपने ढंग से इज्जत देते थे। जब लखनऊ उनका आना होता, तब अण्णासाहब उनके दर्शन के लिए जाते ही थे। उस वक्त सामने शराब की बोतल हो, और पासवालों ने कह दिया कि "प्रिंसिपलसाहब आए हैं" तो खांसाहब कहते- "अच्छा, श्रीकृष्णा आया है। निकाल दो इसे, छिपाके रखो।" अब अण्णासाहब उनकी आदत जानते थे; वे कहते -"चलने दीजिए, खांसाहब। मुझे कोई आपत्ति नहीं।" खांसाहब कहते -

"नहीं, तुम्हारे सामने नहीं।"

तो ये सारे संस्कार हम शिष्यों पर भी हुए बिना कैसे रहते? मेरे किसी भी शिष्य से पूछा जाए। न मैं किसीसे कोई दक्षिणा लेता हूं और न 'गुरुपूर्णिमा' करवा लेता हूं। यदि कोई शिष्य मिलने आए तो यही कहता हूं कि यह हार अण्णासाहब के फोटो को चढ़ाओ। अण्णासाहब की भी अपने गुरु के प्रति यही निष्ठा थी। जब वे लखनऊ से सेवानिवृत्त होकर खैरागढ़ जाने निकले, तब स्टेशन पर तीन-साढ़ेतीन सौ लोग उन्हें बिदाई देने आए थे। प्लैटफार्म पूरा भर गया था। सभी की आंखों में आंसू थे - "हमारे प्रिंसिपलसाहब जा रहे हैं।" सब बड़े दुखी थे। जब गाड़ी छूटने को हुई तब सभी ने 'रातंजनकरजी की जय' कहना चाहा, किंतु इसी बीच अण्णासाहब ने घोषणा दी - 'बोलो भातखंडेजी की जय!" बहुत-से छात्रों ने अण्णासाहब से प्रार्थना की कि आप न जाएं। कइयों ने तो उपोषण तक आरंभ कर दिया। अण्णासाहब ने उन सबको समझाया - "प्यारे मित्रो, मुझ अकेले का बिछुड़ना आपके लिए इतना असहनीय हुआ है, और मैं तो आप सबसे बिछुड़कर जा रहा हूं। सोचो, तुम्हारा यह बिछोह मैं कैसे सह पाऊंगा!"

जाज्वल्य ध्येयवाद

गुरुशिष्य संबंध के बारे में आधुनिकतापूर्ण दृष्टिकोण भातखंडे परंपरा की ही वह विशेषता रही। किंतु जाज्वल्य ध्येयवाद को भी इसका श्रेय देना चाहिए। संगीत का कार्य करना है तो उसमें स्वार्थ का पोषण किंचिन्मात्र भी नहीं होना चाहिए, यह दृढ़ भावना उसके पीछे थी। विद्या गुरुपूजा से नहीं, बल्कि सघन साधना से प्राप्त होती है। इसीलिए अण्णासाहब हमें हमेशा बताते कि तुम अपना रियाज ईमानदारी से करो। अपने ज्ञान को विकसित करते रहो, बस यही मेरी गुरुदक्षिणा है। इसी ध्येयसंपन्न दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप उन्होंने 'संगीत' पर कभी धन नहीं कमाया। कॉलेज से जो वेतन मिलता था, उसीमें अपना योगक्षेम चलाया। वह वेतन भी कभी पूरा मिलता तो कभी अधूरा। लेकिन वे उसीमें अपना सब कुछ निभा लेते थे।

महफिलों, आकाशवाणी के प्रसारणों वगैरह से कुछ प्राप्ति होती तो थी, उस धन को वे अपने लिए नहीं रखते थे। वह सारा धन महाविद्यालय के कोष में जमा कर देते थे। जितना जरूरी है उतना रख लेते थे और शेष सब कॉलेज के फंड में जमा हो जाता था। जब छुट्टियों में बम्बई आते तब वहां के 'म्यूजिक सर्कल्स' में कम से कम ५-६ कार्यक्रम बाकायदे हुआ करते। हर कार्यक्रम के तीन सौ रुपये उन्हें मिल जाते थे। १९४०-५० के लिहाज से यह राशि कुछ कम नहीं थी। लेकिन वह सभी राशि आप कॉलेज के सहायता-कोष में जमा कर देते थे। खैरागढ़ में अण्णासाहब साढ़े तीन वर्ष रहे। वहां के वेतन से हर माह पांच सौ रुपये वे खैरागढ़ विश्वविद्यालय के फंड में जमा करवा देते थे। उनके अवकाश-ग्रहण के बाद इस विपुल राशि का विनियोग श्री प्रभाकर चिंचोरे ने 'भातखंडे स्मृति ग्रंथ' के निर्माण में कर लिया। ऐसा असामान्य त्याग और ऐसी कार्यनिष्ठा!

१९३७-३८ में 'ऑल इंडिया रेडियो' की स्थापना दिल्ली में हुई। शासकीय कर्मचारी वर्ग तैनात हो गया। उसमें डाइरेक्टर जनरल श्रीमान शास्त्री नाम के व्यक्ति थे और स्टेशन डाइरेक्टर थे श्रीमान लक्ष्मणन्। ये दोनों सज्जन अण्णासाहब को बहुत मानते थे और उनसे स्नेह रखते थे। उन्होंने आग्रहपूर्वक अण्णासाहब को लखनऊ से दिल्ली बुलवाकर उनका गायन प्रसारित

कराया। उस समय की सबसे अधिक फीस रुपये १०० उन्हें दी गई थी। अण्णासाहब अपने साथ तबलिया और सारंगिया लेकर गए थे। जब लखनऊ केंद्र खुला तब भी सहवादकों के बारेमें उनका यही रवैया था। अब इन सहवादकों को आकाशवाणी की ओर से तो कोई फीस नहीं मिलती थी; क्योंकि वे 'स्टाफ आर्टिस्ट' नहीं थे। अण्णासाहब अपनी फीस में से २५-३० रुपये हरेक को दे देते थे। और शेष रकम कॉलेज में जमा कर देते। इस प्रकार हमारे गुरुवर ने न किसी शिष्य से एक कौड़ी ली और न प्रोग्राम से पैसा कमाया। वह कहते थे कि विद्या कोई बेचनेवाली चीज नहीं। मैंने खुद अपने गुरुजी को कुछ नहीं दिया तो हमें क्या अधिकार है कि हम शिष्यों से कुछ ऐंठ लें? फैय्याजखांसाहब ने उनको शागिर्द बना लिया तब सिर्फ दो आने का खर्चा करवायाः गुड़-चने मंगाए और चाय-पानी के लिए पांच रुपये लग गए। ऐसे ऊंचे आदर्श उनके सामने थे। वही आदर्श उन्होंने हमारे सामने भी रखे और उसी पर चलने में हम शिष्यगण प्रयत्नशील रहे हैं। लखनऊ कॉलेज के संगीतविद्यालय के वातावरण में जो और दूसरे उस्ताद और कलाकार आते थे उनके ज्ञान का लाभ भी हम शिष्यों के लिए डॉ. रातंजनकर अवश्य उठाते थे।

उदार दूरदृष्टि

अण्णासाहब के विद्यादान में एक तरह की उदारता और दूरदृष्टि थी। वे गुण के पारखी गुनिजन थे। सारंगीनवाज बुंदूखां जब जब लखनऊ आते, हमेशा अण्णासाहब से मिलकर ही जाते, फिर बजाना तो होता ही था। अण्णासाहब की लगन रहती थी कि मेरे शिष्यों को इस नए अंदाज और कौशल का भी परिचय होना चाहिए। क्योंकि यह भी एक आदर्श है। एक बार उस्ताद मुश्ताक हुसैनखाँ, रामपूरवाले, कॉलेज पधारे और उनका गाने का लाजवाब कार्यक्रम हुआ। उनकी तीन सप्तक की तान प्रसिद्ध थी (मन्द्र षड्ज से अतितार षड्ज तक) इस क्रिया से हमारे एक गुरुभाई भट इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने रियाज द्वारा सफलतापूर्वक प्रत्यक्ष उसका अनुकरण स्पष्ट रूप से अपने गायन में करके दिखाया भी। तब उसे सुनकर अण्णासाहब के मुख से उद्‌गार निकले - अच्छा, मुश्ताक हुसैन खांसाहब तुम पर छा गए हैं।'' इस पर उनको पर्याप्त आनंद भी हुआ। ऐसी उदारता और गुण की परख थी उनकी। कॉलेज में जो भी अच्छे कलाकार आते, अण्णासाहब उनका प्रोग्राम करा देते और हम शिष्यों को वहां बिठाते। 'मेरे शिष्यों को इनका भी लाभ मिलना, चाहिए' यह दृष्टि उसके पीछे थी। अपना व्यक्तित्व स्वयं बनाने की दृष्टि से वे हर दिशा में शिष्यों का पथ आलोकित करते रहते थे। और हम भी कम उत्साही नहीं थे। हम वहां आनेवाले बड़े गायकों की तंबूरे पर साथ संगत करने के लिए हमेशा तत्पर रहते थे, उनकी बारीकियों पर पूरा ध्यान लगाकर हम उन्हें सुनते।

कभी कभी कोई उस्ताद किसी नई उद्‌भावना को हमारे उस माहौल में प्रचलित कर देते तो उसकी हवा बन जाती और अण्णासाहब भी उसका उपयोग अपने शिक्षाकार्य में कर लेते। मुश्ताक हुसैन खांसाहब ने उन दिनों 'रागसागर' नाम की एक नई शैली चला दी थी। इसकी संकल्पना यह थी कि आप कोई ऐसी बंदिश बनाइए, जिसमें कुछ रागों के नाम गुंथे हों। जब आप वह बंदिश गाएंगे तो जहां जिस राग का नाम आएगा उसका स्वरांग आपको उसमें दरसाना होगा। रागज्ञान को विकसित करने और श्रोताओं को प्रभावित करने का यह एक बढ़िया ढंग था। भला, अण्णासाहब इस अवसर को कैसे छोड़ते? एक बार अण्णासाहब हमारे कमरे में

बैठे हुए अपने कुछ शिष्यों के सामने कुछ रागों के स्वरूपों को गाकर समझा रहे थे। बाद में उन्होंने हम लोगों से कहा, "तुममें से एक एक करके मुझे किसी भी राग की फरमाइश करो और मैं तुरंत उस राग में अपना गाना परिवर्तित करूंगा।" यह खेल लगभग एक-डेढ़ घण्टे चलता रहा। फिर बाद में अपने कमरे में जाकर एक रचना बनाई जिसमें १२ रागों का संकलन है। रचना के बन जाने पर उन्होंने मुझे पुकारा और मैं उनके पास पहुंचते ही मुझे कहा - "कि इसे पढ़ो और इसकी एक एक प्रतिलिपि बनाकर बाकी शिष्यों को जो मेरे साथ मेरे कमरे में बैठे थे, दे दो। चौबीस घंटे के अंदर इसका स्वरकरण मुझे मिलना चाहिए, हरेक से।" यानी वह यह जानता चाहते थे कि किसने कहां तक उस बंदिश को उठा लिया है और राग की पहचान में किसकी कितनी बुद्धि चलती है। यह एक प्रकार से कॉलेज के 'पीरियाडिकल टेस्ट' के जैसा ही था।

अब वह कविता ऐसी थी -

'फूली बसंत बिन्द्रावन मो ।
प्रहर प्रभात की आई बहार।
पंचम कूकत कोयल।
नाचें विहंगगण विहार ।
धन्यासी देश जामें ।
श्याम सुंदर कानर कारो।
नंद दुलारो देसी भयो।।'

ध्यानपूर्वक देखा जाए तो इसमें बारह रागों के नाम आते हैं– बसंत, वृंदावनी सारंग, प्रभात भैरव, बहार, पंचम, बिहाग, धनाश्री, देस, श्याम कल्याण, कानड़ा, नंद और देसी। तो इस प्रकार रागसागर की इस बंदिश में बारह रागोंका संकलन था। मैंने वह कागज सबको दिया। मेरा मन उमंग से भरा था। किसीने उसपर कोई खास प्रयत्न तो किया नहीं। मैंने सात-आठ घंटे में ही उसका स्वरकरण कर लिया और सबेरे अण्णासाहब के कमरे में गया। मैंने हर राग के बिंदु पर उस राग के स्वरांग को रेखांकित किया था। मैंने कहा– "अण्णासाहब, मैंने तैयार कर लिया है।" "अच्छा! सुनाओ तो," फिर मैंने जब गाकर सुनाया तब मन ही मन खुश हुए। इतना ही कहा - "इसमें सत्तर-अस्सी प्रतिशत जो तानें और स्वरसंगतियां मैंने सोची थीं, वैसी ही हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यहां पर यह है कि अण्णासाहब के साथ मेरी आत्मीयता इतनी जुड़ गई थी और उनके विचारों से मैं इतना समरूप हो गया था कि उनके मन में जो सांगीतिक कल्पनाएं उठती थीं; उनका अनुमान मुझे अपने आप हो जाता था।

अंतरंग-दर्शन

१९३६ से लेकर अण्णासाहब ही मेरे लिए पिता-माता-गुरु सब कुछ थे। लखनऊ में उनके कमरे के पड़ोस में सोलह वर्ष रहा। इस कालावधि में ऐसे कई अवसर आए जिसमें उनका मेरे प्रति होनेवाला अपार स्नेह और प्यार का गहरा एहसास मुझे हुआ। लेकिन जैसा कि आपने कहा अपने विशिष्ट स्वभाव के कारण अतिरिक्त भावप्रदर्शन वे कभी नहीं करते थे। परंतु फिर भी ऐसे कुछ अवसर आ ही जाते थे। उनमें से दो घटनाओं का बयान मुझे करना ही होगा। ऐसा करके मैं उस ऋषितुल्य महान गुरु के प्रति अपनी आदरांजली समर्पित करना चाहता हूं।

लखनऊ से विदा होकर बम्बई लौटने के मेरे दिन नजदीक आने लगे थे। मैं मन-ही-मन कितना मायूस और बेचैन रहता था, कह नहीं सकता। ..... शुरू से ही मैं अण्णासाहब के खर्चे और आमदनी का पूरा हिसाब रखता आया था। जब मेरे जाने की तिथि निकट आने लगी, तब मैंने यह ठीक समझा कि जाने से पहले पूरा हिसाब अण्णासाहब को लिखित रूप में दे देना चाहिए। यों मैं कच्चा हिसाब लिखके रखता था, लेकिन मुझे इतना वक्त नहीं मिलता था, कि रोजबरोज बाकायदा उसे लिखके रखा जाए। मैंने उस पूरे हिसाब को एक एक करके साफ-सुथरे ढंग से लिखने का उपक्रम शुरू किया।

अब अपनी कुछ बेचैनी के कारण अण्णासाहब भी बार-बार मेरे कमरे में आकर बैठने लगे थे। वे पूछते– "यह क्या हो रहा है? क्या कर रहे हो?" मैं सिर्फ यही कहता "कुछ नहीं, अण्णासाहब कुछ नहीं।" मेरे जाने में दो दिन बचे थे और अण्णासाहब ने ठीक देख लिया कि मैं क्या कर रहा हूं। उनके पूछने पर मैंने बताया कि जाने से पहले मैं आपको पूरा हिसाब लिखित रूप में देना चाहता हूं। तब अण्णासाहब ने भावभीनी आवाज में कहा -

"आज तक मैंने कभी तुम्हारे पास हिसाब मांगा है?"

मैंने कहा - "नहीं, मेरा वह मंतव्य नहीं...."

"सुनो, यह सब तुम बंबई जाके करो। और मेरी तरफ से कोई बकाया हो तो मुझे सूचित कर देना, मैं भेज दूंगा। और यह भी जान लो कि तुम्हारी ओर से मुझे कुछ हिसाब मिलना हो तो, मुझे कुछ नहीं चाहिए। क्या दे सकते हो तुम मुझे?"

मेरे मुंह से हठात् निकल पड़ा– जैसे संत तुकारामने कहा था–

"हमारे चमड़े की जुती भी आपको पहना दूं तो भी जनम जनम तक आपका ऋण उतर नहीं सकेगा।"

सुनकर उनकी आंखों से भी आंसू ढलक पड़े। मैंने भी कहा -

"आप इतना कहते हैं तो ये कागज मैं भी फाड़के फेंक देता हूं। आज मुझे नई संपत्ति मिल गई है।"

तो गुरुवर्य अण्णासाहब का और मेरा नाता किस प्रकार का था यह कहना अति कठिन है। वे मेरे लिए माता-पिता, गुरु, बड़े भाई, एक सखा थे। इन विभिन्न रूपों में अपने इन विभिन्न भूमिकाओं द्वारा आपने दर्शन समय समय पर करवाए हैं।

मैं लखनऊ से बम्बई १९५१ में स्थायी रूप में वास्तव्य करने चला आया। मैंने निरंतर १६ वर्ष उनके सान्निध्य में बिताए थे। इस अवर्णित सम्बन्ध के कारण मेरे उनसे शीघ्र बिछड़ जाने की कल्पना से वे उन दिनों मन से कुछ अस्वस्थ (मनोमन दुःखी रहते थे।) मेरे उनसे स्थायी रूप से दूर जाने की कल्पना से वे खिन्न रहते थे। मेरे वहां से (उनके निकट सान्निध्य से) दूर जाने के दिन समीप आने लगे। ११ अगस्त १९५१ के दिन मैं लखनऊ से बम्बई के लिए रवाना हुआ। उनके कमरे में निकलने से पहले जाकर उनके चरण स्पर्श किये। तब उन्होंने मुझे अपने गले से लगाया और एक लिफाफा मेरे हाथ में देते हुए कहा, 'यह मेरे आशीर्वाद हैं।" बाद में वे मेरे साथ स्टेशन पर मुझे बिदा करने आए। लगभग ४०-५० मेरे छात्र-छात्राएँ एवम् मित्रगण भी स्टेशन पर आ पहुंचे थे। गाड़ी छूटने से पूर्व फिर से एक बार प्लॉटफार्म पर उतरकर अण्णासाहब के चरण स्पर्श करने उनके पास गया। मेरा आशय समझते हुए उन्होंने तुरंत मुझे फिरसे एक बार गले लगाकर प्रेमाश्रुओं से मुझे स्नेहाशीर्वाद दिए। गाड़ी

चल पड़ी। गाड़ी में मैंने उनका दिया हुवा बंद लिफाफा खोलकर देखा और उसमें मेरे लिए एक विलंबित ख्याल की बंदिश की रचना राग 'वियोग-वराळी' नामक एक नई राग-संकल्पना में मेरे नाम अपने आशीर्वाद रूप की हुई मिली। इस बंदिश के शब्द इस प्रकार हैं:

स्थायी - *लाख करोर जियो जियो*
नाद पुजारी हे!
जस कीरत अनत बढ़े
तिहारी या जग में हो।
अंतरा - *गावो, सुनावो रिझावो*
गायक गुणी कहावो
सदा रहो रत संगीत-सुधा-रस में हो।

आजतक इस बंदिश को गा नहीं सका। जब भी गाने का प्रयत्न करता हूँ, कण्ठ भर आता है।

मेरे बम्बई पहुँचने पर मेरे शिष्यों द्वारा मुझे ज्ञात हुआ कि स्टेशन से लौटने पर अण्णासाहब ने अपने को कमरे में बंद कर लिया। और लगभग दो-तीन दिन ठीक से खाना-पीना न कर सके।

विद्याविषयक अन्य कार्य

अब अण्णासाहब के कुछ अन्य विद्याविषयक कार्यों पर भी थोड़ा सोच लिया जाए। कॉलेज के प्रशासन और प्रशिक्षण के साथ ही साथ अण्णासाहब ने परिषदों में सहभाग, संगीत परिचर्चाओं में भाषण, आकाशवाणी पर गायन के साथ ही वार्ता-प्रसारण, प्रात्यक्षिक समेत व्याख्यान तथा ग्रंथनिर्माण इत्यादि अनेक कार्यों में भाग लिया। इनमें से ग्रंथों के बारे में पहले बात हो चुकी है। संगीत के अन्यान्य विषयों पर उन्होंने उत्तर भारत, महाराष्ट्र, गुजरात एवं दक्षिण भारत सभी स्थानों पर भाषण दिए थे। किंतु मैं यह कहना चाहूंगा कि वक्तृत्व-कला में वे उतने माहिर नहीं थे। लेकिन लिखने में वे गजब के उत्साही थे। एक बार उनके हाथ में कलम का स्थान मिल जाए, फिर पन्ने पर पन्ने लिखने का सिलसिला जारी हो जाता। ऐन मौके पर लंबा भाषण देना उन्हें उतना जमता नहीं था। लेकिन लिखने के लिए कोई भी विषय दीजिए तो उसमें कोई अटकाव नहीं रहता था। बगैर गुनगुनाए भी बंदिशें बनकर कागज पर हाजिर हो जाती थीं। अत: उनके जितने भी भाषण होते वे प्राय: लिखित रूप में पढ़ने के ढंग से होते थे।

उस जमाने की संगीत परिषदों में तो वे बराबर सहभागी होते थे, हां, यह भी बताना होगा कि उस जमाने में परिषदों का स्वरूप ज्यादातर संगीत-महोत्सव के जैसा रहता था। बहुत-से गवैये एकत्रित हो जाते थे और गाने-बजाने का उत्सव शुरू हो जाता था। पं. भातखंडेजी के जमाने तक चर्चाएं वगैरेह होती थीं, उसके बाद वैसा बहुत कम होता रहा। तथापि कुछ संगोष्ठियां अवश्य हुईं। आकाशवाणी-सम्मेलन में भी ऐसी संगोष्ठियां रखी गईं– ठाकुर जयदेवसिंह के जमाने में। 'डिमान्स्ट्रेशन लेक्चर' के बारे में आपने पूछा, किंतु यह तरीका आजकल ही प्रचार में आया है। फिर भी दिल्ली के गांधर्व महाविद्यालय में पं. विनयचंद्र मोद्गल्य के नेतृत्व में संगीत-संगोष्ठियों का आयोजन होता था। उनमें विशिष्ट रागों के उपभेद आदि विषयों को

लेकर प्रात्यक्षिक समेत व्याख्यान हुआ करता था, जिसमें उ. विलायतहुसेनखां जैसे गवैये भी सहभागी होते थे। किंतु ये संगोष्ठियां अधिकतर परीक्षाकेंद्रित रहती थीं - अलंकार और प्रवीण के छात्रों को मार्गदर्शन मिलने के उद्देश्य से। अब 'कानड़े के प्रकार' जैसे विषयों पर अण्णासाहब ने भाषण दिए हैं। उनके अन्यान्य लेखों और भाषणों को डॉ. रातंजनकर प्रतिष्ठान ने १९९२ में 'Aesthetic Aspects of India's Musical Heritage' के नाम से ग्रंथ रूप में प्रकाशित भी कर दिया है।

यद्यपि अण्णासाहब वक्तृत्वकला में प्रवीण नहीं थे, फिर भी एक आदर्श विद्यागुरु के पास विषय-विश्लेषण की और विषय को भलीभाँति समझाने की जो कला होती है, उसकी उनके पास कोई कमी नहीं थी। रागरूप को समझाना हो या संगीतविषयक किसी समस्या का ऊहापोह हो, आप हमेशा बुलंदी पर रहते थे। पक्ष-विपक्ष में चर्चा के या खंडन-मंडन के दौरान आप अपने आत्मविश्वास, सौजन्य और अकाट्य तर्क से बाजी मार लेते थे। १९४६ की बात है। पुणे के गांधर्व महाविद्यालय के वार्षिक स्नेहसम्मेलन में पं. विनायकराव पटवर्धनजी ने भारतीय संगीत प्रसारक मंडल की ओर से अण्णासाहब को प्रधान अतिथि के रूप में आमंत्रित किया था। अधिवेशन की सभा के प्रास्ताविक में पं. विनायकराव के सुपुत्र श्री नारायणराव ने भाषण दिया, जिसमें उन्होंने पं. भातखंडेजी के ग्रंथों पर कुछ आक्षेप उठाए और पंडितजी की विचारधारा के साथ अपना मतभेद व्यक्त किया। बाद में अण्णासाहब का अध्यक्षीय भाषण हुआ। उन्होंने आरंभ में ही इस बात पर हार्दिक संतोष व्यक्त किया कि नारायणराव जी ने, नुक्ताचीनी के लिए ही सही, हमारे गुरुवर के ग्रंथों का बारीकी से निरीक्षण किया। इसके बाद अण्णासाहब ने नारायणराव जी के एक एक मुद्दे को लेकर उसका खंडन और निरसन किया और वह भी प्रत्यक्ष प्रयोग के द्वारा किया। यह भी उल्लेखनीय है कि उस सभा में पुणे शहर के मान्यवर संगीतज्ञ एवं गायक-वादक गण, जैसे कि पं. गजाननबुवा, मिराशीबुवा, तांबेशास्त्री, आबासाहब मुजुमदार, प्रो. दत्तो वामन पोतदार तथा प्रो. ग. ह. रानड़े (संचालक) आदि, उपस्थित थे।

अनुसंधान-कार्य

विद्यापीठ के कार्यक्षेत्र में अनुसंधान या शोध कार्य को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो पं. भातखंडेजी का समस्त सांगीतिक जीवन एक सुफलित अनुसंधान-यज्ञ ही था। अण्णासाहब भी गुरु के पदचिह्नोंपर ही चलते रहे। उनके बारे में विशेष बात यह रही कि भातखंडे संगीत विद्यापीठ के तत्त्वावधान में विधिवत् शोध-कार्य करने और करवाने का अवसर उन्हें प्राप्त हुआ। इस सिलसिले में विशेष गौरव की बात यह है कि संपूर्ण संगीत-क्षेत्र में विश्वविद्यालयीन शोधकार्य करानेवाले सर्वप्रथम संगीताचार्य अण्णासाहब ही हैं। भातखंडे विद्यापीठ में 'डॉक्टरेट' (संगीताचार्य) की उपाधि प्राप्त करनेवाली पहली छात्रा श्रीमती सुमति मुटाटकर के गुरु एवं मार्गदर्शक अण्णासाहब ही रहे। इस दृष्टि से देश में हिंदुस्थानी संगीत-क्षेत्र में संगीत में डॉक्टरेट पानेवाली पहली छात्रा सुमति जी ही हैं। अन्य संस्थाओं की डॉक्टरेट की उपाधि का सिलसिला इसके पश्चात् जारी हुआ।

उपर्युक्त घटना के पूर्व स्वयं अण्णासाहब को भातखंडे संगीत विद्यापीठ के द्वारा मानद रूप में संगीताचार्य/डॉक्टरेट उपाधि ससम्मान प्रदान की गई थी। क्योंकि जब १९४० में भातखंडे संगीत विद्यापीठ की स्थापना हुई, तब अनुसंधान-कार्य को गति देने की जरूरत महसूस हुई।

इसके प्रथम चरण के रूप में यह ठीक समझा गया कि संप्रति जो ज्येष्ठ प्राध्यापक यहां अध्यापन करते हैं उन्हें 'संगीताचार्य' उपाधि प्रदान की जाए। इस प्रस्ताव के अनुसार चार ज्येष्ठ कलाकार-अध्यापकों को यह उपाधि १९४९ में एक औपचारिक प्रमाणपत्रवितरण-समारोह में प्रदान की गई - उस्ताद अल्लाउद्दीनखां, पं. राजाभैया पूछवाले, पं. वाड़ीलाल शिवराम और अण्णासाहब रातंजनकर। इसी दौरान कुछ वरिष्ठ अध्यापकों को 'संगीत निपुण' की उपाधि मानद रूप में प्रदान की गई - पं. जी. एन्. नातू (संगीत निपुण) पं. वी. जी. जोग (वाद्य निपुण), उ. सखावत हुसैन (वाद्य निपुण) और श्री. मोहनराव कल्याणपुरकर (नृत्य निपुण)।

यहां जाते जाते इस बात पर भी ध्यान खींचना अस्थान में नहीं होगा कि संगीत-क्षेत्र में सर्वप्रथम डॉक्टरेट उपाधिधारी महिला छात्र ही रही। इसका श्रेय श्रीमती मुटाटकर की लगन एवं महत्वाकांक्षा को देना ही होगा किंतु इस घटना की पृष्ठभूमि में अण्णासाहब के श्रेय को भी ध्यान में रखना होगा। वस्तुत: उत्तर भारत में महिलाओं के संगीत-शिक्षण के लिए उतनी अनुकूलता नहीं थी। किंतु भातखंडे संगीत महाविद्यालय का वातावरण, वहां का अध्यापक वर्ग, अण्णासाहब का अकलुष एवं समुचित नेतृत्व इन सभी अनुकूलताओं के कारण महिलाओं के अभिभावकों को उन्हें महाविद्यालय में संगीत-शिक्षा के लिए (और वह भी आगे चलकर होस्टेल में रहकर पढ़ने के लिए) भेजने में संकोच महसूस नहीं होता था। १९४० के आसपास जब हम सब अण्णासाहब के पास रहकर संगीत का उच्च शिक्षण पा रहे थे, तब कुछ महिलाएं भी हमारी सहपाठिनें थीं। इनमें उस समय की सुशीला नंबियार (आज मिश्रा), श्रीमती लीला वाड़ेगांवकर आदि महिलाएं भी थीं। श्रीमती मुटाटकर नागपुर में ही विशारद हो चुकी थीं। उनके लिए लखनऊ में यंग वुइमेन्स ख्रिश्चन असोसिएशन के होस्टल में निवास की व्यवस्था हो जाने के बाद उन्होंने वहां आकर विशारद की परीक्षा उत्तीर्ण करके विद्यापीठ के स्नातकोत्तर विभाग में प्रवेश लिया और अण्णासाहब के मार्गदर्शन में पहले 'निपुण' और पश्चात् 'संगीताचार्य' की उपाधि प्राप्त की।

खैरागढ़ विश्वविद्यालय में शोध-कार्य

जब अण्णासाहब खैरागढ़ के 'इंदिरा संगीत कला विश्वविद्यालय' के उपकुलपति बनकर गए तब वहां तो स्वाभाविक तौर पर उनके शोध-कार्य के लिए अधिक अवसर प्राप्त हुआ। उनके मन में संगीत विषयक अनेक नूतन विषयों की उद्भावनाएं हमेशा जागती ही रहती थीं। लखनऊ के कार्यकाल में ही लोकसंगीत के विषय में उनके मन में अनेक जिज्ञासाएं जागृत हुई थीं। वे बराबर सोचते रहते थे कि भरत के काल में जो जातिगायन था उसका सूत्र कहीं न कहीं पारंपारिक लोकसंगीत में ढूंढा जा सकता है। इस सिलसिले में उन्होंने लोकसंगीत का अध्ययन करना आरंभ किया था और भरतपुर इलाके के लोकसंगीत को जगह जगह पहुंचकर, सुनकर, उसकी स्वरलिपि बनाकर उन्होंने उसका अध्ययन किया और 'Folk songs of Bharatpur state' के नाम से एक एक पुस्तिका रियासत भरतपुर के द्वारा ही प्रकाशित कराई। इस कार्य में भरतपुर के दीवान और अण्णासाहब के स्नेही श्रीमान रामलाल बात्राजी ने बहुत सहायता पहुंचाई थी।

अण्णासाहब ने लोकसंगीत के अनुसंधान की दिशा में अपने शिष्यों को भी प्रोत्साहित किया। जोधपुर के संगीत विभाग की अध्यक्षा श्रीमती शांति सहल को उन्होंने प्रेरित किया। खैरागढ़

के परिसर में विद्यमान छत्तीसगढ़ी बोली के लोकगीतों का सांगीतिक विश्लेषण करने के लिए उन्होंने श्रीमती सुशीला पोहनकरजी को प्रोत्साहित किया और आगे चलकर उन्होंने इस विषय में अनुसंधान करके डॉक्टरेट प्राप्त की।

हमारे गुरुबंधु श्री दिनकर कायकिणी को हवेली संगीत के अध्ययन के लिए प्रेरणा देनेवाले अण्णासाहब ही थे। .... इस प्रकार अण्णासाहब के कलापक्ष, शास्त्रीय पक्ष और शोधपक्ष तीनों दृष्टिकोणों से निजी अध्यवसाय, छात्रों का मार्गदर्शन और अंतिम फलप्राप्ति की दिशा में निरंतर अनुसरण करनेवाले विद्यागुरु थे। उनके सान्निध्य में रहकर हम शिष्यों ने विद्याध्ययन का जो कलात्मक आनंद लूटा है वह वर्णनातीत है। उसकी कुछ थोड़ी झलक ही यहां बताना संभव हो सका। परंतु इतने अपर्याप्त वर्णन के आधार पर भी यह सिद्ध हो सकता है कि महापुरुष पं. भातखंडेजी ने संगीतक्षेत्र के नवजागरण की जो परिकल्पना की थी, जिस स्वप्न को वे बराबर संजोए रहे उसकी प्रत्यक्ष में अवतारणा करने में उनके शिष्योत्तम 'बाबू' ने पर्याप्त सफलता पाई और गुरुऋण को चुकाने में कोई कसर उठा न रखी। अपने अंतिम दिनों में विकलांग दशा में दिन बिताते समय पं. भातखंडेजी ने अण्णासाहब के नाम एक पत्र लिखा था, जिसमें इसी बात का स्पष्ट संकेत था। पंडितजी ने कहा था– "अब मुझे अपने भावी कार्य की चिंता नहीं। क्योंकि मुझे ऐसे मेधावी और कर्मठ शिष्य का लाभ हुआ है कि वह इस अनुष्ठान को समुचित दिशा में गति देकर रहेगा।"

....अब आता है क्षण अंतिम अध्याय का, जिसमें परमगुरु के अंतिम वियोग की अटल और दुखद अनुभूति से टकराना है। यह भी जानना है कि सांगीतिक क्षेत्र के अतिरिक्त उन्होंने पारिवारिक जीवन कैसे बिताया, उनकी मानसिकता कैसी रही और यह भी देखना है कि स्वर्ग सिधारने के बाद भी उनके बारे में 'सुनता है गुरु ग्यानी' का अनुभव हम शिष्यगण किस प्रकार पाते रहे हैं.....।

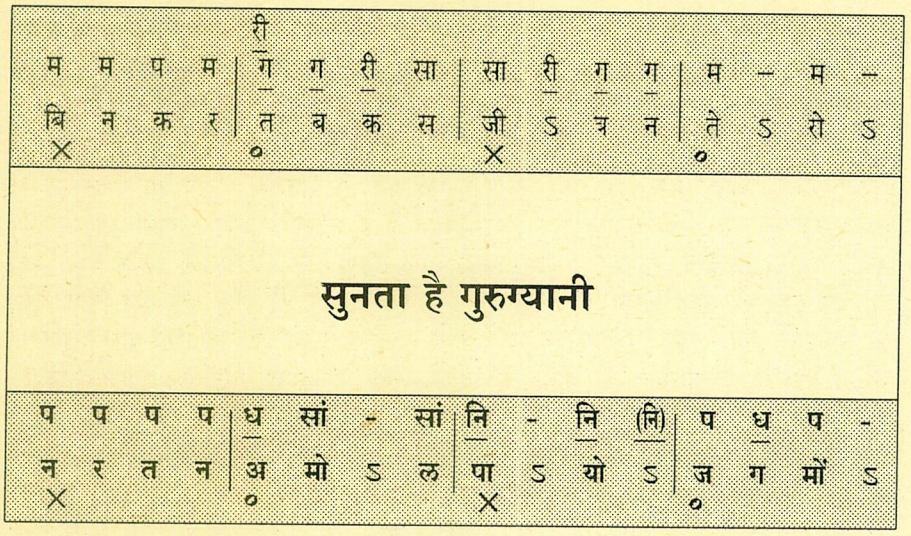

संगीताचार्य डॉ. अण्णासाहब रातंजनकर के समस्त जीवन को एक नजर से देखने पर सही समझ में आता है कि आपका जन्म घरपरिवार को सुचारु रूप से 'हांकने', धनवैभव प्राप्त करके लोक में सभी प्रकार के सुख भोगने और *'बी. ए. किया, नौकर हुए, पेन्शन मिली और मर गए'* के लिए नहीं हुआ था। हिंदुस्थानी संगीतेतिहास के एक अभिमंत्रित तेज:पुंज कालखंड से तपकर निकला हुआ उनका ध्येयवादी व्यक्तित्व अपने पथप्रदर्शक गुरुजनों के शेष कार्य को अग्रसर करने के लिए गठित हुआ था। अत: कहना जरूरी नहीं कि संगीताचार्य अण्णासाहब की जीवनी में घर-परिवार, घरेलू संबंध, अभिनंदन-सम्मानों का चटकीला वर्णन आदि के लिए गुंजाइश नहीं के बराबर रहेगी। 'नहीं के बराबर' का मतलब है कुछ थोड़ा अवसर इन बातों के लिए भी देने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती! .....इसीकी परिपूर्ति इस अंतिम अध्याय में करनी है।

अण्णासाहब ने अपने कार्यकाल में अनेक प्रकार के सम्मान प्राप्त किए, जिनमें भातखंडे संगीत विद्यापीठ के द्वारा ससम्मान 'डॉक्टरेट' की मानद उपाधि प्रदान होना (१९४७), आकाशवाणी ऑडिशन बोर्ड के वाइस चेअरमन के नाते नियुक्ति (१९५०), संगीत के प्रथम शासनाधिष्ठित विश्वविद्यालय के प्रथम उपकुलपति के रूप में मनोनीत होना (१९५७), और उसी विश्वविद्यालयद्वारा 'संगीताचार्य' की मानद उपाधि प्राप्त होना (१९६०) तथा भारत सरकार के द्वारा 'पद्मभूषण' की उच्चतर उपाधि से विभूषित होना आदि का समावेश होता है। अन्य सम्मानों का भी उल्लेख पहले हो चुका है। इन सब सम्मानों से गुजरते समय अण्णासाहब की मानसिकता कैसी थी, यह विचार यहां महत्त्वपूर्ण है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'रामचरितमानस' के किष्किंधा कांड में पंपासरोवर के वृक्षों का वर्णन करते हुए कहा है–

'फल भर नम्र विटप सब। रहे भूमि नियराई।
पर-उपकारी पुरुष जिमि। नवहिं सुसंपति पाई॥'

अर्थात्, फलों के भार से वृक्ष नम्र होकर भूमि की ओर यों झुक गए हैं, मानो परोपकारी पुरुषों को नई सुसंपत्ति प्राप्त हुई हो। इन सभी सम्मानों को अण्णासाहब ने वीतरागी कर्तव्यबुद्धि से स्वीकार किया और अपना प्रत्येक क्षण उनसे निर्मित उत्तरदायित्वों को पूरी ईमानदारी और समर्पण-भाव से निभाने में लगा दिया। आकाशवाणी के 'प्रकरण' का तो हमने विस्तार से बयान किया, जिसमें यह देखा गया कि एक पाई का भी मानधन न लेते हुए केवल संगीत के व्यवस्थापन और विकास के लिए अण्णासाहब ने न केवल अक्षरश: अपना तन-मन-धन दिया, बल्कि गुनिजनों, गुरुजनों, अभिभावकों और सहयोगियों की नाराजी (और कहीं कहीं तो) द्वेष तक को मोल लिया। फिर इस कांड से निर्मित द्वेष को कहां तक तूल दिया गया, इसे भी हमने देख लिया है। यहां पर यह रेखांकित करना है कि आकाशवाणी द्वारा 'बुकिंग' बंद हो जाने से अण्णासाहब को जीवन के अंतिम दशक में भयानक मानसिक यंत्रणा, अकारण उदासीनता और गिरते हुए स्वास्थ्य का सामना करते हुए अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करनी पड़ी। धीरे धीरे व संगीत के माहौल से ही अपने को खींचते गए और किसीसे मिलना-जुलना छोड़कर अपने ही एकांत में घुटते रहे।

किंतु इस अवस्था के पीछे एक और कारण भी था– पारिवारिक बदलाव। घर के सदस्योंने एक ही निवास में अपनी अपनी खिचड़ी अलग पकाना शुरू कर दिया था– जमाने का प्रभाव! इसीमें बंबई की जगह की तंगी के कारण अण्णासाहब के ज्येष्ठ पुत्र नारायण ने अपना अलग घर बसाया और अपने छोटे भाई विद्याधर के साथ पिताजी को वहां जाकर रहने के लिए मजबूर किया। इस घटना की पीड़ा पहलेवाले हरे घाव पर नमक छिड़कने के समान मर्मांतक बन गई। .....उसीकी कहानी कुछ विस्तार से।-

अण्णासाहब के परिवार की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसमें आपसी मेल-जोल और परस्पर सहयोग की भावना गजब की थी। वैसे बंबई जैसे शहर में इन लोगों को काफी गरीबी में ही रहना पड़ता था। किंतु एक की आमदनी में दूसरे की सहायता होती थी और इस प्रकार योगक्षेम चल सकता था। अब यह तो स्पष्ट था कि अण्णासाहब को १९२६ से लेकर १९७० तक (क्योंकि साठ के बाद भी उन्हें लखनऊ जाना ही पड़ा था) परिवार से हजार से अधिक मील दूर रहना पड़ा था। छुट्टियों में जितना संपर्क हो पाता उतना ही परिवार से उनका संबंध आता। इस लंबी कालावधि में इस परिवार पर अनेक आपत्तियां आईं, जिसमें अण्णासाहब के ज्येष्ठ बंधु का गांधी हत्या के कांड में वध होने की घटना एक है। फिर श्री गजाननराव ही परिवार की देखभाल करते थे। इस समस्त माहौल में एक व्यक्ति को हम कदापि भूल नहीं सकते - अण्णासाहब की धर्मपत्नी **श्रीमती इंदिराबाई**। उनके त्याग और सहिष्णुता का कोई जवाब नहीं था। यद्यपि परिवार का नेतृत्व उनकी ननंद **श्रीमती माणिकबाई** करती थीं, फिर भी अपने बेटे-बेटियों की निगरानी करना और पति के विरह की पीड़ा को बर्दाश्त करते हुए उनके कार्य में उन्हें प्रोत्साहन देना उन्हींका काम था।

अब अण्णासाहब को अपनी संतान के प्रति लगाव तो अवश्य था, किंतु निरंतर दूर रहने के कारण अपने पुत्रों से उनका संपर्क टूट-सा गया था। इसीलिए आम पिता-पुत्र में जो नैकट्य रहता है, उसका यहां कुछ अभाव ही था। हां, लेकिन लड़के उनका आदर अवश्य करते थे, उनके सम्मान में जरा भी ठेस न आने देते थे। फिर भी पीढ़ी का जो अंतर था, उसके लिए कोई क्या कर सकता है? उदाहरण के लिए अण्णासाहब को अपने पुराने गवालिया टैंकवाले

मकान के प्रति जो अंदरूनी लगाव था, उसकी कल्पना बेटों को नहीं हो सकती थी। यहां पर यह भी बताना जरूरी है कि अण्णासाहब के पिताजी ने अपने देहावसान के समय सब बेटे-बेटियों से यह शपथ ली थी कि हम कभी एक दूसरे से विभक्त नहीं होंगे। वह सारी मानसिकता अण्णासाहब में कूट-कूटकर भरी थी।

किंतु इधर परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ गई थी। सबका इकट्ठा रहना संभव नहीं था। तो उनके दूसरे पुत्र विद्याधरने, जो यूनियन बैंक ऑफ इंडिया में नियुक्त थे, बंबई के जोगेश्वरी विभाग में एक फ्लॅट ले लिया और पिताजी को वे साग्रह वहां रहने के लिए ले गए। अब लखनऊ से अवकाश ग्रहण करने के उपरांत कुछ ही वर्षों में आकाशवाणी से 'कॉन्ट्रॅक्ट' मिलना बंद होने की घटना से अण्णासाहब को जो मानसिक आघात हुआ था, उससे वे पहले से ही मायूस और विरक्त हो गए थे। किसी भी बात में रस लेने का उन्हें मनही नहीं होता था। ऐसी दशा में इस नए स्थलांतर ने उनकी मानसिकता को और भी बिगाड़ दिया। वे नए घर में रहने के लिए तो आए, किंतु किसी संन्यासी से भी विरक्त होकर वहां रहने लगे। किसीसे बात नहीं करते थे। अपने बाहरवाले कमरे को छोड़ वे घर के अंदर भी नहीं गए– आखिर तक!! अपनी चारपाई और कुर्सी पर बंधे रहे।

धीरे धीरे बीमारी ने उन्हें अपनी पकड़ में लिया। दवाइयां लेने से वे एकदम इन्कार करते थे। सच तो यह था कि वे जीने से ही उकता गए थे। संसार से विदा लेना ही उनके लिए शांति का मार्ग था। इसीलिए निग्रहपूर्वक वे सभी इलाजों को नकार देते थे। हम उन्हें अस्पताल में दाखिल करना चाहते थे, किंतु वे मानें तब न! आखिर हमारे सी. आर. व्यास आगे बढ़े। उन्होंने अस्पताल ले जाने में उनको मना लिया। वहां जाने पर जब जांच हुई तब डॉक्टरों ने बताया कि ये टी. बी. के शिकार हो चुके हैं और उस अवस्था को पार कर गए हैं कि इलाज कारगर ही नहीं हो पाएंगे। ऐसी हालत में भगवान के संदेश की प्रतीक्षा करने के सिवा कोई कर ही क्या सकता है? वह संदेश १३ फरवरी १९७४ को मध्यरात्रि के पश्चात् १.१० बजे आ गया और संगीत के संसार का एक तेजस्वी नक्षत्र पंचत्व में विलीन हो गया।

इस प्रसंग को पूरा करने से पहले श्मशानभूमि पर घटी एक इलहामी घटना का जिक्र करना इसलिए जरूरी लगता है कि उससे परिवार के प्रति अण्णासाहब की जो मानसिकता थी वह और स्पष्ट होगी। हिंदू धर्मसंस्कार के समान श्मशान में 'काकपिंड' कराना था। श्राद्ध के बाद पिंड बनाए गए और कौओं के स्पर्श की प्रतीक्षा होने लगी। संयोग ऐसा रहा कि एक भी कौआ पिंड के पास फटकने को तैयार नहीं था। फिर प्रथा के अनुसार एक एक वचन दिए जाने लगे। अंत में हमारी गुरुमाता श्रीमती इंदिराबाई आगे बढ़ी। उन्होंने कहा– "आपका प्रत्येक वार्षिक श्राद्ध हम गवालिया टैंकवाले मकान में ही करेंगे।" बस इतना कहना था कि काकस्पर्श हुआ! .....घटना इलहामी है। किंतु बहुत कुछ कहनेवाली है!

अण्णासाहब दुनिया से विदा हुए, किंतु हम शिष्यों के हृदय में वे आज भी वैसे ही जीवित हैं। केवल हृदय में क्या कहूं– हमारे आसपास, हमारे परिसर में भी! आज भी वे हमारा मार्गदर्शन करते हैं, हमारी मुश्किलों को आसान करते हैं। उनका अस्तित्व हमारे चारों तरफ है। मुझे कभी नहीं लगता कि अण्णासाहब मुझसे दूर गए हैं। और यह अनुभव केवल मेरा नहीं, मेरे गुरुभाइयों का भी रहा है। और मैं यह भावविवश होकर नहीं कह रहा हूं, मेरे अपने और मेरे गुरुभाइयों के अनुभवों के आधार पर कह रहा हूं। इन अनुभवों का यहां बयान करने से

पहले यह कहना जरूरी लगता है कि यदि किसीको ये काल्पनिक लगें तो लग सकती हैं, किंतु हैं वह वास्तव में घटी हुई घटनाएं ही।

नया राग चारुमती

सबसे पहले हमारी बहन जरीन दारुवाला (आज शर्मा), जो कि विख्यात सरोद कलाकार हैं, के साथ घटी एक घटना का बयान करें। जरीनजी ने जिन गुरुओं से संगीत सीखा उनमें भटसाहब का मार्गदर्शन ज्यादा था। उनको संगीत की 'नजर' भटसाहब की शिक्षा से ही प्राप्त हुई है। उनके पास सीखते समय अण्णासाहब से भी उनका काफी संपर्क होता रहा था। तब जरीन बहन के पिताजी ने अण्णासाहब से कहा था कि आपका भी नाम हम गुरुजनों में रखना चाहते हैं। अण्णासाहब ने भी कहा- "ठीक है, तुम्हें जब वक्त मिले, तब आ जाया करो।" इसमें भाव यह था कि एक घर का शागिर्द होने पर वह अपना ही हो गया। इस प्रकार जरीनजी ने अण्णासाहब को भी अपना गुरु मान लिया था।

श्रीवल्लभ संगीतालय में अण्णासाहब की पहली या दूसरी पुण्यतिथि मनाई जानेवाली थी, जिसका संयोजक और निवेदक मैं ही था। पुण्यतिथि के अवसर पर आयोजित संगीत के कार्यक्रम में हमने श्रीमती जरीनजी का सरोदवादन आयोजित किया। उन्होंने भी सहर्ष हामी भर दी। 'ग्रीन रुम' में वे साज को मिला रही थीं तब मैंने उनसे राग का नाम पूछा। उन्होंने कहा- "आज मैं गुरुवर अण्णासाहब को मेरा बनाया एक नया राग सुनाना चाहती हूं और उसकी प्रथम प्रस्तुति के लिए उनका आशीर्वाद पाना चाहती हूं। आप 'चारुप्रिया' राग घोषित कर दीजिए। और यह भी कहिएगा कि मैं अपना यह नया राग गुरुजी को सुना रही हूं।" मैंने उसी तरह से घोषित कर दिया और चूंकि वह आखिरी 'आइटेम' था, मैं सामने श्रोताओं में जा बैठा। सरोदवादन बढ़िया रहा और राग भी सुंदर था। सब लोग अपने अपने घर गए। सब ठीक-ठाक ही हुआ था। रात को मैं निद्राधीन हुआ।

....और सुबह साढ़े पांच बजे मेरी आंख खुल गई, अण्णासाहब की आवाज सुनकर! उनकी आवाज तीन बार मेरे कानों में गूंज उठी– 'चारुमती, चारुमती, चारुमती!' यह अण्णासाहब की आवाज है और वे 'चारुमती' शब्द का उच्चारण कर रहे हैं। तीन बार स्पष्टत: वह शब्द मैंने सुना। फिर सब कुछ शांत हो गया। मैं सोच में पड़ गया; मेरी नींद खुल गई। सोचते सोचते साढ़े आठ बजे। मेरे दिमाग में रोशनी की किरण जागी। संभव है कि इसका संबंध जरीनजी के नूतन राग के नामकरण से हो। मैंने तुरंत बहनजी को फोन किया और पूछा–

"जरीन बहन, कल आपने जो राग बजाया, क्या उस में चारुकेशी में तीव्र मध्यम का प्रयोग किया था?"

"हां, बिलकुल सही है। मैंने चारुकेशी में तीव्र मध्यम लगाकर ही बजाया था। इसीलिए उसका एक दूसरा नाम 'चारुप्रिया' मैंने रखा।"

इसपर मैंने जरीनजी को सारी घटना बता दी। उन्हें ताज्जुब होना स्वाभाविक ही था। उन्होंने कहा– "आज से मैं इस राग का नाम 'चारुमती' ही रखूंगी, तीव्र मध्यमवाला चारुकेशी!"

भातखंडे-प्रशस्ति-पद

अब खुद मेरे साथ घटी हुई दस-एक वर्ष पूर्व की घटना बताता हूं। हमारे भारतीय विद्याभवन

के संगीत शिक्षापीठ के द्वारा भातखंडे पुण्यतिथि के अवसर पर 'भातखंडे उत्सव' मनाने की प्रथा चलती है। तो गुरुबंधु दिनकर कायकिणी, जो वहां संगीतपाठ के अध्यक्ष हैं, के मन में यह कल्पना आई कि इस वर्ष हर दिन की संगीत-सभा का आरंभ 'चतुर प्रशस्ति' (पं. भातखंडे प्रशस्ति) के साथ हो और वह गीत कोरस में (सामूहिक रूप से) गाया जाए। फिर एक सबेरे दिनकर का फोन आया। उन्होंने सबेरे के सत्र में मेरा भाषण रखा था। विषय था- 'भातखंडेजी का सौंदर्यात्मक दृष्टिकोण- हिंदुस्थानी संगीत के संदर्भ में।' उत्सव के १५ दिन पूर्व दिनकर का फोन आया।

''क्यों भई, अण्णासाहब ने भातखंडे प्रशस्ति का कोई पद सुबह के रागों में बनाया है?''

मेरे मुंह से निकल पड़ा- ''हां, है शायद?'' तब दिनकर ने कार्यक्रम में उस पद को गवाने की व्यवस्था कर दी और कार्यक्रम को निमंत्रण में छपवा भी दिया। इधर मैं सोच में पड़ गया कि मैंने कह तो दिया कि गीत है, लेकिन वह मिले तब न! अण्णासाहब की जितनी बंदिशें मेरे पास थीं, सबको एक एक करके देखा, किंतु सुबह के रागों में 'भातखंडे प्रशस्ति' का कोई गीत नहीं मिल रहा था। फिर तो मैं बेहद बेचैन हो गया। अब मैंने अण्णासाहब को ही गुहार देना उचित समझा और मन ही मन उनसे कहने लगा – ''अण्णासाहब मैंने 'कमिट' कर दिया है अब आप ही मेरी सहायता कीजिए।''

यहां जाते जाते यह कह देना चाहिए कि अण्णासाहब ने अपने हरेक शिष्य को रचना बनाने के लिए प्रोत्साहित किया था, उसके अनुसार कई एक शिष्यों ने वह परंपरा चला दी है। मुझे भी उन्होंने प्रेरणा दी थी। यों मैंने कुछ बंदिशें और तराने बनाए भी हैं, लेकिन पुरानी बंदिशों को ही याद करना उचित समझकर मैं उस प्रवृत्ति से धीरे धीरे हट गया था। इसी कारण ऐन वक्त पर कोई दर्जेदार गीत बना देने की बात मेरी चिंता का विषय हो रही थी। फिर भी एक एक पंक्ति को जोड़-तोड़ कर कोई रचना बनाने का प्रयत्न मैं करता रहा। किंतु संतोष नहीं हो रहा था। अंत में जब मैंने अण्णासाहब को ही सहायतार्थ पुकारा तब.....

दूसरे दिन प्रातःकाल, भोर के प्रथम प्रहर में मेरे कान में अण्णासाहब की आवाज गूंजने लगी।–

चतुर गुणगान बखानत सुजन। चतुर गुणगान बखानत और पूरी बंदिश बन गई। उसका कुछ अंश देखिए–

चतुर गुणगान बखानत सुजन। चतुर गुणगान बखानत।
भरतखंड विप्रवंश विष्णु। नारायणांशतें तुम अमर भयो॥ध्रु.॥
बाल-अवस्था सुर-चिंतन करि। गीत ग्यान में गुनि कहलायो।
ताहि संग तुंव नियमरीत। संपादन करि निज जीवन सफल बनायो॥
.....इत्यादि।

तो इस बंदिश को उसकी स्वररचना के साथ मैं अपनी अर्ध-तंद्रा में सुनता और गुनता रहा था और उसी अर्धजागृत मनोदशा में सोच रहा था कि इसमें नाममुद्रा या तखल्लुस क्या दिया जाए। और इसी बीच अंतिम पंक्ति सुनाई पड़ी—

'त्रिवार वंदन करहु 'सुजनसुत'
धन्य चतुर, हर रंग तुंव अमर बनायो।'

'सुजान' अण्णासाहब का सांगीतिक उपनाम था और उनका सुत मैं अर्थात् सुजनसुत! साथ ही भातखंडे जी के और एक उपनाम 'हर रंग' का प्रयोग भी उनके लिए भातखंडे प्रशस्ति के पदों में अण्णासाहब ने नहीं किया था। इस उपनाम का प्रयोग भातखंडेजी ने अपने गुरु महमदअलीखां को अर्पण की हुई स्वरचित बंदिशों में अपने लिए किया था। तो ऐसी अद्‌भुत घटना! इस बंदिश के शब्दचयन को देखकर ही अण्णासाहब की स्वरों की और शब्दों की शैली की शक्ल अपने आप उजागर हो जाती है। फिर उसकी साहित्यिकता को देखने पर उनकी शैली के दर्शन और स्पष्टता से होते हैं। अर्धनिद्रा में बंदिश की पंक्तियां सुनने का यह सिलसिला ६-७ दिन तक चलता रहा। मैंने जो पंक्तियां सुनी थीं, उन्हें एक एक याद करके मैं कागज पर उतारता गया। कार्यक्रम में इस बंदिश का गायन हो जानेपर सब लोग हैरान रह गए। जब गुरुबंधुओं को सारी घटना बता दी तब उनका हृदय हर्ष से और भक्तिभाव से भर गया! इसमें एक और विशेष संयोग भी रहा। जिस दिन सपने में आकर अण्णासाहब ने बंदिश की आखिरी पंक्ति मुझे सुनाई वह दिन १० अगस्त था याने भातखंडे जी का जन्मदिवस! इसलिए उस वर्ष जो स्मारिका प्रकाशित हुई, उसमें दिनकर कायाकिणी ने एक खास नोट छपवाई– "भातखंडे-प्रशस्ति की बंदिश गुरुवर्य रातंजनकरजी की प्रेरणा से उनके मानसपुत्र 'सुजनसुत' के द्वारा रची हुई है।"

और अण्णासाहब को लेकर इस प्रकार की अनुभूति मुझे बराबर मिलती रही है। मैं जब जब उनको हृदय से पुकारता हूं तब वे मेरे पास आ जाते हैं। मुझे यह हमेशा महसूस होता रहा है कि जब कभी संगीतविषयक कोई गंभीर चिंतनात्मक भाषण देना होता है (और ऐसे नए नए विषय चुनने की भी मेरी प्रवृत्ति है) तब भीतर से अण्णासाहब ही मुझे प्रेरणा दे रहे हैं ऐसा प्रतीत होता है। एक समय भारतीय विद्या भवन में चर्चा के दौरान मैंने एक दलील की "कई राग ठाठ-परिवर्तन से बदल गए हैं। राग के किसी अंग का ठाठ बदल दीजिए, राग बदल जाता है। उदाहरणार्थ, मुलतानी धनाश्री अंग का राग है। उसमें तोड़ी-ठाठ के स्वर हैं। फिर भी रागांग बदलने से ठाठ में सुर पलट गए। मुझे यह एक अनुभूति उस वक्त मिल रही थी।" मैंने वैसा बोल दिया और उसका प्रात्यक्षिक भी गाकर प्रस्तुत कर दिया। अब यह जो उद्‌भावना थी उसका संकेत अण्णासाहब के द्वारा मिली तालीम में नहीं आया था। वह बात भाषण के दौरान नए सिरे से सामने आ गई। और इसका मैं यही मतलब समझता हूं कि गुरुवर अण्णासाहब ही हमें बार बार प्रेरणा देते रहते हैं।

इसी प्रकार की अनुभूति मेरे गुरुबंधु पं. दिनकर कायकिणी को भी मिली है। उन्हें 'राग जोग' की तालीम प्राप्त नहीं हो सकी थी और इस राग को महफिल में साधिकार प्रस्तुत करने की ललक उन्हें बेचैन बनाए दे रही थी। एक दिन, इसी प्रकार, सपने में अवतरित होकर अण्णासाहब ने नई बंदिश के साथ दिनकर को उस राग की तालीम दी और उसके बाद दिनकर की महफिलों में वह राग अत्यंत आकर्षक अंग बन गया! हां, इन सब घटनाओं को देखकर किसी किसी को विश्वास नहीं भी हो सकता है। किंतु ये अनुभव की हुई सत्य घटनाएं हैं, इसमें तिलमात्र भी कल्पना का अंश नहीं।

भरत-वाक्य

संगीताचार्य गुरुवर अण्णासाहब रातंजनकर जी का चरितगान जितना भी किया जाए, हम

शिष्यों को वह अपूर्ण ही लगेगा। मुझे विश्वास है कि इतना सब बयान-बखान करने के बावजूद बहुत-सी बातें छूट गई हैं। इसकी अंशात्मक परिपूर्ति की दृष्टि से इस बृहद्ग्रंथ के 'संपादक मंडल' ने अण्णासाहब के लगभग सभी शिष्यों से लेख, संस्मरण, छायाचित्र आदि को प्राप्त करके ग्रंथ में ग्रथित कर दिया है।

मैं अपनी तरफ से और हम सब गुरुभाइयों की तरफ से इतना ही संतोष व्यक्त करना चाहता हूं कि हमारे द्वारा गुरुवर रातंजनकर की कुछ न कुछ सेवा इस ग्रंथ के माध्यम से हो सकी। यों उनके लिए जितना भी किया जाए, कम ही है। उनके अपार ऋण से मुक्त होना तो संभव ही नहीं। उस ऋण को वहन करना ही संतोषप्रद है।

संत कबीर ने कहा है–

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागौं पाय ?
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविंद दियो बताय ॥

संगीत तो गोविंद-स्वरूप है। उस गोविंद की प्राप्ति हमें गुरुमहोदय की कृपा से ही हो सकी। कबीर का कहना है कि जिन गुरुजी ने गोविंद से हमारा साक्षात्कार कराया, उन्हींके चरण सर्वप्रथम छूने चाहिए। हमारे मन में अण्णासाहब के लिए यही स्थान है।

परमात्मा से हम सर्वात्मना यही कामना करेंगे कि–

- हम सबके हाथों गुरुमहोदय की अधिक से अधिक सेवा संगीत विषयक कार्य के द्वारा होती रहे, और
- सर्वंकष दृष्टि से संगीत का विकास और और होता रहे और उस सुरसरिता के प्रवाह को अक्षुण्ण रखने के कार्य में भातखंडे परंपरा के हम सभी शिष्यों के जीवन का हर क्षण और हर कण नि:स्वार्थ भाव से समर्पित होता रहे !!



विशिष्ट लेख



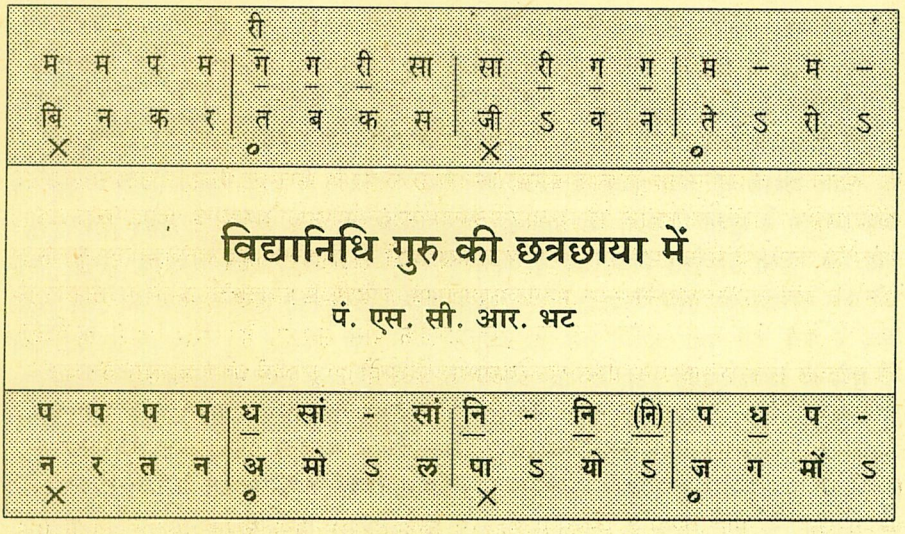

[आचार्य अण्णासाहब रातंजनकर के सर्वज्येष्ठ शिष्य। पैंतीस वर्ष गुरु की सन्निधि और मार्गदर्शन से लाभान्वित। अधिकारी ध्रुपद गायक तथा ख्यालिए। रसिकों के लिए भट और के. जी. गिंडे का युगल गायन ध्रुपद प्रस्तुति का एक अनोखा अनुभव था। संपूर्ण जीवन संगीत के लिए समर्पित। संप्रति 'श्रीवल्लभ संगीतालय' (सायन, बम्बई) में 'एकैडेमिक प्रिन्सिपल'।]

मुझे श्री अण्णासाहब के चरणों में मेरे ही आदि गुरु परम पूज्य स्वर्गीय श्री. कृष्णभट होनावरजी (जो कि पू. अण्णासाहब के भी गुरु थे) ने डाला। मेरे आदि गुरु कृष्णभट मेरा अगला संगीत का शिक्षण किसी अच्छे खानदानी उस्ताद से दिलवाने के हेतु ईसवी सन १९३२ में मेरे बड़े भाई साहब के साथ मुझे मुंबई लेकर आए थे। पर १९३२ से १९३५ तक मुझे किसी भी उस्ताद के सुपुर्द करने के प्रयत्नों में उन्हें सफलता प्राप्त हो नहीं सकी। क्योंकि उस जमाने में वे मुझे जिन लोगों से तालीम दिलवाना चाहते थे, वे सब अपने अपने ट्यूशनों में इतने व्यस्त रहते थे कि उनको और ट्यूशनें लेने के लिए समय ही नहीं रहता था। मेरा समय ऐसा ही बीतता जा रहा था, साथ साथ मेरी अगले शिक्षण की सुविधा न हो पाती थी। एक दिन हमारे गुरु श्री कृष्णभटजी की भेंट श्री अण्णासाहब के बड़े भाई साहब श्री. दत्ताराम रातंजनकर जी से हुई। यह भेंट करीब २०-२१ साल के बाद हो रही थी। इस कारण यह स्वाभाविक ही था । गुरु श्री कृष्णभटजी ने श्री अण्णासाहब के बारे में पूछा कि आजकल वे कहां हैं, क्या करते हैं। सब कुशल मंगल समाचार पूछा। उत्तर के हेतु श्री दादासाहब रातंजनकरजी ने उनसे कहा, "वे आजकल लखनऊ में मैरिस म्यूजिक कॉलेज के प्रिन्सिपल हैं, और कल ही दुर्गापूजा की छुट्टी की वजह से यहाँ आए हुए हैं, तथा २०-२५ दिन यहाँ रहनेवाले हैं। यह सुनकर गुरु श्री कृष्णभट बड़े ही खुश हुए। और तुरंत श्री दादासाहब रातंजनकरजी से कहने लगे कि चलो, मैं उन्हें अभी देखना चाहता हूं; यह कहकर उन्हींके साथ श्री अण्णासाहब को देखने उनके घर गए। श्री अण्णासाहब भी अपने आदि गुरु श्री कृष्णभटजी को २०-२१

साल के बाद देखकर बड़े ही प्रफुल्लित हुए और नमस्कार करते हुए तुरंत अपने दोनों तानपूरे मंगवाकर गुरु श्री कृष्णभटजी को उनकी ही सिखाई हुई चीजें गायकी के साथ गाकर सुनाईं।

श्री अण्णासाहब का गाना सुनकर श्री कृष्णभट बहुत ही धन्यता के साथ प्रसन्न हुए। अपने घर से निकलने के पहले उन्होंने श्री अण्णासाहब से पूछा कि मेरा एक शिष्य मेरे पास रहता है, आप जितने भी दिन मुंबई में रहेंगे उतने दिन उनको क्या कुछ सिखा पाएंगे? तब श्री अण्णासाहब ने खुशी से कहा कि अवश्य, आप उनको मेरे पास भेजिए, मैं जरूर सिखाऊंगा। उस दिन गुरुजी प्रफुल्लित होकर हर्ष के साथ घर आते ही, हमसे कहने लगे कि तुम्हारे लिये मैंने एक अच्छा गुरु प्राप्त किया है, कल सुबह उनके पास तुमको सीखने जाना है। अब इसके बाद वे जब जब यहां आवेंगे तब तब तुम्हें उन्हींके पास सीखना है। ऐसा गुरुजी के कहते ही मुझे तो इतना आनंद हुआ कि वह लिखने के लिए मेरे पास कोई भी शब्द नहीं हैं। क्योंकि मैं अपना अगला संगीताभ्यास करने के हेतु १९३२ से १९३५ तक कई लोगों से बहुत प्रयत्न करने के बावजूद मेरा सीखने का जम नहीं रहा था। इस कारण मैं आंतरिक दृष्टि से बहुत ही दुःखी था। जब हमारे गुरुजी ने मुझे उपरोक्त बात सुनाई कि "तुम्हारे लिए मैंने एक बहुत ही अच्छा गुरु प्राप्त किया है, कल सुबह तुम्हें उनके पास सीखने जाना है।" तो उसे सुनते ही उस दिन की रात एक साल की-सी लगी। सच बात तो यह है कि मुझे उस रात को पूरी नींद भी नहीं आई। इस वजह से दूसरे दिन सुबह थोड़ा जल्दी ही उठकर मेरा नित्यक्रम समाप्त करके मेरे गुरुजी के तैयार होने के एक घंटा पहले ही मैं तैयार होकर बैठा था। आखिर गुरुजी तैयार होकर मुझसे कहने लगे कि चलो अब बाबू के घर (हमारे आदि गुरु भी श्री अण्णासाहब को 'बाबू' कहकर पुकारते थे)। मैं गुरुजी के साथ निकला और पू. अण्णासाहब के घर पहुंचकर उनको नमस्कार करके एक ओर बैठ गया। उन्होंने मेरा नाम वगैरा पूछा और अंदर से तानपूरा मंगवाकर कहा कि तुमको जो कुछ भी आता हो, वह गाकर सुनाओ। मैंने पू. गुरुजी की सिखाई हुई राग तोड़ी की एक चीज गाकर सुनाई। हमारा तोड़ी का मसाला समाप्त होते ही मैंने गाना बंद किया, बंद करते ही मुझे पू. गुरुजी अण्णासाहब कहने लगे कि तानपूरा बंद मत करना, बजाते रहना। कहने लगे कि मैं जो कुछ भी गाऊंगा उसको उसी प्रकार स्वरों से (नोटेशन) तुम गाकर बताना कि वे किस राग के स्वर हैं। उन्होंने अलग अलग रागों के स्वर-समूह गाना शुरू किया। जिन रागों के स्वर मैं पहचानता था, उन रागों के नाम तथा स्वर-करण तो मैंने सौ फी सदी सही किया ही, साथ साथ जिन रागों के स्वर-समूह के नाम मैं नहीं जानता था, उनके नाम मैं नहीं बता पाया, तो भी उसका स्वर-करण तो मैंने सही किया। तब उनके साथ आए हुए विद्यार्थी श्री श्रीपाद बंदोपाध्याय से बोले कि इसको कहते हैं स्वरज्ञान। (गुरुवर्य श्री कृष्णभटजी की ओर उंगली दिखाकर) इसी प्रकार मुझे भी इन्होंने ही स्वरज्ञान दिया है", इस प्रकार स्वरज्ञान करना इनका ही हक है, कहके उन्होंने गुरुजी श्री कृष्णभटजी की तारीफ की।

इस प्रकार मेरी स्वरज्ञान की परीक्षा आधे घंटे तक हुई। पू. अण्णासाहब के पास ही उनके बड़े भाई साहब श्री दत्ताराम रातंजनकर बैठे थे। वे भी मुझसे कहने लगे कि अब मैं तुमसे एक आखिर का प्रश्न पूछता हूं। "बारह ही स्वरों का आरोह-अवरोह गाकर सुनाओ तो कैसे?" पहले तो मैं उनके प्रश्न का अर्थ समझा ही नहीं। हालांकि भिन्न भिन्न रागों में वे सब स्वर तो मैं गाता ही था, तब भी उस समय सारा संगीत बारह स्वरों के भीतर ही होता है, यह

मुझे मालूम ही नहीं था। इस वजह से मैंने गुरुजी श्री कृष्णभटजी से साफ कहा कि मुझे प्रश्न का अर्थ ज्ञात नहीं हुआ है। ऐसा कहते ही हमारे गुरुजी ने मुझसे पूछा कि 'सा' कितने हैं, 'री' कितने हैं, 'ग' कितने हैं ऐसे सब स्वर गिनो तो देखो कितने स्वर होते हैं? तो मैंने गिनकर देखा और कहा कि १२ स्वर होते हैं। बस, जैसे तुम यमन, भैरव इत्यादि रागों के आरोह-अवरोह गाते हो, वैसे ही बारह स्वरों का आरोह-अवरोह गाकर सुनाना है। इतना कहते ही प्रश्न समझ में आया और मैंने तुरंत बिना किसी प्रयास के बारहों स्वरों का आरोहावरोह गाकर सुनाया। तब मेरे आदि गुरुजी के साथ सब ही खुश हुए। इस प्रकार मैं गुरुजी के स्वरज्ञान की परीक्षा में फर्स्ट क्लास में उत्तीर्ण हुआ। इस प्रकार पू. अण्णासाहब स्वरज्ञान की परीक्षा लेते थे।

अब यह सब होने के बाद पू. गुरुवर्य अण्णासाहब कहने लगे अब तुम कल से ठीक सुबह ९.३० बजे तक आना। जबतक मैं मुंबई में हूँ तब तक आते रहना, तथा शाम को मैं यहां गाने बैठता हूं, हो सके तो तुम भी आना और मेरे साथ पीछे संगत करना। उनके दर्शन के पहले ही दिन से उनकी संगत करने का सौभाग्य मुझे उन्होंने ही प्राप्त करा दिया। इसीसे सिद्ध होता है कि यह उनकी कितनी बड़ी उदारता है। इस प्रकार मैं दूसरे ही दिन से नित्य उनके पास सुबह सीखने जाने लगा, डेढ़ दो घंटे तक सिखाते थे। शाम को उनके रियाज के समय भी उनके साथ पीछे बैठकर संगत करने को जाता था। ऐसे कुछ दिन गुजरने के बाद एक दिन उन्होंने पूछा कि "भट, तुमको गाना सीखना है ना? तो तुम लखनऊ क्यों नहीं आते हो? लखनऊ में ३-४ साल आकर सीखोगे तो तुम्हारा गाना बहुत कुछ अच्छा ही होगा। उसी दिन से मेरे मन में अब संगीत का अगला अभ्यास करने के लिए लखनऊ जाने की तमन्ना सवार हुई। मैंने अपने बड़े भाई से कहा कि मुझे किसी न किसी तरह से लखनऊ भेजने की व्यवस्था करो। मेरे घर की परिस्थिति या मेरे बड़े भाई की परिस्थिति ऐसी नहीं थी कि मुझे हर महीने १५-२० रुपये तीन चार साल तक भेज सके।

इधर पू. गुरुजी अण्णासाहब ने मुझे बताया कि कॉलेज की फीस हम माफ करेंगे, सिर्फ तुम्हारे रहने खाने की व्यवस्था कर लेना। देखिए यहां भी उनकी कितनी उदारता! अस्तु, अब लखनऊ जाने के बारे में विचार करते करते एक खास मित्र ने सुझाया कि हमारी ज्ञाति की एक संस्था है, वह विद्यार्जन करने के लिए 'लोन स्कोलरशिप' देती है, गाना सीखने के लिए देगी या नहीं यह नहीं कह सकते। तब भी प्रयत्न करने में क्या आपत्ति है? 'लोन स्कोलरशिप' (रु. २०) के लिए मैंने अर्जी दी, पर केवल दस रुपये ही मंजूर हुए। "बाकी के दस रुपये की व्यवस्था किसी न किसी प्रकार से हो जावेगी, तुम अपनी इच्छा के अनुसार लखनऊ जाकर अच्छी तरह से संगीत सीखना" मेरे बड़े भाई ने धैर्य दिया और उसी समय मेरा लखनऊ जाने का निश्चित हुआ। पू. गुरुवर्य अण्णासाहब के पहले पाठ से ही मुझपर परिणाम हुआ कि इनके पास सीखने के बाद और किसीके पास जाने की जरूरत नहीं पड़ेगी, और सच्ची बात यह है कि हम लोगों को ऐसी जरूरत पड़ी ही नहीं। इनके पास संगीत का अगाध भंडार था जो कि हम लोग अपने सात सात जनमों में भी हजम नहीं कर सकते, अस्तु।

इस प्रकार ईसवी १९३६ के जुलई महीने में मैं लखनऊ पहुँचा; वहां पहुँचते ही मुझे गुरुजी ने तीसरे वर्ष में याने मध्यमा के वर्ष में दाखिल कर लिया। मध्यमा में पू. गुरुवर्य नातू साहब सिखाते थे। उनकी कक्षा में हम केवल ६ ही महीने रहे। मध्यमा उत्तीर्ण होने पर पू. गुरुवर्य

अण्णासाहब की कक्षा में पहुँचा और लगातार गुरुजी के आखिर के क्षण तक उन्हींके सान्निध्य में रहने का सौभाग्य मेरे माता पिता के तथा बड़े भाई साहब के आशीर्वाद-बल से मिला। उनकी कक्षा में पहुँचते ही वे जो भी सिखाते थे, उसे ध्यानपूर्वक सुनकर जो भी समय मिलता था रियाज करने के सिवाय दूसरा कुछ नहीं करता था। उस जमानें में एक प्रथा थी कि गुरुजी जो भी सिखाते थे, उसे केवल अनुकरण करके गाने के सिवाय एकाध शंका कुशंका आई तो उसका निरसन करने के हेतु, गुरुजी को विद्यार्थी सादा प्रश्न भी पूछ नहीं सकता था। उदाहरण के लिए एक बार मेरे आदि गुरु कृष्णभट मुझसे कहने लगे कि "राग यमन के आरोहावरोह में 'म' तथा 'नि' को निकाल कर आरोहावरोह करो।" तो मैंने झट से 'सा री ग प ध सां, सां ध प ग री सा' करके आरोहावरोह गाकर सुनाया। बाद में कहने लगे कि राग यमन में सिखाए हुए सब पलटे (अलंकार) इसमें भी गाकर सुनाओ तो वह भी मैंने घंटे डेढ़ घंटे तक बिना गुरुजी की सहायता के आसानी से गुरुजी को गाकर सुनाया। यह सब सुनकर उनका चेहरा प्रफुल्लित प्रसन्न देखकर, मैंने कुतूहल से गुरुजी से पूछा कि, गुरुजी, इस राग का नाम क्या है? यह प्रश्न सुनते ही वे मुझपर बहुत नाराज हुए। कहने लगे कि राग का नाम सुनकर तुम्हें क्या करना है? जो भी मैं सिखाता हूं उसे चुपचाप सीखना। मुझे फालतू प्रश्न वगैरा नहीं पूछना और नाराज होकर चले गए। यही नहीं तो दंड के तौर पर मुझे दो दिन सिखाने के लिए भी नहीं आए। इस प्रकार के संस्कार मुझपर छुटपन से ही होने के कारण कोई गाता या बजाता हो, उनसे उस राग का नाम तक पूछने के लिए एक प्रकार का डर सा लगता था।

इसी कारण लखनऊ में गुरुजी पू. अण्णासाहब के पास भी कुछ शंका आई तो उनके निरसन के हेतु कोई भी प्रश्न पूछने में बहुत ही डर लगता था। वे जो भी सिखाते थे, उसे अच्छी तरह ध्यानपूर्वक सुनकर रियाज करने के सिवाय कोई भी प्रश्न डर के मारे उनसे भी नहीं पूछता था। इस कारण उनकी मेरी ओर भी और विद्यार्थियों के समान सामान्य दृष्टि थी। उनके पास में पहली बार जाते ही उन्होंने दो तीन महीने राग 'श्री' में नोंम्तोंम्, आलाप, धमार, बड़ा ख्याल, छोटा ख्याल और तराना वगैरा गायकी के साथ सिखाया। उनकी क्लास याने रोज एक जमी हुई महफिल होती थी। क्योंकि क्लास में संगत करने के लिए मिर्जा महूमद अल्ली नामक एक सुरीले सारंगिये रहते थे। गुरुजी की एकाध हरकत किसी विद्यार्थी के गले से नहीं निकली तो वे उसे सारंगी पर निकाल कर हम लोगों का मार्गदर्शन करते थे। इस प्रकार गुरुजी की हरेक दिन की कक्षा पूरी महफिल ही हुआ करती थी। उनका गायन सिखाना सुनने के लिए हर रोज़ कक्ष के बाहर लोग जमा होते थे। इस प्रकार उनकी क्लास चलती थी। उनके दो तीन महीने की श्री राग की तालीम को मैंने डट के याद किया था। रियाज में मुझे आनंद भी आने लगा था। उस जमाने में कालेज को गर्मी की छुट्टी करीबन पूरी तीन महीने की होती थी। उस छुट्टी में मैंने बंबई में हमारे मित्रों के घर ५-६ बार जब जब यह श्री राग गाया तब गाना जम ही जाता था। श्रोतागण भी खुश हो जाते थे। इस प्रकार उस समय श्री राग पर एक आत्मविश्वास आया था, तथा वह हमारा प्रिय राग हो गया था।

गर्मी की छुट्टी समाप्त होने के बाद मैं फिर लखनऊ पहुंचा। उस जमाने में एक प्रथा थी कि हर शनिवार के दिन विद्यार्थियों का मंच-प्रदर्शन याने डिमोंस्ट्रेशन होता था। उसमें पहले कुछ विद्यार्थी गाया-बजाया करते थे। बाद में समापन कोई शिक्षक करते थे। १९३७ जुलै

में गर्मी की छुट्टी के बाद जब कॉलेज खुल गया तब पहले शनिवार को ही मुझसे पूछा गया कि क्या तुम गाओगे? ऐसे अवसर को उस समय मैं कभी छोड़ता नहीं था। मुझसे पूछते ही मैंने भी तुरंत संमति दी। उस समय ऐसी भी प्रथा थी कि विद्यार्थियों के मंच प्रदर्शन के समय श्रोताओं के नाते प्रिन्सिपल, वाईस प्रिन्सिपल, शिक्षक और सभी विद्यार्थी उपस्थित रहते थे। तो उस शनिवार के दिन मैंने गुरुजी के सिखाए हुए श्री राग को ही उनके सिखाए हुए नोम् तोम् आलाप से शुरू किया। मेरे षड्ज लगाकर श्री राग के तीन चार स्वरों का उच्चारण करते ही सामने ही बैठे हुए पू. गुरुजी नातू साहब ने मुझे शाबाश कहकर उत्साहित किया। उनके पास ही गुरुजी अण्णासाहब बैठे थे। उनका भी चेहरा प्रफुल्लित देखकर न मालूम मेरे शरीर में कौन-सा प्रवाह संचार होने लगा। मैंने नोम् तोम् आलाप खतम करके विलंबित ख्याल शुरू किया और उसमें उन्होंने जो भी बातें सिखाई थीं उन्हें गाना शुरू किया। हर बार मैं जब सम पर आता था तब शाबाशी मिलती थी। ख्याल का विस्तार करते समय अब गुरुजी मुझे अमुक स्वर पर मुकाम करके सम पर आओ वगैरा फरमाइशें वहीं की वहीं करने लगे। उन्हींकी कृपा से जो भी वे कहते थे वह सब गले से बिना आयास तुरंत ही निकल जाता था। जब मैंने छोटा ख्याल शुरू करके तान की शुरुवात की तब एक बार कहने लगे, अब ऐसी तान गाओ कि, तान तार सप्तक के पंचम से शुरू करके, मंद्र के पंचम तक जाकर, फिर तार के पंचम तक बिना कहीं रुके या अटके पहुँचो और तान को समाप्त करके सम पर आओ। यह भी फरमाइश गुरुजी की ही कृपा से उनके मन के मुताबिक निकल गई और सब शिक्षकगणों के साथ भी विद्यार्थियों ने तालियां बजाईं। यह पहला ही अवसर था कि गुरुजी के सामने मेरा जमकर गाना हुआ। गाना समाप्त होते ही गुरुजी नातू साहब और शिक्षकगणों ने मुझे बधाई दी।

बाद में गुरुवर्य अण्णासाहब ने भी मुझे बुलाकर शाबाशी देते हुए कहा कि, तुम्हारा खाना होने के बाद मेरे कमरे में आकर मिलना। यह उनका वाक्य ही मेरे लिए भरपूर खाना था। क्योंकि मुझे तो उनका इतना डर था कि उनके कमरे से आते जाते समय उनके कमरे में झांककर देखने के लिए भी संकोच लगता था। ऐसी हालत में, मेरे रियाज पर प्रसन्न होकर गुरुजी का मुझसे 'मेरे कमरे में आकर मिलो।' कहना, मेरे सांगीतिक जीवन का पहला ही अवसर तथा सौभाग्य का दिन था। रसोई में आकर देखा तो खाना तैयार होने के लिए देर थी, यह देखकर मैं बेचैनी के साथ वैसे ही गुरुजी के कमरे में गया। उनके कमरे में जाते ही 'खाना खाया क्या' यह पूछना वे भी भूल गए होंगे। यदि यह वे पूछते तो मुझे झूठ ही बोलना पड़ता था। खैर! उनके कमरे में जाते ही कहने लगे कि बैठो। मैं एक ओर बैठा। वे कहने लगे कि आज तुम्हारा गाना अच्छा हुआ। ऐसे ही नियमित अभ्यास करते रहोगे तो तुम अच्छा ही गाओगे। यह कहकर मुझे प्रोत्साहित किया। कहने लगे कि "देखो मैंने तुमको इसलिए बुलाया था कि तानें गाते समय तानोंको इस प्रकार गाना चाहिए" और स्वयं राग पूरिया धनाश्री में गाकर सुनाया और मुझसे उनके अनुसार घंटा भर गवा लिया। उनकी सूचनाएँ सुनकर जब मैं अपने कमरे में जाने निकला तब कहने लगे कि सुनो, मैं जब जब भी यहां गाऊंगा तब मेरे साथ तानपूरा लेकर संगत करने बैठना, मेरे बुलाने की राह नहीं देखना। तुमको रियाज करते समय कोई कठिनाइयां महसूस होती हों, मेरे पास आकर पूछना। किसी प्रकार का संकोच न करना। यह सुनकर मैं तो चकित हुआ। इतना आनंद हुआ कि, उस आनंद के मारे मुझे भूख भी

नहीं लगी, साथ साथ रात भर नींद भी नहीं आई। इसी दिन से मैं उनके विशेष निकट सहवास में आया। कोई भी विद्या गुरुजी को भरपूर पैसे देकर कभी भी नहीं आती, विद्या तब ही आती है जब कि शिष्य लगन से तनमन से अपने गुरुजी को उनके मन के मुताबिक परिश्रम तथा रियाज करके संतुष्ट या प्रसन्न करता है। वही अपने गुरुजी की निकट से निकट संगत पाता है और उनसे तनमन से विद्या पाता है। सच बात तो यह है कि अपने गुरुजी ट्यूशनें तो करते ही नहीं थे। उन्होंने जिन्हें जिन्हें सिखाया है, उनसे एक फूटी कौड़ी भी नहीं ली है। यहां तक कि उनकी कुछ सेवा करने जावें तो उससे वे बहुत नाराज होकर उन्हें उससे रोकते थे। ऐसा उनका अनोखा स्वभाव था। उपर्युक्त कथन से वे अपने शिष्यों की ओर कितने तत्पर थे तथा कैसे प्रोत्साहन देते थे यह विदित होता है।

न जाने क्यों पू. गुरुजी को आकाशवाणी में गाना पसंद नहीं था। ईसवी सन १९३७ की बात है। आकाशवाणी के कई अधिकारियों ने उनको आकाशवाणी में गवाने का प्रयत्न किया। पर उन लोगों के उस प्रयत्न को सफलता प्राप्त हो नहीं सकी। आखिर पू. गुरुजी के ही एक मित्र ने, जो कि देहली आकाशवाणी में ही स्टेशन डाइरेक्टर थे, पू. गुरुजी पर जादू करके आकाशवाणी में गाने के लिये राजी किया। उनके राजी होते ही देहली आकाशवाणी में उनको गाने के लिए निमंत्रित किया गया। उस जमाने में आकाशवाणी पुरानी देहली में थी। उनके गाने में गाने की संगत करने के लिये मैं ही गया था तथा तबले की संगत के लिए श्री सदाशिवराव गुरव को गुरुजी ले गये थे। तभी से गुरुजी ने आकाशवाणी में गाना शुरू किया। उसी समय पू. गुरुजी नातू साहब का भी आकाशवाणी में कार्यक्रम रखा गया था। हम लोग सब वहां के एक प्रतिष्ठित कश्मीरी सज्जन श्री. शिवराज बहादुर कौल साहब के घर में ठहरे हुए थे। उनका घर काफी बड़ा था। पू. अण्णासाहेब तथा पू. नातू साहब के आकाशवाणीके कार्यक्रम बहुत अच्छे हुए क्योंकि सारंगी की संगत के लिये सारंगी-नवाज स्वर्गीय उस्ताद बुंदू खाँ साहब भी रहते थे। पू. गुरुजी के सब आकाशवाणी के कार्यक्रम समाप्त होने पर एक दिन शाम को श्री शिवराज बहादुर जी ने अपने घर पू. गुरुजी की एक खास महफिल रखी थी। उस महफिल में संगीत के खास जानकार लोगों को ही आमंत्रण दिया था। वहां भी सारंगी पर संगत के लिये उस्ताद बुंदू खाँ साहब को ही बुलाया था। राग पूर्वी से गाना शुरू हुवा। उस समय गुरुजी ३७ साल उमर के जवान थे। बैठते ही आवाज लग जाती थी और बखूबी महफिल जम जाती थी। यद्यपि मैं तानपूरे पर संगत करने के लिये बैठा था, मुझे ज्यादा साथ-संगत करने का अवसर ही नहीं मिला। क्योंकि ये दोनों राग के वातावरण में एकदम मगन हो गये थे। गुरुजी अपनी आलाप-तानें गाते तो बुंदू खाँ साहब वाह वाह करते, और बुंद्र खाँ साहब के बजाते समय गुरुजी वाह वाह करते। बीच बीच में श्रोताओं की वाह वाह। इस प्रकार उस दिन करीब दो घंटे गुरुजी पूर्वी राग ऐसा गाये कि दो घंटे का समय कैसा निकल गया यह किसीको भी मालूम नहीं हुआ। ऐसा ही लगता था कि गाना शुरू होकर आधा ही घंटा हुआ। रात को अपने कमरे में गपशप करते समय पू. गुरुजी से पू. गुरुवर नातू साहब भी कहने लगे कि बाबूराव, आज का पूर्वी राग अप्रतिम हुआ। गुरुजी के पूर्वी राग समाप्त करने के बाद उस्ताद बुंदू खाँ साहब भी मुस्कुराते हुए गुरुजी से कहने लगे कि पंडित जी वाह, वाह, क्या बात है! आजकल रागों को इस नजर से कौन देखता है? ऐसी तालीम कहां मिलती है? वगैरा बातें होने के बाद उत्तरांग की महफिल शुरू हुई। उस दिन गुरुजी करीब साढ़े नौ

बजे तक गाये। मुझे पू. गुरुजी का गाना बहुत सुनने को मिला। पर श्री शिवराज बहादुर के यहां की देहली की वह महफिल तो और ही कुछ थी। सुननेवाले और भी चाहते थे कि पू. गुरुजी गाएं, पर देर हो चुकी थी, इस कारण उस दिन की महफिल वहीं समाप्त हुई। यह महफिल भी मेरे सांगीतिक जीवन की एक अनमोल महफिल थी, जिसका वर्णन शब्दों से नहीं हो सकता, अस्तु।

उस जमाने में हर साल पू. गुरुजी ग्वालियर के माधव संगीत विद्यालय की परीक्षा लेने के नाते करीब एक महीने के लिए ग्वालियर जाते थे। प्राथमिक कक्षा से विशारद तक की परीक्षा वे ही लेते थे। यह सब खत्म करने के लिये महीना भर जरूर लगता था। पू. गुरुवर्य राजाभैय्याजी पूंछवाले उनके उस वास्तव्य का पूरा लाभ उठाते थे। हर रोज परीक्षा के बाद किसी न किसी के घर उनकी महफिल रखी जाती थी, जिसका लाभ वहां के सब विद्यार्थियों को तथा वहां के निवासियों को मिलता था। मेरे ख्याल से पू. गुरुजी ग्वालियर में जितना गाए होंगे, उतना और कहीं भी गाए नहीं। मुझे भी गुरुजी के साथ ग्वालियर जाने का मौका कई बार मिला, और उस समय उनकी खूब संगत करने का अवसर भी मिला। उनकी एक खास बात यह थी कि अपना विद्यार्थी संगत करके जबतक सम पर नहीं आता तबतक बीच में कभी भी शुरू नहीं करते। जब अपना विद्यार्थी एकाध अच्छा आलाप-तान गाकर सम पर आता तो, वहीं के वहीं हँसते हुए वाह कहकर उन्हें प्रोत्साहन देते थे। ऐसा उनका अनहोना स्वभाव था। यह कितनी बड़ी बात है!

जब मैं लखनऊ में छात्रावास में रहता था तब एकाएक विद्यालय की छात्रों की संख्या इतनी बढ़ गई कि सिखाने के लिये शिक्षक कम पड़ने लगे तब गुरुजी ने एक तरकीब निकाली कि, ४ थी या ५ वीं कक्षा के जो विद्यार्थी दो-एक प्राथमिक कक्षाएं लेने लायक हों, उन्हें दो-एक क्लास देकर शिक्षक की कमी की समस्या को हल करें। ३-४ विद्यार्थियों को उन्होंने चुना। उन विद्यार्थियों में मैं भी एक था। मैं उस समय ४ थी कक्षा में पढ़ता था। रोज की तरह मैं अपने कमरे में रियाज कर रहा था तब उनका चपरासी मेरे कमरेमें आकर मुझसे कहने लगा "भट बाबू, आपको प्रिन्सिपल साहब बुलावत हैं।" यह सुनकर मैं इतना घबराया कि मैं गलत रियाज तो नहीं कर रहा था न, ऐसे कई प्रश्न मेरे मन में आने लगे। डरते डरते गुरुजी के दफ्तर में पहुंचे। वहां जाते ही गुरुजी कहने लगे कि बैठो। मेरे एक ओर बैठते ही मुझसे पूछने लगे कि क्यों भट, एकाध प्रथम वर्ग की कक्षा को तुम पढ़ाओगे? यह सुनते ही मेरी मति सुन्न हुई। क्योंकि मैं तो लखनऊ में संगीत सीखने के लिए गया हूं, और पू. गुरुजी मुझसे पूछ रहे हैं कि एकाध प्रथम वर्ष की कक्षा पढ़ाओगे क्या! उनके इस प्रश्न को क्या जवाब देना यही मुझे सूझा नहीं और कुछ देर चुप रहा। यह देखकर जरा ऊँचे स्वर में कहने लगे कि पढ़ाना नहीं चाहते हो? यह उनका ऊँचा स्वर सुनते ही मैं समझा वे नाराज हो रहे और मैंने घबराते हुए गुरुजी से कहा कि क्लास नहीं लेना चाहता हूं ऐसी बात नहीं है, हां एक शर्त पर क्लास लूंगा! शर्त! काहे की शर्त? शर्त याने ऐसी कोई बड़ी शर्त नहीं है। मैंने आज तक १०-१५ विद्यार्थियों को भी सिखाया ही नहीं है। यदि आप हमारी कक्षा में कम से कम दो दिन आकर मेरा सिखाना सही मार्ग पर है या नहीं, इस बारे में मार्गदर्शन देते रहेंगे तो मैं खुशी से सिखाऊंगा। जब मैंने यह कहा तब गुरुजी प्रसन्न मुद्रा से कहने लगे, "जरूर आऊंगा, मैं यहां किसलिये हूं? तुमको सिखाते समय कोई भी कठिनाई महसूस होती हो, बिना किसी

संकोच के मुझसे पूछना, मैं उसे दूर करूंगा। तो उन्होंने फिर पूछा, तुम एकाध क्लास पढ़ाओगे न!'' और जब मैंने हां कहा तब प्रसन्न चित्त से कहने लगे कि अब तुम जा सकते हो।

दो तीन दिन बाद ही मेरे जिम्मे एक प्रथम वर्ग की कक्षा आई। इसी क्लास में प्रसिद्ध पार्श्वगायक तलत महमूद ने नाम दर्ज किया था। इस प्रकार जब मैं ४ थी कक्षा में पढ़ता था उस समय छोटी कक्षाओं को पढ़ाने भी लगा था। मेरी कक्षा में करीब २०-२१ विद्यार्थी थे। मेरी क्लास में पू. गुरुजी भी हफ्ते में दो तीन दिन बराबर आते थे और बीच बीच में स्वयं सिखाया करते थे। उनका सिखाना तो मुझे ही परोक्ष मार्गदर्शन रहता था कि इस प्रकार से भी सिखाना चाहिए। सच बात तो यह है कि वह एक प्रकार का 'टीचिंग ट्रेनिंग' ही हुआ करता था। मैं वहां के जो प्रथम वर्ष के वर्ग चलते थे, उसका बारीक नजर से निरीक्षण करता ही था और देखता था कि विद्यार्थियों को साधारणतया रागों के स्वर बैठते ही, प्रारंभिक कुछ १०-१५ अलंकार सिखाकर बाद में पाठ्यक्रम के सरगम लक्षणगीत गीत वगैरा सिखाना शुरू करते थे। ये प्रारंभिक १०-१५ अलंकार अच्छा स्वरज्ञान कराने के लिये पूरे नहीं पड़ते हैं, ऐसा मुझे लगता था। एक दिन मैंने गुरुजी से पूछा कि इन १०-१५ अलंकारों के सिवाय और भी कुछ वक्र अलंकार क्या मैं सिखा सकता हूँ? जरूर, तुम जितने अलंकार सिखा सकते हो उतने अलंकार सिखाओ। प्रथम वर्ग की कक्षा के विद्यार्थियों को साल डेढ़ साल में अच्छा स्वरज्ञान करवाना है, यही लक्ष्य प्रथम कक्षा में होना चाहिए। कक्षा में सभी प्रकार के विद्यार्थी रहते हैं। कुछ कुशाग्र बुद्धि के, कुछ साधारण, कुछ बिलकुल कच्चे भी रहते हैं।

ऐसे ही एक दिन मैं अलंकार सिखाता था। गुरुजी मेरे पास आकर बैठे और बारीक निरीक्षण करके एक विद्यार्थी को चुन कर उससे कहने लगे कि, ''अब तुम, जैसे तुम्हारे मास्टर साहब सिखाते थे वैसे ही उस अलंकार को औरों को सिखाओ भला।'' बाद में सब लोग उसे गाएं। ऐसा कहके, मेरे कान में कहने लगे कि इससे तुमको थोड़ा आराम मिलता है। और साथ साथ उन विद्यार्थियों का हौसला भी बढ़ जाता है। और हुआ भी वैसा ही। उस विद्यार्थी ने अलंकार को पूरा करते ही, दूसरे ने अंगुली उठा कर कहा कि सर क्या अब मैं सिखाऊं? गुरुजी मेरी ओर हंसते हुए देखकर उन्हें कहने लगे कि तुम और अलंकार सिखाओ। इस प्रकार हम लोगों को सिखाने में भी अमूल्य मार्गदर्शन मिलता था। इस प्रकार से सिखाने जावेंगे तो प्रथम वर्ग के विद्यार्थियों को जिस दर्जे का स्वरज्ञान होना चाहिए, वह अपने आप हो ही जाता है। सच बात तो यह है कि जब ये सब विद्यार्थी अपना पाठ्यक्रम पूरा करके परीक्षा के लिये बैठे तब उनमें से ५-६ विद्यार्थी प्रथम श्रेणी में और बाकी के सब दूसरी श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। तीसरी श्रेणी में कोई भी नहीं था। मेरी कक्षा का निर्णय जब गुरुजी ने देखा तो मुझे बुलाकर हंसते हंसते कहने लगे कि ''भट, तुम्हारी कक्षा का निर्णय सब से अच्छा लगा है, बधाई!'' मैंने कहा कि ''सर, यह आप ही की कृपा से हुआ। इसीलिये मैंने आपसे कहा था कि मेरी कक्षा में हफ्ते में कम से कम दो बार आना ही पड़ेगा। आप आते रहे और इसीलिए ऐसा फल निकला। यह बधाई तो आपकी ही है।'' इससे मालूम हो सकता है कि, उनका दृष्टिकोण तथा अंत:करण विद्यार्थियों के बारे में कैसा रहता था। इसके बाद उन्होंने तुरंत मुझे तीसरा तथा चौथा दर्जा पढ़ाने को दिया। साथ साथ कहने लगे कि सिखाते समय कोई भी कठिनाई लगी तो मेरे पास आकर पूछना। मैं भी उनके कथन का पूरा पूरा फायदा उठाता था। कोई भी शंका आई तो तुरंत उनके पास जाकर उनसे चर्चा करके

शंका का पूरा निरसन कर लेता था । अब तक गुरुजी के पास मेरा ऐसा नाता जुड़ा हुआ था कि कोई भी बात उनसे पूछने में संकोच नहीं लगता था । सिखाने के बारे में भी अमूल्य मार्गदर्शन का यह सौभाग्य मुझे उनसे ही अपने आप प्रेम से मिला ।

हम लोग उनके सही मार्गदर्शन से ही आगे जा रहे हैं, यह देखकर उनको हमे कुछ विद्यार्थियों पर खूब भरोसा था । उन विद्यार्थियों में मैं भी एक था । जब डॉ. केसकर साहब आकाशवाणी के मिनिस्टर थे तब हम दोनों 'मैं तथा श्री गिंडे साहब' ध्रुपद धमार का युगल-गान गाने लगे थे । एक बार आकाशवाणी के संगीत सम्मेलन में हम दोनों का युगल-गान था और वह कार्यक्रम सवेरे था । ऐसे समय ऐसी एक प्रथा थी कि कलाकार जो राग गाते हैं उसकी एक सूची उनको आकाशवाणी को देनी पड़ती थी । आकाशवाणी उसी सूची से राग चुनकर कलाकार को भेजती थी और उन्हें वही राग गाना पड़ता था । उस समय डॉ. सुमति मुटाटकरजी आकाशवाणी की चीफ प्रोड्यूसर थीं । इसी समय गुरुजी भी कुछ काम से देहली गये थे और डॉ. सौ. सुमतिजी के यहाँ ही ठहरे हुए थे । सौ. सुमतिजी ने सहज में ही पू. गुरुजी से पूछा कि श्री गिंडे जी तथा भटजी का संमेलन में सबेरे गाना है । इन दोनों को कौन-सा राग गाने के लिये कहूं? तब गुरुजी ने उनसे कहा कि राग लक्ष्मी तोड़ी लिखो । सच बात यह थी कि हम लोगों ने यह राग सीखा ही नहीं था और किसी से सुना भी नहीं था । एक दिन श्री गिंडे साहब को पू. गुरुजी का एक पोस्टकार्ड आया । उसमें लिखा था कि तुम दोनों का आकाशवाणी संगीत सम्मेलन में सबेरे कार्यक्रम है । इस कार्यक्रम में तुम दोनों को राग लक्ष्मी तोड़ी गाना है । अमुक दिन बंबई आनेवाला हूं और तीन दिन रहूंगा । उस समय उस राग को सीख लेना । वह पत्र श्री गिंडे साहब ने मुझे दिखाया । वह पत्र पढ़ते ही मेरी मति तो सुन्न हो गई । मन में लगा कि यह अपने पर कौन-सा संकट आया । क्योंकि यह एक राग ऐसा है कि इसको महफिल में गाकर रंग जमाना छोड़िये, कुछ आकर्षक रीति से भी गाकर रिझाना बड़ा कठिन कर्म है । मैंने तो हमारे सांगीतिक जीवन में यह राग और किसीसे भी सुना नहीं । यह राग हम लोगों को गाने को जब निश्चित हुआ, तब देहली में भी पू. गुरुजी के पास इस बारे में चर्चा हुई कि क्या वे दोनों (श्री गिंडे तथा भट) यह राग जमकर तो छोड़िए, भली प्रकार गा पाएंगे ? हम लोगों ने तो सुना कि ऐसा पूछनेवालों से गुरुजी ने आत्मविश्वास के साथ कहा था कि वे जरूर गाएंगे । इस प्रकार उनको अपने कुछ विद्यार्थियों पर भरोसा था । खैर !

जिस तारीख को पू. गुरुजी आनेवाले थे, उस प्रकार वे आये, आते ही उन्होंने शाम को १॥-२ घंटा आलाप सिखाये, उसी समय एक धमार की स्थायी की बंदिश भी बांधकर सिखायी और कहने लगे कि कल सुबह आना । उस समय अंतरा हो जाएगा । दूसरे दिन जब सुबह पहुंचे फिर १॥-२ घंटे आलाप सिखा कर अंतरा भी सिखाया । इस प्रकार गिनकर उन्होंने तीन दिन इस राग की तालीम दी और कहने लगे कि, अब इस राग की कल्पना तुम दोनों को आयी होगी । अब इसका रियाज करना और जमकर गाना । मैं मन ही मन सोच रहा था कि यह कौन-सा संकट हम लोगों पर आया है । अभीतक राग ठीक समझ में नहीं आया है और ये (पू. गुरुजी) कल जा रहे हैं । ..... इत्यादि विचार मन में आने लगे क्योंकि पहले दिन आलाप सिखाते समय आलाप का जो रंग था वह दूसरे दिन नहीं रहा, और तीसरे दिन तीसरा ही रंग रहा । इस कारण राग की पूरी कल्पना ही मन:पटल पै नहीं आई थी । तब

मैने गिंडे साहब के कान में कहा कि "छोटबा", (हम लोग प्यार से उनके 'छोटबा' कहके पुकारते हैं) पहले दिन के आलाप में एक रंग था, दूसरे दिन के आलाप में दूसरा और तीसरे दिन के आलाप में तीसरा ही रंग था, इस वजह से राग की पूरी शकल मन में नहीं आयी है । इसलिये नमूने के लिये कुछ आलाप लिख कर देने लिये गुरुजी से कहो न ।" तब यह कहने की बात उन्होंने मुझपर ही छोड्डी । मैंने बड़े ढाढ़स के साथ उपर्युक्त बात उनसे कही और कुछ आलाप नमूने के तौर पर लिख देने के लिए विनति की । मेरी यह बात सुनते ही वे हंस पड़े, और कहने लगे कि तुम लोग इसे ध्यानपूर्वक अच्छी तरह से रियाज करोगे तो इसे अच्छी तरह से ही गाओगे, कहकर वहींका वहीं कागज पेन लेकर तुरंत ६-७ स्थाई तथा अंतरे के आलाप लिखकर दिए । बाद में उन आलापों के आधार पर हम दोनों उस राग के पीछे पड़े और उस राग को थोड़ा-बहुत तैयार किया । ८-१० दिन उस राग का रियाज होने पर उस राग की थोड़ी कल्पना मन में आई और मन पर की धड़कन जरा-सी कम हुई । कार्यक्रम के लिए देहली जाते जाते राग तैयार हुवा ही था, उसी राग को उस कार्यक्रम में गाये भी, गुरुजी के ही शुभाशीर्वाद एवं कृपा से उस दिन न जाने हम लोगों के शरीर में कौन-सा प्रवाह संचार कर रहा था। हम लोगों का वह कार्यक्रम इतना जम गया कि उसकी तिलमात्र भी कल्पना स्वयं हम लोगों को भी नहीं थी । श्रोतागण में विद्वज्जन- जैसे स्वर्गीय पू. मुश्ताक हुसैन, उनके लड़के, (स्वर्गीय) पू. अल्ताफ हुसैन, (स्वर्गीय) पू. अंतूबुवा, (स्वर्गीय) पू. गजाननबुवा, (स्वर्गीय) पू. अजमत हुसैन, स्वयं (स्वर्गीय) केसकर साहब इत्यादि कई गुणीजन थे । इन सब ने कार्यक्रम की तारीफ हमारे पू. गुरुजी के पास की और हम लोगों को भी बधाई दी । इससे हम कल्पना कर सकते हैं कि पू. गुरुजी को अपने कुछ विद्यार्थियों पर कितना भरोसा रहता था, जो कि स्वयं हम लोगों को नहीं था ।

एक समय की बात है । लखनऊ में कुछ साल पहले मैं तथा पंडित वी. जी. जोग एक ही मकान में एक साथ रहते थे । सन १९३८ में लखनऊ में आकाशवाणी शुरू हुई, तब हर महीने में बंबई से एक या दो कलाकारों को लखनऊ की आकाशवाणी में गानेके लिये आमंत्रित किया जाता था । इस महफिल में पू. गुरुजी अण्णासाहब, नातू साहब और कुछ खास श्रोतागण आते थे । ऐसे ही एक समय हमारे यहां श्री कागलकर बुवा आए थे वे ऊँचे स्वर पर याने सफेद चौथे स्वर पर गाते थे । बडे सुरीले तथा तैयार गाते थे । आवाज में एक प्रकार का जोश था । उनकी भी हमारे यहां एक महफिल थी । उस महफिल में श्री बुवाजी ने भूपाली राग पौने दो, दो घंटे तक ऐसा गाया कि महफिल जम गई । वे सचमुच बहुत ही अच्छे गाये । भूपाली राग खत्म करते ही उठे, और पू. गुरुजी के पास बैठकर उनसे कहने लगे कि अण्णासाहब, अब मुझे आपका गाना सुनना है । गुरुजी ने शुद्ध अंत:करण से कहा कि बुवासाहब आज आप इतना अच्छा गाये हैं कि समां बांध दिया है । वाह, क्या बात है ! इसके बाद मेरा गाना याने गाने पर जुल्म करना होगा । आप ही महफिल चालू रखिये न । ऐसा साग्रह कहने लगे । गुरुजी ने कहा "मेरा गाना मैं आपको जरूर सुनाऊंगा ।" इसपर भी श्री बुवासाहब माने नहीं । बार बार कहने लगे कि आप अभी गाएं तो अच्छा होगा । पू. गुरुजी के पास पू. नातू साहब बैठकर उनकी ये सब बातें सुन ही रहे थे । बुवाजी वही बात दोहरा रहे हैं, यह देखकर पू. नातू साहब गुरुजी से कहने लगे कि बाबूराव, बुवाजी जब इतना आग्रह करते हैं तो गाइए न, उसमें कौन-सी बड़ी बात है? पू. नातू साहब ने जब ऐसा

कहा, तब "अच्छी बात है, थोड़ी देर गाऊँगा" कहके वे उठे और मुझसे कहने लगे कि थोड़े गुनगुने पानी में थोड़ा-सा नमक डाल कर लाना और मेरे लिये थोड़ी चाय बनाना । चाय तो तैय्यार ही थी । मैंने तुरंत नमकवाला गुनगुना पानी दिया और उससे कुल्ला करके गुरुजी चाय पी रहे थे । गुरुजी हमेशा काली दो स्वर पर गाते थे । मैंने गुरुजी से पूछा कि स्वर थोड़ा उतारूं क्या? गुरुजी तुरंत कहने लगे "ना; ना स्वर उतारना नहीं, वही स्वर रहने दो।" फिर राग शाम कल्याण के नोम् तोम् वगैरा गाकर वातावरण बना लिया । बाद में जो परज राग शुरू किया वह तो मानो इतना जम गया कि जैसे हिमालय पर्वत! उतने ऊँचे स्वर में भी गुरुजी तार सप्तक के पंचम स्वर तक जाकर आते थे । श्री बुवा साहब तो यह परज सुनते ही वाह करते हुए मुंडी नीचा करके बैठे थे । यह राग खतम होते होते रात का एक बज रहा था । गुरुजी ने अपना गाना खतम करते ही बुवा साहब गुरुजी के हाथ पकड़ कर कहने लगे कि अण्णासाहब, सचमुच मैंने इतना विस्तृत परज राग, वह भी जमकर गाया हुआ आजतक और किसीका सुना ही नहीं । आज ही सुन रहा हूं । परज राग तो गाने का आपका ही हक है । यों कहकर उन्हें अंत:करणपूर्वक बधाई दी । उन्होंने सोचा होगा कि यह दुबली पतली वामनमूर्ति क्या प्रताप दिखाएगी? पर मामला सब उलटा ही हुआ । हालांकि बुवासाहब भी एक वामनमूर्ति ही थे, पर फरक इतना ही था कि दूसरी पहलवान की वामनमूर्ति थी । अस्तु ।

गुरुजी का वह गाना सुनने के बाद बुवा साहब लखनऊ से जाने तक उस परज राग की तारीफ करते रहे । हम लोग जब बंबई आए तब भी जब उनके दर्शन होते थे तब उस परज राग की तारीफ करते थे । उस समय लखनऊ में जो कलाकार आते थे, उन सबके पीछे हम लोगों ने (मैं, श्री गिंडे तथा श्री कायकिणी) शुद्ध अंत:करण से तानपूरे पर साथ-संगत करके मेहमान कलाकारों को प्रफुल्लित किया है । हमने तो अपने विद्यार्थियों के पीछे भी तानपूरा छेड़कर संगत की है । इससे गुरुजी प्रसन्न ही होते थे । इसके लिये हम लोगों को उन्होंने कभी टोका नहीं । क्या आजकल ऐसा दृश्य कहीं देखने को मिलता है? इस प्रकार हमारे गुरुजी का अंत:करण था ।

हमारी विद्यार्थी दशा में हमने पू. गुरुजी की सैकड़ों महफिलें सुनीं । कौन-सी महफिल सबसे अच्छी थी इसकी आज भी हम तुलना नहीं कर सकते । गाने के लिए बैठते ही उनका गाना जम ही जाता था । उनका गाना जमा नहीं ऐसा कभी हुआ ही नहीं। ग्वालियर में भी ऐसा ही होता था । एक बार स्वयं पू. गुरुवर्य राजाभैय्या पूंछवालेजी कहने लगे कि बाबूराव का गाना याने एक स्वच्छ आइना है । वे गाने बैठते हैं तब गाना जम ही जाता है । मैंने तो आजतक उनका गिरा हुआ गाना एक बार भी सुना नहीं है । इतने बड़े विद्वान इस बात को कहते हैं तो यह कितनी बड़ी बात है!!! गुरुजी के मुंह से आजतक किसीके बारे में किसी प्रकार की टीका या गाली वगैरा कभी भी हम लोगों ने सुनी नहीं । ऐसे हमारे ऋषितुल्य गुरुजी थे, जिन्होंने अपना सारा जीवन केवल गुरुभक्ति के कारण ही स्वार्थरहित संगीत की सेवा के लिए ही अर्पित किया! उनकी संगत, मार्गदर्शन तथा क्षण क्षण की यादें हम लोग अपने सात सात जनम में भी भूल नहीं सकते । कुछ लोग कह सकते हैं कि गुरुजी की तारीफ चेला करेगा ही, पर इसमें, परमात्मा की कसम, कोई अतिशयोक्ति नहीं है ।

				री											
म	म	प	म	ग	ग	री	सा	सा	री	ग	ग	म	–	म	–
बि	न	क	र	त	ब	क	स	जी	ऽ	व	न	ते	ऽ	रो	ऽ
×				०				×				०			

मेरे श्रद्धास्थान/आचार्य श्रीकृष्ण रातंजनकर

डॉ. सुमति मुटाटकर, नई दिल्ली

प	प	प	प	ध	सां	-	सां	नि	-	नि	(नि)	प	ध	प	-
न	र	त	न	अ	मो	ऽ	ल	पा	ऽ	यो	ऽ	ज	ग	मों	ऽ
×				०				×				०			

(भातखंडे (मैरिस) कॉलेज की सर्वप्रथम पीएच.डी. उपाधिधारी। स्नातकोत्तर शिक्षा आचार्यजी के पास। उंसके पश्चात् उ. विलायतखां, उ. मुश्ताक हुसेन तथा पं. गजाननबुवा जोशी से शिक्षा प्राप्त। आकाशवाणी पर कार्यक्रम-निर्देशिका (प्रोग्राम डायरेक्टर) की हैसियत से कार्य। तत्पश्चात् दिल्ली विश्वविद्यालय के संगीत विभाग में 'डीन'। संप्रति आकाशवाणी की सुप्रतिष्ठित (इमरिटस) सदस्या।)

'नादज्योतिः प्रकाशार्थं वन्दे श्रीगुरुसुहृज्जनम् ।'

सन १९४२-४३ में मेरे पिताजी की भेंट आचार्य रातंजनकर जी से होना, उनका प्रभावशाली संगीत सुनने का सुअवसर हमें मिलना, उन दोनों में स्नेहसंबंध की उद्भावना होना यह सब मेरे जीवन की आगामी संगीत-यात्रा की मानो विधिनियोजित पूर्वपीठिका ही थी ।

उसी वर्ष एक अकल्पित क्रांतिकारी मोड़ मेरे जीवन में आया और एम. ए. इत्यादि मेरी चल रही पढ़ाई को छोड़कर संगीत की साधना और अध्ययन को ही अपना लक्ष्य बनाने का मेरा निर्णय हुआ । इसके लिये सर्वोत्तम गुरु आचार्य श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर (अण्णासाहब) और संस्था, उनका मैरिस म्यूजिक कॉलेज, लखनऊ यही योजना सर्वमान्य हुई । मेरे पिताजी (न्यायाधीश श्री गं. ज. अंबर्डेकर) ने अण्णासाहब से अनुरोध किया; उनकी अनुमति मिल गई । पारिवारिक विरोध के होते हुए भी मेरे पति (प्रा. वि. ल. मुटाटकर) की संमति से मैं कहां से कहां, नागपुर से लखनऊ पहुँच गई । गुरुवर्य अण्णासाहब का शिष्यत्व और मार्गदर्शन पाने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ ।

उन दिनों मैरिस म्यूजिक कॉलेज का वातावरण संगीत से भरा, गूंजता हुआ था । आस्था से सिखानेवाले जानकार शिक्षकों का एवं उत्साही छात्रगणों का अहसास होता था । 'प्रिन्सिपालसाहब'का दबदबा था, उनके प्रति बहुत आदर-सम्मान का भाव था ।

"लघुकाय मूर्ति, पर्वतप्राय कीर्ति" कहावत के अनुसार ही अण्णासाहब का व्यक्तित्व था। उनकी लघुकाय आकृति के विपरीत उनके व्यक्तित्व में एक आंतरिक भव्यता, गरिमा, उच्च संस्कारिता, आदर्शवादिता के दर्शन होते थे। शिष्टता एवं औपचारिकता के साथ स्नेह, कोमलता एवं कलाकार की भावुकता ये उनके स्वभावगुण मुझे प्रतीत हुए। अपने श्रद्धेय गुरु पंडित भातखंडेजी के महान जीवन-कार्य को आप समर्पित भाव से आगे चला रहे थे।

विविध समस्याओं तथा आर्थिक चिंताओं के साथ संघर्ष करते हुए भी उनकी चेतना में संगीत कभी तिरोहित नहीं होता था। संगीत-परंपरा का सारसर्वस्व उनके अंतर में रचा-रमा था। उसीके आलोक में नई बंदिशें, नए रागरूप, नई कल्पनाएं ऐसा उनकी प्रतिभा का नवसृजन चलता रहता। साथ साथ, स्वाध्याय और प्रवचन में वे सदा रत एवं प्रसन्न रहते। "स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्" यह औपनिषदिक आदेश मानो उनके जीवन का मूलमंत्र था। उनका एककक्षीय आवास सबके लिये खुला विद्यामंदिर ही था। प्रश्न, शंका, जिज्ञासा का वे स्वागत करते। अपना चिंतन, अपना दृष्टिकोण कारणसहित समझाते। आवश्यकता के अनुसार प्रत्यक्ष गाकर बताते। मार्गदर्शन करते, सुझाव देते। सम्मान्य कलाकार, संगीतज्ञ विद्वान उनसे मिलने आते, उनके साथ विचार-विनिमय, चर्चा होती जिससे हम लाभान्वित होते। उन दिनों संगीत से संबंधित छोटा-बड़ा जो भी कोई लखनऊ आता, अण्णासाहब से अवश्य ही मिलने आता। कभी कभी ऐसे अवसरोंमें से भी अविस्मरणीय संगीत सुनने के मौके हमें मिलते। लखनऊ में मेरा पांच वर्षों का गुरुकुलवास का कालखंड मेरे जीवन में सर्वतोपरि महत्वपूर्ण रहा। अनुकूल वातावरण में गुरुवर अण्णासाहब के मार्गदर्शन एवं निगरानी में मेरा प्रशिक्षण एवं अध्ययन चलता रहा, क्लास में और व्यक्तिगत रूप से। वास्तव में संस्थागत सामूहिक शिक्षा-पद्धति और गुरुकुलवास का यहां समन्वय था। संस्था का भारी उत्तरदायित्व सम्हालते हुए निष्ठा एवं समर्पण-भावना से प्रेरित होकर अण्णासाहब ने अपनी निजी संगीत-वाटिका बनाई थी जिसका द्वार प्रतिभाशाली जिज्ञासुओं के लिये सदा खुला था। शिष्यों को व्यक्तिगत शिक्षा एवं मार्गदर्शन (जो अत्यावश्यक है) देने की यह उनकी साधन-वाटिका थी। इसमें दिन, रात, छुट्टी के दिन जैसा कोई बंधन नहीं था। वह उनका अपना निजी समय हो, बस।

इस परिवेश में मेरे सांगीतिक जीवन की ठोस आधार-शिला प्रतिष्ठित होकर संस्कारित होती गई। विद्याग्रहण के लखनऊ के कालखंड में गुरुवर्य के साथ पनपा आत्मीय संबंध एवं मार्गदर्शन का सूत्र आगे चलकर निरंतर बना रहा और दृढ़तर होता गया। अण्णासाहब मेरे परिवार के परम स्नेहादरभाजन हो गये।

तीन दशकों की दीर्घ अवधि में अण्णासाहब के जीवन-कार्य की बहुत सारी उच्चांकपूर्ण गतिविधियां प्रत्यक्ष देखने के, उनमें संमिलित होने के सुअवसर मुझे मिलते रहे। उनके साथ घरेलू, अनौपचारिक वातावरण में रहने के प्रसंग बहुत लाभदायक होते। कितने ही प्रश्नों पर उद्बोधक चर्चा होती, रागों के अंत:सार का, सौंदर्य का दर्शन होता, पट खुलते, दिमाग खुलता, उनकी नई बंदिशें मिलतीं। कभी किसी संदर्भ के ग्रंथों का अवलोकन होता जो उन्हें विशेष प्रिय था। दिल्ली में हमारे यहां वे ठहरते तो मुश्ताक हुसैन खां, विलायत हुसैन खां, अनंत मनोहर जोशी, अलताफ हुसैन खां जैसी महान् हस्तियां और कर्नाटक संगीत के विद्वान जी. एन. बालसुब्रह्मण्यम्, टी. के. जयराम ऐयर जैसे लोग उनसे मिलने आते, अन्य बहुत से लोग भी आते। वातावरण संगीत से भर जाता। कभी रोचक गुनचर्चा और प्रात्यक्षिक अनायास

ही उद्‌भूत हो जाते ।

स्वातंत्र्योत्तर काल में भारतीयता की नवचेतना उत्स्फूर्त हुई । हमारी महान् सांस्कृतिक धरोहर, हमारे संगीत, नृत्य एवं कलाओं की समृद्ध संपदा के प्रति गौरव एवं अभिमान की भावना का उत्कर्ष होने लगा । प्रधानमंत्री नेहरू से लेकर सभी स्तरों पर इन बातों का अहसास होने लगा । महत्त्वपूर्ण गतिविधियों के साथ विभिन्न क्षेत्रों के जाने-माने विद्‌वानों को जोड़ने के उद्देश्य से समितियाँ इत्यादि का गठन हुवा । आकाशवाणी, संगीत नाटक अकादमी, संबद्ध मंत्रालय तथा अन्य संस्थानों में ऐसी समितियां बनीं । उनमें, संगीत-क्षेत्र के वरिष्ठ विद्‌वान के रूप में अण्णासाहब की सदस्यता अवश्य ही होती । कभी वे अध्यक्ष उपाध्यक्ष भी रहते ।

कला एवं कलाकार के उत्कर्ष एवं प्रतिष्ठा से संबंधित इस राष्ट्रकार्य को अण्णासाहब प्राथमिक महत्त्व देते । उनकी गतिविधियों में अपना पूरा भरसक योगदान देते । कभी कभी महत्त्वपूर्ण मीटिंग के पहले अण्णासाहब के साथ बैठकर पूर्वविचार के लिये कुछ सदस्य हमारे यहां एकत्रित होते । आनेवाले मसलों पर कौन-सी नीति लाभदायक होगी, सांस्कृतिक समस्याओं पर रचनात्मक कल्याणकारी सुझाव कैसे दे सकते हैं इत्यादि चर्चाएं होतीं । मीटिंग के बाद जो कुछ हुवा उसकी चर्चा होती । प्रशासकीय, सरकारी दायरे में, वहांके तौर-तरीके, इत्यादि की एवं कार्यप्रणाली की जानकारी मुझे मिलती । निःसंदेह इन बातों से मुझे एक दृष्टि मिली, मार्गदर्शन मिला । उसके आधार पर मैं अपना कठिन कार्यभार सम्हाल सकी । अपने पद का, अपनी अतिसीमित शक्ति का उपयोग यथासंभव संगीत व संगीतकार के उत्कर्ष की दिशा में, अत्यल्प मात्रा में क्यों नहीं, कर सकी ।

इस प्रकार से विविध प्रसंग, तरंग, विचारबिंदु मन पर अंकित होते गए । 'जलबिंदुनिपात' के क्रम से मेरी चित्त-चेतना समृद्ध होती गई । इस संचित संपदामें से कुछ संस्मरण परस्परसंबंधरहित मुक्तक शैली में यहां प्रस्तुत हैं । गुरुवर्य अण्णासाहब के लोकोत्तर व्यक्तित्व एवं कृतित्व के संबंध में परिगणन और मूल्यांकन जैसी कल्पना से सुदूर, विनम्र श्रद्धांजलि के रूप में मेरा समग्र कथन है :- 'लोकोत्तराणां चेतांसि । को हि विज्ञातुमर्हति ।'

बिलावल शुद्धमेल चर्चा

गुरुवर अण्णासाहब की निष्ठा और चिंतन की धारा को दर्शानेवाला एक अवसर मेरे सामने आ रहा है ।

आकाशवाणी में ठाकुर जयदेवसिंहजी के कक्ष में गु. अण्णासाहब कुछ विद्‌वानों के साथ बैठे हुए थे । कर्नाटक संगीत के भी लोग थे । चर्चा चल रही थी - हमारा आज का शुद्ध थाट बिलावल और उसकी शास्त्रीयता ।

एक मत था कि शास्त्र की दृष्टि से बिलावल शुद्ध सप्तक नहीं हो सकता । इसका अर्थ यह कि उत्तरी संगीत की बुनियाद ही अशास्त्रीय है । लगभग चार पांच शताब्दियों से आजतक उत्तरी संगीत की प्रयोग-परंपरा में बिलावल ही शुद्ध ग्राम रहा है । इसके समाधान में पंडित भातखंडे द्‌वारा सुझाई गई व्यवस्था यह थी कि ग्रंथवर्णित स्वर-स्थापना-विधि को बदल कर (उलटाकर) स्वर-स्थापना अपनी अपनी अंतिम श्रुति के स्थान पर अपनी अपनी आदिम श्रुति पर की जाए तो हमें बिलावल शुद्ध स्वरसप्तक के रूप में मिल जाता है ।

इस व्यवस्था के विरोध में आक्षेप रहा कि यह व्यवस्था प्राचीन काल से आए हमारे शास्त्र-सिद्धांत

के विपरीत है और परिगणन के सामान्य विधि के भी विपरीत है । इसलिये सर्वथा अयथार्थ है ।

इस पृष्ठभूमि का सर्वांगीण विवरण करके गु. अण्णासाहब ने समर्थन के रूप में बताया —

"भातखंडेजी ने देखा था कि चार पांच शताब्दियों के प्रदीर्घ काल से बिलावल ही उत्तरी संगीत की प्रयोग-प्रणाली में मूल सप्तक के रूप में प्रचलित रहा है । इस प्रचार को शास्त्रसंमत बनाना समुचित होगा ।"

मध्यकालीन ग्रंथों में काफी का शुद्ध मेल स्पष्ट रूप से है जिसका बिलावल के साथ निकट का मूर्च्छना-संबंध है । उन्हें प्रतीत हुआ कि छोटी-सी एक तरकीब से काफी के मूलग्राम से बिलावल की प्राप्ति हो जाती है । काफी की निषादादि मूर्च्छना में बिलावल की स्वरप्रणाली निहित है; निषाद को 'सा' मानकर वह बिलावल सप्तक हो जाता है । फिर अपनी अपनी प्रारंभिक श्रुति पर सप्तस्वरों को मानने से शुद्ध सप्तक के गुण उसमें आ जाते हैं - यानी 'चतुश्चतुश्चैव' इत्यादि नियम का दर्शन हो जाता है । इस प्रकार से प्रचार और शास्त्र में सामंजस्य स्थापित करने का यह भातखंडेजी का प्रयास था । यह कोई बाहर की, अभारतीय वस्तु को भारतीय संगीत पर थोपने की क्रिया नहीं थी वरन् परंपरा में विद्यमान, प्रयोग और प्रचार में रची-बसी अपनी निजी वस्तु को शास्त्र के अंतर्गत लाने की दृष्टि इसके पीछे थी ।

विरोधी तर्क-टिप्पणी के बारे में गुरुवर अण्णासाहब का कहना था कि प्राचीन शास्त्रसिद्धांत को हानि पहुंचने की बात करें तो शास्त्र में परिवर्तन प्राचीन काल से होते ही आए हैं । संगीत जैसी प्रयोगशील विधा में लक्ष्य (प्रचार) के प्राधान्य को और आवश्यकता पड़ने पर बदले हुए लक्ष्य के अनुरोध से शास्त्र में परिवर्तन करने की प्रक्रिया को शास्त्र की स्पष्ट मान्यता रही है । ग्राममूर्च्छना जैसे आधारभूत प्राचीन सिद्धांत तक का प्राय: लुप्त हो जाना और उसके स्थान पर मेलराग पद्धति की प्रतिष्ठापना होना इस तथ्य को एक क्रांतिकारी परिवर्तन ही मानना पड़ेगा, जो बदले हुए प्रचार को शास्त्रसंमत बनाने की प्रक्रिया को ही प्रमाणित करता है । इस दृष्टि से भातखंडेजी द्वारा सुझाई गई व्यवस्था का समर्थन हो सकता है । और एक तथ्य इस व्यवस्था के पक्ष में यह है कि प्राचीन काल से चला आया 'श्रुतिबंटन नियम' - २२ श्रुतियों को सप्त स्वरों में बांटने का नियम - भातखंडे द्वारा सुझाई गई व्यवस्था में अक्षुण्ण बना रहता है । गु. अण्णासाहब कहते गए - "भातखंडेजी की दृष्टि एवं उनका तर्क क्या था इसका मैंने विवरण किया । परंतु इससे यदि शास्त्र की जड़ को ही भारी हानि पहुंचती हो तो विद्वानों की परिषद में इसपर व्यापक चर्चा की जाए और उसके आधार पर यथासंभव निर्णय लिया जाए, यह मेरा सुझाव है । निर्णय जो भी हो, पर वर्तमान हिंदुस्थानी संगीत का शुद्ध सप्तक तो बिलावल ही रहेगा ।"

मैंने देखा कि इस पूरे विवरण से विद्वज्जन बहुत प्रभावित हुए । इस दृष्टिकोण के संदर्भ में सोच-विचार होना चाहिए और यह विचारधारा तर्कसंमत जान पड़ती है ऐसी राय सामने आई ।

पंडित भातखंडे के उत्तराधिकारी

सन १९६६-६७ में मैं आकाशवाणी में कार्यरत थी और दिल्ली में विट्ठलभाई पटेल हाऊस में मेरा निवास था। आचार्य बृहस्पति भी उन दिनों वहीं रहते । उन्होंने एक बार मुझसे कहा,

"बहन, पंडित रातंजनकर अब की बार दिल्ली आएं तो मेरी भेंट उनसे करवा देना । मैं उनके साथ वार्तालाप करना चाहता हूं । कुछ गलतफहमी हो और वह दूर हो जाए तो अच्छा ही होगा । मैं वचन देता हूं कि, कोई उलटी सीधी बात नहीं करूंगा ।"

सो मेरे यहां दोनों की भेंट हुई । बातचीत सुसंवादपूर्वक वातावरण में चलती रही। (मेरी थोडी तनावपूर्ण मन:स्थिति थी । किस क्षण न जाने क्या मोड़ आ जाए) अचानक आचार्यजी बोले, "पंडितजी, भातखंडेजी के उत्तराधिकारी तो आप ही हैं न? बताने की कृपा करें कि आपने उनके कार्य में क्या वृद्धि की है । (भातखंडेजी के सर्वत्र माने हुए उत्तराधिकारी तो वास्तव में अण्णासाहब थे ही और उनकी गुरुभक्ति भी अतुलनीय थी । परंतु अचानक सामने आए इस नाजुक अवसर पर उन्होंने अलग ही रवैय्या अपनाया जो उनकी गहरी सूझ-बूझ एवं समयसूचकता को उजागर करता है । उनके इस कथन में भी एक दृष्टि से वास्तविकता है ही ।)

थोड़े रुककर अण्णासाहब बोले, "मैं तो उस संगीतोद्धारक महापुरुष का विनम्र शिष्य और अनुयायी हूं । अपनी बुद्धि और औकात के अनुसार थोड़ा-बहुत कार्य कर रहा हूं । संगीत-विद्या का मैं एक छोटा-सा सेवक हूं । गुरुवर्य भातखंडेजी ने अपनी असामान्य प्रतिभा और आजीवन अथक परिश्रम के बल पर अनमोल संगीत-संपदा का विशाल भांडार निर्माण किया, उसे संगीत की दुनिया के सम्मुख लाकर समर्पित कर दिया । इस नाद-संपदा का निष्ठा के साथ अध्ययन-मनन करके जो कोई जितना अधिकार उसपर प्राप्त करेगा वही उस मात्रा में उस संपदा का उत्तराधिकारी हो सकता है । यह एकाधिकार की बात नहीं है ।"

आचार्यजी के प्रश्न से भी अण्णासाहब का यह उत्तर बहुत ही अधिक अप्रत्याशित था ।

आचार्यजी हंस कर बोले, "तो मैं भी भातखंडेजी का उत्तराधिकारी बन सकता हूं ।" अण्णासाहब ने कहा, "जी हां, क्यों नहीं ? जरूर बन सकते हैं । कहो तो मैं घोषित कर दूं ?" आचार्यजी कुछ बोलें इसके पहले ही अण्णासाहब ने कहा, "पर एक बात ध्यान में रखनी होगी । सच्चे उत्तराधिकारी का कार्य तो संपदा का संरक्षण और परिवर्धन होना चाहिए, उसे हानि पहुंचाना अथवा नष्ट करना तो नहीं हो सकता न ? हां, उसमें जो त्रुटि या कमियां हों, उनकी छान-बीन करके जो उचित हो सो भी करना चाहिए ।"

आचार्यजी ठहाका मारकर जोर से हंसे और उछलकर बोले, "मान गया पंडित जी आपको । लगा दी न अच्छी झांपड आपने इस बालक पर ? मैं इस आदेश को ध्यान में रखूंगा ।" आगे बोले, "वैसे तो रामपुर परंपरा के शिष्य होने से भातखंडेजी हमारे ज्येष्ठ बुजुर्ग लगते हैं । सच तो यह है कि भातखंडेजी और उनका कार्य यदि हमारे सामने न होता तो, हम कहां से होते ? हम भी न होते । आगे बोले - "यह मैं दिल खोलकर सच्चे भाव से कह रहा हूं, यकीन मानिए ।" इस प्रकार से यह नाटकीय प्रसंग सुसंवादपूर्ण रीति से समाप्ति पर पहुंचा ।

पंडित गोविंदराव टेंबे और हारमोनियम

सन १९५३-५४ के लगभग ऐसा संयोग हुवा कि गुरुवर अण्णासाहब दिल्ली आए थे, उसी समय पंडित गोविंदराव टेंबे भी रेडिओ की फिल्मी संगीत चयन-समिति के सिलसिले में दिल्ली आए । दोनों हमारे यहां ठहरे थे । गोविंदरावजी अपना खास बनवाया हारमोनियम ले आए थे जिसमें उनका कहना था कि विभिन्न रागों में लगनेवाले स्वरों के दर्जे भी निकाले जा सकते थे । हारमोनियम की ध्वनि बहुत मंजुल, आकर्षक थी । (पैरिस के विशिष्ट रीड़ लगवाए थे)

शाम को दोनों बैठते और प्रात्यक्षिक के साथ साथ चर्चा होती । अण्णासाहब गाते जाते और गोविंदरावजी हारमोनियम पर निकालते जाते । वे चोटी के हारमोनियमवादक और माने हुए संगीतज्ञ थे । बड़ी खूबी से और खूबसूरती से बजाते, बीच बीच में स्वयंस्फूर्ति से अपनी कला का भी प्रदर्शन करते । एक अनोखी महफिल-सी बन जाती । मेरे पिताजी कभी कुछ सवाल उठाते तो और नई नई कल्पनाएं सामने आतीं ।

एक सीमा तक, विशेषत: शुद्ध-तीव्र स्वरों के स्थान और कुछ कोमल भी, यथार्थ और मनमोहक लगते, बाजे की सांस लंबी होने से और बजाने की कुशलता से टिकाव भी सुंदर लगता । पर जहां तोड़ी दरबारी जैसे रागों के कोमल गांधार, धैवत, ऋषभ, निषाद के दर्जे इत्यादि सूक्ष्म ध्वनियों की और उनकी निरंतरता की बात आती और अण्णासाहब योग्य उच्चारण के साथ विशिष्ट स्वरस्थान स्पष्ट गाकर दर्शाते तो हारमोनियम के स्वर अलग ही रह जाते और अंतर साफ दिखाई देता । हां, गोविंदरावजी बखूबी कुछ सुंदर आभास निर्माण करते जो एक चमत्कार जैसा लगता । थोड़े रुककर गोविंदरावजी बोले - "कितना भी करो तब भी आखिर वह तो एक बाजे की पेटी ही है, इससे कितनी उम्मीद की जा सकती है ? पर इसमें भी कुछ खूबियां, अच्छे गुण हैं जिनके कारण बड़े बड़े नामवर गायक इसे स्वीकार करते हैं और सहारा लेते हैं ।" अण्णासाहब बोले, दादासाहब, हारमोनियम को निकम्मा ठहराने का मेरा कतई प्रयास नहीं है यह मैं पहले ही बता दूं । हम लोग तो अपने रागदारी संगीत की सूक्ष्म विशेषताओं का निष्पक्ष भाव से परीक्षण कर रहे हैं और वही इस समय हमारा मानदंड है । हारमोनियम की कमियां, सीमाएं, उसकी गुणवत्ता और अच्छाइयां हमारे सामने हैं । आप जो सुधार उसमें लाए हैं वे सराहनीय हैं । सच तो यह है कि इसके सीमित दायरे के बावजूद आप कितना मनमोहक संगीत इस बाजे पर बजाते हैं, कितने सूक्ष्म, रागात्मक आभास आप निर्माण करते हैं और सुननेवालों को मंत्रमुग्ध कर देते हैं, साथ-संगत भी ऐसी करते हैं कि गायन में चार चांद लगा देते हैं । यह सब आपकी प्रतिभा और कौशल का ही कमाल है । इस स्तर का हारमोनियम रेडिओ से प्रसारित होने में क्या आपत्ति हो सकती है ?"

यह सुनकर गोविंदरावजी प्रसन्न हुए और कुछ आश्वस्त हुए । (अपने विशिष्ट हारमोनियम को रेडियो द्वारा लोगों को सुनवाने की उनकी इच्छा थी ।अण्णासाहब के संगीत में असाधारण अधिकार और सूक्ष्म दृष्टि से गोविंदरावजी बहुत प्रभावित हुए थे, बोले -

"अण्णासाहब, आप सचमुच पहुंचे हुए क्रियासिद्ध पंडित हैं । भातखंडेजी के अद्‌वितीय जीवन-कार्य के लिये मेरे मन में समादर रहा है, परंतु उस शास्त्र से मैं कला को अलग मानता था । कुछ पूर्वग्रह भी मेरे मन में थे यह मैं कबूल करता हूं । आपको मैं विशेष रूप से शास्त्र का विद्‌वान ही समझता था । आपके कुछ संपर्क में आकर, आपका गायन सुनकर मेरी वह धारणा बदलती भी गई थी । पर आज आपने जो प्रत्यक्ष कर दिखाया उससे आपकी असामान्य प्रतिभा एवं सूक्ष्म चिंतन का दर्शन हुवा । उच्च कोटि के विद्‌वान गायकों के निकट संपर्क से जो मेरे संस्कार बने हैं, उनके अनुरूप ही आपका संगीत पाया ।"

अगले वर्ष १९५५ में गोविंदरावजी फिल्मी गीत चयन के काम से कुछ महीनों के लिये आए थे । उनका हारमोनियम का प्रस्ताव रेडिओ के सामने था ही । वह मान्य होकर गोविंदरावजी का हारमोनियम-वादन अपवादस्वरूप में रेडिओ से शायद प्रसारित हो भी जाता । पर विधि का यह विधान नहीं था । अकस्मात् हृदयविकार से दिल्लीमें ही उनका निधन हो गया । हारमोनियम

की बात उस समय वहीं की वहीं रह गई ।

दीपावली की भेंट

अपने निश्च्छल स्नेह और मेरे अंतर्मन के इष्टार्थ के अनुरूप अण्णासाहब ने एक बार दीपावली की 'ओवाळणी' (भाईदूज के दिन बहन भाई की आरती उतारती है और भाई बहन को भेंट देता है) के रूप में मुझे भेंट दी थी, वह थी—

"नादोदध्यवगाहनशीला सुमतिः सदा सुशारीरा
व्युत्पन्ना भगिनो मे सङ्गीतानन्दलीनास्तु ।"

अर्थात्, नादसागर में अवगाहन करने का जिसका शील है, जो सुशारीर है, ऐसी मेरी बुद्धिसंपन्न भगिनी सुमति सदा संगीत के आनंद में लीन रहे ।

ये आशीर्वचन आजीवन मेरे साथ रहेंगे, मुझे प्रेरणा एवं शक्ति देते रहेंगे यह मेरी श्रद्धा है ।

सरस्वती - वंदना

गुरुवर अण्णासाहब रचित सरस्वती-वंदना श्रद्धाभाव से अनुप्राणित मंत्र के समान धीरेधीरे मेरे चित्त में बस गई । एक बार मैंने उनसे कहा कि इस वंदना में मुझे अलौकिक भावोन्मेष का दर्शन होता है । जैसे "प्रसीद देहि मां देवि....." अर्थात् "हे देवि, प्रसन्न होकर शिवम्, सत्यम् और सुंदरम् मुझे प्रदान करो । (और) ऐसा करो कि मेरे द्वारा वही देखा जाए, सुना जाए, जाना जाए और क्रियान्वित किया जाए जो आपके हृदय के अनुकूल हो। न शास्त्र न काव्य, न ही राग, रस, लय कोई भी व्यवहार तुम्हारे प्रसाद के बिना हो नहीं सकेगा।" "हां, यही भाव है" - कहकर अण्णासाहब ने आगे अपनी मानसी पूजा का रहस्य समझाया । संगीतसाधना के विभिन्न अंग पूजा-विधि के साथ प्रतीक रूप से कैसे जुड़े हुए उन्होंने अनुभव किए यह समझाया । उन्होंने इस प्रकार विवरण किया :–

(१) ध्यानगंध - ध्यानरूपी चंदन (सुगंधी चंदन घिसने की क्रिया को ध्यान के साथ जोड़ा है)
(२) ध्वानधूपं - ध्वनिरूप धूप (जैसे धूप की सुगंध वायु के द्वारा आकाश में फैलती है वैसे ही ध्वनि वातावरण में भी आकाश मार्ग से प्रसारित होती है)।
(३) साहित्यदीपकं - साहित्यरूपी दीपक (शब्द और अर्थ का संयोग ही साहित्य है जो ज्ञान का प्रकाश देता है - दीपक के समान)।
(४) अभिषेकःस्वराः सन्तु - स्वर अभिषेक रूप बनें । (संगीत-साधना से परिष्कृत स्वर-स्वरों की धारा)।
(५) सुशब्दाः कुसुमान्यपि - सुंदर शब्द (अर्थरूपी सुगंध के साथ) पुष्परूप बनें।
(६) लयोऽर्घ्यमाचरंत - लय अर्घ्य का रूप ले । (साधना के द्वारा सिद्ध लय);
(७) रागा रसा नैवेद्यरूपिण : - राग और (उनके) रस नैवेद्य का रूप लें । (नाट्यरसों के सीमित दायरे में इन रसों को न बांधा जाए ऐसा उनका मानना था)।

(संगीत का सारतत्त्व रागों और उनके रसों में निहित है । रस मूलतः रसना का विषय है और नैवेद्य भी रसना के रूप में ही कल्पित है । साधनाद्वारा रागों में रस का संचार होता है जो नैवेद्य के रूप में अर्पित करने का भाव है) ।

यह समझाते समय गु. अण्णासाहब के मुखमंडल पर एक दिव्य समर्पणभाव दिखाई दे रहा था, मानो उनका निवेदन स्वीकार करके मां सरस्वती 'तथास्तु' कह रही हो ।

संस्कृत में आस्था

अण्णासाहब के पिता श्री नारायणराव संगीत के साथ साथ संस्कृत के भी अच्छे मर्मज्ञ थे। अण्णासाहब बताते थे कि जिस आग्रह के साथ उन्होंने मुझे बाल्यकालसे ही संगीत की विधिवत् शिक्षा अच्छे गुरुओं से दिलवाई उसी आग्रह के साथ संस्कृत व्याकरण की सिलसिलेवार शिक्षा का भी प्रबंध किया। संस्कृत की इस बुनियाद का अपनी जीवन-प्रणाली पर, व्यक्तित्व पर, सृजन, चिंतन सभीपर गहरा प्रभाव पड़ा ऐसी उनकी भावना थी। पंडित भातखंडेजी द्वारा निर्मित संगीत-विद्या की विशाल, ठोस आधारशिला के प्रस्ताव एवं आयाम की परिपाटी में आगे जो कुछ कार्य वे कर सके उसकी पूर्वतैय्यारी में संस्कृत एवं उसके संस्कारों का योगदान था ऐसा वे मानते थे। उनके रचना-साहित्य में संस्कृत का प्रयोग अपनी विशेषता रखता है। जैसे, तरानों की अपनी कुछ रचनाओं में उन्होंने अंतरे में तराने के अक्षर अथवा पाटाक्षरों के स्थान पर संस्कृत में सुंदर अर्थपूर्ण पंक्तियों की रचना की, स्थायी के मुखड़े के साथ समन्वय स्वाभाविक लगे इसपर भी ध्यान दिया। ख्याल शैली में आपने कुछ बंदिशें संस्कृत में रची हैं और उनमें गेयता का गुण भरपूर रहे इस पहल का भी ध्यान रखा है। संस्कृत में मेरी विशेष रुचि के कारण अपनी रचनाएं मुझे दिखाकर वे मुझसे गवाते और कभी कभी इनका पुनरावलोकन करते। इन नवीनतापूर्ण रचनाओं को लोकप्रिय तो नहीं कह सकते पर सुधी श्रोताओं की प्रशंसा अवश्य मिलती रही है।

अण्णासाहब की नवनिर्माण की प्रतिभा का सुंदर नमूना रहा उनका गेय नाटक 'शिवमंगलम्'। उज्जयिनी में प्रथम कालिदास समारोह के लिए विशेष आमंत्रण पर महाकवि कालिदास के कुमारसंभवम् काव्य की विषयवस्तु को लेकर और काव्यमें से कुछ महत्त्वपूर्ण घटनादर्शक श्लोकों को चुनकर गेय नाटक की रचना उन्होंने की थी। परंपरागत विधा के अनुसार नटी, सूत्रधार एवं अन्य पात्रों का ग्रथन करके अनुरूप संवाद रचे एवं रत्नजड़ाऊ शैली में चुने हुए श्लोकों को स्वर-राग-तालों में बांधकर मध्यवर्ती वस्तु के रूप में स्थापित किया। उन दिनों वे खैरागढ़ के 'इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय' के उपकुलपति थे। वहांके छात्र-छात्राओं के द्वारा खेले गए इस गेय नाटक का पूरा संचालन अण्णासाहब ने अति कौशल एवं कल्पकता से किया था। प्रयोग सारे समारोह का गौरव बढ़ानेवाला, सफल एवं अग्रणी रहा। संस्कृत के विद्वज्जन-समुदाय के द्वारा वह बहुत प्रशंसित रहा। अण्णासाहब को इस सफलता से विशेष तुष्टि हुई। बाद में उन्होंने सहज भाव से (आत्मप्रशंसा और आड़ंबर के साथ नहीं) मेरे पिताजी को बताया, "काकासाहब, कालिदास समारोह में संस्कृत के पंडित और दिग्गज विद्वान एकत्रित थे। उनकी बिरादरी के बाहर का मैं, मेरी औकात ही क्या थी? मेरे प्रयोग को उनके द्वारा अनुमोदन एवं प्रशस्ति मिलना यह भी क्या कम है? 'आपरितोषाद् विदुषां' के अनुसार संतोष की ही बात हुई न?" यह रही उनकी विनम्रता।

'शिवमंगलम्' के प्रयोग की प्रशंसा बहुत हुई जिसके परिणामस्वरूप आकाशवाणी ने उसे रिकार्ड करके प्रसारित करने का निर्णय लिया। बंबई केंद्र पर रिकार्डिंग हुई।

पंडित भातखंड़े के शास्त्रग्रंथ 'श्रीमल्लक्ष्यसंगीतम्' को विशद करने के उद्देश्य से अण्णासाहब

ने 'लक्ष्यसंगीतकारिका' संस्कृत में लिखना उत्साह के साथ प्रारंभ किया था। उसके प्रारंभ से लेकर कुछ अंश वे मुझे अवसर पाने पर दिखाते, जोरसे पढ़ने को कहते। सुस्पष्ट अभिव्यक्ति के साथ कारिका की शैली में वह सब मुझे बहुत ही रोचक लगता। अण्णासाहब के साथ पढ़ने में आनंद आता। एक एक मुद्दे को वे मूल के साथ जोड़ते एवं विशद करते हुए स्पष्टीकरण करते जाते जिसमें उनका अपना दृष्टिकोण भी सामने आता। (संस्कृत के माध्यम से उनके योगदान के कुछ मौलिक अंशोंकी ही मैंने चर्चा की है।)

विवादग्रस्त प्रश्नों की चर्चा में अण्णासाहब की विद्वत्ता, तर्कशीलता और अनुभव का प्रभाव रहता। परंतु कभी कभी, श्रद्धेय भातखंडेजी के विरोध में कोई सवाल उठाया जा रहा हो या ऐसी आशंका हो जाए तो वे सजग और कुछ खिंचे से हो जाते। फिर सवाल महज जिज्ञासावश ही क्यों न हो, और पूछनेवाले उनके कार्य में श्रद्धा रखनेवाले ही क्यों न हों।

एक बार मैंने कहा, "अण्णासाहब, मालकौंस अंग के कौंसी कान्हड़े का जो रूप हमने आपसे सीखा है, उसमें कान्हड़े का अंग स्पष्ट नहीं दिखाई देता, सामान्यत: संपूर्ण मालकौंस जैसा लगता है। हालांकि, यह रूप गाने में, सुनने में सुंदर लगता है, कलाकार उसे गाते बजाते भी हैं। फिर भी यह आपत्ति है, कुछ जानकार लोग भी इसे उठाते हैं। वे एकदम नाराज - से होकर बोले, अच्छा, तो आपको यह रूप पसंद नहीं है। नहीं है पसंद तो उसे छोड़ दीजिए, मत गाइए।" मैंने कहा कि यह मेरा मतलब नहीं था। फिर कहने लगे कि गुरुवर्य को इस राग का यही रूप मिला था। सोच-विचार कर उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया था। अब हम दूसरा रूप भी कान्हड़े के अंग को स्पष्ट दर्शाते हुए बना सकते हैं।

(आगे चलकर कान्हड़े के पहलू को दर्शानेवाला पर कुछ प्रच्छन्न रीति से पुरानी बात को भी रखनेवाला रूप उन्होंने नई बंदिश द्वारा अंकित किया)।

अण्णासाहब ने बताया कि उन्होंने काफी कान्हड़े का जो स्पष्ट एवं सुंदर रूप अपनी बंदिशों के द्वारा प्रस्तुत किया उसका संगीतज्ञों ने स्वागत किया है, कुछ कलाकार तो उसे महफिल में गाने भी लगे हैं। प्रसन्न हुए और कहने लगे किए रागदारी संगीत तो एक विद्या है, इसमें जितना सोच-विचार होगा, छान-बीन होगी उतना ही वह उन्नत और समृद्ध होगा।" काफी कान्हड़े के रूप का, जिसमें कान्हड़े का अंग न होकर काफी एवं बागेश्री का संयोग है, समर्थन करते हुए उन्होंने कहा, "बागेश्री स्वयं एक कान्हड़ा माना गया है। इस दृष्टि से काफी के साथ कान्हड़े के रूप में बागेश्री के संयोग को सयुक्तिक ही मानना चाहिए।"

नई बंदिशें

अण्णासाहब से प्रोत्साहन और मार्गदर्शन पाकर मैंने नई बंदिशें बनाने की दिशा में कदम उठाया।

उन्होंने बताया - "राग के रूप का परिपूर्ण ज्ञान एवं उसे बरतने का प्रत्यय, अनुभव तथा ताल के साथ घनिष्ठ परिचय तो अनिवार्य है ही, परंतु गाने की बंदिश में पद का स्थान भी अपना महत्त्व रखता है। राग-ताल के साथ पद की भी साधना करनी चाहिए। इस दृष्टि से व्रज भाषा का जो समृद्ध गेय-पद साहित्य है उसका मनोयोगपूर्वक अवलोकन विशेष लाभदायक होगा। हमारी परंपरागत बंदिशें रागताल की दृष्टि से उच्च कोटि की होते हुए भी कहीं कहीं पदसाहित्य का स्तर नगण्य रहा। उनमें अंकित प्रामाणिक रागरूपों के लिये ही उनका विशेष

रूप से समादर किया गया। आज के युग में तो यह स्थिति बदलनी चाहिये, बदल भी रही है। रचनाकार पदपक्ष का भी खयाल रखने लगे हैं पर कभी कभी रागदारी अच्छी खासी होते हुवे भी बोल अटपटे, अर्थहीन होते हैं।'' उनके मतानुसार इस पहलू का भी महत्त्व हमें समझना चाहिये। उपलब्ध बंदिशों के पदसाहित्य का परीक्षण भी कुछ सहायक हा सकता है।

इस दिशा में मैं प्रयास करने लगी। शुरू शुरू में अपनी कल्पना के अनुसार कोई बंदिश बनाकर मैं अण्णासाहब को भेजती, फिर उसे वे अपने सुझावों के साथ लौटाते या मिलने पर बताते। इस तरीके से १९५७ के बाद मेरी कुछ प्रगति होने लगी। आज इस दिशा में मेरा प्रयास पर्याप्त मात्रा में सफल है। मेरी रचनाएं स्वयं मेरे द्वारा और अन्यों के द्वारा भी गाई जाती हैं, सिखाई भी जाती हैं।

सहज स्वाभाविक वातावरण में प्रसन्नता

अण्णासाहब में दिखाऊपन का, दिखावटी औपचारिकता का नितांत अभाव मैंने देखा। सहज, स्वाभाविक स्नेह, समादर के वातावरण में वे बहुत प्रसन्न एवं आराम में रहते। हमारे यहां विशेषत: मेरे पिताजी की संगति में उनका मन खिला-सा रहता। कितनी रोचक बातें, घटनायें, चिंतनपूर्ण चर्चायें चलतीं, हास्य-विनोद की बातें भी वे करते जाते।

एक बार हलके फुलके 'मूड़' में वे कहने लगे, ''काकासाहब, अस्मादिक भी, जो है सो, लघुकथा लेखन में दखल रखते हैं। एक हास्यरस का नमूना सुनाता हूं। हम लोग सुनने लगे। कथा मराठी में लिखी थी। प्रारंभ था - दामुअण्णा को साठवें साल में गाना सीखने की सनक आई। फिर देर काहे की, उस्ताद की खोज शुरू हुई, उस्ताद मिल गये। खुशी खुशी तालीम प्रारंभ हुई। दो तीन दिन कुछ तालीम का आभास होता। उस्ताद कुछ गाते और कहते, ''गाओ बेटा''। दामूअण्णा जैसा समझ में आता वैसा उलटा-सीधा गाते। उस्ताद कहते, ''बहुत अच्छा''।

फिर मनमानी तालीम का, उस्ताद के तौर-तरीकों, चायपानी सिगरेट इत्यादि का वर्णन। दामूअण्णा उलझन में पड़ गये, कुछ समझ में आ रहा है या नहीं समझ में ही ना आये।

फिर दामूअण्णा का मनमाना रियाज। (रात को ही वे बैठ पाते) पड़ोसियों की शिकायतें (चिल्लाना बंद करो, नींद खराब मत करो), पत्नी (मराठी में, घरची म्हातारी.) की चिल्लाहट अलग - खूब रोचक और हंसानेवाला चित्रण अण्णासाहब ने किया। हम हंसते हंसते लोट पोट हो गये।

कथा के अंत का किसीको भान नहीं। क्योंकि अंत तक अण्णासाहब पहुंचे भी नहीं!!

बाद में उन्होंने बताया कि गुरुवर्य भातखंडेजी के प्रत्यक्ष अनुभव के एक बयान पर से अण्णासाहब को यह लघुकथा सूझी थी।

महफिल के कुछ अनौपचारिक परिवेश में जहां कंलाकार एवं श्रोताओं के बीच संपर्क संवेदनशील रहता है, अण्णासाहब की प्रतिभा के अनिर्बाध विलास के लिये अधिक अनुकूलता रहती। उसमें भी कुछ जानकार, रसिक और कलाकार भी उपस्थित हों तो उनके गाने में और भी नवीनता और गहराई का रंग भर जाता। (कभी कभी तानूपरे पर छोटूजी (गिंडे), भटसाहब, दिनकर कैकिणी जैसे उनके अंतरंग मेधावी शिष्य गाने में संगत कर रहे हों तब कुछ और ही बात बनती)। उनका ऐसा रंगभीना गाना सुनने का सौभाग्य मुझे कई बार मिला।

एक प्रसंग :- १९५७ में अण्णासाहब के 'पद्मभूषण' से सम्मानित होने के उपलक्ष्य में उनके अभिनंदन का अनौपचारिक आयोजन था। दिल्ली के जाने-माने संगीतज्ञों के साथ उस्ताद विलायत हुसेन खां भी उपस्थित थे। उस शाम उनके गाने में अदभुत रंग का संचार हुवा। लगभग सवा घंटे तक राग त्रिवेणी की अवतारणा में समय का अहसास ही नहीं हुवा। एक संमाहन-सा छा रहा था। सभी ओर से उत्स्फूर्त प्रशंसा होने लगी। अण्णासाहब कुछ अभिभूत होकर बोले, "मैं क्या कहूं? हो सकता है कि आप सबका प्रेम और मेरी सफलता में सत्कार भावना के कारण ही मेरा गाना अच्छा हो गया हो और आप सबको पसंद आ गया हो"।

विशाल सभागृह (ऑडिटोरियम) या पंडाल उनके सहज स्वभाव के विशेष अनुकूल न होते हुए भी ऐसे परिवेश में भी अण्णासाहब के गाने के अद्भुत प्रभाव के अवसर मेरे स्मरण में हैं।

१९५६ में उत्तर प्रदेश सरकार की ओर से विशाल संगीत समारोह का आयोजन था। सरकार की किसी बड़ी योजना का विशेष सत्र था जिसके लिये बहुत सारे अधिकारी वर्ग (परिवारसहित) एकत्रित थे।

बड़े बड़े संगीतकार समारोह में भाग ले रहे थे। अण्णासाहब लखनऊ से एवं मैं दिल्ली से गई थी। लगभग बीच रात के बाद अण्णासाहब की गाने की बारी आ रही थी, साज मिल रहे थे, राग तय नहीं था। मंच पर चलने के पूर्व उन्होंने मध्यम स्वर में तानपूरे मिलाने को कह दिया।

विशाल सभागृह भरा हुआ था। मध्यरात्रि की हलकी-सी झपकी छाई हुई थी। अण्णासाहबने स्फूर्ति के साथ अचानक प्रारंभ किया "चंद्र जाके भाल बिराजे", राग पंचम में विलंबित। तार षड्ज पर 'सम' ऐसे चमक गई मानो आस्मान से प्रकाश का पुंज अवतरित हुवा। पूरी सभा जैसे मंत्रमुग्ध हो गई। अंतरे में जब 'ऐसो महादेव', पर तार मध्यम स्थिर हुवा तो ऐसा लगा कि सचमुच गिरि कैलास के शिखर पर भगवान शंकर प्रत्यक्ष खड़े हैं। कंठस्वर में भी एक ऊर्जा का अनुभव था। उस रात का पूरा कार्यक्रम एक चमत्कार-सा मन पर छा गया। आश्चर्य यह कि कार्यक्रम के बाद कितने ही लोगों ने अण्णासाहब से मिलकर कहा कि हमें संगीत की, राग-वाग की समझ नहीं है, पर आपका गाना अदभुत लगा। यह कैसा प्रभाव कि हमें अनुभव हुआ है कि कैलासपति शंकर के हमें प्रत्यक्ष दर्शन हो रहे हैं।

और वह 'हरप्रिया' राग!

अप्रैल १९७० में अण्णासाहब दिल्ली विश्वविद्यालय के संगीत विभाग में एम.ए. के परीक्षक के रूप में आए थे। हमारे साथ ही ठहरे थे।

दिनभर परीक्षाओं में व्यस्त रहते। सायं घर लौटने के बाद चाय पीते पीते ही कोई बात छिड़ जाती जो कुछ विशेषता लिये होती। कुछ लोग उनसे मिलने भी आ जाते। एक दिन अण्णासाहब ने कहा, "एक नये राग की कल्पना आई है। सुनो, कैसा लगता है बताओ"। वे गाने लगे। काफी ठाठ के सुर लग रहे थे पर रूप कुछ समझ में नहीं आ रहा था। अण्णासाहब ने कहा "इसका एक राज है। यमन ठाठ के धैवत को 'सा' मानने से काफी ठाठ मिलता है, तो यह काफी हमारा ठाठ है, पर विस्तार में मूल मूर्च्छना " ध नि सा रे ग म प ध, नि सा रे ग" को ध्यान में रखकर करना है और उन संगतियों को काफी के संदर्भ में अंकित

करना है। तुरंत उन्होंने कागज पर लिखकर दिखाया। (मैनें इसे जतन करके रखा है जो इस आलेख के साथ प्रस्तुत है) । वे सुविधापूर्वक विस्तार करने लगे, तब भी मुझे ग्रहण करने में कठिनाई लग रही थी। अण्णासाहब मुसकरा कर बोले, "ज्यादा दिमाग को खपाने की जरूरत नहीं। मेरी तो मूर्च्छना-मेल की यह दिमागी खटपट है, ऐसा ही कुछ चलता रहता है। नाम इस राग का 'हरप्रिया' रखा है। बंदिश भी बनाई है—

"सुन रे सुजान, मनमोहन एक राग,
'हरप्रिया' सुंदर नाम।
गायक-गुनिगंधर्व जो साथ ग्यानी
भेद वाको जाने, ना और काहूको ये काम।"

मुझे उनके 'रजनी-कल्याण' का स्मरण हो आया। नाद-भेद-रहस्य के दर्शन में अण्णासाहब कहीं पहुंचे हुए थे।

एक बार नए रागरूपों के मानदंड के बारे में बातचीत चली । मैंने नटभैरव के बारे में पूछा । भैरव में तीव्र रिषभ लेनेवाला सरसांगी मेल है । अण्णासाहब ने कहा, "मेल अथवा ठाठ में से, विशेष परिकल्पना मन में लेकर, उसे तराशने पर उसमें रागत्व का संचार होता है ।" फिर कुछ देर सोचकर बोले, "जैसे नटभैरव के रूप को नाम के अनुरूप रागत्व देने के लिये पूर्वांग 'सा रे ग म प' एवं उत्तरांग 'म प ध नि सां' को लेकर पूर्वांग में नट के अंग से और उत्तरांग में भैरव के अंग से स्वरसंचार रच-रच कर उन्हें मिलाते जाओ तो अच्छा रूप उभर आ सकता है । और, इस राग को नया राग यूं मानना चाहिये कि नट और भैरव तो दोनों परंपरागत राग हैं परंतु दोनों के विशिष्ट संयोग से बना हुआ नटभैरव का रूप तो नया ही है ।"

प्रत्यक्ष गाकर उन्होंने इस प्रक्रिया को स्पष्ट रीति से समझाया । मेरे मन पर वह छा गया । धीरे धीरे राग का रूप स्पष्ट होता गया । मैंने बंदिशों की रचना की, गाने लगी । सभी ओर से अनुमोदन मिला, संतोष हुवा । उसी दौरान 'Musical Aspect of Kāku' ('काकु' का सांगीतिक पक्ष') यह खोजपूर्ण लेख मैंने 'संगीत नाटक अकादमी' के लिए लिखा था । उन्हें दिखाया, लेख पसंद आया, विवरण यथार्थ लगा । बोले, "सचमुच यह महत्त्वपूर्ण पहलू है । हमारे संगीत के क्षेत्र में सामान्यत: 'नाट्यकाकु' से भिन्न, मात्र संगीत के ही दायरे से सबंध 'काकु' की जानकारी की कमी है । शास्त्रग्रंथों में इसका सुस्पष्ट विवरण मिलता है जिसमें, संगीत में निहित प्रायोगिक सूक्ष्मता एवं सौंदर्य के प्राणतत्त्व के रूप में 'छाया' की कल्पना उभरती है । विशिष्ट रागों में प्रयुक्त होनेवाले स्वरों के सूक्ष्म दर्जों को परंपराओं के विद्वान संगीतकार प्राथमिक महत्त्व देते आए हैं, और वे सब काकुतत्त्व के ही अंतर्गत आते हैं । शास्त्र के साथ प्रयोग को जोड़नेवाला यह मौलिक तत्त्व है । इसका विस्तृत अध्ययन एवं प्रचार नि:संदेह लाभदायक होगा ।"

(गुरुवर्य के साथ संगति और उद्‌बोधक परिचर्चा के आनंद में कुछ दिन बिताने का यह अंतिम अवसर था । इसके बाद हम बंबई जाते तो उनके आवास पर उनसे मिलना होता । उनका स्वास्थ्य तब गिरने लगा था.....)

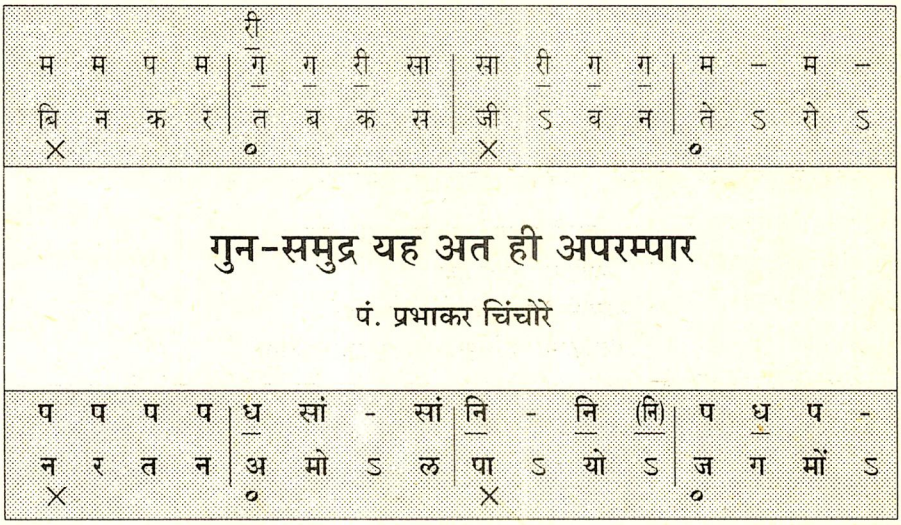

(भातखंडे संगीत विद्यापीठ के पहले संगीत - निपुण। शांतिनिकेतन में सेवाकार्य। ग्वालियर के माधव म्यूझिक कॉलेज और इंदौर के शासकीय संगीत महाविद्यालय के प्राचार्य रहे। इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ के उपकुलपति भी। संप्रति लखनऊ के भारतीय संगीत विद्यापीठ के प्रधान निर्देशक।)

'जय जय जय जय विजये! माय मराठी' इन्दौर की ज्येष्ठ पीढ़ी के कविवर्य श्री. स.का. देव की यह कविता महेश्वर में बृहन्महाराष्ट्र परिषद के उद्घाटन के अवसर पर महाराष्ट्र-गीत की तर्ज पर मुझे गानी थी। उद्घाटन के लिये पं. विनायकराव पटवर्धन और शिल्पकार फड़के विशेष रूप से आमंत्रित थे। दोनों महानुभावोंने मेरा गायन बहुत पसंद किया। पं. विनायकराव पटवर्धन ने तो मेरी पीठ भी थपथपाई। दूसरे दिन सुबह मुझे अपने पास बुला लिया और कुछ गाने के लिये कहा। साज मिलाकर शुरुवात करने ही जा रहा था कि अण्णासाहब फड़के प्रविष्ट हुए और तबले पर संगत करने बैठ गए। जौनपुरी-भैरवी की बंदिशें बड़ी खबरदारीसे मैंने अण्णासाहब के साथ गाईं। दोनों ने मुझे भरपूर प्रोत्साहित किया। दूसरे दिन सहस्रधारा का कार्यक्रम निश्चित हुआ। सुबह चार बजे नाववाले तैयार हुए। मैंने अपने लिये श्री विनायकराव की डोंगी में स्थान बना लिया। रास्ते में मैंने उनसे आग्रहपूर्वक कहा, "मैं ध्यानपूर्वक गायन सीखना चाहता हूं। आपके साथ पूना चलूंगा। स्कूल में पढ़ता रहूंगा और आप मुझे गाना सिखाइए। अच्छा पढ़ा-लिखा, शिक्षित गवैया बनूंगा"। उन्होंने मुझसे कहा, "कुछ दिन बाद मुझे पुनः स्मरण दिलाना। उत्तर मैं तुम्हें अवश्य दूंगा।" हाइस्कूल और ग्वालियर की चतुर्थवर्षीय परीक्षा उत्तीर्ण करके मैंने उन्हें पुनः स्मरणपत्र भेजा, जिसके जवाब में उन्होंने मुझे लिखा, "एक अच्छा पढ़ा-लिखा गवैया बनना चाहते हो। बहुत सोच-समझकर लिख रहा हूं, तुम्हारे लिये लखनऊ के श्री रातंजनकर सुयोग्य गुरु होंगे। उन्हें स्वयं लिखो, वे तुम्हें निराश नहीं करेंगे।" मेरे हितचिंतकोंमें लंबी चर्चाएं हुईं और इंटर आर्टस् तथा लखनऊ की 'संगीत विशारद' परीक्षा पूर्ण करके, आगे की शिक्षाके

लिए इधर-उधरसे पैसे जोड़-जाड़ कर, मैं लखनऊ आ गया। लगभग उन्नीस-बीस वर्ष बाद 'राजस्थान संगीत नाटक अकादमी, जोधपुर' की कोर्सेस कमीटीमें उनसे मेरी पुनः भेंट हुई। अकादमी के अध्यक्ष श्री गोवर्धनलाल काबरा से मेरा परिचय कराते समय श्री विनायकराव ने उपर्युक्त घटना का स्मरण उपस्थितों को कराया।

इन्दौर में होलकर स्टेट शिक्षाविभागीय परीक्षाएं संचालित करने के लिए गुरुवर श्री रातंजनकर रामबाग में उनके एक मित्र श्री बाम के यहां ठहरे थे। इनकी यह उपस्थिति शहर के संगीत-प्रेमियों के लिए बड़े कुतूहल का विषय थी। शनिवार की रात को श्री बाम के यहां उनका गायन हुआ। उनके इर्द-गिर्द, अपने भावी गुरु की टोह लेते रहने का मेरा क्रम, यथावत् चलता रहा। रातभर गाना सुन लेने के बाद लगभग दस बजे सुबह मैं श्री बाम के यहां गया। वह रविवार था। साप्ताहिक अवकाश होने से ज्ञात हुआ कि श्री रातंजनकर बाहर गए हैं और वे शाम तक लौटेंगे नहीं। यह भी मालूम हुआ कि उस दिन वे रामूभैया दाते के मेहमान रहेंगे। रामूभैया का घर मेरे लिये कोई नया नहीं था, अतः सीधे वहां पहुंच गया। वहां देखता हूं तो चुने हुए पांच सात जाने-माने श्रोताओं की नितांत प्राइवेट महफिल जमा हुई थी। हार्मोनियम पर श्री बच्चूभैया ढोबले और तबले पर श्री मुन्नालाल पंवार बैठकर गपशप के मूड़ में कभी बातें करते तो कभी गाते-बजाते थे। श्री रातंजनकर के साथ रामूभैया का आगमन होते ही बैठक ने अपना निश्चित आकार ग्रहण किया और बाकायदा साथ-संगत, गाना-बजाना शुरू हुआ। देसी रागमें 'निरोंजन कीजे' झपताले का साधरा शुरू हुआ। कुछ समय बीता और हार्मोनियम श्री रामूभैया ने अपने पास खींच लिया और संगत करने लगे। देसी को अधूरा छोड़ कर जौनपुरी का एक और साधरा शुरू हुआ। फिर लखनऊ के गाने-बजाने की बात चलते ही 'बरकतवा लिये ठाड़ो कंकर मारत' का संक्षिप्त अस्ताई-अंतरा हुआ। वह भी पीछे रह गया और भैरवीमें 'भवानी, दयानी' का आवाहन शुरू हुआ। आज इतना ही स्मरण है कि महफिल का वातावरण बिगड़ गया। अपनी अल्पायु के कारण बड़ों की बड़ी बातें मैं गहराईसे समझ नहीं सका। गाना-बजाना चल तो रहा था। परंतु बुज़ुर्ग लोग नाक-भौं सिकोड़कर हार्मोनियम की पट्टियां उलट-फेर रहे थे। आज वे दोनों महानुभाव ज़िंदा नहीं हैं। तथापि रागोंका क्रम और दर्शकोंके चेहरोंका स्मरण होते ही समझ रहा हूं, गायन किस संदर्भमें चल रहा था। और बिना खाए-पिए महफिल क्यों उखड़ गई। बादमें एक दो प्रसंगों में हार्मोनियम की संगत पर गाया हुआ गुरुवर रातंजनकरजी का गायन भी मैंने सुना था। परंतु उस समय दुराग्रह नाम की कोई स्थिति नहीं थी और न ही था रागोचित स्वरों की हिंदुस्तानियत के मापदंड का सवाल।

लखनऊ में प्रवेश लेते समय मेरी कक्षामें २-३ वर्ष पूर्वसे श्री चंद्रशेखर भट और शंभू महाड़कर अध्ययनरत थे। गुरुवर ने मेरा परिचय ज्येष्ठ गुरुबंधु श्री. एस. सी. आर. भट से करा दिया और कहा कि मैं भी संगीत का एक फुल टाइम साधक हूं और अनेक मुश्किलों के बाद लखनऊ पहुंच सका हूं। 'बिधु बदन युवतिगण' सरपरदा की इन पंक्तियों से मेरी तालीम प्रारंभ हुई। एकाग्र चित्त से हम सब गा रहे थे । इतने में अंतरे की उठान हुई और मुझे रुकना पड़ा। ˇग प, ध ˇनि ऽ ऽ ऽ ध , ˇनि ऽ ऽ ˇˇनि ऽ सा... तार षड़ज् के घर में घुसती हुई उस सुदीर्घ निषाद ने मुझे आकर्षित किया। गला फाड़-फाड़कर लाख कोशिशों के बावजूद हार्मोनियम की वह ढीली-ढाली पोली-पोली निपाद मैं गाता रहा। इसमें अंतरे का स्वाद ही नहीं था। उधर गुरुवर अपनी तर्जनी और अंगूठा दोनों को भिड़ाकर पानी के छींटे मारने जैसे इशारे करते हुए मेरी

आवाज को थोड़ा ऊपर, और थोड़ा ऊपर ले जाने के लिये कहते रहे। मैं हैरान हो गया। सरपरदे में तालीम का यह क्रम कोई दो माह तक चला। नियमित रूपसे अपना गला और कान दुरुस्त करने में बिताता। बीच बीच में गुरुवर जब बाहर दौरे पर चले जाते तब श्री भट मुझे अपने पास बुला लेते और मेरी कमजोरियों को ठीक करनेका प्रयास करते। खूब रियाज करवा लेते। वर्षों तक हम दोनों एक साथ गाए और एक दूसरे को सहारा देते रहे।

कक्षा में देवगिरी बिलावल की तालीम शुरू हुई और वह थमने का नाम ही नहीं ले रही थी। औड़व देवगिरि, संपूर्ण देवगिरि, ध्रुपदियों की देवगिरि, ख्यालियों की देवगिरि, उन सब की अलग अलग बंदिशें, साज-सिंगार की खूबियां गुरुजी विस्तार से समझाते और हम लोगों से गवा लेते। प्रात: ८ से १२ बजे तक यह शारीरिक मेहनत चलती। हम लोग दूसरे किसी राग की अपेक्षा कर रहे थे। श्री भट ने गुरुजी से कहा, "साहब! देवगिरि में तो ३-४ बड़े ख्याल हम लोग सीख चुके। परंतु रेडियो में इसी राग को गाने की इच्छा हुई तो क्या बड़ा ख्याल गाकर चुप हो जाएं? इसके जोड़ में छोटा ख्याल भी सिखाइए न? और अहो आश्चर्य! हमारे सामने गुरुजी के कंठ से अक्षरश: किसी विशाल झरने का स्रोत फूट पड़ा। कागज पेन्सिल ढूंढते अस्ताई पूर्ण होकर गुरुजी ने ५-६ बार सुना भी डाली। वे अंतरा बांधने लगे और हमने चीज मुखस्थ कर लेना ठीक समझा। लय धीमी करके पुन: गाने लगे। दिर् दिर् तनन दीम तनन दीं दीं तदीं, तनन दिर् दिर् तोम् दिर् दिर् दिर् दिर् दिर् दिर् दानी, तार दानि, तोम् तननन॥ यललि यललि यलि यला य्याल्लेलल, धित्लांग् तक दिर् दिर् , धित्लांग तक दिर् दिर्, धा किटतक धुम् किटतक किडनग धित्तां, क्डां तक् धा, क्डां तक धा॥

गीतरचना के क्षेत्र में उनकी हरएक कृति ऐसी ही उद्देश्यपूर्ण रहा करती थी। प्रत्येक गीत का अपना स्वतंत्र प्रसंग है, विस्तृत इतिहास है। इसे अब कौन और कैसे लिखेगा? हिन्दुस्तानी संगीत का शृंगार इतनी उत्कटता से सजानेवाला बहुआयामी व्यक्तित्व एकमात्र श्री रातंजनकर ही थे।

एक दिन कक्षा में हम लोग लच्छासाख की तालीम ले रहे थे। अचानक कोई शख्स वहां आया और उसने बताया– "उस्ताद फैयाजखां लखनऊ में कश्मीर होटल में ठहरे हैं। द्वितीय महायुद्ध चल रहा था। वॉर फंड के लिए हरदोई, सीतापुर, लखिमपुर, फैजाबाद में उनके जलसे होंगे।अत: ५-६ दिन तक वे प्रतिदिन आते जाते रहेंगे। उन्होंने 'श्रीकृष्ण' को याद किया है।" तालीम रोक कर गुरुदेव ने हमसे कहा, शहर में खांसाहब की मौजूदगी में मैं आपको तालीम नहीं दे सकता। आप दोनों अभी उनके पास जाकर बताइए लच्छासाख का सामान जुटाना है। राग की कोई बंदिशें हों तो हमें सिखाइए। हम उन्हें सम्हाल कर रखेंगे। श्री भट और मैं दोनों सीधे उठकर ११ बजे काश्मीर होटल पहुंच गए और आनेका कारण बताया। खां साहब हंस दिए और इधर उधर की बातें हुईं। प्रतिदिन ११ बजे हम लोग उनके पास जाते और लौट आते। एक दिन खांसाहब एकदम अकेले बैठे हुए थे। इतनेमें उनके भोजन की तैयारी हुई। तौलिया फैलाकर एक प्लेट में ४०-५० फुलके और चीनी के बड़े कटोरे में आधा सेर मटन-शोरबा लेकर खांसाहब बैठ गए। एक फुलका उठाकर पूरा का पूरा मटर पर रखते हुए हाथ में उठा लिया और हमसे कहने लगे, "सुनो! आज ४-५ दिन से तुम दोनों मेरे पास बराबर आ रहे हो। क्यों अपना वक्त बरबाद करते हो? किसी दूसरे के शागिर्द होते तो एक-दो चीज़ें गुनगुनाकर सिखा देता। पर चूंकि तुम श्रीकृष्ण के शागीर्द हो मैं ऐसा नहीं कर सकता। सच बात बताऊं,

मुझे लच्छासाख की तालीम नहीं है। ऐसे राग श्रीकृष्ण के सिवाय कौन जानता है? उसके रहते हुए तुम पीछे क्यों पड़ गए? क्या उसपर तुम्हारा भरोसा नहीं? भावावेश में हमने खां साहब के, हमारे दादागुरु के पैर पकड़ लिए और अपराधी चेहरा लेकर अपने गुरुवर के पास वापस चले आए। ऐसा नेकदिल इन्सान साक्षात् परमेश्वर नहीं तो और क्या होता है?

एक बार रैंगलर परांजपे की उपस्थिति में सुबह के राग सुनने का प्रस्ताव श्रीमती शकुंतलाबाई परांजपे ने गुरुदेव के पास भेजा। सुननेवालों में पूनाके कतिपय रसिक और संगीतकार आमंत्रित थे। महफिल का कमरा लोगों से ठसाठस भरा हुआ था। तानपूरे मिल जानेपर गायनाचार्य मिराशीबुवा का आगमन हुआ। जैसे तैसे जगह बनाकर गुरुदेव के सामने परंतु मेरे तानपूरे के पास उनके लिये भी जगह बनाई गई और गायन की शुरुआत हुई। प्रारंभिक तोहफे के रूपमें, गायक की ओर से, श्रोताओं को 'सालग बराली' पेश की गई। नितांत गंभीर वातावरण में तोड़ी और काफी की वह लुका-छिपी समझदार श्रोताओंके रोंगटे खड़े कर रही थी। सभी के मनमें राग के नाम के विषय में कुतूहल जाग उठा। इतनेमें एक वाचाल सज्जन ने श्री मिराशीबुवा से ही राग का नाम पूछ लिया। इशारेसे ही बुवासाहब ने उसे चुप करा दिया। कुछ समय बीता और राग अपने अंतरें में फैल गया। पुनः उसी सुगबुगाहट ने जोर पकड़ा और वह गुरुवर की तंद्रामें विघ्न पैदा करने लगी। पीछे बैठे हुए मुझसे गुरुदेव ने पूछा, कौन बात कर रहा है? राग का नाम जानने की श्रोताओं की इच्छा मैंने उन्हें बताई। क्षणभर रुककर गुरुदेव ने संक्षेप में अपनी नई कल्पना का परिचय बुवासाहब को दिया। बंदिशें पुराने ढांचे की होने से बुज़ुर्ग लोग तो अपनी शिक्षा-दीक्षा को याद करते हुए निजामुद्दीन औलिया का स्मरण करने लगे। भोजन के समय रैंगलर परांजपे ने नए-पुराने मेल-मिलाप पर एक छोटा-सा वक्तव्य कर दे डाला।

ऐसा प्रयोगशील गायन क्या अब सुनने, सीखने, अनुभव करने मिलेगा? उनके हाथों कितने ही लुप्तप्राय रागों ने पुनर्जन्म लिया तो न जाने कितने रागों ने नया अवतार ग्रहण किया!

एक दिन 'इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय' की मीटिंग में सम्मिलित होने के लिए ग्वालियर से खैरागढ़ संध्या सात बजे पहुंच गया। गुरुजी के कमरे में गानसम्राज्ञी सिद्धेश्वरी देवी, उनकी कन्या शांतादेवी, हॉस्टेल के कुछ छात्र-छात्राएं बैठ कर गाने-बजाने के विषय में चर्चा कर रहे थे। देस, सोरठ, नारायणी, खमाज, झिंझोटी, तिलंग जैसे रागों की बारीकियों पर तथा उनके स्वरोच्चारण को लेकर बातें हो रही थीं। सोरठ में 'गुन को मोल तोल ना कीजे' और 'आज नंद घर जाए कृष्ण कन्हाई' बंदिशोंकी रचना हो गई थी। मुझे देखते ही गुरुवर ने नई बंदिशें सिखाना शुरू किया। रागों का वह नाक-नक्श देख कर सिद्धेश्वरी बाई चुप नहीं बैठ सकी। मुझको तालीम देनेका बहाना कर वहां पर बैठे हुए हम सभी एक साथ गाने लगे। दस-पंदरह रागों की नई-पुरानी बंदिशें, रागों की खूबियां, उच्चारण की बारीकियां एक के बाद एक प्रकट होने लगीं। सिद्धेश्वरी देवी तो अपना सारा मान-सम्मान भुला कर बाकायदा तालीम ही लेने लगी। कोई ३०-३५ बंदिशों की हम सभी ने उस रोज तालीम ली। ऐसा जीता-जागता 'इनसाइक्लोपीड़िया' थे हमारे गुरुवर!

वर्ष १९४३ के दिसंबर माह में मेरी 'संगीत निपुण' भाग १ की परीक्षा निश्चित हुई। भातखंडे विद्यापीठ में सम्पन्न होनेवाली इस कक्षा की यही सर्वप्रथम परीक्षा थी। विद्यापीठ ने इस प्रसंग को पूर्ण गंभीरता से लिया। सभी की आंखें, परीक्षकों की विशाल टोली की आंखें, मेरे रूप में सामने बैठे हुए एकमात्र बलि के बकरे की ओर तथा वहां पर होनेवाली उठापटक की तरफ

गड़ गई थीं। परीक्षकों में थे उस्ताद मुश्ताक हुसैन खां, उस्ताद अलाउद्दीन खां, पं. वाडीलाल शिवराम नायक, पं. राजाभैया पूंछवाले और मेरे गुरुवर पं. रातंजनकर। प्रश्नों की झड़ी का शुभारंभ पं. राजाभैया पूछवाले ने किया। "तुमने तो रागोंकी लंबी फेहरिस्त दे रखी है। इतने सब राग तैयार हैं?" मेरे हां कहने पर शाम कल्याण की फरमाइश हुई। ४०-४५ मिनिट तक शाम कल्याण के मैदान में मन:पूत घूम लेने पर मुझे रोक दिया गया और अलाउद्दीन खां साहब ने पूछा - "बंगाल भैरव क्या होता है? जरा समझाओ तो।" कुछ देर बाद अगला सवाल किया। और कोई भैरव आता है? तीन-चार भैरवों की बंदिशों की अस्ताई, अंतरे सुन लेने पर मुश्ताक हुसैन खां काफी और सिंधुरे पर अड़ गए। साधरे-धमार तक उन्होंने सुन लिए पं.. वाडीलाल बिलावल और उसकी किस्मों पर अड़ गए। अलाउद्दीन खां ने अचानक धनाश्री की फरमाइश की। राग का पहला आलाप जैसे ही हुआ वाड़ीलाल जी ने भीमपलासी गाने के लिये कहा।

अब धनाश्री सुनाओ। एक बार भीपलासी, एक बार धनाश्री। फिर भीमपलासी, फिर धनाश्री, पुन: भीमपलासी। यही क्रम दस-बीस मिनिट तक चलता रहा और मैंने अपना होश खो दिया। क्या मैं गलत गा रहा हूं? वही वही सवाल बार बार क्यों पूछ रहे हैं? परीक्षा एकदम रोक दी और मुझे जाने के लिये कह दिया। मैं तो पसीने से तर हो गया था। समझ लिया; अपने गुरुजी की शिक्षा-दीक्षा को आज मैंने मिट्टी में मिला दिया। तानपूरे उठाकर पासवाले कमरे में घुस गया। गुरुबंधु श्री. के. जी. गिंडे ने यह सब देख लिया वे भी समझ नहीं पाए, रागों की यह उलट-फेर बार बार क्यों होती रही? मैंने उनसे कहा, मुझे अकेले छोड़ दो। अब मैं जी भरकर रोऊंगा। परीक्षा का माहौल शांत हुआ। सब लोग कालेज छोड़ कर चले गए। मैं उस बंद कमरेमें छटपटाता पड़ा रहा। वाड़ीलालजी ने चुपकेसे छोटबा से पूछा, "अरे! वह चिंचोरे कहां है? कहीं दिख नहीं रहा?" वे स्वयं मेरे पास आये; कमरा खुलवाया और रिक्षामें बैठा कर केसरबाग चौराहे तक ले गए। बड़े लाड़-दुलार से बातें कीं । मेरे शांत हो जाने तक, हंस देने तक हम दोनों रिक्षा में बैठे रहे और फिर कॉलेज लौट आए। "अरे! चिंचोरे! तुम्हारी आंखों में पानी? मेरे उस नाटक का तुमने क्या अर्थ निकाल लिया? मैं तो रामपुर के उन दोनों उस्तादों को दिखा रहा था कि भातखंडे जी की सोहबत में रागों की चट्टानें कैसे स्थिर और अटल बन जाती हैं।"

बाद में मुझे मालूम हुआ कि नंबर घटाने-बढ़ाने को लेकर श्री रातंजनकर और उस्ताद मुश्ताक हुसैन खां में लंबी बहस हुई और पूरे नंबर दिए नहीं जाते, इस शिष्टाचार को खां साहब ने मान लिया।

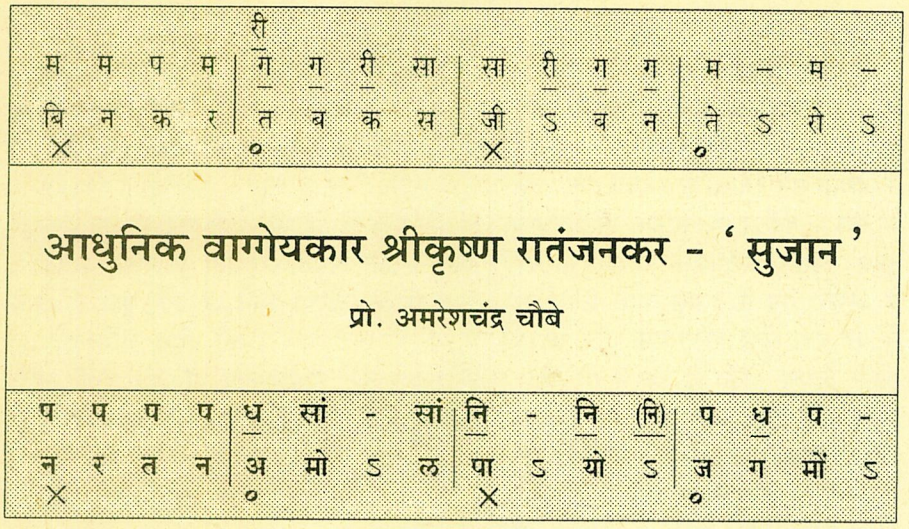

(भातखंडे संगीत कॉलेज के स्नातक। संगीत-निपुण। इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय से अध्यापक के नाते आरंभ से संलग्न। संप्रति कंठ्य संगीत विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष।)

'वाक्' अर्थात् भाषा, साहित्य , एवं 'गेय' अर्थात् 'संगीत' इन दोनों पदोमें सिद्ध रचनाकार को शास्त्रों ने ''वाग्गेयकार' कहा है और उसे 'गुणी', 'कलावंत', 'गंधर्व', 'नायक' एवं 'पंडित' इन सभी कोटियों से श्रेष्ठ माना जा सकता है। पाश्चात्य संगीत में 'वाग्गेयकार' की ही भांति Composer को सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। 'संगीत रत्नाकर' ग्रंथ ने एक श्रेष्ठ वाग्गेयकार के लक्षण गिनाए हैं। श्रेष्ठ वाग्गेयकार की कसौटी पर यदि हम श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर 'सुजान' को परखें तो वे शत प्रतिशत खरे सिद्ध होंगे। श्री रातंजनकरजी की मातृभाषा मराठी होने पर भी, उनके जीवन का अधिकांश भाग हिंदीभाषी प्रांतों, उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश में व्यतीत होने के कारण उन्होंने, न केवल हिंदी , व्रज अवधी एवं उर्दू भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था, वरन् वे यहां के जन-जीवन में घुल-मिल गए थे। शब्दानुशासन-ज्ञान, (अर्थात् व्याकरण-शास्त्र का ज्ञान), अभिधान-प्रवीणता (अमरकोष आदि ग्रंथों का ज्ञान), छंद प्रभेदवेदित्व (छंदों का ज्ञान), अलंकार-कौशल, रसभाव-परिज्ञान आदि वाग्गेयकार के आवश्यक गुण उन्हें, उनके पिता, श्री नारायण रातंजनकर द्वारा संस्कृत भाषा के शिक्षण के कारण प्राप्त हुए थे। जहांतक उनके संगीत-ज्ञान का प्रश्न है, सर्वविदित है कि श्री रातजंनकरजी को पंडित बालकृष्ण बुवा के शिष्य पं. अनंत मनोहर जोशी (औंध), पटियाला घराने के उस्ताद कालेखां, आगरा घराने के मूर्धन्य कलाकार उस्ताद फैयाजखां के शिष्यत्व में देशी राग-ज्ञान, आलप्ति-नैपुण्य, लय-ताल-कला का ज्ञान एवं सुभग गेयता प्राप्त हुई थी। इसी प्रकार पं. भातखंडे जैसे महान् शास्त्रकार के सान्निध्य एवं कृपा के कारण प्रबन्ध-प्रगल्भता अर्थात् (प्रबन्धों का उत्तम ज्ञान), अनुच्छिष्टोक्तिनिर्बंध रचना करने की शक्ति तथा नूतन धातु-विनिर्मितिज्ञान (नई नई स्वर-रचना करने की शक्ति) मिली थी। इस प्रकार 'मातु' एवं 'धातु' इन दोनों अंगों में निपुणता प्राप्त

कर श्री रातंजनकरजी आधुनिक युग के एक श्रेष्ठ वाग्गेयकार बन सके।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी श्री रातंजनकर एक उच्च कोटि के संगीतज्ञ, शिक्षक एवं शास्त्रकार भी थे। वाग्गेयकार के रूप में वे विख्यात थे और उन्होंने अपना उपनाम 'सुजान' धारण किया था। सन १९२७ से १९५६ तक 'भातखंडे संगीत महाविद्यालय', लखनऊ के प्राचार्य के रूप में अथवा सन १९५७ से १९६० तक 'इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय', खैरागढ़ के उपकुलपति के रूप में कठिन प्रशासनिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए भी रातंजनकर जी का भावपूर्ण हृदय, निरंतर कलात्मक अभिव्यक्ति करता रहा। एकांत अथवा व्यस्तता के मध्य, कार्यालय में अथवा रेल में प्रवास करते समय उन्हें कभी भी अन्त:प्रेरणा होती थी और कुछ ही क्षणों में वह एक सुंदर कलात्मक गीत का रूप धारण कर लेती थी। उनकी प्रथम अभिव्यक्ति ही इतनी उत्कृष्ट होती थी कि न तो दुबारा उसे सुधारने की आवश्यकता थी और न ही उसके लिये उनके पास समय था। रातंजनकरजी ने इस प्रकार के लगभग ७५० शास्त्रीय गीतों को संगीत-साधकों के कल्याण हेतु रचा जो 'अभिनव गीत मंजरी' पुस्तक के ३ भागों के रूप में प्रकाशित हुए। तीसरे भाग के प्रकाशन के उपरान्त भी अनेक गीत रचे गए जिनका प्रकाशन किया जाना संगीत-जगत् के लिए हर दृष्टि से लाभप्रद होगा।

'अभिनव गीत मंजरी' के ३ भागों में प्रचलित सभी शास्त्रीय गीत-प्रकार जैसे ध्रुवपद, धमार, ख्याल, तराना, लक्षण-गीत, सरगम आदि के उत्कृष्ट नमूने उपलब्ध होते हैं। रातंजनकरजी ने बहुप्रचलित रागों में तो गीत-रचना की ही, उन्होंने विशेष ध्यान उन अल्प प्रचलित रागों की ओर भी दिया कि जिनके स्वरूपों का मानकीकरण (Standardisation) नहीं हो सका था, और जिनमें परंपरागत गीतों का अभाव था। ऐसे राग जैसे नट, कुकुभ, शुक्ल, बिलावल, हेमनट,, दीपक, शिवमत भैरव, आनंद भैरव, प्रभात भैरव, गौरी, मालवी, पंचम, भटियार, बरवा, खट, बिलासखानी, भूपाल तोड़ी, लक्ष्मी, लाचारी तोड़ी आदि अनेक रागों में विभिन्न गीतप्रकारों को रचकर, राग-संगीत की धरोहर को लुप्त होने से उन्होंने बचाया, उन रागों के स्वरूपों को स्पष्ट किया तथा विद्यार्थियों का मार्ग प्रशस्त किया।

हिन्दुस्तानी एवं कर्नाटक संगीत पद्धतियों में परस्पर समझ एवं सद्भाव बढ़ाने के उद्देश्य से उन्होंने, अनेक कर्नाटकीय रागों, जैसे हंसध्वनि, पूर्व कल्याण, चारुकेशी, मलय मारुतम्, नट भैरवी, वसंत मुखारी, गोपी वसंत, नारायणी, आभोगी, दाक्षिणात्य वसंत में बंदिशें कीं जो पर्याप्त लोकप्रिय हुई हैं।

कर्नाटकीय गीत-प्रकार 'वर्णम्' को अपनाकर उन्होंने छात्रों के कल्याणार्थ, मोहनम्, कल्याणी, खमाज, केदार गौल, भैरव, तोड़ी आदि कई रागों में संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में 'वर्णम' की भी रचना की। गला तैयार करने, राग स्वर एवं लय को साधने के लिये इन 'वर्णम्' गीतों का छात्रों के हेतु विशेष उपयोग है। ये 'वर्णम्' वर्णमाला नामक पुस्तक में प्रकाशित हो चुके हैं। जिस प्रकार तान-अंग की बन्दिशों या टप्पा-रचनाओं को सीखने से गले में फिरत आती है उसी प्रकार इन 'वर्णम्' का अभ्यास करने से, न केवल तानों के लिये गला बनता है, बल्कि विभिन्न लयकारियों का भी अच्छा अभ्यास होता है।

जैसा अभी कहा गया, स्व. रातंजनकरजी को संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान था। अतएव, उन्होंने प्रबुद्ध श्रोताओं के हेतु संस्कृत भाषा में भी 'ख्यालों' की सुंदर रचनाएं कीं। यथा - पूरिया में मध्यलय त्रिताल का ख्याल 'श्रुणु मधुप रे, नवकुसुममकरंदरसज्ञता, ते अवलोकति

ब्रवीमी ते कुतूहलप्रेरितो।' अथवा राग चारुकेशी में 'प्रिय चारुकेशी मनसिज मनोहारिणी चन्द्रमुखी सुन्दरी, नैव विद्यते, उपमा ते हृद्यताया:।' ये सरल संस्कृत में रचे गए ऐसे गीत हैं जिनमें काव्य, उसके भावप्रद एवं स्वरलय पक्ष इन दोनों का बड़ी कुशलता से निर्वाह किया गया है। तानसेन प्रशस्ति 'ध्रुव: कण्ठस्वरोद्गार शब्दोच्चारो ध्रुवस्तथा। रागशुद्धि यत्र तानसेन पदं ध्रुवम्'। आठ रागों की रागमाला में अथवा सरस्वती-वंदना में 'हंसारूढा सितवसनयुता शारदा ब्रह्मपुत्री', छ: रागों की रागमाला में रची गई ये दानों प्रशास्तियां पर्याप्त लोकप्रिय भी हुईं। मौलिक प्रयोगों की शृंखला में उन्होंने कुछ ऐसे तराने भी रचे जिनमें तराने के निरर्थक अक्षरों के साथ फारसी के स्थान पर संस्कृत भाषा की काव्यात्मक पंक्तियां हैं।

यद्यपि रातंजनकरजी ने ध्रुवपद, धमार, सरगम, लक्षणगीत, तराना एवं टप्पे भी रचे परंतु इन सबकी अपेक्षा विलंबित एवं मध्यलय के ख्यालों की संख्या ही सबसे अधिक है। उनके समय में प्रचलित ख्याल की अधिकांश बन्दिशों में कविता एवं उसके भाव पक्ष की नितांत उपेक्षा हो रही थी। गायक कलाकारों, विचारकों एवं कलामर्मज्ञों का एक वर्ग था, (और शायद इस विचार-धारा के कुछ व्यक्ति आज भी विद्यमान हैं) जो यह मानता है कि शास्त्रीय बंदिशों में राग, स्वर, एवं ताल पक्ष को ही प्राधान्य है।) कविता, उसके शब्द एवं भाव का महत्त्व इन बन्दिशों में रहता है। इस कारण अनेक ऐसी बन्दिशों का प्रचलन हो गया था (और जो बहुत कुछ आज तक है) कि जिनमें एकदम लचर भाषा का व्यवहार हुआ था। कभी कभी तो इन बन्दिशों के शब्दों का अर्थ भी निकाल पाना कठिन हो जाता था। (जैसे राग सुहा का झपताल : 'अककक कककक कककक करते। थेइया थेइया सुरसा घौं ते। गइये गुणन ते, थेइ थेइ करते थेइ आवे, थेइ आवे, तिरनाद तिरते'।) अथवा राग देशी में झपताल (उड़ौड़न बाजे, उल्ला मुरारे, मदमाते कांधे कांवरिया। दीप जो ज्योत प्रकाश करत है, घन नन्द, घन नन्द, कृष्ण औतारे, मधमाते,) इस प्रकार की अधिकांश बन्दिशों की भाषा में विकृति आने का एक मुख्य कारण यह भी हो सकता है कि ये बन्दिशें ऐसे व्यक्तियों के पास जाती रहीं कि जिन्हें न तो भाषा एवं कविता का समुचित ज्ञान था और न ही उसके अर्थ या भाव से विशेष लगाव। उनके लिये तराने के शुष्काक्षर, टप्पे की पंजाबी भाषा या ख्यालों की ब्रजभाषा सभी एक जैसी थी। अत: अधिकांश गीतों की भाषा नष्ट होती चली गई और उसके विषय, सैंया, बलमा, सास, ननंदिया, दौरानी, जिठनियां एवं पायलिया की दास्तान बन कर रह गए। दरबारी ऐसे गंभीर भावपूर्ण राग में 'पायल की झनन झनन' अथवा रात्रि के तीसरे पहर में गाए जानेवाले राग परज में 'मैं क्यों गई जमुना पानी' अथवा प्रात:कालीन गंभीर, शांत राग भैरव में 'प्याला मुझे भर दे रे मतवारे मोरे, बीत गईली सगरी रैन, भईली भोर' ये कुछ ऐसी गीत-पंक्तियां हैं, जिनमें रचनाकार राग के स्वभाव, प्रकृति एवं गायन-समय की एकदम उपेक्षा करता प्रतीत होता है। ऐसी बन्दिशें न केवल जनसाधारण, बल्कि समझदार रसिकों के मन पर भी अनुकूल प्रभाव उत्पन्न नहीं होने देतीं और शास्त्रीय संगीत की प्रतिष्ठा को मलिन करती रही हैं।

रातंजनकरजी ने ख्याल-बन्दिशों में इस प्रकार की त्रुटियों का अनुभव किया और नई बन्दिशों की रचना कर इन त्रुटियों को दूर करने का यथासंभव प्रयास किया। विलंबित ख्याल की लय धीमी होने के कारण, दो या एक पंक्ति की स्थायी एवं इसी प्रकार अन्तरे का औचित्य समझा जा सकता है; परंतु मध्य अथवा द्रुत लय के गीतो में कविता को एकदम संक्षिप्त करनेका

औचित्य समझ में नहीं आता। ईश्वर ने मनुष्य को भाषा की जो शक्ति प्रदान की है उसका गायन में उचित प्रमाण में उपयोग होना ही चाहिए। इसी कारण रातंजनकरजी ने अधिकांश मध्य, द्रुत लय की रचनाओं में अच्छी खासी कविता की। उनकी बन्दिशों में प्राय: ४ पंक्तियां या ताल की आवृत्तियों की स्थायी और ४ आवृत्तियों के अन्तरे सुनने को मिलते हैं। कुछ कुछ बन्दिशें तो इससे भी लंबी हो गई हैं। परंतु इन बन्दिशों की विशेषता यह है कि इनकी कविता के कारण राग, स्वर, लय एवं ताल का पक्ष गौण नहीं होने पाया। इन बन्दिशों को गाते समय मुक्त कविता का आनंद तो मिलता ही है साथ ही साथ राग में प्रयुक्त हो सकनेयोग्य नए नए समूहों तथा शब्द एवं स्वरों को ताल के वजन एवं प्रवाह में कलात्मक चातुर्य से बैठाने का परिचय भी प्राप्त होता है (उदाहरणस्वरूप राग मालकौंस में रूपक ताल में "फूली सुगंधित रातरानी" यह रचना देखें :

फूली सुगंधित रात रानी
मंद, शीत, समीर, लहलहरात, रस की बात
करत लुभात मन को भात प्यारी।
गगन चढ़ि आयो चंदा,
कहत रानी कौन चेटक किया
तुम जो महकत, मोहि बस कर लियो आज।
रैन रानी, रैन रानी, चैन रानी॥

शास्त्रीय बन्दिशों के लिये यह आवश्यक होता है कि उनके द्वारा राग स्पष्ट हो और साथ ही साथ गायकी, अर्थात् आलाप तान के विस्तृत विविध प्रयोगों के लिये भी अनुकूलता रहे। ग्रन्थों में यही बात स्थाय-भंजनी एवं रूपक-भंजनी के रूप में रक्खी गई है। अभी जो बन्दिश प्रस्तुत की गई है उनमें 'भंजनी' क्रिया भी सहज में की जा सकती है। स्थाई एवं अंतरेमें सर्वत्र, मध्यरात्रि की चांदनी में रातरानी पुष्प की शीतल सुगन्ध व्याप्त है और बोल आलाप छोटी छोटी तानों, बोलतानों एवं बोल बांट के द्वारा उसे सहज ही फैलाया जा सकता है।

भगवान कृष्ण की मुरलीधर छवि का वर्णन राग खमाज के अत्यंत लोकप्रिय मध्यलय त्रिताल में–

'सखि सांवरो गिरिधर गोपाल, जाके मोर मुकुट कुंडल कान।
मुरली अधर मन लुभात मुसकान।
बिसर गई तन की सुध-बुध मन की सारी,
लीन भई ब्रज की नारी,
निरख निरख मोहनि मूरत, घरि पल छिन दिन, रैन लगत ध्यान॥

इस रूपमें देखने को मिलता है।

इसी प्रकार राग नारायणी के मध्यलय त्रिताल में कृष्ण के जन्म पर बधाई :–

'सहेलरिया गाओ री आज, मोरे मंदिर मंगल गाओ,
बजाओ, सुखसों आनंद बधाई॥
शुभ घरी शुभ महूरत मनाओ, नंद घर जायो कुंवर कन्हाई।

वस्तुत: राग नारायणी को रचकर हिन्दुस्तानी संगीत में उसे प्रचलित एवं लोकप्रिय बनाने का महत्त्व-पूर्ण कार्य पंडितजी ने किया है। राग 'खट' जैसे क्लिष्ट राग में तानसेन का गुणगान कितना प्रभावपूर्ण बन पड़ा है, यह इस बन्दिश को सुनने से समझ में आ सकेगा :–

बंधा समा, सुर लय राग ताल सों आसमान छायो।
गुणि गंधर्व ठाड़े, सुनत हूं आछी नीकी तान॥
शाहे अकबर रसिक गुनज्ञानी, रिझायो ऐसो महा गुनखानि
कहां लौं बखान कीजे, करतब, तुम्हरे तानसेन गुनी चतुर 'सुजान'॥

वाग्गेयकार 'सुजान' एक दार्शनिक की भाति राग भटिहार की इस मध्यलय की रचना में संसार की निस्सारता का वर्णन करते हुए उपदेश देते हैं कि सुख एवं दुख की अनुभूति मन में वासनाएं रहने के कारण ही होती है। वासनाएं समाप्त हो जाने पर सुख एवं दुख की स्थिति काल्पनिक हो जाती है। अत: मन पर नियंत्रण करना आवश्यक है। उदा० 'तनिक सुन री, सत वचन अब' यह सुप्रसिद्ध बंदिश।

इस प्रकार, ऐसी अनेक बन्दिशें हैं जिनमें राग का विचार रखते हुए गीत-रचना के लिए अधिकाधिक नवीन विषयों का उपयोग किया गया है। यही बात उनके विलंबित लय के ख्यालों में भी देखने को मिलती है। कुछ कुछ विलंबित ख्यालों की रचना ताल की दृष्टि से इतनी शिथिल होती है कि उन्हें अन्य तालों में भी बैठाकर गा सकना संभव होता है। परंतु रातंजनकरजी के विलंबित ख्याल ताल के सांचे में इस प्रकार गढ़े गए हैं कि उन्हें किसी अन्य ताल में गाने पर उनका सौन्दर्य नष्ट हो जावेगा। स्वयं रातंजनकरजी इस बात के कायल थे कि बन्दिश जिस ताल में की गई हो उसीमें जैसे की तैसी सदैव गाई जाए। और कम से कम उनके द्वारा रचित विलंबित ख्याल इतने सुगठित होते हैं कि उनका ताल-परिवर्तन या लय-परिवर्तन भी संभव नहीं होता।

श्री 'सुजान'ने गीत-रचना कर संगीत-वाङ्मय को तो समृद्ध किया ही उन्होंने कई नए रागों एवं तालों को भी प्रचलित किया। जिन श्रोताओं ने उनके द्वारा रचित राग वियोगवराली, सालगवराली, पोलू की मांझ, मार्ग बिहाग, सूरंजनी, गौरी शंकर, जोगेश्वरी, रजनी कल्याण आदि राग सुने हैं वे उनकी कलात्मक पैंठ का अनुमान सहज ही लगा सकते हैं। इसी प्रकार उन्होंने अनेक अप्रचलित हिन्दुस्तानी तालों एवं दाक्षिणात्य तालों के ठेके भी प्रसिद्ध किए। रूपक ताल का विलंबित ठेका, विक्रमताल १२ मात्राएं, ध्रुवताल १७ मात्राएं, (खंडजाति) गजमुख ताल १६ मात्राएं, हंसविलास ताल १६ मात्राएं, सार्ध रूपक, १०॥ मात्राएं तथा २१ मात्राएं, दाक्षिणात्य रूपक ६ मात्राएं, पंचानन ताल १६ मात्राएं, मणिताल ११ मात्राएं इन विभिन्न तालों हेतु उन्होंने ताल-लक्षण-गीतों की भी रचना की।

इस प्रकार, पं. रातंजनकरजी ने आधुनिक युग की प्रवृत्तियों को लक्ष्य में रखते हुए जो संगीत-सर्जना की वह अपने आप में अनुपम है। मैं यही कह सकता हूं कि श्री 'सुजान'ने 'सदारंग', 'अदारंग', 'हर रंग', 'मन रंग', 'ललन पिया', 'कुंवर श्याम', 'प्रेमपिया', 'नजर पिया' आदि हिन्दुस्तानी संगीत के वाग्गेयकारों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाया है।

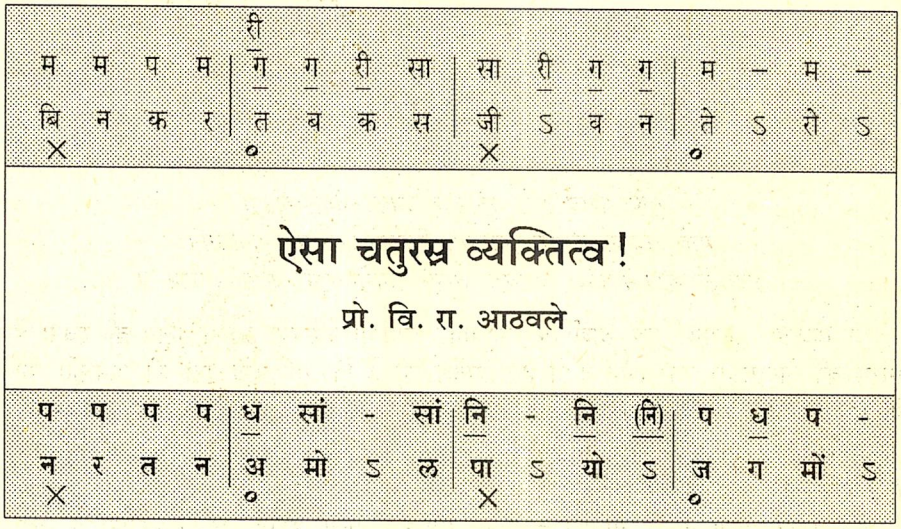

ऐसा चतुरस्र व्यक्तित्व !

प्रो. वि. रा. आठवले

(पं. विनायकराव पटवर्धन तथा उ. विलायत हुसेनखां के शिष्य। लब्धप्रतिष्ठ गायक एवं संगीत-शास्त्रवेत्ता। एस.एन.डी.टी. विश्वविद्यालय तथा 'गोवा कला अकादमी' संगीत विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष । 'संगीत कला विहार' के भूतपूर्व संपादक। अनेक शिष्यों तथा पीएच.डी. छात्रों के मार्गदर्शक। संगीत के मान्यवर व्याख्याकार तथा लेखक। अण्णासाहब से निकट परिचय रखनेवाले।)

स्व. पं. श्रीकृष्ण नारायण ऊर्फ अण्णासाहब रातंजनकर का देहांत हुए कई साल गुजर गए । उनके सान्निध्य में उनके स्वभाव, कृतित्व एवं व्यक्तित्व के विषय में जो धारणा थी, जो महानता प्रतीत होती थी वह अब कई गुना अधिक मात्रा में अनुभूत हो रही है । जैसे जैसे समय बीतता है, वैसे वैसे उनके व्यक्तित्व के बारे में सोचते हुए उनके विषय में जो गलत फहमियां थीं वे दूर होकर उनका कृतित्व कितना महान् था अब स्पष्ट होने लगा है । किसी व्यक्ति के प्रत्यक्ष सान्निध्य में रहते हुए, जिन घटनाओं के आधार पर उसके व्यक्तित्व के विषय में अनुमान लगाते हैं, उसमें अपनी रुचि-अभिरुचि, राग-लोभ, लाभ-हानि का विचार होता है । परंतु बाद में यदि हम उन घटनाओं के बारे में निष्पक्ष रूप में एवं निर्लेप वृत्ति से सोच लेंगे तो उनका निराला ही अर्थ प्रतीत हो सकता है । स्व. अण्णासाहब के व्यक्तित्व के विषय में मेरा अनुभव भी कुछ ऐसा ही है । १९५३ में जब मैं 'आकाशवाणी' में नौकरी करता था, मेरी उनसे प्रथम बार भेंट हुई । उसके बाद, उनके निधन तक कई बार अलग अलग कारणों से साक्षात् हुआ । जैसे जैसे मुझे उनका अधिकाधिक सान्निध्य मिलता गया, वैसे ही वैसे उनके विषय में मेरी धारणाएँ उनके स्वभाव के बारे में लगाए गए अनुमान आदि में परिवर्तन होता गया और अब इतने वर्षों के बाद इन सब बातों की ओर तटस्थ भाव से देखने पर उनके महान् व्यक्तित्व की प्रकर्ष के साथ प्रतीति होने लगी है ।

जब मैं प्रथम बार उनके संपर्क में आया, तब स्व. अण्णासाहब कुछ विक्षिप्त, अहंमन्य

और पक्षपाती लगे थे । किन्तु बाद में जैसे जैसे उनसे अधिक मुलाकातें हुईं, उनके संबंध के पूर्वाग्रहों में भी बहुत अंतर पड़ता गया, और अब इतने वर्षों के बाद तटस्थता के साथ देखनेपर उनके उस समय के विचित्र लगनेवाले बर्ताव की संगति भी लग सकती है । अब उनके व्यक्तित्व के विविध पहलुओं की महत्ता अधिकाधिक मात्रा में समझ में आने लगी है ।

स्व. पं. अण्णासाहब रातंजनकर के व्यक्तित्व के अनेक पहलू हैं । शिक्षक के रूप में, कलाकार के नाते, पंडित, संगीतज्ञ की दृष्टि से, गुरु के प्रति आत्यंतिक निष्ठा से परिपूर्ण शिष्य की हैसियत से तथा कार्यकर्ता के रूप में और अंततोगत्वा मित्र के नाते उनके व्यक्तित्व की ओर देखना, उसका मूल्यांकन करना रोचक होगा, क्योंकि उनके व्यक्तित्व का समग्र रूप में विचार करते समय अनेक बातें ध्यान में रखनी पड़ती हैं । स्वभावत: सबसे पहले, उनके विचित्र बर्ताव का अन्वयार्थ उनके संपर्क में आनेपर अलग प्रतीत हुआ है । उदाहरण के लिए, एकाध व्यक्ति अगर अच्छा कलाकार हो, महफिलों में गण्यमान्य हो, किन्तु जिसने संगीत का सुसूत्र अध्ययन एवं अभ्यास न किया हो, तथापि उनसे यों ही शास्त्रार्थ करनेका बहाना बनाता हो, तो उस मान्यताप्राप्त व्यक्ति के साथ के उनके बर्ताव में विक्षिप्तता महसूस होती थी । इसके दो कारण संभवनीय हैं : एक है उनकी परिस्थिति और दूसरा है वितंडावाद करनेवाले व्यक्ति का उस क्षेत्र में अधिकार । परिस्थिति इसलिए कि आत्यंतिक गुरुनिष्ठा के फलस्वरूप, उनके आदेशानुसार, उन्होंने अपने घर से दूर, लखनौ में वास्तव्य किया और संगीत को ही अपना कार्यक्षेत्र चुना । फलत:, स्वाभाविक रूप में उनका स्थिर पारिवारिक जीवन कुछ अस्त-व्यस्त-सा हो गया था । ऐसी परिस्थिति में उनकी स्वार्थत्यागी वृत्ति की, आदर्शवाद की कद्र न करते हुए यदि कोई अनधिकारी व्यक्ति उनसे ख्वाहमख्वाह ही चर्चा करने के लिए आ जाए तो उनके बर्ताव में विक्षिप्तता दिखाई देती थी । किंतु यदि वह व्यक्ति सचमुच ही जिज्ञासु हो, तो अण्णासाहब उससे आत्मीयता एवं आस्थापूर्वक पेश आते थे। उसकी शंकाओं का निरसन करने का प्रयत्न करते थे ।

'आकाशवाणी' में, कलाकारों का स्तर निर्धारित करने के लिए शासन ने स्व. अण्णासाहब को श्रवण-कसौटी के लिए नियुक्त किया था । श्रवण-कसौटी के विषय में अण्णासाहब की राय यह थी कि कलाकार का स्तर निश्चित करते समय केवल लोकप्रिय एवं रंजन को ही कसौटी न मानकर कलाकार की तालीम, व्यासंग आदि बातें ध्यान में रखनी चाहिए । इस राय से सहमत न होनेवाले अनेक कलाकारों एवं उनके चाहनेवालों और हितैषियों ने अण्णासाहब के खिलाफ खूब हो-हल्ला मचाया था, उनपर विशिष्ट हेत्वारोप किया था । फलत: इस सब की प्रतिक्रिया के रूप में उनमें प्रथम दर्शन में विक्षिप्तता का आभास होता था । क्वचित् उनके कुछ निर्णयों के कारण उनपर पक्षपात का आरोप भी लगाया जाता था । किंतु उनके विचार में संगीत एक कला है, उसका एक स्तर है, उसके लिए व्यासंग, अभ्यास, सौंदर्य-दृष्टि सब आवश्यक है । संगीत के शिक्षक, प्रयत्नशील अध्येता एवं कलाकार की हैसियत से उनका यह दृष्टिकोण स्वाभाविक था । स्वभावत: इसी दृष्टिकोण से वे कलाकारों का मूल्यांकन किया करते थे । स्वाभाविक है कि यदि संबंधित व्यक्तियों को उससे लाभ हुआ तो वे अण्णासाहब की सराहना करते; किंतु इसके विपरीत होनेपर उनपर पक्षपात का आरोप लगाया जाता था । इसी प्रकार, अण्णासाहब के कुछ विचार दृढ़ होने से वे बिना किसी समझौते के उन्हें प्रस्तुत करते थे । तब स्वभावत: उनके बारेमें प्रथम दर्शन में यह धारणा होती थी कि वे अहंमन्य हैं । किन्तु उनके संबंध में ये सब गलत धारणाएं एवं पूर्वाग्रह उनके निकट संपर्क में आनेपर दूर हो जाते

और अण्णासाहब का संगीत-क्षेत्र का अधिकार, निष्ठापूर्वक कार्य करने की उनकी प्रवृत्ति एवं लगन आदि के दर्शन हो जाते तथा उनके व्यक्तित्व की महानता प्रतीत होने लगती ।

स्व. अण्णासाहब के विविधरंगी व्यक्तित्व में शिक्षक, गुरु तथा गुरु के प्रति आत्यंतिक निष्ठा एवं भक्ति रखनेवाले शिष्य के रूप में उनकी महत्ता प्रकर्ष के साथ महसूस होती थी । ऐन जवानी में, अपनी आयु के २७/२८ वें वर्ष में, गुरुजी पं. भातखंडेजी के आदेशानुसार, उनके प्रति निष्ठा के फलस्वरूप, उनका कार्य आगे चलाने की दृष्टि से अण्णासाहब ने अपने पारिवारिक सुख को दुर्लक्षित कर, बंबई से दूर, लखनौ को अपना कार्यक्षेत्र निश्चित किया । वस्तुत: आप विश्वविद्यालय के उपाधिधारी थे और उस जमाने में जीवन में सफल होने के लिए अन्य मार्ग उपलब्ध थे । तथापि संगीत-कला की सेवा को जीवन-निष्ठा के रूप में स्वीकारने पर, उसके लिए जो स्वार्थत्याग आवश्यक था, जो आदर्शवाद अपेक्षित था उसे स्वीकारकर उन्होंने गुरु के कार्य एवं नाम को आगे बढ़ाया । इससे उनकी प्रखर गुरुभक्ति एवं ध्येयनिष्ठा दिखाई देती है और उनके महान् व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं ।

एक उत्तम आदर्श शिक्षक की हैसियत से स्व. अण्णासाहब का वैशिष्ट्य निश्चित ही लक्षणीय है। अपने रिश्तेदारों की अपेक्षा शिष्यों के बारे में उनका प्रेम और आस्था, गुरु के नाते उनका निराला ही दर्शन कराते हैं । कई शिष्यों को अपने पास रखकर उन्होंने विद्यादान किया । उनके व्यावसायिक जीवन को गढ़ा और विद्या की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए अपने गुरु का ऋण चुकाया । इस विषय में प्राचीन गुरुकुल पद्धति का आदर्श उनके सामने था । एक संगीत-संस्था के संचालक होते हुए भी उन्होंने व्यावहारिक सफलता के लिए आदर्श के साथ कभी समझौता नहीं किया । उल्टे संस्था-प्रणाली और प्राचीन गुरुकुल पद्धति में समन्वय साधने का दृष्टिकोण अपनाया । उनके इस वैशिष्ट्य के कारण उनके शिष्योंने उनकी आदरपूर्वक सराहना की तो आश्चर्य की बात नहीं है, किंतु शिष्यों को तालीम देते समय तथा उन्हें तैयार करते समय जिन त्रयस्थ व्यक्तियों ने उन्हें देखा है और शिष्यों के प्रति उनकी आस्था और प्रेम का परिचय पाया है, वे भी उनके इन गुणविशेषों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते । यद्यपि उन्होंने स्वयं गुरु-शिष्य परंपरा की तरह तालीम पाई हो, तो भी अपने शिष्यों के बारे में उनका दृष्टिकोण उदार था । उनका आग्रह था कि शिष्यों को परंपरा का निर्वाह करना चाहिए, संगीत के कलात्मक स्तर को अक्षुण रखना चाहिए तथा संगीत-मूल्यों की रक्षा करनी चाहिए । प्रयोगशीलता के प्रति उनका विरोध नहीं था । इसलिए जिस प्रकार उन्होंने स्वयं नव-सर्जन किया वैसे ही शिष्यों को भी उसके लिए प्रोत्साहित किया । नव-रागों का निर्माण, नई-नई बंदिशों की रचना उन्होंने स्वयं ही नहीं की, बल्कि शिष्यों को भी उस बारे में मार्गदर्शन करते हुए प्रेरित किया ।

यह सही है कि स्व. भातखंडेजी के प्रति उन्हें आत्यंतिक निष्ठा थी, किन्तु उसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि, चूँकि पं. भातखंडेजी के विचारों को उन्होंने आत्मसात् किया था, उनके विचारों में कर्मठता नहीं थी । वे स्वयं स्वतंत्र रूप में सोचते और शिष्यों से भी वैसी ही वृत्ति रखने की अपेक्षा रखते थे । किंतु नवनिर्माण का उपयोग रसिकों को ऊपरी तौर पर मोहित करने के लिए नहीं होना चाहिए, बल्कि आंतरिक प्रतिभा के स्पर्श से वह नि:सृत होना चाहिए यही उनका दृष्टिकोण था । उनकी राय में, संगीतविषयक चिंतन संगीत के छात्रों को, कलाकारों को स्वतंत्र रूप में करना चाहिए और इस संबंध में उनके संपर्क में आनेवाले छात्र का वे उसी रूप में मार्गदर्शन किया करते थे ।

एक प्रसंग का स्मरण हो रहा है । सन १९५६ के आसपास, वे जयपुर में मेरे यहां ७-८

दिन के लिए ठहरे हुए थे । उस समय मेरा रेडियो पर कार्यक्रम था । उस कार्यक्रम में उनका रचा एवं प्रचलित किया हुआ सालगवराली राग मैं गानेवाला था । यह राग मैंने उनके एक शिष्य से प्राप्त किया था और उसपर चिंतन करके अपनी पद्धति से उसे पेश करनेवाला था । मैंने अपना यह कार्यक्रम सुनने के लिए अण्णासाहब से प्रार्थना की । उसके बाद इस संबंध में उनसे चर्चा करके कुछ सुझाव देने के लिए कहा । इस प्रसंग में मुझसे बात करते हुए उन्होंने राग-संकल्पना के विषय में जो विचार प्रस्तुत किए वे महत्त्वपूर्ण हैं । उन्होंने कहा - "नव-राग का निर्माण होने पर, जब वह अनेक कलाकारों द्वारा गाया जाता है तभी उसका स्वरूप निर्धारित होता है । कई बार राग के कुछ पहलू जो निर्माता की कल्पना में न आए हों, वे अलग अलग कलाकारों के द्वारा दर्शित किए जाने की संभावना होती है ।" इसका मतलब यह है कि सालगवराली मैं मेरी प्रयुक्त की हुई स्वर-संगतियां उन्हें अभिप्रेत नहीं थीं; फिर भी उन्होंने अपनी राय देते हुए कहा कि इनका रागों में स्थान अवश्य है । इस प्रकार की नवीन कल्पनाओं से राग का स्वरूप विस्तृत होता जाता है और उससे तथा नवीन प्रयोगशीलता से राग समृद्ध होता जाता है तथा कला संपन्न होती जाती है । इस प्रसंग का उल्लेख यहाँ यह स्पष्ट करने के लिए किया है कि अण्णासाहब मुक्त विचारों के समर्थक थे तथा उनके विषय में यह धारणा गलत है कि वे कर्मठ थे । इस प्रसंग से यह ज्ञात हो जाता है कि किस प्रकार उन्नत एवं गुरु के लक्षण स्व. अण्णासाहब के व्यक्तित्व में निहित थे ।

यह कहने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि रागदारी संगीत के बारे में स्व. अण्णासाहब एक चलता-बोलता कोश थे । किन्तु लगता है कि उन्होंने अपना क्षेत्र रागदारी संगीत तक ही सीमित किया होगा, क्योंकि आज संगीत-शास्त्र में जो विविध शाखाएँ दीख पड़ती हैं, लगता है उनकी तरफ अण्णासाहब ने विशेष ध्यान नहीं दिया । उदाहरण के लिए संगीत का मानस-शास्त्र, लोक-संगीत-शास्त्र, संगीत का सौंदर्य-शास्त्र, संगीत का विज्ञान, संगीत-शिक्षण-पद्धति जैसी संगीत की विविध शाखाओं के संबंध में उनके विचार उपलब्ध नहीं होते । यह भी संभव है कि शिक्षक, प्रचारक एवं संस्था-संचालक की हैसियत से कार्यरत होने के कारण, केवल पांडित्यपरक अध्ययन करने के लिए उन्हें फुरसत प्राप्त नहीं हुई होगी । किन्तु रागदारी संगीत के प्रत्येक क्रियात्मक पहलू के संबंध में जो बातें आवश्यक थीं उनपर उन्होंने पर्याप्त चिंतन किया था और तद्विषयक मार्गदर्शन संगीत के अध्येताओं को किसी भी समय उपलब्ध हुआ करता था ।

स्व. अण्णासाहब के व्यक्तित्व का ऐसा ही एक दूसरा वैशिष्ट्य सामने आता है । अनेक घरानों में कुछ खास रागों को उन घरानों के वैशिष्ट्य के रूप में माना जाता है । इन रागों का स्वरूप समझने अथवा उनकी रचना करने के लिए उनकी बंदिशें सीखना आवश्यक होता है । इसके साथ ही कुछ ऐसे भी राग हैं कि जिनके रूप तो ज्ञात हैं, किन्तु उनकी बंदिशें प्राप्त नहीं होतीं । इस संबंध में अण्णासाहब का कार्य बहुत महान् है । छात्रों के मार्गदर्शन के लिए उन्होंने प्रचलित और अप्रचलित रागों में इतनी अप्रतिम बंदिशें बनाई हैं कि वे गायकी के लिए उपयुक्त तो हैं ही, साथ ही उनके कारण घरानों की ठेकेदारी पर भी प्रश्नचिह्न अंकित हो गया है । अप्रचलित रागों का स्वरूप स्पष्ट होने की दृष्टि से ये बंदिशें अत्यंत उपयुक्त हैं । उदाहरण के लिए, पूर्वी अंग के बिभास राग का स्वरूप समझने के लिए अण्णासाहब की बंदिश की ओर ध्यान देना पड़ता है । खट राग की एक घराने की ठेकेदारी अण्णासाहब ने अपनी बंदिश द्वारा दूर कर दी है । इस प्रकार अनेक रागों के उदाहरण दिए जा सकते हैं । बंदिशें

बनाने का अनमोल कार्य अण्णासाहब ने किया है । वाग्गेयकार के रूप में स्व. पं. रातंजनकर का कार्य बहुत ही महान एवं अमर है ।

यह बात सही है कि स्व. अण्णासाहब अपने जीवन में महफिल के कलाकार के रूप में सफल नहीं हुए; परंतु उसका यह मतलब नहीं कि अण्णासाहब का गायन बिलकुल सामान्य था, बल्कि वह अत्यंत ऊंचे स्तर का था । आयु के ५५-५६ वर्ष तक उनकी आवाज यद्यपि बहुत उत्तम नहीं मानी जा सकती, किन्तु गायन के लिए वह योग्य अवश्य थी । उस कालावधि में वे अनेक जाने-माने लोगों की महफिलों में गाया करते थे । उनकी रंगतभरी महफिलों की स्मृतियों का जिक्र उनके गायन के अनेक रसिक एवं जानकार श्रोता करते हुए पाए जाते हैं । जहाँतक मुझे स्मरण है, बड़ौदा में १९४७ के आसपास और जयपुर में १९४६ के आसपास संपन्न उनकी महफिलों ने बहुत ही रंग जमाया था । किन्तु अण्णासाहब खानगी महफिलों में जितने प्रभावपूर्ण ढंग से रंग भर देते थे, उतना प्रभाव उनकी सार्वजनिक महफिलों में दृष्टिगोचर नहीं होता था । तात्पर्य, यद्यपि उनके गायन का स्वरूप सामान्य श्रोताओं को आकर्षित करनेवाला नहीं था, किंतु जानकार रसिकों के लिए वह अवश्य आनंद-प्रदायक था, क्योंकि गायकी और रागों पर उनका जो प्रभुत्व था वह मर्मज्ञ रसिकों को एक अनोखा ही आनंद प्रदान करता था और इस बात की प्रतीति करा देता था कि यह गायकी कितनी और कैसी कसदार है ।

अण्णासाहब की सेहत साधारणत: विशेष अच्छी न होनेसे उनकी आवाज गायन के अनुकूल नहीं थी । साथ ही संगीत-शिक्षा के उत्तरदायित्व का भार सिर पर होने कारण उसका भी बुरा असर उसपर पड़ा था । उन्हें भी इस बात का एहसास अवश्य था । इस बारे में बोलते समय एक बार उन्होंने कहा था – "किसी विशिष्ट लक्ष्य को दृष्टिसम्मुख रखकर जब कार्य करना होता है तो उससे होनेवाली हानि को लेकर शिकायत करना व्यर्थ है । हम तो ठहरे संगीत के दीवाने! शिष्य तैयार करने का कार्य हमने स्वीकार लिया है तो अन्य लाभ-हानि का विचार हम क्यों करें?" उनके ये सहजोद्गार 'आकाशवाणी' पर उनके गायन के ध्वनि-मुद्रण के प्रसंग में मैंने सुने हैं ।

मित्र के रूप में अण्णासाहब अपने हमउम्र व्यक्तियों के साथ खुले दिल से बर्ताव करते थे या नहीं, इसका न तो मुझे अनुभव ही है, न उस संबंध में मैंने कोई निरीक्षण ही किया है । मित्रमंडली इकट्ठा करना एक प्रवृत्ति है । कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपने खुले दिल के बर्ताव से अपने इर्दगिर्द मित्र परिवार को इकट्ठा करते हैं । यद्यपि अण्णासाहब की खानगी बातचीत में उनके खुले दिल से किए जानेवाले व्यवहार का ईषत् अनुभव हुआ भी हो, किन्तु आम तौर पर लगता था कि अण्णासाहब अबोल मनोवृत्ति के ही व्यक्ति थे । प्राय: यही दिखाई देता है कि मित्रमंडली को इकट्ठा करनेकी उनकी वृत्ति नहीं थी और दूसरों को प्रभावित करने-योग्य संभाषण-कला भी उनके पास नहीं थी । अत: बहुत से व्यक्ति तो मन में कुछ संकोच रखकर ही उनसे बातचीत करते थे । इस वृत्ति के मूल में कुछ विशिष्ट कारण भी निहित हो सकते हैं ।

संगीतज्ञ और संगीत के क्षेत्र में ठोस कार्य करनेवाले कार्यकर्ता के रूप में स्व. पं. अण्णासाहब का स्थान उच्च कोटि का है । संगीत के सभी पहलुओं का समग्रता के साथ अध्ययन करनेवाले संगीतकार के रूप में उनका बड़ा आदर था और वैसा उनका अधिकार भी था । अनेक संगीत-संगोष्ठियों में उन्हें निमंत्रित किया जाता था और उनके कई लेख संगीत के अध्येताओं के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हुआ करते थे । ज्ञान के क्षेत्र में उनकी दृष्टि निष्पक्ष थी । उनके जमाने

में भातखंडे संप्रदाय तथा पलुस्कर संप्रदाय के नामों से दो पक्ष उक्त पंडितद्वय के शिष्य वर्ग तथा चाहनेवालों ने बना लिए थे । कुछ निरर्थक वादों को भी इन पक्षोंने जन्म दिया था । स्व. अण्णासाहब यद्यपि भातखंडेजी के शिष्य थे, तो भी उन्हें पं. पलुस्कर की महानता उतनी ही स्वीकृत थी । इसीलिए उन्होंने 'भातखंडे प्रशस्ति' एवं 'पलुस्कर प्रशस्ति' शीर्षक दो कविताएँ रची हैं । अपनी ओर से वे इन दो मतभेदों में सामंजस्य स्थापित कराने के लिए प्रयत्नशील थे । ठाट-पद्धति एवं रागांग-पद्धति के रूप में जो दृष्टिकोण उनके अनुयायियों ने सैद्धांतिक रूप में स्वीकार कर दो संप्रदायों का निर्माण किया था, उसका विश्लेषण करने के लिए वे सदैव तत्पर रहते थे । स्व. पं. विनायकबुवा पटवर्धन के विद्यालय में एक समारोह का निमंत्रण स्वीकार कर अतिथि के नाते उन्होंने इन दो मतभेदो के विषय में अत्यंत सुंदर विवेचन किया था । एक बार सहज ही में उन्होंने मुझसे कहा – "संयोग नहीं जुड़ा भई! अन्यथा शायद मैं विष्णु दिगंबर का शिष्य भी हुआ होता!" अतः इन दो संप्रदायों को लेकर यदि किसीकी यह धारणा हो कि वे भातखंडे संप्रदाय के कट्टर समर्थक थे, पलुस्कर संप्रदाय के प्रति उनके मन में वैमनस्य था, तो वह गलत है । किंतु इतना सही है कि पं. भातखंडेजी के शिष्य होने तथा उनके मतों से सहमत होने के कारण वे जो विचार प्रस्तुत करते थे और आग्रहपूर्वक उनका समर्थन करते थे, उसके परिणामस्वरूप उनके बारेमें व्यर्थ ही एक गलत धारणा बन गई थी कि वे भातखंडे संप्रदाय के पक्षधर अध्वर्यु थे और अन्य संप्रदाय के प्रति असहिष्णु थे । किन्तु उनके संपर्क में आनेपर प्रतीत होता था कि यह धारणा गलत थी ।

तात्पर्य, स्व. अण्णासाहब के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की समग्र रूप में विवेचना करने पर एक बात का निश्चित रूप में एहसास होता है कि अण्णासाहब का व्यक्तित्व अत्यंत महान् एवं संपन्न था । ज्यों ज्यों काल व्यतीत होता है, उनके कृतित्व की महानता अधिकाधिक जंचने लगती है । संगीत के क्षेत्र में उन्होंने निश्चय ही अपने कृतित्व का सिक्का जमाया है । संगीत का क्रियात्मक दृष्टिकोण से विचार करनेवाला कलाकार-वर्ग उनकी पिछली पीढ़ी में विशेष तौर पर पाया जाता था । स्व. अण्णासाहब के कृतित्व के साथ, संगीत का क्रियात्मक एवं सैद्धांतिक दृष्टि से विचार करनेवाले संगीतकार का निर्माण करनेके कार्य का शुभारंभ हुआ और आज यह एहसास उत्पन्न हुआ है कि संगीत-शिक्षा के क्षेत्र में क्रियात्मक एवं सैद्धांतिक अंगों का समन्वय होना चाहिए और इस दृष्टि से उनके शिष्य-वृंद को संगीत के क्षेत्र में पर्याप्त प्राधान्य प्राप्त हुआ है । इस कथन में बिलकुल अत्युक्ति नहीं होगी कि इस उपलब्धि में सर्वाधिक श्रेय स्व. अण्णासाहब के कृतित्व एवं व्यक्तित्व को दिया जाना चाहिए । गांधर्व महाविद्यालय संप्रदाय और भातखंडे संप्रदाय के रूप में यद्यपि दो भिन्न मतप्रवाह दिखाई दिए, तो भी उनके कार्य की दिशा एक ही है । संगीत की सर्वांगीण उन्नति करना यही दोनों संप्रदायों का एक मात्र लक्ष्य है । इसीलिए भिन्न प्रतीत होनेवाले इन दोनों संप्रदायों का कार्य परस्पर पूरक ही है । ऐकांतिक भूमिका लेकर, अभिनिवेश के साथ एक दूसरे के बारे में गलत धारणा पैदा करना सरासर अज्ञान है । इस प्रकार की धारणाएं स्व. अण्णासाहब के संपर्क में आने पर, उनके व्यक्तित्व का आकलन होनेपर अनायास दूर हो गई हैं । उनके शिष्य-वृन्द ने उनकी स्मृति में प्रतिष्ठान का निर्माण करके उनके कार्य को आगे बढ़ाने का संकल्प किया है । प्रत्येक संगीत-प्रेमी की यही इच्छा है कि इस कार्य के लिए स्व. अण्णासाहब का चतुरस्र व्यक्तित्व प्रेरणादायी सिद्ध हो ।

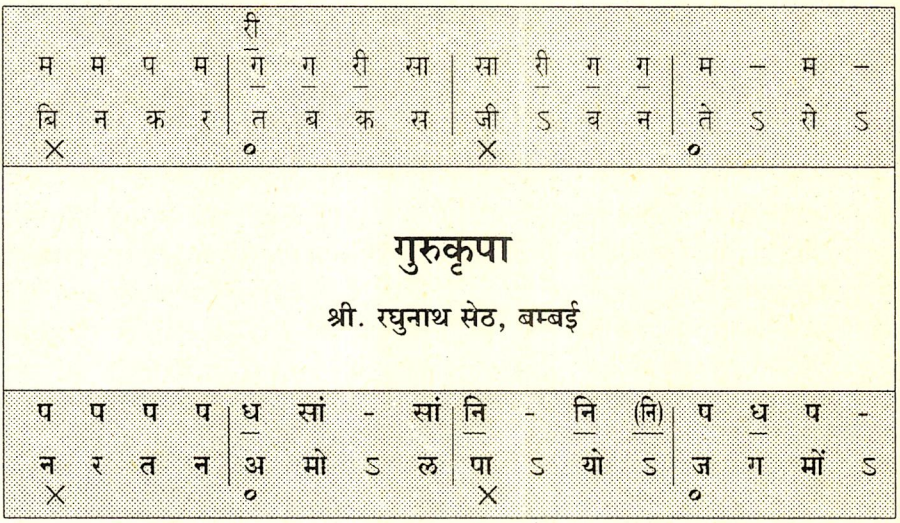

(विख्यात वंशीवादक। लखनऊ आकाशवाणी के भूतपूर्व कलाकार। बम्बई के चित्रपट-जगत् में तथा फिल्म डिविजन में संगीत-निर्देशक। आचार्य रातंजनकर के शिष्य।)

उन दिनों सन् १९५० में (आज से चालीस वर्ष पूर्व) एच.एम.वी. की एक शाखा लखनऊ में शाहनजफ रोड में हुआ करती थी, जहां नियमित रूप से रिकार्ड अर्थात् डिस्क तैयार किए जाया करते थे।

हाईस्कूल की परीक्षा देनेके बाद मेरी संगीत की गतिविधियाँ काफ़ी बढ़ गई थीं और चौबीसों घण्टे संगीत, में संगीतज्ञों के साथ साथ ही व्यतीत होते। प्रारम्भिक दिनों की इस अवस्था में मेरा ज्ञान वंशी-वादन में, हलकी फुल्की धुनों तक ही सीमित था; परन्तु एच.एम.वी. की रिकार्डिंग मैं अक्सर ही देखता रहता जहां प्रत्येक दिन नए कलाकारों के संगीत को ध्वनिमुद्रित किया जाता। यूं मेरे मोहल्ले में (नादान महल रोड) याने चौक के पास काफी संगीतज्ञ रहते थे। परंतु ये अधिकांशत: ठुमरियों के उस्ताद थे जो ललन पिया की ठुमरियों के ज्ञाता थे। इन सबके पास जाने पर भी आत्मा की पूर्ण तुष्टि न होती और वंशी-वादन को कोई दिशा मिले इस कारण मैं सब कहीं ऊंची नीची , अच्छी बुरी सभी जगह कुछ नया ढूंढता रहता।

एक दिन एच. एम. वी. के स्टूडियो में पहुंचा। ३ मिनट का एक शास्त्रीय गायन उसी समय रिकार्ड किया गया था जिसे सुनाया जा रहा था। आवाज बहुत प्रभावशाली लगी और पूर्ण ३ मिनट का कार्यक्रम मुझे बहुत ही अच्छा लगा। पूछने पर लोगों ने बतलाया - इस राग का नाम खम्भावती है। मुझे राग के बारे में तो बतला दिया गया। गायक कलाकार का परिचय पूछने पर मेरी अवहेलना कर दी गई। "जाओ जाओ, सरल संगीत बजाओ। शास्त्रीय संगीत से तुम्हें क्या मतलब?" मैं दुखी हो गया और गायक कलाकार को दूरसे ही देख पाया, जिसमें अचकन अधिक चेहरा कम, छोटा कद। मैं केवल मंच में यही सोचकर रह गया कि क्या जीवन में कभी इनसे बात करने का अवसर भी मिल पाएगा?

तीन वर्ष बम्बई में फिल्मों में वंशी बजाने के पश्चात् जब १९५४ में मैं आकाशवाणी लखनऊ में, वंशी-वादक की हैसियत से नियुक्त हुआ उन दिनों श्री. वी. जी. जोग आकाशवाणी लखनऊ में संगीत-संयोजक थे। और श्री डी.टी. जोशी भी वहाँ थे। कुछ दिनों में आकाशवाणी में ऑडिशन होनेवाले थे जिनके मुखिया अर्थात् सर्वेसर्वा थे डॉ. एस. एन. रातंजनकर। इस प्रकार इस नाम से मेरा परिचय पहली बार हुआ। पूछने पर लोगों ने बतलाया कि ये प्रसारण-मंत्री श्री बी. वी. केसकर के सबसे विश्वासपात्र कलाकार थे। खैर, पर्दे की ओट में अन्य कलाकारों के साथ मेरा भी ऑडिशन हुआ। (मैं बाद में पास हो गया) ऑडिशन में लखनऊ आकाशवाणी के प्रसिद्ध तबला-वादक उस्ताद मुन्ने खां भी थे जिनसे ऑडिशन के दौरान काफी बहस हुई, जिससे उनके आत्मसम्मान को धक्का लगा था। मेरा कौतूहल और बढ़ा। पता लगा, डा. रातंजनकर लखनऊ में ही भातखण्डे संगीत विद्यापीठ के प्रिंसिपल थे। ऑडिशन की समाप्ति के बाद जब अन्य अधिकारियों के साथ वे बाहर निकले तो उस लालबहादुर शास्त्री जैसे कटवाले व्यक्ति को देखते ही मैं पहचान गया, कि अरे ये तो वही व्यक्ति हैं, जिन्होंने तीन-चार वर्ष पूर्व एच.एम.वी. में राग खम्भावती रिकार्ड किया था।

मैं रविवार को भातखण्डे संगीत-विद्यापीठ के शिक्षक-विद्यार्थियों की संस्था 'श्रुतिमण्डल' में जाया करता और इनमें संगीत के कार्यक्रम एवं उनके वार्तालाप से लाभ उठाता रहता। पता लगा कि भातखण्डे जी से सम्बधित एक वार्षिक कार्यक्रम होनेवाला है जो, अखण्ड चौबीस घण्टों तक चलेगा और जिसके अंत में याने समापन कार्यक्रम में डाक्टर साहब का गायन होगा। अब मेरे जीवन का सबसे बड़ा ध्येय हो गया कि "इनका गायन सुनना ही है"। और उस दिन उनका गायन 'भवानी दयानी' सचमुच ही अलौकिक गायन था; मैं स्वरों के सागर में डूबता गया; एक अजीब-सी विह्वलता का आभास करता हुआ, आत्मविस्मृत होता हुआ! नए नए स्वर-समूहों का एक ऐसा क्रम था जिसने शुद्ध भैरवी को ऐसा मूर्तिरूप कर दिया था कि इस अनुभूति को मैं कभी नहीं भूल पाऊंगा।

सारे दिन आकाशवाणी में कार्य करने के पश्चात् मैं संध्या को, नौकरी खत्म करके भातखण्डे विद्यापीठ पहुंच जाता। 'श्रुतिमण्डल' के मेरे एक मित्र थे। जिनका नाम था वेणीमाधव त्रिपाठी। विद्यापीठ में बांसुरी के अध्यापक थे। संगीत की क्लास समाप्त हो जाने के पश्चात् इसी स्थान पर, कमरे में रोज ही रियाज किया करता। त्रिपाठी जी अक्सर मेरे साथ डग्गा लेकर ठेका देने बैठ जाया करते थे। कुछ ही दिनों बाद एक रात, अभ्यास करने के बाद वंशी नीचे रखी, सिर ऊपर उठाया; देखा, प्रिंसिपल साहब चुपचाप खड़े दरवाजे की आड़ से बांसरी सुन रहे थे। मैं अचकचाकर खड़ा होने लगा। त्रिपाठीजी, जिनकी दरवाजे की ओर पीठ थी, उन्हें देख न पाए थे। मुझे खड़ा होने की कोशिश करते देख स्वयं भी पीछे घूमे। इतनेमें ही प्रिंसिपलसाहब बोले, "उठो नहीं। बजाते रहो" फिर भी मैंने नहीं बजाया क्योंकि मैं काफी घबरा गया था। मुझे नहीं बजाते देखकर बोले कि "अच्छा मैं जाता हूँ, तुम अभ्यास जारी रखो। और कभी हमसे मिलना।" सम्भवत: वे जानते भी नहीं थे कि मैं भातखण्डे विद्यापीठ का विद्यार्थी भी नहीं था और मैंने यूं ही अभ्यास के लिए उपयुक्त एक स्थान ढूंढ लिया था। अंधे को क्या चाहिए 'दो आँखें!' उनके शब्द 'कभी हमसे मिलना' ये ही बस मेरे मस्तिष्क में घूमते रहे और उसके बादवाले पहले रविवार को ही सुबह मैं उनके निवास-स्थान पर, जो कार्यालय में ही था, पहुँच गया।

प्रारम्भ में तो मुझे काफी डर लगा, फिर धीरे धीरे डर निकल गया। और शीघ्र ही नियमित रूप से मैं प्रत्येक रविवार को उनसे व्यक्तिगत रूप से सीखने अलग से जाने लगा। वे भी बिना किसी स्वार्थ के अपने अत्यंत व्यस्त कार्यों में से मेरे लिए कुछ न कुछ समय निकाल ही लेते जो अन्ततः मेरे लिए वरदान प्रमाणित हुआ।

सम्भवतः वंशी के विषय में उनकी धारणाएं श्री वेणीमाधव त्रिपाठी ने काफी गलत करके रखी थीं। एक दिन पहुंचने पर पहले ही वाक्य में बोले कि, "त्रिपाठी तो कहते हैं कि कोई भी वंशी (शत प्रतिशत) सौ फी सदी स्वर में नहीं होती, पर तुम कैसे परफेक्ट स्वर में बजाते हो?" उनकी इस बात से मुझे लगा कि मुझे सारे संसार का खजाना मिल गया। तत्पश्चात् मेरा पूर्ण परिचय और श्री पन्नालाल घोषजी का सान्निध्य जानने के पश्चात् वे प्रत्येक रविवार, रागों की प्रस्तुति तथा अवतारणा की बारीकी के विषय में समझाते रहते। साथ ही वे यह भी कहते कि वे वंशी बजाने की तकनीक के विषय में नहीं जानते, परंतु तुरन्त मैं बोल पड़ता कि रागों के साहित्य के विषय में आपके जैसा मार्गदर्शक मुझे और कहां मिलेगा? आप के जैसी सूक्ष्म पकड़ एवं आधिपत्य किसी अन्य में नहीं। तो वे एक से एक बातें बतलाते। इसी कारण मैंने अपनी वादन-शैली में आलाप के बाद नोम-तोम के आलाप का अनुकरण किया।

एक दिन उन्होंने एक पतली-सी पुस्तिका मेरे हाथ में पकड़ाई, जिसे बृहस्पतिजी ने लिखा था। उसमें वंशी पर स्वर-स्थापना का विवरण था जो सम्भवतः शारंगदेवजी द्वारा लिखित उद्धरण था, अंगुष्ठ प्रमाण के हिसाब से। उन्होंने कहा, "तुम वंशी बनाते हो। इसमें दिए गए हिसाब से वंशी बना कर हमें बतलाओ। मैंने बृहस्पतिजी की लिखी विस्तृत टिप्पणी को बार बार समझकर जैसा कि उनका वर्णन था, उस हिसाब से कई बार वंशी बनाने का प्रयत्न किया। परन्तु हर बार ही मैं असफल रहा। अपनी उंगलियों के हिसाब नापने के पश्चात् जिस स्थान पर छिद्र करता उनमें से एक बेसुरी ही बांसुरी बनती। और स्वर-स्थान बेतुके प्रतीत होते।

जब मैं पूर्णतया हार गया तो प्रिंसिपल साहब के ही पास फिर पहुंचा और उन्हें वे बासुंरियां दिखलाईं और उन्हें अपनी असफलता के बारे में बतलाया। तो वे तुरन्त ही मुस्कराकर बोले, "'अंगुष्ठ प्रमाण' का अर्थ तुम्हारी उंगलियां नहीं होता। उसका एक निश्चित प्रमाण होता है।" इतना भेद जानने के पश्चात् मैं फिर कार्य में लग गया। और मोहल्ले के एक विद्वान द्वारा अंगुष्ठ प्रमाण का सही अर्थ और स्केल जानकर फिर वंशी बनाई। फिर मुझे कुछ सफलता मिली और अब जो वंशी बनी उसकी स्वर-स्थापना आज के 'काफी ठाठ' के काफी समीप थी।

अंततः कहना यह है कि आज के युग में जहाँ दिखावा एवं स्वार्थ ने कला के क्षेत्र में अपना आधिपत्य जमा रखा है, संगीत के प्रति इतना समर्पित प्रकाण्ड पाण्डित्यपूर्ण परन्तु अत्यंत सरल व्यक्तित्ववाले कलावन्त की कल्पना मात्र एक कल्पना ही रहेगी। परन्तु उनकी स्मृति एक अमूल्य निधि है, स्रोत है, जो सदैव ही अक्षुण्ण है!

म	म	प	म	रीग	ग	री	सा	सा	री	ग	ग	म	–	म	–
बि	न	क	र	त	ब	क	स	जी	ऽ	ब	न	ते	ऽ	रे	ऽ
×				०				×				०			

'इं. क. संगीत विश्वविद्यालय' के प्रथम उपकुलपति

श्री मनोहरकुमार गंगाजलीवाले, खैरागढ़

प	प	प	प	ध	सां	-	सां	नि	-	नि	(नि)	प	ध	प	-
न	र	त	न	अ	मो	ऽ	ल	पा	ऽ	यो	ऽ	ज	ग	मों	ऽ
×				०				×				०			

(ग्वालियर के माधव म्युजिक कॉलेज के ग्रेज्युएट। इं.क.सं. विश्वविद्यालय के साथ आरंभ से संलग्न। संप्रति वहाँ रजिस्ट्रार।)

डॉ. श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर जी से मेरा संबंध ३१ दिसंबर १९५७ में 'इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय' के प्रथम उपकुलपति के रूप में हुआ। इसी दिन उन्होंने मुझे इस विश्वविद्यालय के प्रथम कार्यालय/अधीक्षक के रूप में नियुक्त किया था। मेरा सेवा-काल इसी दिन से प्रारंभ हुआ। उनका यह विचार था कि संगीत विश्वविद्यालय में अधिकारियों या अन्य लोगों, जो संगीत या ललित कलाओं से संबंधित हों, को ही नियुक्त किया जाए ताकि वे भली प्रकार से संगीत की सेवा कर सकें।

विश्वविद्यालय का गठन

अपने पद पर नियुक्त होने के पश्चात् उन्होंने मुझसे विस्तृत रूप से संगीत विश्वविद्यालय की परिकल्पना से संबंधित चर्चा की तथा यह मार्गदर्शन दिया कि किस प्रकार से इस विश्वविद्यालय का विकास किया जाए। इस संबंध में सर्वप्रथम विश्वविद्यालय के सभी निकायों का गठन किया जाना आवश्यक था। इसके पूर्व जिस राजप्रासाद में विश्वविद्यालय का वर्तमान भवन स्थित है उसमें विश्वविद्यालय के अनुरूप परिवर्तन इत्यादि किए जाने की जटिल समस्या सामने थी। संगीत विश्वविद्यालय कि परिकल्पना के अनुसार राजप्रासाद का रीमॉड़लिंग किए जाने का कार्य हाथ में लिया गया। डॉ. एस.एन. रातंजनकर जी के विचार के अनुसार राजप्रासाद का उपयोग इस प्रकार से किया जाना था जिसमें संगीत एवं ललित कलाओं की कक्षाएं सुचारु रूप से संपन्न हो सकें। इस लक्ष्य की प्राप्ति की दृष्टि से उनके मार्गदर्शन के अनुसार हम लोगों ने यह कार्य संपन्न किया।

डॉ. रातंजनकर जी द्वारा दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह था कि उन्होंने भारतवर्ष के महान संगीतकारों

तथा विधिवेत्ताओं से संपर्क स्थापित कर विश्वविद्यालय के लिये नियम, परिनियम, विनियम इत्यादि बनाए। इस कार्य में जिनसे सहयोग लिया गया उन महानुभावों में मुख्य रूप से श्री जी.जे. अंबर्डेकर (नागपुर), श्री. मोतीलाल गुजर (बंबई), श्री. पद्मनाभन् शास्त्री (इंदौर) तथा तत्कालीन शिक्षा सचिव श्री एल.ओ. जोशी के नाम प्रमुख हैं। इन सभी विद्वानों की सहायता से विश्वविद्यालय की कार्यप्रणाली को सुचारु रूप से संचालित किए जाने हेतु नियम बनाए गए।

शैक्षणिक कार्य का प्रारम्भ

अप्रैल १९५८ से 'इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय' में शिक्षण विभाग प्रारंभ हुआ, जब प्रथम बार विश्वविद्यालय में प्रोफेसर डी.टी. जोशी, सेवानिवृत्त डिप्टी चीफ प्रोड्युसर आकाशवाणी दिल्ली की नियुक्ति हुई। उन्हींके अधीनस्थ शिक्षण विभाग का कार्य प्रारंभ हुआ।

डॉ. रातंजनकरजी के द्वारा इसी समय विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राओं के छोटे समूह को लेकर गीत-नाटिका 'गोवर्धन उद्धार' का मंचन किया गया। सन १९५८ में ही कालिदास समारोह (उज्जैन) में विश्वविद्यालय द्वारा महाकवि कालिदास द्वारा रचित 'कुमार संभवम्' संस्कृत नाटक की संगीतमय प्रस्तुति की गई। इसमें विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राएं तथा अन्य लोगों ने सहयोग दिया था। तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसादजी ने इसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की थी। डॉ. रातंजनकरजी के खैरागढ़ निवास के दौरान इस क्षेत्र में कई संगीत कार्यक्रम हुए जिसमें विश्वविद्यालय का प्रचार-प्रसार जोरों से प्रारंभ हुआ। इसके अंतर्गत तानसेन संगीत समारोह (ग्वालियर) में 'तानसेन प्रशस्ति' का प्रस्तुतीकरण तथा आकाशवाणी भोपाल के उद्घाटन के अवसर पर विश्वविद्यालय द्वारा ध्रुवपद आदि का गायन विशेष उल्लेखनीय है।

दीक्षान्त समारोह

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय का प्रथम दीक्षान्त समारोह सन १९५९ में संपन्न हुआ, जिसमें तत्कालीन सूचना एवं प्रसारण मंत्री डॉ. बी.व्ही. केसकर द्वारा दीक्षान्त भाषण दिया गया था। इस दीक्षान्त समारोह में उस समय के प्रसिद्ध संगीतज्ञ सर्वश्री श्री उस्ताद विलायत हुसैन खां तथा उनके पुत्र युनुस हुसेन खां, डागर बंधु, प्रो. व्ही.जी. जोग, प्रो.के.जी. गिण्डे, प्रो.ए.कानन तथा श्रीमती सिद्धेश्वरी देवी, श्रीमती रसूलनबाई, श्रीमती सुमति मुटाटकर, श्रीमती मालविका कानन, श्रीमती मीरा बैनर्जी, श्रीमती लक्ष्मी शंकर इत्यादि द्वारा अपने अपने कार्यक्रम प्रस्तुत किए गए तथा दो दिन तक संपूर्ण कार्यक्रमों का सीधा प्रसारण आकाशवाणी द्वारा किया गया।

संगीत महाविद्यालयों का सम्बद्धीकरण

डॉ. रातंजनकर जी के अथक परिश्रम से ही मध्य प्रदेश में स्थित संगीत-संस्थाओं का तथा देश में स्थित अन्य संगीत-संस्थाओं का संबद्धीकरण विश्वविद्यालय द्वारा हुआ। आज ऐसे महाविद्यालयों की संख्या लगभग ३० है।

प्रकाशन

'इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय' द्वारा डॉ. रातंजनकर जी के मार्गदर्शन में 'भरत भाष्य' के प्रथम भाग का प्रकाशन संभव हुआ। इसी प्रकार 'कुमार सम्भवम्' संस्कृत गीत नाटिका का भी प्रकाशन हुआ।

पूजनीय अण्णासाहब (रातंजनकर) कार्यालयीन कार्य के अतिरिक्त एम.म्यूज. की कक्षाएं स्वयं लेते थे जिनमें लेखक को भी शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है। एम.म्यूज. के पाठ्यक्रम के कई रागों में बंदिशें उपलब्ध न होने के कारण अण्णासाहब ने स्वयं रचनाएं बनाकर छात्रों को सिखाईं।

विश्वविद्यालय के उप-कुलपति के नाते उनपर अन्यान्य जिम्मेदारियाँ थीं। उन सभीके बावजूद उन्होंने संगीत-शिक्षा का कार्य चालू रखा तथा समय समय पर हम छात्रों का मार्गदर्शन किया। ऐसे महान संगीतोद्धारक, चिंतक तथा सुयोग्य उपकुलपति के अधीनस्थ कार्य करने का मुझे अवसर मिला जिससे मैं अपने को कृत-कृत्य मानता हूँ। उनकी इच्छा थी कि विश्वविद्यालय का रजिस्ट्रार भी संगीतज्ञ हो। उनकी यह इच्छा ईश्वर की कृपा से तब पूर्ण हुई जब मैंने सन १९८५ में इस विश्वविद्यालय में रजिस्ट्रार का कार्यभार संभाला।

डॉ. रातंजनकर जी को पैसे का बिल्कुल मोह नहीं था। उन्हें जो वेतन प्राप्त होता था उसमें से वे रु. ५००/- प्रति माह विश्वविद्यालय को दानस्वरूप देते रहे। वे जब कभी विश्वविद्यालय के कार्य से बाहर जाते थे, उस कार्य हेतु उन्होंने कभी विश्वविद्यालय से यात्रा - भत्ता या दैनिक भत्ता नहीं लिया। उनकी यह मान्यता थी कि विश्वविद्यालय कुछ देने के लिए होते हैं, लेने के लिए नहीं। हम लोगों से भी वे यही अपेक्षा करते थे। उनके द्वारा प्रदत्त राशि से ही बाद में 'भातखंडे स्मृति ग्रंथ' का प्रकाशन हुआ।

डॉ. रातंजनकर ५ अगस्त १९६० को इस विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त हुए। उसके पश्चात् आज तक विश्वविद्यालय में उनके स्तर का संगीतज्ञ उप-कुलपति विश्वविद्यालय में नियुक्त नहीं हुआ।

उनके द्वारा लगाया गया यह पौधा एक विशाल वृक्ष बनकर फल-फूल रहा है। इस विश्वविद्यालय में संगीत तथा ललित कलाओं की सभी विधाओं में शैक्षणिक कार्य संपन्न हो रहा है। यह सब उन्हीं के आशीर्वाद का फल है।

उनकी पुण्य स्मृति में मैं अपनी भावपूर्ण श्रद्धांजलि समर्पित करता हूं।

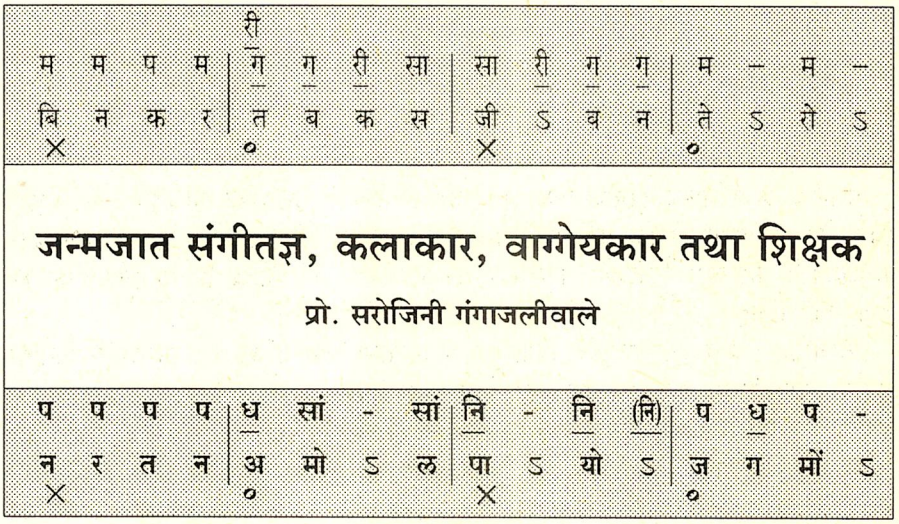

प्रवाचक, इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़

डॉ. एस.एन. रातंजनकर संगीत की परीक्षाएं लेने प्रतिवर्ष ग्वालियर आया करते थे। ये परीक्षाएं दिसंबर-जनवरी माह में हुआ करती थीं। ग्वालियर में संगीत का वातावरण था इस कारण डॉ. रातंजनकरजी के संगीत के कार्यक्रम रात में हुआ करते थे। माधव म्यूजिक कॉलेज के प्रिन्सिपल तथा ग्वालियर घराने के श्रेष्ठ गायक पं. राजाभैय्या पूंछवाले और डॉ. रातंजनकरजी की बहुत अच्छी मित्रता थी। इस कारण आप प्रतिवर्ष परीक्षाएं लेने ग्वालियर आते थे। ये परीक्षाएं लगभग महीनाभर चलती थीं। दिन में परीक्षा और रात में संगीत का कार्यक्रम होता था। डॉ. रातंजनकरजी इन महफिलों में प्रमुख कलाकार गायक के रूप में रहते थे। नए-नए राग, नई-नई बंदिशें गाकर आपने उन्हें लोकप्रिय बनाया। ये बंदिशें आपने रागों में बंदिशों की कमी को दूर करने के लिये ही बनाई हैं। ग्वालियर में ठेठ राग अर्थात् 'क्रमिक पुस्तक मालिका' (भाग १ से ४) तक में सम्मिलित राग गाने की प्रथा थी। डॉ. रातंजनकरजी ने नए, अप्रचलित राग गाकर, उनकी बन्दिशें बनाकर उन्हें लोगों तक पहुंचाया। संगीत-जगत् को उनकी यह बहुत बड़ी देन है।

जो व्यक्ति डॉ. रातंजनकर जी के सान्निध्य में आया है वह भली प्रकार उनके इस रूप से परिचित है। डॉ. रातंजनकर जी अपने प्रिय शिष्य तथा संगीत-समुदाय में अण्णासाहब के नाम से जाने जाते थे। आप सदैव अपने में निमग्न रहा करते। मनन, चिंतन, लेखन करते रहते थे। नई बंदिश बनानेके पश्चात् उसे अपने प्रिय शिष्य श्री. के.जी. गिण्डे के पास भेज देते थे ताकि वह सुरक्षित रहे। आपके मनन और चिंतन का ही फल है कि आपकी 'अभिनव गीत मंजरी' तीन भागों में हमें प्राप्त हो सकी।

वैविध्यपूर्ण रचनाएं

'अभिनव गीत मंजरी' में दिए गए गीत डॉ. रातंजनकर जी को श्रेष्ठ वाग्गेयकार स्थापित करनेके लिए काफी हैं। आपने प्रशस्ति-गीत, सरस्वती-वंदना, राष्ट्रगीत, भजन, टप-ख्याल, विलंबित ख्याल, मध्यलय के ख्याल, तराने, सादरे, ध्रुवपद आदि अनेक प्रकार की बंदिशें बनाई हैं। इन बंदिशों के विषयों में विविधता है तथा उनमें भिन्न भिन्न तालों का प्रयोग किया गया है। आपने ताल-गीत, लक्षण-गीत की तरह बनाए हैं। संगीत ऑपेरा - 'गोवर्धन उद्धार' तथा संगीत नाटक संस्कृत में 'कुमार सम्भवम्' (कालिदास रचित) का सफल मंचन किया है। आपकी बनाई हुई बंदिशें सभी कलाकारोंद्वारा गाई जा रही हैं। आप अच्छे शिक्षक थे। उदारतापूर्वक शिक्षा देने के कारण आपका शिष्य वर्ग बहुत बड़ा है।

मैं जब माधव म्यूजिक कॉलेज, ग्वालियर में संगीत की विद्यार्थिनी थी तब डॉ. एस.एन. रातंजनकर को प्रथम बार परीक्षक के रूप में देखा था। यही मेरा उनसे प्रथम परिचय हुआ। लगातार चार वर्ष १९४८ से १९५१ तक आपने मेरी परीक्षा ली। मुझे गौरव अनुभव होता है कि आपने मुझे हर परीक्षा में अच्छे नंबर दिए और मैं सदैव प्रथम श्रेणी, प्रथम स्थान पाती रही। इसके लिए मुझे छात्रवृत्ति भी मिली। १८ अक्तूबर १९५८ को मेरी नियुक्ति 'इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय', खैरागढ़ में व्याख्याता के रूप में हुई। मेरी इस नियुक्ति में आपका विशेष योगदान रहा।

खैरागढ़ आनेपर मैंने डॉ. रातंजनकरजी को पास से देखा। उनके प्रति मेरा आदर द्विगुणित हो गया। उनका व्यक्तित्व चौमुखी था। उसके अनेक पहलू थे। जो व्यक्ति उनके सान्निध्य में आया, उनसे प्रभावित हुआ। 'इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय' के प्रथम उप-कुलपति के रूप में आपने इस विश्वविद्यालय को स्थायी रूप प्रदान किया, सभी नियम, परिनियम बनाए। इतनी व्यस्तता के बाद भी आप रात में कोविद की एम. म्यूज. की कक्षाएं लेते थे। वे अक्सर कक्षाओं में चुपचाप आकर देखते थे। यदि संगीत से संबंधित कुछ शंका है तो हम लोग बिना रोक-टोक के उनके पास जाया करते थे।

आपका व्यक्तित्व आपके कृतित्व का द्योतक था। छोटा कद, बड़ा सिर, भव्य ललाट, सांवला रंग, चूडीदार पाजामा, शेरवानी तथा सतत मनन, चिंतन में निमग्न तेजस्वी आँखें, चश्मा कुल मिलाकर प्रभावकारी व्यक्तित्व था। आपके दर्शन से मन में आदर निर्माण होता था। आपकी मूर्ति छोटी थी लेकिन कीर्ति बड़ी थी।

सबके आदर का केंद्र

विश्वविद्यालय में संगीत के कार्यक्रम में आप शुरू से अंत तक बैठते थे। विद्यार्थी भी गा रहा हो तो ध्यान से सुनते थे। एक रजिस्टर में प्रोग्राम संबंधी अपने विचार लिखते थे, जिसे पढ़कर हमें अपने में सुधार करने का अवसर मिलता था।

संगीत-संसार में आपका ऊंचा स्थान था। ऐसे महामानव केवल संगीत के उद्धार के लिये इस धरती पर अवतरित होते हैं। पं. भातखंडे जी के कार्य को, संगीत-प्रचार के व्रत को आपने पूरा किया।

हम विश्वविद्यालय के शिक्षक, छात्र सभी उनको अपना बुजुर्ग मानते थे। पूरे विश्वविद्यालय में एक परिवार जैसा वातावरण था। आपसी प्रेमभाव के कारण एक सौहार्द बना रहता था।

आपके पास बाहर से भी अनेक संगीतज्ञ, जिज्ञासु आया करते थे। कुछ समय उनके पास रहकर चले जाते थे।

खैरागढ़ तथा खैरागढ़ के आसपास हम लोगों के कार्यक्रम हुआ करते थे। भिलाई स्टील प्लान्ट के उद्घाटन के अवसर पर हम लोगों ने अपना कार्यक्रम भिलाई में दिया था। उस समय के महामहिम राष्ट्रपति डा. राजेन्द्रप्रसाद, मध्यप्रदेश के गव्हर्नर श्री. व्ही. व्ही. पाटस्कर, सभी बड़ी बड़ी हस्तियाँ इस उद्घाटन के अवसर पर उपस्थित थीं। विश्वविद्यालय का प्रसार ही इन कार्यक्रमों का उद्देश्य रहता था। आपके समय संपन्न हुए दीक्षान्त समारोहों में भी देश के ख्यातनाम कलाकारों ने भाग लिया था। महान संगीतकार, वाग्गेयकार, गुरु डा. रातंजनकरजी को मेरा शत शत नमन...।

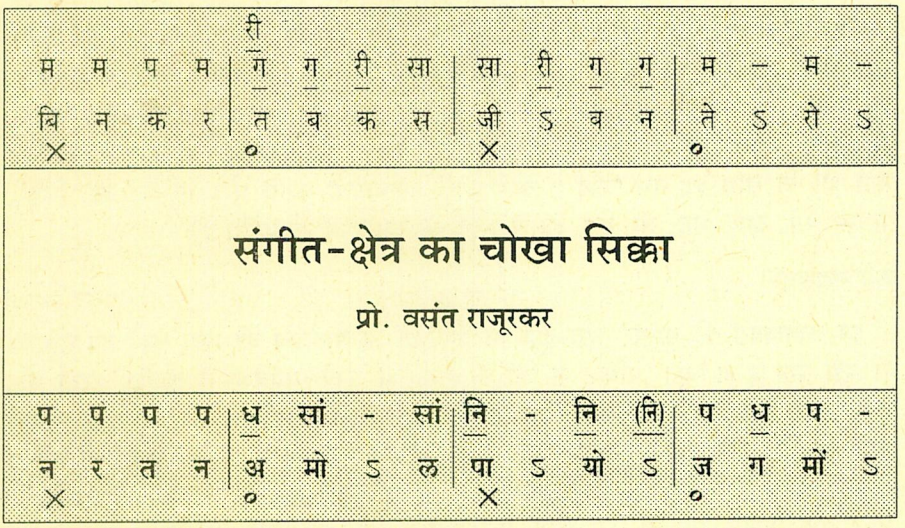

संगीत-क्षेत्र का चोखा सिक्का

प्रो. वसंत राजूरकर

(पं. राजाभैय्या तथा डॉ. रातंजनकरजी से घनिष्ठ संबंध। अण्णासाहब के शिष्य पं. प्रभाकर चिंचोरे से तालीम । हैदराबाद म्यूजिक कॉलेज में व्याख्याता, उपरांत संप्रति विजयवाड़ा शासकीय संगीत महाविद्यालय के प्राचार्य पद से अवकाश ।)

वैसे देखा जाए तो हमारा घराना संगीत का घराना तो नहीं है, फिर भी, चूंकि हमारे दादा कीर्तनकार थे, संगीत से थोड़ा-बहुत संबंध जुड़ ही गया; इसके सिवा, ग्वालियर घराने के गायक स्व. राजाभैया पूंछवाले हमारे पड़ोस में रहते थे, जिससे स्वभावत: संगीत से हमारा नाता स्थापित हो गया। साथ ही स्व. पं. विष्णु नारायण भातखंडेजी के अथक परिश्रम के फलस्वरूप ग्वालियर में सन् १९१८ में 'माधव संगीत महाविद्यालय' की स्थापना हुई। इस महाविद्यालय का समस्त कारोबार ही स्व. राजाभैया के हाथ में होनेसे, पास-पड़ोस के अनेक बच्चों को विद्यालय में दाखिल किया गया। साथ ही हमारे दादा कीर्तनकार थे, जिन्हें परंपरानुसार कीर्तन में संगीत का उपयोग हो सके इस उद्देश्य से विद्यालय में दाखिल किया गया। संयोग की बात यह कि मेरे पिताजी स्व. उमेश नारायण राजूरकर, अन्य ८ छात्रों की ही तरह सर्वप्रथम बैच में 'संगीत विशारद' उत्तीर्ण हुए। आगे चलकर मेरे चाचा स्व. गोविंदराव राजूरकर ने भी इसी विद्यालय से उपाधि प्राप्त करके संगीत को अपनी आजीविका के व्यवसाय के रूप में चुना और बाद में सन् १९४२ में मुझे भी गायन की पाठशाला में दाखिल कराया गया; वजह यह थी कि शाम को आवारागर्दी करनेकी अपेक्षा छोकरा कहीं तो फंसा रहेगा। इस प्रकार मैं संगीत का एक छात्र बन गया।

मेरी संगीत-सेवा का श्रेय मेरे मामा श्री. अनंत माधव कोठारी को देना पड़ेगा, क्योंकि मैं उन्हींके यहाँ रहा करता था। उनके यहाँ लोगों का आना-जाना, आतिथ्य पाना आदि आम बात थी, खासकर कलाकारों का आतिथ्य करने में मामा अतीव आनंद का अनुभव करते थे। मामा के यहाँ किसी कलाकार का आगमन होते ही मैं उनकी सेवा के लिए उपस्थित हुआ

ही करता था। उनके यहाँ बराबर आनेवाले कलाकारोंमें स्व.पं. एस्. एन्. रातंजनकर, डॉ. कुमार गंधर्व और पं. व्ही. जी. जोग विशेष उल्लेखनीय हैं। पं. रातंजनकर का निवास तो महीनाभर रहा करता था, जो मेरे लिए मानो एक पर्व ही था। उस समय मेरी आयु १०-१२ वर्ष की थी। आगे चलकर तो पं. रातंजनकर (जिन्हें हम सब 'अण्णासाहब' के नाम से संबोधित करते थे) के साथ हर वक्त कोई न कोई शिष्य भी आया करता था। श्री के. जी. गिंडे , श्री एस्. सी. आर्. भट, जी. एन्. दंताळे आदि के नाम इनमें उल्लेखनीय हैं।

कर्तव्यदक्षता

इन कलाकारों की मुझपर कृपा-दृष्टि थी और श्री अण्णासाहब की सेवा करने का सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हुआ था। अधिक से अधिक समय मैं उनके सान्निध्य में व्यतीत करता था। अण्णासाहब तृतीय वर्ष एवं 'संगीत विशारद' की परीक्षाओं के परीक्षक की हैसियत से प्रतिवर्ष आया करते थे। इस बहाने वे कम-से-कम एक महीना हमारे यहाँ ही ठहरते थे। इसी सिलसिले में सन् १९४४ में मैं भी तृतीय वर्ष की परीक्षा का परीक्षार्थी था, किन्तु इसी वर्ष मामाने मुझे अपने यहां आनेसे इसलिए मना किया कि मैं परीक्षार्थी था। किन्तु जब दो दिनतक मैं वहाँ नहीं दिखाई दिया तो स्वयं अण्णासाहब ने ही मेरे बारेमें पूछताछ करके मुझे बुला लिया। मुझे अचरज तो इस बात का था कि आखिर प्रात्यक्षिक परीक्षा के अवसर पर तो मैं अण्णासाहब के सामने आनेवाला ही था। किन्तु यह सही है कि अण्णासाहब को ये बातें पसंद नहीं आती थीं, जिसकी प्रतीति मुझे सन् १९५६ में हुई। उस वक्त मैं जयपुर में रहता था। अप्रैल महीने में ऑडिशन्स होनेवाले थे। श्री व्ही.आर्. आठवले (प्रोड्यूसर आकाशवाणी, जयपुर) के आग्रह पर मैं भी ऑडिशन के लिए एक उम्मीदवार था। किन्तु जब आठवलेसाहब को पता चला कि अण्णासाहब ही ऑडिशन के लिए आ रहे हैं तो उन्होंने मुझे संदेसा भेजा कि मैं अण्णासाहब से नहीं मिल सकूंगा। किन्तु जब स्वयं अण्णासाहब का पत्र ही श्री आठवलेजी को मिला कि उनका छात्र वसंतराव वहां है, उन्हें मेरे आनेका संदेसा दीजिए, तब वे विवश हुए और हम दोनों अण्णासाहब को लिवा लाने के लिए स्टेशन गए। उल्लेखनीय बात यह थी कि मैं रोज शामको घंटे दो घंटे के लिए अण्णासाहब के पास जाता, उनसे गपशप होती और कुछ बंदिशें सीख भी लेता। किन्तु मैंने कभी अण्णासाहब को यह मालूम नहीं होने दिया कि मैं ऑडिशन के लिए एक उम्मीदवार हूं। किन्तु जिस दिन मेरा ऑडिशन था, उस दिन रोज की तरह शामको मैं अण्णासाहब के पास गया तो देरतक वे मुझसे कुछ भी बोले नहीं और फिर झुंझलाकर उन्होंने कहा -"मुझे मालूम नहीं था कि तुम ऑडिशन दे रहे हो, वरना मैं तुम्हें मिलनेसे मना ही करता।" इतना कहकर वे फिर चुप रहे। कुछ देर बाद मैंने ही उनसे कहा कि मैंने भी कभी यह बात आपसे नहीं कही। तब उन्होंने कहा – "वह सब ठीक है, मगर लोग इसका गलत अर्थ लेते हैं।" इसके बाद यों ही घंटाभर वहां बैठकर मैं वहांसे चल दिया और फिर जयपुर में अण्णासाहब से नहीं मिला। अर्थात् कहने की आवश्यकता नहीं, कि अण्णासाहब का रोष उसी समयतक के लिए था।

परीक्षा लेने की अण्णासाहब की पद्धति का स्मरण होते ही आज भी मेरा रोम रोम कांप उठता है। अण्णासाहब परीक्षा के सिलसिले में ग्वालियर आनेवाले हैं यह सूचना पाते ही सब के मन में एक प्रकार की घबराहट पैदा होनेके साथ ही उन्हें खुशी भी होती थी। खूब जांच-परख

कर परीक्षा होती थी, न केवल छात्रों की, बल्कि उसके साथ ही शिक्षकों की भी। और इसीलिए उनकी परीक्षा-पद्धति देखने और परीक्षा के प्रश्नोत्तर सुनने के लिए स्वयं शिक्षक भी उपस्थित रहा करते थे। विविध प्रकार से परीक्षा ली जाती थी। दो छात्र एक साथ परीक्षा के लिए बैठते थे। हर छात्र से रागविस्तार करने के लिए कहा जाता था, वह भी सीधे-सादे रागोंका नहीं। एक को हमीर का विस्तार तो दूसरे को केदार का। देस-तिलक कामोद, बसंत-परज अथवा पूरियाधनाश्री जैसे समकक्ष रागों का विस्तार करना छात्रावस्था में कितना मुश्किल होता था, कहना कठिन है। यथा "गम रेसा (गंधार कोमल) इन स्वरों में बहार, मिया मलार, दरबारी, अड़ाणा राग कैसे पेश करेंगे?" "केवल गंधार इस तरह गाकर दिखलाओ कि तोड़ी और मुलतानी साफ साफ दीखने चाहिए।" इ.। इस प्रकार अनेक बातें ध्यानमें आईं। तत्पश्चात् उस जमानें में शिक्षक-वर्ग उसी प्रकार से शिक्षा दिया करते थे। ठीक सरगम, लक्षण गीत, ख्याल (विलंबित, द्रुत), ध्रुपद, धमार, तराना हर एक राग में सिखाने की पद्धति प्रचलित हो गई थी। (तराना सिर्फ कुछ ही रागों में और ध्रुपद, धमार प्रत्येक राग में।) और अण्णासाहब यह सब परीक्षा में पूछ लिया करते थे। किसी भी गाई जानेवाली बंदिश में वे गलती को अचूक पकड़ लेते थे। पाठ्य पुस्तक की बंदिशें उन्हें बिलकुल कणस्वरों के साथ मुखोद्गत थीं। परीक्षा में उनके द्वारा गाकर दिखाए गए स्वरों के आधार पर राग को पहचानना छात्रों के लिए तो कठिन परीक्षा थी ही, किन्तु शिक्षकों के लिए भी वह विचार-प्रवण करनेवाली बात थी। अण्णासाहब परीक्षा के दौरान अप्रत्यक्षत: कई बातें सिखाते जाते और अभ्यास के लिए बाध्य करते। इसीलिए उस जमाने में कहा जाता था कि अण्णासाहब की कसौटी पर खरा उतरनेवाला 'विशारद' का छात्र एक घंटे की महफिल को सहज ही में सफल संपन्न कर सकता है।

निरंतर कार्यरत

मैंने सदैव अनुभव किया है कि हमारे अण्णासाहब निष्क्रिय बैठना जानते ही न थे। संगीत के उनके छात्र या उनके किसी चाहनेवाले के दृष्टिसम्मुख आते ही वे उसे तुरंत आदेश दे देते – "कागज पेन्सिल ले लो और लिखो।" वे एक साथ ही स्वयं कहते जाते, गाते जाते और तुरंत नोटेशन भी बताते जाते और आधे घंटे के भीतर ही एक बंदिश तैयार हो जाती। इस वक्त अगर श्री. गिंडे साहब यहाँ उपस्थित हों तो ठीक है, अन्यथा उन्हें उसकी एक प्रति भिजवानेका आदेश दिया जाता। इसी तरह किसी समय तैयार की गई बंदिश, यदि उस वक्त कोई छात्र अनुपस्थित रहा हो, तो जहां भी और जब कभी उससे उनकी भेंट होती वहां सिखाते थे।

सन १९५६ में जब मैं उनसे रोज़ मिलता था, तब उन्होंने स्मरणपूर्वक मुझे चंद्रकौंस राग की 'चमके चंदा विकसे कुमुदिनी' बंदिश मुझें सिखाई थी। ऐसे ही एक बार अण्णासाहब सन १९५३ में जब ग्वालियर आए थे, हमारे गुरुजी के यहाँ ठहरे थे। सवेरे घूमने जाने का उनका अभ्यास था। दो दिन मैं भी उनके साथ घूमने गया था। एक दिन घूमकर वापस आते ही उन्होंने मुझसे कागज-पेन लेनेको कहा और एक बंदिश तैयार की। बंदिश का चक्र शायद उनके मस्तिष्क में घूमने के दौरान ही चल रहा होगा। 'जस रहे नाम रहे' कुकुभ की यह बहुत ही खूबसूरत बंदिश थी। एक बार 'तानसेन उर्स' के सिलसिले में जब हम ग्वालियर आए थे तब हमें इतनी खुशी हुई कि मानो बंदिशों की खान ही हाथ लगी हो। अर्थात् उस वक्त श्री गिंडेसाहब, श्री भटसाहब, श्री चिंचोरेसाहब, श्री बाळासाहब आदि हम सब वहाँ उपस्थित

रहा करते थे और लगता था कि मानो कक्षा ही चल रही हो। राग खट 'पार नहीं गुण को', ध्रुपद 'ये हो कैसी होरी रची', धमार, राग गौरी 'दूर करो मुश्किलात', राग यमन, 'करीम करतार' जैसी अनेक बंदिशें हमें सीखने को मिलीं।

ऐसी ही, १९५५ की बात है। अण्णासाहब का नेशनल प्रोग्राम था, श्री बाळासाहब उनकी साथ-संगत करनेवाले थे; उनके साथ मैं भी गया था। हम श्रीमती मुटाटकर के यहीं ठहरे हुए थे; श्री चिदानंद नगरकर भी बंबई से आ पहुँचे थे। रोज सुबह संगीत की कक्षा और नेशनल प्रोग्राम की तालीम साथ साथ चलती थी। संगत के लिए स्व. चतुरलाल आया करते थे। राग नट बिहाग और रागेश्री चालू रहते थे और इसी समय हमें इन रागों की नई बंदिशें भी प्राप्त हुईं; किन्तु बिलकुल नई और विशेष पद्धति की जो बंदिश हमारे स्मरण में है वह है बहार की - 'करत केलि कुंजन में कन्हैया।' उस दिन उस बंदिश को पाकर हमें यह प्रतीत हुआ कि हम सबने कोई अनमोल वस्तु पाई हो।

ऐसा कोई भी राग नहीं है कि जिसमें अण्णासाहब ने बंदिश न बनाई हो। बड़े बड़े कलाकारोंने भी उनसे बंदिशें बँधवाई हैं। ये बंदिशें बिलकुल परंपरागत जैसी प्रतीत होती हैं, क्योंकि मेरी उपस्थिति में ही यमन की बंदिश 'करीम करतार' उन्होंने सुनाई और ग्वालियर के ही एक कलाकार से पूछा - ''क्यों, है कि नहीं 'ग्वालियर?''' उनकी कई बंदिशें स्व. भातखंडेजी ने अपने क्रमिक ग्रंथों में समाविष्ट की हैं। 'बँधा समां' बंदिश तो एक ही तरह की शब्दावली के साथ खट और मारवा ठाट के विभास राग में बँधी हुई है। स्व. गजाननराव जोशी की प्यारी बंदिश - खमाजकी 'सखी सांवरो' - गाये बिना राजाभैय्या महफिल को समाप्त करने ही नहीं देते थे। 'आवो, गावो, गावो रिझावो' यह पंचम की बंदिश पं. कुमार गंधर्व ने कुंदगोळ में इस प्रकार जमाई कि क्या बात है? कौंसी कानड़ा 'काहे करत मोसे', नारायणी 'बमनारे विचार', 'सहलेरिया' आदि अनेक बंदिशों की देन संगीत-जगत् को उनसे प्राप्त हुई है।

महफिल के शेर

जब मैं जोधपुर में था, संगीत-क्षेत्र के मेरे एक मित्र ने, जिसका अण्णासाहब से परिचय नहीं था, ऐसे ही गपशप में प्रकट किए गए उद्‌गार आज भी मेरे स्मरण में हैं - ''अरे यार, वो तो महफिल के शेर हैं।'' कहते हैं कि ग्वालियर में अण्णासाहब की जितनी बैठकें हुईं उतनी अन्यत्र कहीं नहीं हुईं। यह स्वाभाविक भी है। क्योंकि एक तो अण्णासाहब का डेरा ग्वालियर में ही अधिक मात्रा में हुआ करता था, लोग उनका गाना सुनने के लिए उत्सुक रहा करते थे और अण्णासाहब संगीत के इतने दीवाने थे कि वे या तो तालीम देते, बंदिशें बनाते या गायन-प्रस्तुति करते थे। दूसरी ओर ग्वालियर के लोगों की अण्णासाहब के प्रति अपार भक्ति थी। ४-५ महफिलें तो निश्चित ही संपन्न हुई थीं। एक स्व. मुले साहब के यहां, एक राजाभैय्या के यहां, एक श्री. ओदक साहब के यहां और एक हमारे यहाँ। हमारे यहां महफिल संपन्न होने का मुख्य कारण यह था कि हमारे यहाँ दिसंबर में तीन दिन तक मच्छिन्द्रनाथ का उत्सव मनाया जाता था। इनमें से तीसरे दिन गायन का कार्यक्रम हुआ करता है जिसमें हर साल राजा भैय्या गाया करते थे। आज भी बाळासाहब ने वही परंपरा चालू रखी है। अण्णासाहब परीक्षा के सिलसिले में दिसंबर में ही आया करते थे और इसी कारण हमारे यहां भी उनकी महफिल हुआ करती थी। मैंने उनकी अनेक महफिलें सुनी हैं। उनकी महफिलों के माध्यम

से बंदिशों का विन्यास, राग का विविध रूपों में विस्तार सीखने को मिलता था। कोई भी राग, चाहे वह पांच स्वरों का हो या सात स्वरों का संपूर्ण हो, अण्णासाहब उसकी रचना इतनी सहजता एवं कुशलता से करते थे कि श्रोता अचंभे में पड़कर कहते कि "अरे इस राग में इस तरह से भी रचना हो सकती है! - " विद्वत्तापूर्ण गायन और सो भी कितना सहज! मैंने उनका मालश्री राग भी सुना है। सभी विस्तार षड्ज, गंधार एवं पंचम और ईषत् मध्यम निषाद का प्रयोग होते हुए भी 'मखदूमसाहब' यह बंदिश अत्यंत सहजता से पल्लवित करते थे। इस संदर्भ में एक विख्यात हार्मोनियम वादक के ये उद्‌गार लक्षणीय हैं - "कोई भी राग शास्त्रीय ढंग से सुनना या सीखना हो तो रातंजनकरजी के शिष्यों से ही सीखा जाए।"

अण्णासाहब एक प्रकार से संगीत के क्षेत्र का चोखा सिक्का था। हमने अण्णासाहब को एक शिक्षक, परीक्षक, कलाकार, लेखक, वाग्गेयकार आदि विविध रूपों में देखा है। जिन जिनको उनके ये सब रूप देखने को मिले वे तो सचमुच भाग्यवान हैं और इसलिए मैं स्वयं को भी अतीव बड़भागी समझता हूँ कि उनके सान्निध्य में रहने का, उनकी सेवा करने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ। उनके अंतिम दिनों में भी, जब मैं उनकी सेहत का समाचार पूछने उनके यहाँ गया था, उन्होंने अत्यंत आत्मीयता से पूछा - "क्या 'गीत मंजरी' का अध्ययन जारी है न?" उसी क्षण मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। उसके पश्चात् अण्णासाहब से कभी भेंट नहीं हो सकी, किंतु आज भी उनकी वे स्मृतियाँ मन में जागृत हैं। 'अभिनव गीत मंजरी' का अध्ययन भी जारी है, सीखी हुई बंदिशों का पारायण भी चालू है, इतना ही नहीं तो छात्रों को भी बंदिशें सिखाना चालू है। उन दिनों का स्मरण होते ही सोचने लगता हूँ, क्या वे दिन पुनः लौट आएंगे? क्या ऐसा व्यासंगी व्यक्ति फिरसे पैदा होगा? अंत में इन प्रश्नों का एक ही उत्तर मिलता है-

"हुए हैं बहुत, होंगे भी बहुत, मगर आप-सा कोई नहीं!"

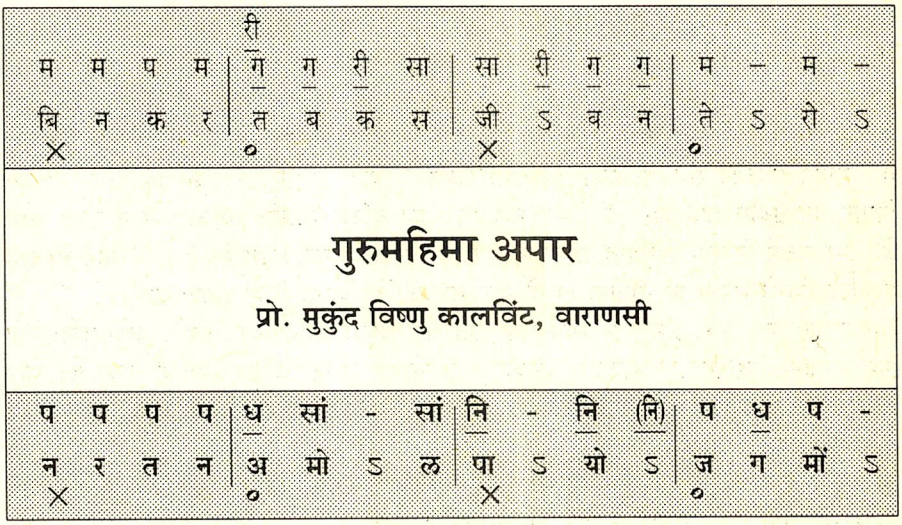

(अण्णासाहब के स्नातकोत्तर छात्र । वहींपर भातखंडे कॉलेज में गायन के अध्यापक रहे। तत्पश्चात् वाराणसी के बेजंट कॉलेज के प्रोफेसर के रूप में अवकाशग्रहण।)

किसी भी महान व्यक्ति से यदि ममत्व का, अपनत्व का सम्बन्ध जुड़ जाता है तो एक अद्‌भुत आनंद होता रहता है जीवन में। अण्णाजी के विषय में भी ऐसा ही और प्रथम दर्शन में ही घटित हुआ। प्रथमा से लेकर पंचम वर्ष (संगीत रत्न) कक्षा तक परीक्षक के रूप में वे ग्वालियर आते रहे और जब भी परीक्षा भरी तो प्रेम से मुझसे कहते- "तुम विष्णुबुवा के पुत्र हो न? हम उनको खूब जानते हैं!!" इस कथन से मेरा हृदय भर जाता था और यह विधान बीज के रूप में प्रगट हुआ और उनके प्रति मेरा आकर्षण बढ़ता ही गया।

जब जब पूज्य अण्णाजी परीक्षा कार्य के लिए ग्वालियर पधारते थे तब तब उनका वास्तव्य वहाँ लगभग महीनाभर रहता था। हम ग्वालियर के संगीत-विद्यार्थियों के लिये उनका यह वास्तव्य एक पर्व के रूप में फलीभूत होता था, क्योंकि गुरुवर्य राजाभैयाजी इस वास्तव्य का पूर्णरूप से लाभ उठाते हुए प्रत्येक बार एक यज्ञ के रूप में प्रतिदिन कहीं न कहीं पूज्य अण्णाजी के गायन की बैठक का आयोजन करते ही थे, जिससे हम विद्यार्थियों को पर्याप्त लाभ हो सके और हम सब विद्यार्थीगण इस आयोजन का लाभ उठाने से कभी भी वंचित नहीं रहते थे। फलत: इन कार्यक्रमों को सुनकर हम सब विद्यार्थियों के सांगीतिक दृष्टिकोण में काफी प्रगति होती गई।

इतना ही नहीं, पूज्य अण्णाजी के इन कार्यक्रमों को नियमित रूप से सुनकर हमारे जैसे कई एक विद्यार्थियों की इस गायकी को अपनाने की प्रवृत्ति बढ़ती गई तथा चन्द विद्यार्थियों में इस गायकी को आत्मसात् करने की उत्सुकता एवम् जिज्ञासा भी बढ़ती गई, जिनमें से मैं भी एक था। हमारे घर की अनुकूल परिस्थिति न होते हुए भी पिताजी के पास हठ करते हुए इन कठिनाइयों के बावजूद सन १९३६ के अगस्त महीने में पूज्य अण्णाजी के पास उच्च

शिक्षण लेने के लिये लखनऊ जाने में सफल हो ही गया। ग्वालियर में परीक्षक के रूप में वे जब भी पधारते तो शेरवानी, चूड़ीदार पाजामा, टोपी पहने तथा गले में मफलर लटकाए पोशाक से सुसज्जित यह वामन मूर्ति आज भी मेरे मानस पटल पर से हट नहीं सकती।

—१—

मेरे लखनऊ के वास्तव में विशेषत: दो बार गुरुवर्य राजाभैयाजी के साथ तथा कई बार पूज्य अण्णाजी के साथ साधक-बाधक प्रश्नोत्तरी हुई, जिसका संक्षेप में विवरण इस प्रकार है :

जब हमारे पास पर्याप्त धन न हो, पिताजी से केवल रुपये २० प्राप्त किए हों और भाग्य ने साथ देकर एक आध ट्यूशन दिलाकर लखनऊ में स्थिर कर दिया हो, ऐसे समय दिसम्बर मास में परीक्षक के रूप में जब गुरुवर्य राजाभैय्या लखनऊ पधारते हैं और कहते हैं - "अरे बेटा! दो ट्यूशन कम करना किन्तु अपनी संगीत-साधना में निरंतर रत रहना।"

मैं मन ही मन घबराता हूँ और उस कथन को दोहराता हूँ। आज भी वह कथन दोहराता रहता हूँ, क्योंकि वह कथन उस समय जितना कटु सत्य था उतना ही पूर्णरूप से मार्गदर्शक भी था।

अब मेरी व्यक्तिगत तालीम गुरुवर्य अण्णाजी के चरणों में रहकर शुरू होती है और वे मुझसे कहते हैं:

"देखो! तुम 'संगीत रत्न' प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए हो जिसके लिये मैं तुम्हें हार्दिक बधाई देता हूँ। फिर भी, मैं 'षड्ज' साधन से ही तुम्हारे शिक्षण का प्रारम्भ करूंगा, ध्यान देकर सीखना।"

इस कथन को सुनकर मेरी आंखें खुल गईं और लगातार ३-४ वर्षोंतक इस प्रकार क्रमेण शिक्षण पाकर जो प्रगति एवं सांगीतिक विचारों की वृद्धि मुझमें हुई, और जिसकी मुझे तिलमात्र कल्पना भी नहीं थी वह प्रत्यक्ष आचार में परिणत हुई। मेरे पिताजी ने तब मुझसे कहा कि "देख बेटा, सही सही मार्गदर्शन के साथ शिक्षण पाने का क्या प्रताप होता है।"

इसी कालावधि में एक बार गुरुजी ने मुझसे कहा, "तुम्हें सीखने के साथ साथ इस विद्यालय में शिक्षक के रूप में भी काम करना होगा।" यह सुनकर मैं सुन्न हुआ और मैंने गुरुजी से कहा, "मुझे संगीत में कुछ भी नहीं आता और ऐसी परिस्थिति में मैं क्या सिखा सकूंगा!!" इसपर गुरुजी ने तुरन्त कहा कि, "उसकी तुम चिंता बिलकुल नहीं करना; जो भी तुमने सीखा है उसपर मनन करते हुए ध्यान देकर सिखाते रहना; बाकी बातें मुझपर छोड़ देना"। उनका यह प्रोत्साहन मेरे लिये एक वरदान सिद्ध हुआ। तालीम के साथ साथ 'टीचर्स ट्रेनिंग' का भी प्रशिक्षण प्राप्त करने का महान् लाभ गुरुजीद्वारा ही मुझे मिला। गुरुजी यथासमय मेरी कक्षा में आते और मेरी त्रुटियाँ दूर करते हुए मुझे योग्य मार्गदर्शन करते रहते, जिसके फलस्वरूप मैं कुछ ही समय में एक योग्य शिक्षक सिद्ध हो सका। अपने शिष्यों को आगे लाने में वे कितने तत्पर रहते थे, यह इस प्रसंग से भली भाँति सिद्ध हो जाता है। इन छ: वर्षों में 'विशारद' की कक्षा तक पढ़ाने योग्य मेरी प्रगति भी हुई।

—२—

इस प्रगति-पथ पर चलते हुए भी थोड़ा-सा अहंभाव भी मुझमें आ जाना स्वाभाविक था। उसका क्षालन होना था, जिसके कारण एक दिन मैं गुरुजी से प्रश्न कर बैठा, "गुरुजी, विद्यालय-द्वारा आयोजित संगीत-कार्यक्रमों में मेरा नाम क्यों नहीं कभी रखा जाता?" इसपर गुरुजी तुरन्त बोले, "क्या तुम अपने आपको महफिल में रंग जमा सकने के योग्य समझते हो?" इसपर मैंने अपना धीरज इकट्ठा करते हुए उनसे कहा, "यह तो आप स्वयम् भी कह नहीं सकते!" मेरा यह कथन सुनते ही गुरुजी शान्त हो कर चुप हो गए। स्पष्ट वक्तव्य सुन लेने की तथा उनके विशाल हृदय की कल्पना मुझे उस समय पूर्ण रूप से हुई। कुछ ही दिनों बाद विद्यालय में एक संगीत कार्यक्रम किया गया था। उसी संदर्भ में उनकी ओर से मुझे लिखित सूचना मिली, जिसमें लिखा था कि उस कार्यक्रम में मेरा नाम भी रखा गया है। इस प्रकार मैंने अपना गायन उक्त कार्यक्रम में प्रस्तुत किया भी। गायन सुनकर मुझे तुरन्त कहा, "वाह, तुमने खूब अच्छा गाया और रंग भी जमाया।" इसपर मैंने कहा, "यह सब आप ही की तो कृपा है, मेरे पास आपके इस प्रसाद के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है।" इतना सुनकर गुरुजी शान्त होकर मुस्कुराए। यही आशीर्वाद मेरे जीवन का एक अमूल्य क्षण मैं समझता हूँ। कुछ समय के पश्चात् एक अन्य कार्यक्रम का विद्यालय में आयोजन किया गया था। उस कार्यक्रम के अवसर पर गुरुवर्य राजाभैयाजी भी उपस्थित थे। इस कार्यक्रम के बाद मेरे गुरुबन्धु की तारीफ हुई, मेरी नहीं। मैं खिन्न हो गया। गुरुवर्य अण्णाजी के कमरे में कई लोग बैठे हुए थे। उस समय गुरुवर्य राजाभैयाजी ने कान पर हाथ रखते हुए मुझसे कहा, "अरे बेटा, थोड़ा ही गाओ मगर सुर में गाते रहो"। उनके इस उद्गार को सुनते ही मैं स्तब्ध हो गया और मुझमें का अहंभाव अपने आप गुरुजनों द्वारा मिटाया गया। मेरे भविष्य के लिए, यह घटना भी एक वरदान के रूप में सिद्ध हुई। उसी समय गुरुवर्य अण्णाजीने राजा भैयाजी की ओर मुड़कर कहा, "भैया, आप इसे ग्वालियर वापिस बुलवा लीजिए।" उनके इस कथन में मुझे गुरुजी की नाराजगी स्पष्ट रूपसे दिखाई दी। राजाभैयाजी गुरुजी से तुरन्त कह बैठे, "नहीं नहीं, गोबर गिरा ही है तो मिट्टी लेकर ही उठेगा।" इस घटना का आज भी मैं जब स्मरण करता हूँ तो मुझे अपने आप बहुत कुछ मार्गदर्शन मिलता रहता है।

—३—

मेरे लखनऊ के वास्तव्य की कालावधि में एक और स्मरणीय घटना हुई, जो कि इस प्रकार है :-

मेरी शादी निश्चित हुई थी और मुझे छुट्टी की आवश्यकता थी। एक शिक्षक के नाते मैंने गुरुजी से प्रधानाचार्य के रूप में एक दिन कहा, "मेरी शादी निश्चित हुई है, मुझे दस दिन की छुट्टी चाहिए।" प्रधानाचार्य के रूप में गुरुजी तुरंत बोले, "छुट्टी नहीं मिल सकती।" इतना कह कर चुप हो गए और अधिक कुछ भी नहीं कहा। उसपर मैंने उनसे कह ही दिया कि "मैं तो जाऊँगा ही" और गया भी। गुरुजी चुप ही रहे और कुछ भी नहीं बोले। मैं शादी कर जब वापस आया और उनसे मिला तब मैंने डरते हुए और कुछ घबराकर पूछा, "मेरी छुट्टी का आखिर क्या हुआ?।" गुरुजी जोर से हंस पड़े और कहने लगे, "जाओ,

तुम्हारी छुट्टी मंजूर हो गई है, मौज करो'' कहकर मुझे प्रसन्नतापर्वक बधाई दी। विद्यार्थियों के प्रति ऐसा स्नेह और आत्मीयता गुरुजी द्वारा पूज्य अण्णाजी जैसे गुरुजनों से ही मिल सकती है, और ऐसे गुरु मिलना भी भाग्य की बात है।

शादी के पश्चात् मैं स्वतंत्र रूप से अपनी धर्मपत्नी के साथ रहने लगा, जिसके कारण नियमित रूप से गुरुजी से शिक्षा नहीं ले पा रहा था। गुरुजी का जहां भी गायन होता और आकाशवाणी पर से जो भी कार्यक्रम होते, उन्हें अत्यंत ध्यानपूर्वक सुनता और उसी प्रकार अभ्यास करता रहता। उन रागों का हूबहू स्वरूप जब तक आत्मसात् नहीं होता, तब तक अन्य रागों का विचार तक नहीं करता, ऐसा एक क्रम ही मैंने बना लिया। इसके अतिरिक्त, जब भी मेरी क्लास नहीं रहती तब उनके द्वारा सिखाई जानेवाली क्लास की शिक्षा मैं उनकी कक्षा के बाहर खड़े होकर सुनता रहता और इसे भी आत्मसात् करता रहता। यही मेरा कार्यक्रम बन गया। उनके गाए हुए रागों की मैं जब भी याद करता हूँ तो उनकी गायकी की बारीकियाँ ताजा होकर सामने आती हैं और मेरी संगीत-साधना में प्रेरणादायक सिद्ध होती हैं।

पूज्य अण्णाजी ने एक दिन मेरे एक गुरुबन्धु से कहा,- ''बुवा (गुरुजी मुझे सदैव इसी नाम से सम्बोधित करते थे) तो अब खाने-कमाने में लग गए, अब तो सब ठीक ही ठीक है!!'' यह बात जब मेरे कानों पर आई तब मैंने तुरंत गुरुजी के पास जाकर उनके चरण छूकर उनसे स्पष्ट रूप से कह दिया कि, ''यद्यपि मैं गृहस्थी जीवन में व्यस्त हूं तो भी प्रथम अपनी संगीत-साधना पर अत्यावश्यक ध्यान देता हूँ और उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं आने देता; इसको सम्हालते हुए फिर जीवन की अन्य आवश्यक बातों पर ध्यान देता हूँ।'' यह सुनकर गुरुजी बोले, ''ठीक।'' यह सुनकर मैं संतुष्ट तथा निश्चिंत हुआ।

—४—

पूज्य अण्णाजी अपने शिष्यों को सदैव कहा करते थे ''अपनी तालीम के अतिरिक्त अच्छे अच्छे विद्वान् एवम् गुणी कलाकारों का गायन-वादन भी सुनते रहना चाहिए।'' हमारे सौभाग्य से गुरुजी के निजी व्यक्तित्त्व के कारण विद्यालय में समय समय पर ऐसे विद्वान कलाकार अवश्य आते रहते और अपने कार्यक्रम देते रहते थे, जिससे हमारे जैसे कई विद्यार्थियोंको लाभ हुआ है। इसी संदर्भ में, एक बार उस्ताद बुंदू खां सारंगीनवाज का विद्यालय में कार्यक्रम हुआ। उस कार्यक्रम को मैंने बहुत ही तन्मयता से सुना और उनकी तान की प्रक्रिया से मैं अति प्रभावित हुआ। उसे अभ्यास द्वारा मैंने अपने कण्ठपर चढ़ाकर अपनी गायकी में उसका समावेश करने में कुछ हद तक सफलता प्राप्त की। मेरे एक कार्यक्रम में, जिसे सुनने गुरुवर्य अण्णाजी भी उपस्थित थे, मैंने उस तान-प्रक्रिया का भी प्रदर्शन करने का प्रयत्न किया था। दूसरे दिन गुरुजी ने मुझे बुलाकर कहा, ''कल तुम्हारे गायन में बुंदू खाँ साहब की सारंगी की तानें बोल रही थीं। यह सुनकर मैं स्तब्ध और घबराया-सा रहा। इसपर गुरुजी का मंतव्य किस प्रकार का सुनने मिलता है, जानने की उत्सुकता बढ़ गई। मुझे डरा हुआ-सा देखकर वे तुरंत बोले, ''घबराओ नहीं, तुमने अच्छा प्रयत्न किया है। अपने गायन में विविधता लाना अत्यावश्यक है; परन्तु इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि जो बातें अपने अंगस्वभाव तथा गले के अनुकूल हों, उन्हींको अपनाना चाहिए। इसीसे अपनी कला समृद्ध होती रहती है।'' यह सुनकर मेरा आत्मविश्वास और भी बढ़ा। गुरुजी की विशालता की कल्पना इस प्रसंग से स्पष्ट होगी। समय समय पर

इस प्रकार की सूचनाएँ मिलते रहनेके कारण हम सब विद्यार्थियों के लिये पूज्य अण्णाजी एक प्रेरणा-स्रोत थे; जिससे पर्याप्त रूप में हम सब विद्यार्थी लाभान्वित हुए।

-५-

एक बार गुरुवर्य राजाभैयाजी के गायन का कार्यक्रम बनारस की 'थिओसोफिकल सोसायटी' की ओर से निश्चित हुआ था। उस कार्यक्रम में गायन में उनकी संगत करने के लिये वे पूज्य अण्णाजी की सहमति लेकर मुझे अपने साथ बनारस ले गए। उस समय उनके सुपुत्र बाळासाहेब पूंछवाले बनारस में ही बसंत महिला कॉलेज में संगीत-शिक्षक के पद पर नियुक्त थे। अत: गुरुजी को गायन में संगत करने हेतु मैं और बाळासाहेब तानपूरे लिए उनके पीछे बैठे थे। गायन तो प्रभावी हुआ ही, किन्तु श्रोताओं ने हम दो शिष्यों की भी प्रशंसा की। उसपर गुरुवर्य राजाभैयाने लोगों से कहा कि यह तो मेरे माधव संगीत विद्यालय के ही हैं। गुरुवर्य मेरी प्रगति देखकर प्रसन्न हुए और उन्होंने खूब आशीर्वाद भी दिए।

इसी दरमियान, किसी कारणवश श्री. बाळासाहब अपने संगीत-शिक्षक के पद से निवृत्त होकर ग्वालियर वापिस चले गए जिससे वहाँ एक योग्य शिक्षक की आवश्यकता थी। यह जानकारी मुझे प्राप्त हुई। अतएव मैंने बनारस के हमारे एक सुहृद, श्री महादेवराव सामंतजी, को एक पत्र लिखकर मेरी नियुक्ति उस पद पर करवाने के लिये प्रयत्न करने की बिनती की; क्योंकि लखनऊ विद्यालय में मिलता हुआ वेतन मेरे पारिवारिक जीवन-निर्वाह के लिये बहुत ही कम था। मेरी विनंती पर श्री सामंतजी ने उस कॉलेज के प्रधानाचार्य को मेरी जानकारी दी। जिसके परिणाम के रूप में उक्त प्रधानाचार्य ने पूज्य अण्णाजी के नाम लखनऊ एक पत्र लिखकर उस पद के लिये मेरी माँग की, जिसकी जानकारी मुझे बिलकुल न थी।

एक दिन गुरुवर्य अण्णाजी के दफ्तर में रजिस्टर में अपनी हाजिरी हेतु हस्ताक्षर करने गया, तो गुरुजी ने मुझे देखकर बैठने को कहा और मुझसे पूछा, "क्या तुमने कहीं पर आवेदन पत्र दिया है?" मैंने तुरंत उत्तर दिया, "जी नहीं"। किंचित् क्रोध में आकर बोले, "तुम झूठ बोल रहे हो।" उसपर मैंने उनसे कहा, "क्या मैं आपसे कभी झूठ बोल सकता हूँ?" इसपर थोड़े शान्त होकर बोले, "क्या तुम कहीं अन्यत्र जाना चाहते हो?" मैंने उत्तर दिया, "जी हाँ"। तुरंत उन्होंने पूछा, "क्यों?" मैंने तुरंत कहा, "आप तो मेरी परिस्थिति भली भाँति जानते ही हैं।" इतना सुनते ही गुरुजीने कहा, "तुम उक्त प्रधानाचार्य को पत्र लिखकर मालूम करो कि वहाँ तुम्हें किस प्रकार का कार्य करना होगा और उसके लिये कितना वेतन मिलेगा।" इतना कहकर गुरुजी एक महीने के दौरे पर चले गए। वापिस आते ही मुझे बुलवाकर पूछा, "तुम बनारस जाना ही चाहते हो? क्या तुम्हारा गाना उन्होंने सुना है?" उसपर मैंने इतना ही कहा कि कुछ समय पूर्व गुरुवर्य राजाभैयाजी के साथ मैं गया था, तब उनकी गायन-संगत करते हुए मुझे उन्होंने सुना है। गुरुजी बोले, "ठीक है, फिर भी यदि मैं तुम्हें न भेजूँ तो?" इतना सुनते ही मैंने तुरंत कहा, "आप केवल एक बार अपने मुख से कहें कि बुवा, तुम्हारी मुझे आवश्यकता है, तुम नहीं जाओगे।" इतना सुनते ही कुछ क्षण गुरुजी स्तब्ध रहे, दो आंसू की बूंदें उनके नेत्रों से अनायास निकल पड़ीं और कहने लगे, "यह तो टेढ़ी खीर है" इतना कहकर उन्होंने उक्त प्रधानाचार्य के नाम अपनी ओर से अनुमति की सूचना तार द्वारा दी। ऐसा था अपने शिष्यों के प्रति उनका प्रेम!

मेरा लखनऊ के वास्तव्य का अंतिम गाने का कार्यक्रम विद्यालय में ही विद्यार्थियों की ओर से ३१ अगस्त १९४८ के दिन निश्चित किया गया था। वह कार्यक्रम गुरुजी सुनकर वापिस अपने कमरे में आ गए थे। मैं भी उनके पीछे पीछे जाकर उनके सामने उपस्थित हुआ। मुझे देखकर एकाएक उनके मुख से आशीर्वचन निकल पड़े, "वाह बुवा, आज तो मियांमलार के स्वर जर्रे जर्रे में बोल रहे थे।" मैंने कहा, "यह सब आपके चरणों की कृपा है और यही मेरा बल है।" इतना कहते हुए मैंने उनसे बिदा ली और १-९-१९४८ को बनारस के लिये रवाना हुआ।

—६—

वाराणसी में सन १९४८ से १९५९ की कालावधि में भी एक ऐसा ही प्रसंग हुआ जिसमें प्रत्यक्ष रूप में गुरुजी के अंतिम आशीर्वाद पाने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ जो आजतक मेरे जीवन के लिये प्रेरणादायक रहा है।

दिल्ली के आकाशवाणी केन्द्र ने मुझे कार्यक्रम देने के लिये आमंत्रण भेजा था और मुझे वहां से कार्यक्रम प्रसारित करने दिल्ली जाना था। उसी समय मेरे मन में आया कि दिल्ली पहुंचने से पूर्व लखनऊ जाकर गुरुजी के चरणस्पर्श कर उनसे आशीर्वाद लूं। परंतु किसी कारणवश यह सम्भव न हो पाया। फिर भी, मैंने गुरुजी को एक पत्र भेजकर उनसे इस कार्यक्रम की सफलता के लिये उनके आशीर्वाद की याचना की और मनोमन उनके चरणस्पर्श किए तथा मानसिक संतुष्टता के साथ दिल्ली के लिये रवाना हुआ। दिल्ली पहुंचते ही सीधे मेरी गुरुभगिनी, डॉ. सुमति मुटाटकरजी के निवास-स्थान पर पहुँचा और उनके नाम आवाज़ दी। उत्तर में जानी-पहिचानी आवाज आई, "अरे, आओ बुवा।" देखता हूँ तो गुरुजी वहां बैठे हैं। उन्हें वहां देखकर मेरी जो मनस्थिति हुई, उसका शाब्दिक वर्णन करना कठिन है। तुरन्त उनके चरणस्पर्श करते हुए मैंने कहा, "मैंने आपके नाम लखनऊ एक पत्र भेज कर इस कार्यक्रम के विषय में आपको सूचना देते हुए आपके आशीर्वाद की याचना की थी, किन्तु मेरा अहोभाग्य कि आपके प्रत्यक्ष दर्शन करने का सौभाग्य मुझे मिला।" यह सुनते हुए वे मुस्कुराए। हम दोनों एक ही कमरे में ठहरे थे। दूसरे दिन सुबह कार्यक्रम देने आकाशवाणी केन्द्र पर जाने के लिए मैं बहुत जल्द उठकर तैयार होकर बैठा था। गुरुजी भी कुछ समय बाद जग गए थे। मुझे तैयार होकर बैठे देखा, इतने में मेरे लिए आकाशवाणी से वाहन आ गया था। मैंने गुरुजी का चरणस्पर्श किया और तत्काल ही उनके मुख से "जाओ, फतह करो" ऐसे आशीर्वचन निकले। मैंने अपने सुबह के कार्यक्रम में राग शुक्ल बिलावल की दो बंदिशें गाईं और स्टुडिओ से बाहर आया तब देखा कि उस्ताद मुश्ताक हुसैन खाँ साहब वहाँ खड़े हैं और उनकी नजर मेरी ओर है। मैंने तुरन्त जाकर उनके चरणस्पर्श किए। उन्होंने मुझे पकड़कर अपने गले से लगाया और मेरे बारे में पूछा। जब मैंने उन्हें अपना परिचय दिया तो बहुत खुश हुए। उन्होंने 'ड्यूटी रूम' में बैठकर मेरा गाना सुना था। उनको लग रहा था कि स्टुड़िओ में मेरे गुरुजी गा रहे हैं। और थोड़ी देर में आकाशवाणी की किसी मीटिंग के लिये आ पहुँचे और बोले, "वाह पंडितजी, इस बेटे ने आज मेरी तबियत खुश कर दी; आपकी हूबहू छवि दिख रही थी।" गुरुजी ने मुस्कुराते हुए कहा, "यह उसकी श्रद्धा एवं मेहनत का फल है।" ये आशीर्वचन मेरे लिए आजीवनकाल एक अविस्मरणीय प्रसाद के रूप में मेरे साथ सदैव रहेंगे। ▶

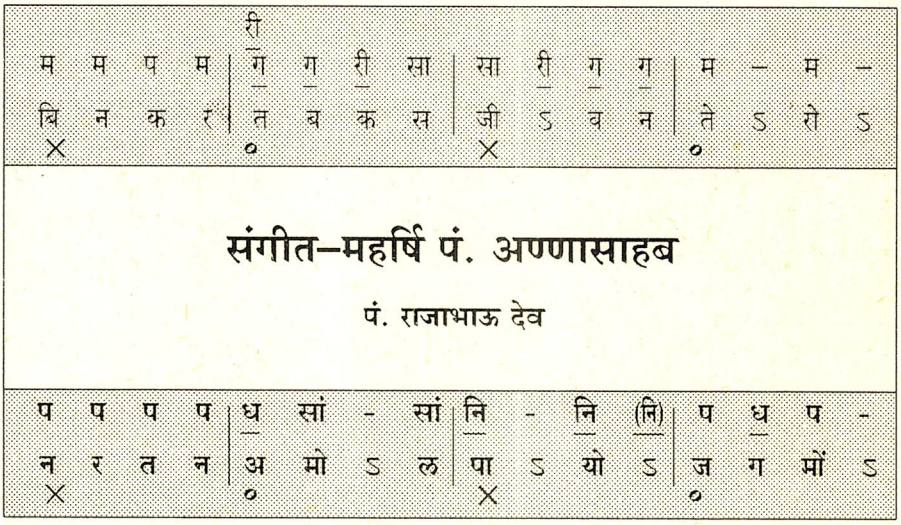

(बुजुर्ग गायक और मान्यताप्राप्त गुरु । पं. राजाभैय्याजी, पं. जगन्नथबुवा पंढरपुरकर, उस्ताद रजबअलीखां, प्रो. बी.आर. देवधर आदि से तालीम पाई। कानपुर आकाशवाणी में अधिकारी तथा निर्माता। वनस्थली विद्यापीठ में प्राध्यापक। संप्रति पुणे में अनेक महिलाओं तथा युवा शिष्यों का मार्गदर्शन कर रहे हैं।)

सन १९३४ में मैं गाने की तालीम पाने के लिये ग्वालियर पहुँचा। इसके पूर्व पूना के 'भारत गायन समाज' में कुछ समय के लिए स्व.पं. बापूराव केतकरजी से कंठ-संगीत की शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् मैं पंढरपुरनिवासी गुरुवर्य स्वर्गीय जगन्नाथबुवा पंढरपुरकरजी से भी विशेष प्रशिक्षण ग्रहण कर चुका था। इसी पूंजी के आधार पर मैं साहस जुटाकर ग्वालियर पहुँचा था और अधिक से अधिक तालीम पाने की मेरी अदम्य इच्छा और उद्देश्य मैंने जाते ही स्व. कृष्णराव पंडितजी तथा गुरुवर्य स्व. राजाभैय्या पूँछवालेजी से अभिव्यक्त किया था। पंडितजी की संगीत कक्षा में बिना शुल्क के प्रवेश होना असंभव था और मेरी आर्थिक परिस्थिति मामूली होने के कारण ग्वालियर संस्थान की ओर से संचालित सरकारी संगीत विद्यालय में निःशुल्क प्रवेश लेने की सलाह मुझे स्वयं राजाभैयाजी ने दी थी। अतः वहाँ मुझे आसानी से प्रवेश मिल गया। विद्यालय में प्रतिवर्ष लखनऊ के मैरिस म्युझिक कॉलेज के प्राचार्य पं. स्व. रातंजनकरजी का आगमन परीक्षक के नाते होता था, सो मेरे ग्वालियर पहुंचने के पश्चात् उस वर्ष भी पं. रातंजनकरजी का आगमन विद्यालय में हुआ। परीक्षा लेने जब वे आते तो उनके गायन के अनेक कार्यक्रम जगह जगह होते।

अण्णासाहब की गायकी

उस वर्ष भी पंडितजी का गायन ग्वालियर के रसिक श्री. उदकसाहब के घर पर निश्चित हुआ था। उन दिनों स्व. बापूराव पेंढारकर की 'ललित कलादर्श' नामक नाटक कंपनी ग्वालियर

में आई हुई थी। अत: पंडितजी के कार्यक्रम में नाटक के कलाकार भी उपस्थित थे। किसी कारणवश उस दिन पंडित जी, जिन्हें प्यार और आदर से हम अण्णासाहब भी कहते थे, की महफिल अपेक्षाकृत जम नहीं पाई। अत: जल्द ही उन्होंने अपना कार्यक्रम समेट लिया। श्रोतागण भी निराश हो गए। अत: महफिल का रंग जमाने के लिये रसिकों ने स्व. बापूराव पेंढारकरजी तथा पं. भार्गवराम आचरेकरजी से युगल-गान प्रस्तुत करने की प्रार्थना की, जिनकी हारमोनियम पर संगत करने का संजोग मुझे उस दिन प्राप्त हुआ। दूसरे दिन प्रात: मेरे कमरे में ग्वालियर दरबार के विद्वान गायक स्व. पंडित बालाभाऊ उमड़ेकर (कुंडलगुरु) अकस्मात आए और उसी दिन सायंकाल को अण्णासाहब की एक महफिल में मुझे हारमोनियम पर संगत करने का निमंत्रण दिया तो मुझे सुखद आश्चर्य हुआ, क्योंकि मेरी जानकारी में अण्णासाहब अपने गायन में कभी हारमोनियम की संगत नहीं लेते थे। फिर भी पंडित कुंडलगुरुजी का आदेश सिर माथे पर लेक मैं अण्णासाहब के कार्यक्रम में उपस्थित हुआ। अण्णासाहब ने राग बरारी (बराटी) से अपने गायन का प्रारंभ किया और शुरू से ही ऐसा रंग जमाया कि महफिल अपनी चरम सीमा तक पहुंचते पहुंचते अण्णासाहब के उच्चतम गायन-स्तर का समूचा दर्शन श्रोताओं को अवश्य कर देगी ऐसे आसार पैदा हो गए। परंतु जिस कक्ष में महफिल चल रही थी वह छोटा था, श्रोता थे अनेक ! अत: श्रोताओं को गायन का पूरा आनंद न मिल पाने का परिणाम हुआ अशांति और धक्का-मुक्की में । इससे महफिल का रंग ही उखड़ गया और कार्यक्रम स्थगित करना पड़ा । फिर भी इससे एक सिलसिला शुरू हुआ अण्णासाहब की संगत करनेका, जो मेरे आगे के संगीत-जीवन में बड़ा ही लाभकारी सिद्ध हुआ । अण्णासाहब की गायकी को करीब से समझने, चिंतन करने का सुअवसर प्राप्त होना मेरे परम भाग्य की बात थी ।

अण्णासाहब की गायकी ने मुझे इतना प्रभावित किया था कि उनसे सीना-ब-सीना कुछ पा सकूं ऐसी इच्छा मन में जाग उठी और मैं जा पहुँचा लखनऊ । परंतु लखनऊ के मैरिस कॉलेज के प्राचार्य की व्यस्तता और जिम्मेदारियां अण्णासाहब पर इतनी अधिक थीं कि गुरु-शिष्य-परंपरा से मुझे तालीम देने वे असमर्थ थे और यह भाग्य भी मुझे प्राप्त न हो सका कि उनके महाविद्यालय में शुल्क भरकर उनमें प्रशिक्षण प्राप्त कर सकता। क्योंकि यहां भी मेरी आर्थिक विपन्नता आड़े आ रही थी । किसी तरह कुछ महीने मैं महाविद्यालय गया भी, परंतु फीस देने की मेरी अक्षमता से मुझे शर्मिंदगी महसूस हो रही थी ! एक बार स्वयं अण्णासाहब ने मेरी पिछली फीस भर दी थी । मैं उन्हें और कष्ट देना नहीं चाहता था अत: मुझे लखनऊ छोड़कर जाना पड़ा । अण्णासाहब जैसे उदार, करुणा से भरे व्यक्तित्व की अमिट छाप अपने मन में संजोए मैं जीवन के अगले मोड़ की प्रतीक्षा करता रहा ।

मेरे कनिष्ठ भ्राता स्व. वसंतराव देव को बेशक मुझसे अधिक सान्निध्य पंडित रातंजनकरजी का मिला । चूंकि वह एक ऊंचे कोटि के तबलावादक थे और अण्णासाहब की कृपासे मैरिस कॉलेज में तबला विषय के प्राध्यापक भी नियुक्त हुए थे, उन्हें अनेक बार अण्णासाहब की संगत करने का सौभाग्य मिला था । अण्णासाहब के साथ ही उनके संगीत-परिवार के अनेक सदस्य जैसे कि स्व. पंडित गोविंदरावजी गानू तथा पंडित व्ही. जी. जोग आदि मूर्द्धन्य कलाकारों की संगत करने के अवसर भी मिले मेरे बंधु स्व. वसंतराव को । यह भी अण्णासाहब की कृपा थी ।

दाद नहीं मिल रही थी !

सन १९३७ में लखनऊ छोड़ने के बाद फिर १९४७ में दुबारा लखनऊ में करीब सालभर रहने का मुझे मौका मिला। उसके पूर्व दिल्ली तथा लाहौर आकाशवाणी से मेरा गायन प्रसारित हुआ करता था। इस बार जब मैं लखनऊ रह रहा था तब एक ऐसी घटना घटित हुई जिसका उल्लेख करने का मोह नहीं टाल पा रहा हूँ। लखनऊ आकाशवाणी से अण्णासाहब का गायन प्रसारित होना निश्चित हुआ था परंतु अपरिहार्य कारण से अण्णासाहब को लखनऊ से बाहर जाना पड़ा, अत: उनके स्थान पर प्रसारण के लिये मेरा चुनाव हुआ। आकाशवाणी लखनऊ से मेरे गायन का प्रथम बार ही प्रसारण होने जा रहा था, इसीलिये वहां के श्रोता मेरा गायन सुनने के लिए अत्यंत उत्सुक थे, इस बात का पता मुझे अपने प्रसारण के बाद अनेकों प्रशंसकों के, फोन पर मुझे बधाई देने के सिलसिले से चला क्योंकि उनकी और मेरी भी दृष्टि में अण्णासाहब जैसे लब्धप्रतिष्ठ कलाकार के स्थान पर गायन प्रस्तुत करना एक कसौटी ही थी, जिसमें मैं अंशत: सफल रहा। अण्णासाहब के घर अनेक बार संगीत-चर्चा में मैं सम्मिलित होता, उनकी महफिल में अभ्यासक श्रोता बनकर ध्यान से उनका गायन सुनता; इस प्रकार से अनायास ही में उनकी गायकी को अपनी गायकी के अनुसार आत्मसात् करता और अपने कलाकार-व्यक्तित्व को विकसित करने में यह बात बड़ी ही सहायक सिद्ध हुई है ।

एक सहृदय, चिंतनशील कलाकार होने के साथ ही एक सहृदय श्रोता भी मेरे व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है। अत: जब मैं महफिलों में श्रोता बनकर जाता हूँ तो ऐसी जगह बैठता हूँ कि मैं सूक्ष्म अवलोकन के साथ श्रवण भी कर सकूं और कलाकार को कोई व्यवधान न हो। एकबार अण्णासाहब की महफिल पंडित व्ही. जी. जोग के निवास-स्थान पर आयोजित की गई थी। वहां मैं एकचित्त हो एक कोने में बैठा गायन का आनंद ले रहा था कि अण्णासाहब और उनकी संगत कर रहे पंडित व्ही. जी. जोग में कोई संकेत-सा हुआ जिसका संबंध मुझसे था यह मैं समझ गया था। दूसरे दिन मैंने जोग साहब से जोर देकर पूछा तो उन्होंने बताया कि अण्णासाहब कह रहे थे - "उस कोने से कोई दाद नहीं मिल रही"। मैं यह सुनते ही बहुत दु:खी हुआ क्योंकि उन दिनों मैं अपनी संगीत-साधना में प्रगति पथ पर था और एक सफल कलाकार बनने के लिए प्रयत्नशील था, मेरा स्थान कलाकार-जगत् में महत्त्वपूर्ण हो चला था;फिर भी अण्णासाहब को गुरुस्थान पर मैं मानता था, उनकी गायकी का प्रशंसक एवं अभ्यासक था और उनसे कुछ प्राप्त करने की लालसा अपने विद्यार्थी-मन में संजोए मैं उनका गायन सूक्ष्मता से सुनता था। अत: तुरंत ही उनके पास जाकर मैंने निवेदन किया "आप मेरे गुरु समान, पिता समान हैं। आपकी गायकी प्राप्त कर सकूं ऐसी इच्छा तो है परंतु आपके सामने बैठकर आपको वाह वाह दूं, दाद दूं इतनी योग्यता, इतना साहस मुझमें नहीं, ऐसी उच्छृंखलता मुझे ठीक नहीं लगती। अत: मुखर होकर महफिल में वाहवाही देकर आपके सम्मान को ठेस पहुँचाना मैं नहीं चाहता"। मेरी उन बातों से उनके सारे संदेह दूर हो गए और मैं फिर से उनका प्रेमपात्र बन गया ।

चेंबूर म्यूझिक का गाना

अण्णासाहब का गायन विशाल जनसमूह की अपेक्षा मर्यादित श्रोताओं की उपस्थिति में अनेक बार सुनने का संयोग जब मुझे मिला तब तब ऐसा जान पड़ा कि उनका गायन चेंबर

म्यूझिक के लिये अनुकूल था। स्वरों की सूक्ष्मता, संवेदनाशीलता, रागों (विशेषत: क्लिष्ट रागों) के अंतरंग तक जाकर श्रोताओं के सामने राग-स्वरूप स्पष्ट करने का कौशल आदि में वे अत्यंत प्रवीण थे। उनका जीवन विद्यादान के लिए समर्पित था। अत: उनकी तालीम में तैयार हुए सर्वश्री नगरकर, भट, गिंडे, कायकिणी, श्रीमती मुटाटकर, कालविंटजी इत्यादि अनेक प्रगत कलाकार और संगीत चिंतक-अभ्यासक उनसे राग-रूप का सर्वांगीण विचार, प्रचलित और अप्रचलित रागों की सूक्ष्म साम्य-भेद दृष्टि विरासत में पा गए हैं और आक्रमक गायन की अपेक्षा संयमित पेशकश अण्णासाहब की गायकी की जो विशेषता थी उसे भी इन सभी कलाकारों ने आत्मसात् किया है। अण्णासाहब सचमुच में आधुनिक युग के संगीत-जगत् में श्रेष्ठ संगीतज्ञ तो थे ही परंतु श्रेष्ठ रचनाकार-वाग्गेयकार भी थे। लय को उनकी गायकी में कितना व्यापक और गहन स्थान था वह उनकी बंदिशों में अंतर्भूत सहज लयकारी से समझा जा सकता है और उनपर लय के प्रति उदासीन यह जो आक्षेप कुछ लोग उठाते हैं उन्हें इन बंदिशों को ध्यान से सुनने पर निरुत्तर हो जाना पड़ता है। अण्णासाहब के गायन में यद्यपि तबलावादक को संयमित संगत करनी पड़ती थी तथापि वे लयकार थे इसमें कोई संदेह नहीं ।

अण्णासाहब की अनेक यादें उमड़ पड़ती हैं मन में, फिर भी हर वस्तु का अंत होता है; इस लेख को भी गुरुवर्य स्व. राजाभैय्या पूंछवालेजी की इस उक्ति से समाप्त कर रहा हूँ "बाबूराव (अण्णासाहब) एक सुलझा हुआ गवैया है!"

म	म	प	म	रीं गं	ग	रीं	सा	सा	रीं	गं	गं	म	–	म	–
बि	ने	क	र	त	ब	क	स	जी	ऽ	ब	न	ते	ऽ	रो	ऽ
×				०				×				०			

संगीत–मनीषी आचार्य रातंजनकर

प्रो. एम. आर. गौतम, कलकत्ता

प	ध	प	प	धं	सां	–	सां	निं	–	निं	(लिं)	प	धं	प	–
न	र	त	न	अ	मो	ऽ	ल	पा	ऽ	यो	ऽ	ज	ग	मों	ऽ
×				०				×				०			

(पं. रामराव नाईक, बंगलोर, के शिष्य। आकाशवाणी पर संगीत-निर्माता। आगे बनारस हिंदू युनिव्हर्सिटी में प्रयोग-कला विभाग के प्राध्यापक। इसी प्रकार इं. क. सं. विश्वविद्यालय के उपकुलपति रहे। संप्रति कलकत्ता में दूरदर्शन के सुप्रतिष्ठित प्राध्यापक ।)

पंडित श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर जी से मेरा परिचय सन १९४६ में बंबई में हुआ था। तब मैं तालमकवाडी में अपने मित्र श्री मनोहर अमेम्बल के साथ रहता था जो उन दिनों तबला-संगत अच्छी किया करता था। पंडितजी का कार्यक्रम लक्ष्मी बाग में था। मैं मनोहर के साथ उनको सुनने के लिए गया था ।

उनका रागों का विस्तार करने का ढंग और प्रत्येक बार कल्पना में एक अद्‌भुत नवीनता सुनकर उनके प्रति मेरा आकर्षण बढ़ता गया। लक्ष्मी बाग के उपर्युक्त कार्यक्रम में पंडितजी ने राग मालश्री, साजगिरी एवं दो एक अप्रचलित राग गाए थे। उन दिनों मुझे हिंदुस्थानी संगीत की अधिक समझ नहीं थी, यद्यपि स्वर, ताल एवं लय का पर्याप्त ज्ञान था। उसके पश्चात् मैं रेडियो से, आकाशवाणी के प्रत्येक केन्द्र से, आकाशवाणी की पत्रिका में छपे हुए कार्यक्रम को चिह्नित करके बड़ी श्रद्धा एवं निष्ठा से पंडित जी का कार्यक्रम सुना करता था। बिलासखानी तोड़ी, बरारी तोड़ी, पट बिहाग, हेमनट आदि राग मैंने उनसे लगभग चालीस वर्ष पहले सुने थे। इन रागों में उनके द्वारा किया हुआ विस्तार मेरे मस्तिष्क में आज भी अंकित है। ऐसा पांडित्यपूर्ण अद्वितीय अधिकार, ऐसी नवीन कल्पना-सृष्टि मैंने स्व. उ. फैयाज़ खां साहब के बाद उन्हींसे सुनी है। खां साहब उ.फैयाज खां का रंग पंडित जी के गाने में भरपूर था। वे उ. फैयाज़ खां साहब की असली सूक्ष्म बातों को ग्रहण करके अद्‌भुत ढंग से अपने ही आकर्षक रूप से प्रस्तुत करते थे। हालांकि उन दिनों और भी कई गायक थे जो उ. फैयाज़ खां साहब की आवाज और अदाओं तथा बाह्य रोब-रुआब की नकल करते थे लेकिन खां साहब के स्वरोच्चार की सूक्ष्मता, बोल उपज, अनेक प्रकार से गमक का चमत्कारिक प्रयोग, ताल के

साथ खेल इत्यादि पंडितजी के गाने में स्पष्ट रूप में सुनने को मिलते थे ।

सन १९५३ में जब आकाशवाणी में मेरा ऑडिशन हुआ था उस समय पंडित जी ऑडिशन देने आए थे तथा मुझे 'ए' ग्रेड दिया था। बादमें मुझे ज्ञात हुआ कि उन्होंने मुझे मुस्लिम समझ कर उपरोक्त ग्रेड दिया था। यह बात मुझे स्व. पं. हक्सरजी ने बताई थी जो ऑडिशन के समय पं. रातंजनकरजी अण्णासाहब के साथ थे। उसके पश्चात् सन १९५५ में जब मैं आकाशवाणी में म्यूजिक प्रोड्यूसर के पद पर नियुक्त हुआ था, पंडित जी से सम्पर्क और अधिक बढ़ गया ।

मेरे आदरणीय गुरुजी स्व. ठाकुर जयदेवसिंह अण्णासाहब के घनिष्ठ मित्रोंमें से थे और मैं उनसे भी अण्णासाहब की गायक एवं रचनाकार की प्रतिभा के विषय में अक्सर सुना करता था ।

सन १९५६ में वार्षिक रेडियो संगीत सम्मेलन के उपलक्ष्य में स्व. आचार्य कैलाशचन्द्र देव बृहस्पतिजी के द्वारा पं. विष्णु नारायण भातखण्डे जी के संबंध में एक व्याख्यानमाला का आयोजन हुआ था। इसमें आचार्य बृहस्पतिजी ने पं. भातखण्डेजी के श्रुति-सन्निवेश एवं उनकी संगीत-सम्बन्धी अन्य अवधारणाओं की आलोचना एवं खण्डन किया था। लेकिन पं. रातंजनकरजी ने अपने गुरुजी पं. भातखण्डेजी की प्रतिरक्षा जोरदार ढंग से प्रमाणसहित की थी ।

सन् १९६२ में जब मैं आकाशवाणी दिल्ली में म्यूजिक प्रोड्यूसर था, मैंने पंडितजी अण्णासाहब से मेरे घर पर आकर गाने का अनुरोध किया था। पंडितजी ने अत्यन्त सरलता के साथ तुरन्त मेरा अनुरोध स्वीकार कर लिया था और मेरे घर आए थे। उस दिन शाम को उनके साथ उनके प्रमुख शिष्य श्री दिनकर कैकिणीजी भी आए थे ।

पंडितजी ने अपना गाना प्रारंभ करने से पूर्व पूछा था - "बोलो, क्या गाऊं? तुम्हारे घर पर आया हूं!" तो मैंने उनसे राग साजगिरी गाने का अनुरोध किया था। पंडितजी ने तुरंत साजगिरी गाया था और उसमें कितनी ही नवीन कल्पनाएँ तथा नए रास्ते उन्होंने विस्तार के लिए दिखाए थे। निस्सन्देह उन्हें रागविस्तार में अतुल्य अधिकार प्राप्त था। राग पूरिया एवं पूर्वी का मिश्रण, विशेषत: शुद्ध मध्यम का जिस प्रकार उन्होंने हर बार नवीन ढंग से प्रयोग किया था, वाकई अद्भुत था। और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि साजगिरी जैसे कठिन राग को यमन एवं तोड़ी जैसे सामान्य राग की तरह पूरी स्वतत्रंता से विस्तार प्रदान किया था। अन्य शब्दों में, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि पंडितजी प्रचलित एवं अप्रचलित दोनों ही प्रकार के राग गाते थे। प्रत्येक राग उनकी मुट्ठी में था। जब उनकी आवाज उनकी कल्पना के अनुसार साथ देती थी तब ऐसी चमत्कारपूर्ण दो दो सप्तक की फिरत एवं मींड किया करते थे कि श्रोता उसे सुनकर स्तब्ध रह जाते थे ।

साजगिरी के पश्चात् जब पंडितजी ने अपनी असीम उदारता से मुझसे पूछा था 'क्या सुनाएं?' तब मैंने राग मालीगौरा सुनाने की बिनती की थी। तब उन्होंने उस दिन जो मालीगौरा की प्रस्तुति की थी वह मेरे लिए अविस्मरणीय है और सचमुच उस दिन ही वह राग मेरी समझ में अच्छी तरह से आया था। उस दिन मेरे बड़े भाई ने उस असाधारण संगीत की याद को सुरक्षित रखने हेतु पंडितजी की कुछ तस्वीरें ली थीं जो मेरे पास सुरक्षित हैं ।

तत्पश्चात् जब मैं हिन्दू विश्वविद्यालय में गायन विभाग के अध्यक्ष के स्थान पर कार्यरत था तब पंडित जी बनारस आए थे और राजघाट में श्री सामंतजी के घर ठहरे थे। तब एक दिन मैं उनके दर्शनार्थ वहाँ गया था। उस समय वे अकेले ही बैठे थे। तब मैंने उनसे, मुझे

झिंझोटी, हेमनट, रामदासी मलार, लाचारी तोड़ी राग सिखाने का, अनुरोध किया था। उस दिन उन्होंने मुझे झिंझोटी एवं हेमनट राग में विलम्बित एवं द्रुत ख्याल सिखाकर राग-विस्तार का नियम भी बताया था, विशेष रूप से हेमनट के विषय में ।

हालांकि आगरा घराने का हेमनट एवं पंडित जी के हेमनट में काफी अन्तर है, किन्तु मुझे उनका प्रकार अच्छा लगा था, क्योंकि मैंने उसे हैदराबाद में सन १९५५ में सुना था, जब मैं वहाँ आकाशवाणी में म्यूजिक प्रोड्यूसर था। जब मैंने उनसे हेमनट के 'विस्तार की कुंजी' पूछी थी तो उन्होंने कहा – 'तो तुम यमन गाओ केवल शुद्ध मध्यम से'।

मैं जब उनके पास दोबारा गया था तब उन्होंने मुझे राग रामदासी मलार और लक्ष्मी तोड़ी सिखाया था। राग लक्ष्मी तोड़ी सिखाते समय अद्‌भुत बात कही थी कि रागों में जहाँ जहाँ कोमल एवं तीव्र स्वर लगते हैं, वे राग अधिकांश लोक-धुनों से विकसित हुए हैं। इसके प्रमाण में उन्होंने लक्ष्मी तोड़ी के रिषभ गांधार और धैवत को इस ढंग से लिया था कि वे न तो कोमल थे, न तीव्र; वे बीच के स्वर थे और सुन्दर ढंग से आन्दोलित थे और एक लोक-धुन की झलक उसमें स्पष्टत: परिलक्षित हो रही थी। इसके साथ पंडिजजी ने एक और अद्‌भुत बात इस सम्बन्ध में बताई थी कि यह जानकारी उन्हें स्व. उ. फैयाज खां साहब से मिली थी। खां साहब ने उन्हें राग देसी, लाचारी तोड़ी एवं राग खट के धैवत को, जिसे सहकारी धैवत कहते हैं गाकर समझाया था। राग रामदासी मलार सिखाने के लिए उस दिन समय नहीं था। अत: पंडितजी ने मुझसे उसका मध्यमलय ख्याल 'माधौ मुकुंद' नोटेशन में लिखकर दिया था। मैंने लाचारी तोड़ी में विलम्बित झपताल 'सांवरे बादर' तथा द्रुत 'जा रे पथिकवा', झिंझोटी में विलंबित 'सांवरो मन भायो' तथा द्रुत तीन ताल 'मेरो मन सखि', राग हेमनट में विलम्बित 'पार न पायो कोउ गुण सागर को' तथा द्रुत 'निरतत कान्ह ब्रज गोपियन संग'' पंडितजी से सीखा ।

इस तरह पंडितजी के साथ छोटा-सा, संक्षिप्त सम्पर्क रहा। मुझे जीवन में पूज्य पंडितजी जैसे एक महान वाग्गेयकार और गायक का सान्निध्य प्राप्त करने का सुअवसर मिला जिससे मैं बहुत लाभान्वित हुआ। उनके सम्पर्क से मुझे संगीत की विभिन्न सूक्ष्मताओं को समझने की क्षमता प्राप्त हुई। मेरे लिए पंडितजी सदैव अत्यादरणीय एवं अविस्मरणीय रहेंगे ।

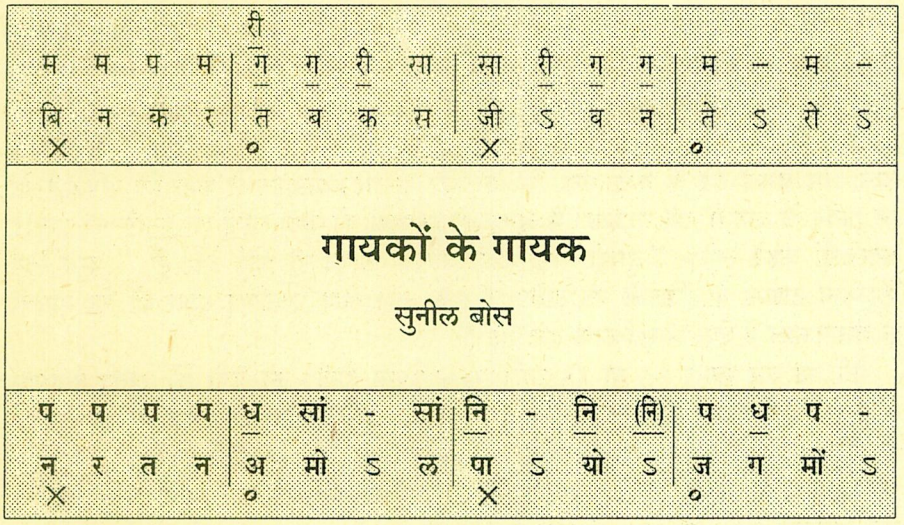

(श्री सुनील बोस भातखंडे संगीत कॉलेज लखनऊ के स्नातक हैं। कुछ काल आचार्य रातंजनकर जी से तथा बाद में श्री डी. टी. जोशी से प्रशिक्षिण पाया। उ. अताहुसेनखां से भी शिक्षा पाई। संप्रति 'संगीत रिसर्च अकादमी', कलकत्ता, में 'गुरु' के नाते कार्यरत।)

सन १९३६ की बात है, दिसंबर महीने के अंतिम सप्ताह में पहली बार मुझे रातंजनकरजी को देखने और उनके संगीत के कार्यक्रम को सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस शास्त्रीय संगीत का कार्यक्रम तिमारपुर के पुराने एसेम्बली हाउस में होनेवाला था ।

यह महफिल सुबह की थी, जिसमें केवल दो कलाकार थे - रातंजनकरजी और इन्दौर रियासत के विख्यात ध्रुपदिये उस्ताद नसीरुद्दिन खां साहब। पंडितजी को लगभग डेढ़ घण्टे का समय दिया गया था, जिसमें उनको अपना गायन पेश करना था ।

कार्यक्रम का प्रारंभ पंडितजी के गायन से हुआ। उनके साथ सारंगी पर विख्यात सारंगिये उस्ताद बुंदूखां तथा तबले पर उस्ताद कालेखांसाहब थे जो कि नत्थूखांसाहब के भानजे थे। पंडितजी ने अपना कार्यक्रम राग गोपीबसन्त से शुरू किया ।

श्रोतागण सामने बैठे थे - उस्ताद फैयाजखां, नसीरुद्दिनखां, हाफिज अली खां, देहली के मुजफ्फर खां, इनायत खां और तमाम लोग; उनमें श्रीमती सरोजिनी नायडू भी थीं। हॉल करीब-करीब पूरा भरा हुआ था ।

बेमिसाल पंडित गायक

गाना जब शुरू हुआ तो लोग-बाग तारीफ करने लगे। फिर जैसे-जैसे गाना बढ़ता गया, लोग तारीफ करना भूल गए। लगा जैसे पंडित जी के गाने ने सबको सम्मोहित कर लिया हो। सभी लोग मंत्रमुग्ध-से बैठे गाना सुनने में तल्लीन थे। समय कैसे चला गया कुछ पता नहीं चला। अचानक श्रीमती सरोजिनी नायडू की तंद्रा भंग हुई। उन्होंने देखा कि पंडितजी

अपना गायन समाप्त करके उठने की तैयारी में लगे हैं। तो उन्होंने सबसे पहले ताली बजाई। उनकी ताली की आवाज को सुनकर बाकी लोग भी चौंके और उन लोगों ने भी ताली बजाना शुरू किया तो काफी देर तक ताली बजाते रहे। उस समय घड़ी में एक बज चुका था ।

जैसे ही गाना खत्म हुआ फैयाजखां, नसरुद्दिनखां और भी बहुत-से लोग उनकी प्रशंसा करने और बधाई देने के लिए मंच पर आ गए। नसरुद्दिनखांसाहब ने कहा कि पंडितजी के इस गायन के बाद मैं नहीं गाऊँगा। मैं अपना गायन शाम को आप लोगों को सुनाऊँगा। उस्ताद फैयाजखां कहने लगे- "तुम्हारे जैसा पंडित गायक शायद ही कोई और हो," दूसरे दिन हिंदुस्थान टाइम्स में पंडितजी की तारीफ में एक लंबा लेख प्रकाशित हुआ जो कि अंग्रेजों के शासनकाल में एक आश्चर्यजनक बात थी ।

मेरी उम्र उस समय १८ या १९ साल के आसपास होगी। उन दिनों मैंने प्रशांत दासगुप्ता से गाना सीखना बस शुरू किया था। उस समय रागदारी संगीत की समझ नहीं के बराबर थी, मगर बहुत अच्छा लगता था। प्रशांत दा रातजंनकरजी के ही शिष्य थे ।

एक बार प्रशांत दा के घर पर रातंजनकरजी के गाने का कार्यक्रम रखना निश्चित हुआ। जब पंडितजी समय पर आए तो उन्हें देखकर मेरे मन में श्रद्धा उत्पन्न हुई और मैं अपने मन में उनको अपना गुरु मानने की बात सोचने लगा। प्रशांत दा ने अपने सभी शिष्यों से पंडितजी से आशीर्वाद लेने को कहा। मैंने जब उनका चरणस्पर्श किया तो उन्होंने सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया, मैंने मन ही मन फैसला कर लिया कि अब इन्हींसे गाना सीखूँगा और आगे चलकर ऐसा ही हुआ। उस दिन दिल्ली के पंडित ब्रदर्स ने कहा कि पंडितजी, आज आप से कल्याण ठाठ का राग सुनेंगे। रात के आठ बजे पंडितजी का गायन आरंभ हुआ। सबसे पहले उन्होंने अपना कार्यक्रम राग यमन से शुरू किया। तदुपरांत भूपाली, शुद्ध कल्याण, हमीर, केदार, छायानट, कामोद, एक के बाद एक गाते चले गए । सबसे अंत में राग परज से अपने गायन का समापन किया। उस समय रात के तीन बजे थे। हकसर साहब कहने लगे, "पंडितजी, यह आप से ही संभव है ।"

'उसकी मैं इज्जत करता हूं'

उस्ताद फैयाज खांसाहब उनको प्यार से श्रीकृष्ण कहते थे। श्रीकृष्ण के प्रति खांसाहब के मन में असीम प्रेम और श्रद्धा थी। वे श्रीकृष्ण के सामने सिगरेट नहीं पीते थे। इन्हीं बातों से संबंधित मुझे एक घटना याद आती है। एक बार ऐसा हुआ कि खांसाहब को लखनऊ में गाड़ी बदल कर छोटी लाईन में लखिनपुर जाना था। मैं खांसाहब को गाड़ी पर चढ़ाने आया था। गाड़ी के आने में देर थी। मैं और खांसाहब स्टेशन के पास ही एक होटल में बैठे। खाने के पहले खांसाहब थोड़ा ड्रिंक ले रहे थे, इतने में मैंने कहा कि रातंजनकरसाहब आ रहे हैं। इतना सुनना था कि खांसाहब ने जल्दी से अपना ग्लास छिपा दिया और सिगरेट फेंक दिया। इतने में रातंजनकरजी करीब आ गए। उन्होंने खांसाहब को प्रणाम किया और पास ही बैठ गए। खांसाहब भी बड़े प्रेम से मिले, कुशल मंगल पूछा। कुछ देर बाद रातंजनकरजी प्रणाम करके चले गए। उनके जाने के बाद किसी ने खांसाहब से कहा कि वह तो आपके शिष्य हैं फिर उनके सामने छिपाने की क्या जरूरत है ? तो खांसाहब बोले, "देखो, श्रीकृष्ण कोई मामूली आदमी नहीं है। यह ठीक है कि वह मेरा शागिर्द है; मगर उसके जैसा गवैया हिंदुस्थान

में निकट भविष्य में नहीं मिलेगा। उसकी मैं बड़ी इज्जत करता हूँ।''

सन १९४९ की बात है। दिसंबर महीने के आखिरी दिनों में कालेज के एक फंक्शन में फैयाज खांसाहब को गाना था। खांसाहब किसी होटल में ठहरे हुए थे। होटल से चलते समय खांसाहब ने कहा कि आज बहुत सोच-समझकर गाना होगा क्योंकि श्रीकृष्ण के सामने गाना है। उसके जैसा पंडित गवैया शायद ही कोई दूसरा हो। उस दिन खांसाहब का गाना बहुत ही अच्छा रहा। वही उनका अंतिम गाना था क्योंकि फिर उसके बाद उनका लखनऊ आना नहीं हुआ।

पंडित रातंजनकरजी लखनऊ के मैरिस कालेज ऑफ हिंदुस्थानी म्यूजिक में संगीत सिखाते थे। वे उस कालेज के अध्यक्ष भी थे। कालेज की आर्थिक अवस्था बहुत ही खराब थी। सरकार की तरफ से आर्थिक सहायता बहुत कम मिलती थी। जिसके फलस्वरूप लोगों को पूरा वेतन भी नहीं मिलता था। जो कुछ भी आमदनी होती वह छात्रों से मिलनेवाली फीस के रूप में, जो कि कालेज-खर्च चलाने में बहुत कम पड़ती थी। उन दिनों मैंने भी उनसे गाना सीखना शुरू कर दिया था। कभी कभी तो ऐसा भी हुआ कि साल में २-३ महीने की तनख्वाह भी नहीं मिलती थी। इसके बावजूद किसी को बाहर नहीं सिखाते थे। जब आकाशवाणी केन्द्र शुरू हुआ तो गुरुजी वहां से गाने लगे। यही उनकी आर्थिक अवस्था थी।

गुरुजी जब सिखाने बैठते थे तो वे सभी छात्रों पर विशेष ध्यान देते थे। कक्षा में जब किसी राग को सिखाते थे तो उसके निकटवाले रागों को लेकर तुलनात्मक भाव से चर्चा भी करते थे। स्वरस्थान, मींड, कण, श्रुति आदि का प्रयोग कब, कहां और कितना होगा इन सब बातों का वह बहुत ध्यान रखते थे। हर राग की शुरुआत गुरुजी षड्ज से नहीं करते थे। इन सभी बातों पर तो भारी दखल रखते थे। हारमोनियम का ब्यौहार वे पसंद नहीं करते थे, क्योंकि किसी किसी राग में सभी स्वर शुद्ध या कोमल होते हुए भी तीव्र स्वरों का प्रयोग करना पड़ता है; ऐसे में बहुत दिक्कत पेश आती है।

'मेरी सेवा मत करो'

गुरुजी अपने शिष्यों से कोई चीज या सेवा लेना पसंद नहीं करते थे। उनका जीवन और चाल-चलन एकदम-से जोगियों जैसा था। सारा दिन अपने काम में व्यस्त रहते थे। संगीत की सेवा के लिये उन्होंने अपना सब कुछ त्याग दिया था। उनका पूरा जीवन ही संगीतमय था। संस्कृत, हिंदी, मराठी, फारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओं पर उनका अच्छा अधिकार था। कभी अगर संगीत के बाद वक्त मिलता था तो वे इन भाषाओं में भिन्न-भिन्न रचनाएं पढ़ते थे। गुरुजी ने स्वयं संस्कृत में 'गोवर्धन उद्धार' म्यूजिक ड्रामा लिखा था और भिन्न-भिन्न रागों में उसकी रचना की थी। हम लोगों ने १९५५ में लखनऊ रेलवे इन्स्टिटच्यूट में पहली बार इसका प्रदर्शन किया। दिल्ली से डॉ. केसकर, आकाशवाणी के मंत्री और बहुत सारे लोग थे। सभी ने इस ड्रामे को बहुत पसंद किया। यह ड्रामा बहुत ही ऊंचे पैमाने का हुआ। मैंने इसमें प्राम्पटर का काम किया था।

संगीत की दुनिया को छोड़कर बाकी अन्य मामले में गुरुजी बहुत उदासीन थे। संगीत के लिये उन्होंने अपना सब कुछ त्याग दिया था। सन १९५८ में जब गुरुजी खैरागढ़ (मध्यप्रदेश) संगीत विश्वविद्यालय के वाइस-चान्सलर होकर चले गए तो मैं भी कलकत्ता, पं. बंगाल सरकार

के एक म्यूजिक टिचर्स ट्रेनिंग कालेज में चला गया। गुरुजी के पास मुझे लगभग १३ साल तक रहने का समय मिला जिसमें मैंने बहुत कुछ सीखा, परंतु फिर भी लगा जैसे मैं बहुत कुछ नहीं जान पाया। गुरुजी ने जाते वक्त मुझे अताहुसैनखांसाहब के पास जाने के लिए कहा था। वह अपने शिष्यों पर विशेष ध्यान देते थे। उस समय तो मैं नहीं जा सका; परंतु बाद में मैं उनके पास गया और करीब दस साल तक तालीम हासिल की। एक बार बातों ही बातों में गुरुजी की बात चली तो खांसाहब बोले, भाईसाहब ने (फैयाज खां) सिर्फ रातंजनकरजी को ही तबीयत से सिखाया और सुनने में आया कि कभी कभी तो उनको लेकर दो-दो, चार-चार घण्टे तक अभ्यास भी कराया था। उनके बाकी शिष्यों को मैंने ही सिखाया। वह कभी-कभी सामने आकर बैठते थे। गुरुका गाना समझदार और गुणी जनों के लिए था। जनसाधारण के लिये उनके गाने को समझना थोड़ा मुश्किल काम था। किन्तु गुरुजी 'पब्लिसिटी' में न तो विश्वास रखते थे, न उसके लिए समय देते थे ।

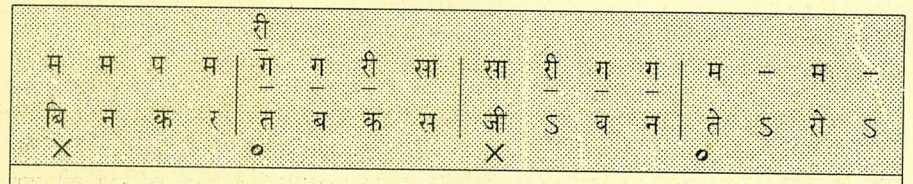

पूज्य अण्णासाहब की स्मृतियां : एक धरोहर

प्रो. गोविंद नारायण दंताळे, हैदराबाद

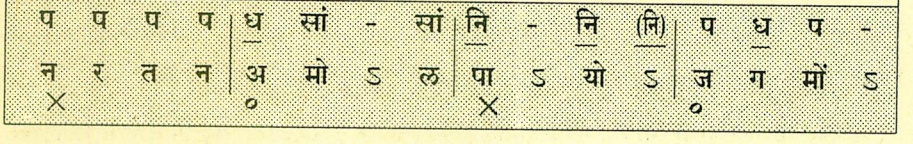

(आचार्य रातंजनकर के व्यक्तिगत शिष्य। भातखंडे संगीत महाविद्यालय के ' निपुण '। शासकीय संगीत महाविद्यालय, हैदराबाद के प्राचार्य रह चुके हैं। अवकाशग्रहण के बाद संगीत-शिक्षा में व्यस्त।]

ईश्वरीय संकेत के अनुसार संगीत के उद्धार, उसके सर्वांगीण विकास के लिए अवतरित पुरुष, युग-प्रवर्तक, नादयोगी, परम पूजनीय पं. विष्णु नारायण भातखंडे, तथा ' आधुनिक तानसेन ' के रूप में जिन्हें हमारे गुरुवर संबोधित करते थे, वे १९ वीं और २० वीं शती के महान् गायक मरहूम आफताबे मौसिकी उस्ताद फैयाजखां साहब हिंदुस्तानी संगीत की दुनिया में अमर हैं।

उन्हींकी सांगीतिक चेतना का अंश प्राप्त किए हुए, उनसे पूर्णांश में कृपाशीर्वाद प्राप्त किए हुए, उनके अत्यंत प्रिय एवं पट्टशिष्य, संगीत-तपस्वी गुरुवर अण्णासाहब ऊर्फ डॉ. श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर के द्वारा संपन्न संगीत-सेवा संगीत-जगत् में अमर है।

इस संगीत के महापुरुष के विषय में ३० वर्ष के अत्यंत निकट सान्निध्य की कुछ स्मृतियों को लेखांकित करनेसे पूर्व उनके चैतन्य को कोटि कोटि प्रणाम!

मेरे पूर्वजन्म के पुण्यसंबंध के फलस्वरूप नियति ने, नागपुर से ८०० मील दूर खींचकर इस महापुरुष का एक विनम्र शिष्य होने तथा उनके सान्निध्य में ३० वर्षतक संगीत की निष्काम भाव से सेवा करने का परम भाग्य मुझे दिया, इसे मैं परमात्मा की असीम कृपा मानता हूँ।

पं. भातखंडेजी ने संगीत के सूर्यवत् तेजस्वी प्रकाश से परिपूर्ण तीन विशाल दीपस्तंभों को उनके निष्ठावान् शिष्यत्रय श्री अण्णासाहब, श्री वाड़ीलाल एवं राजाभैया पूंछवाले के रूप में संगीत की प्रदीर्घ सेवा के लिए खड़ा किया। इन्हीं दीपस्तंभों में से सांगीतिक गुणोंसे परिपूर्ण हमारे गुरुवर्य श्रीअण्णासाहब के प्रकाश से प्रकाशमान, ३० वर्ष से भी अधिक उनके सान्निध्य में रहे हुए, हम उनके चुने हुए निष्ठावान् विनम्र शिष्य एस्. सी. आर्. भट, ' छोटू ' ऊर्फ के. जी. गिंडे, दिनकर कायकिणी, प्रभाकर चिंचोरे और मैं, गोविंद दंताळे, उनके पूर्ण कृपाशीर्वाद

से गुरुवर की तरह संगीत की निष्काम एवं नि:स्वार्थ भाव से सेवा करते हैं। अण्णासाहब के साथ संपन्न यात्राओं में तथा संगीत की सेवा करनेवाली हमारी संस्थाओं में हम एक एक के निकट संपर्क में आ चुके हैं। अण्णासाहब के साथ लखनौ के वास्तव्य में और परवर्ती काल में उनके दौरों के सिलसिले में मैं उनके साथ रह चुका हूं, संगीत की महफिलों में उनके साथ गाया हूं और अन्य प्रसंगों में भी उनके सान्निध्य में रहता आया हूं। उन्हीं स्मृतियों को इन शब्दोंद्वारा मैं उजाला दे रहा हूँ।

अण्णासाहब के सान्निध्य में आने के पूर्व मेरी संगीत की कुछ कुछ साधना हुई थी। उस जमाने के बहुत सारे बुजुर्ग कलाकारों का गायन-वादन सुनकर मेरे कानों और मस्तिष्क पर गहरे संस्कार हुए थे। अपने कॉलेज में गायन और जलतरंग-वादन में मैंने बहुत-से पुरस्कार भी प्राप्त किए थे। मुझे अभिभावकों ने सलाह दी कि मैं लखनऊ जाकर वहां की 'संगीत विशारद' कर लूं।

गुरुवर के दर्शन और मार्गदर्शन

नागपुर के आप्पाजी भाके, नील सिटी हायस्कूल के सुपरिंटेंडेंट, मेरे पिताजीके मित्र थे। उनके पिताजी से कई वर्षों से उनका घरेलू संबंध था। उनके छोटे बंधु भाऊसाहब भाके लखनौ के ख्रिश्चन कॉलेज में प्रोफेसर के तौर पर स्थायी रूपमें १९२० को ही लखनौ में रहने लगे थे। भाऊसाहब अण्णासाहब के परम मित्र भातखंडे साहब के भी निकट सान्निध्य में रह चुके थे। यह सब सोचकर मैंने निश्चिंत मन से अगस्त १९४४ को लखनौ प्रयाण किया और श्री भाऊसाहब भाके के यहां ही ठहर गया।

भाऊसाहब भाके लखनौ में मेरा पितृतुल्य छत्र थे। बीच बीच में वे अण्णासाहब से मिलने आते और गायन के संबंध में मेरी प्रगति के विषय में पूछताछ कर चले जाते। भाऊसाहब का अण्णासाहब से अटूट स्नेह का रिश्ता था। फलत: मेरे विषय में शायद अण्णासाहब को अपनापा महसूस हुआ हो।

अण्णासाहब का गायन, उनका पढ़ानेका ढंग, उनकी विद्वत्ता इन सबके होते हुए भी उनका रहन-सहन सादा एवं स्वभाव विनम्र था। यह सब देखकर मुझे यह विश्वास हो गया कि बड़ा गायक होने का अपना स्वप्न अण्णासाहब से शिक्षा प्राप्त करके ही साकार होगा। अप्रसिद्ध राग सीखने में मुझे बहुत अभिरुचि थी। इसके पहले मैं श्री शंकरराव मास्तर साहब के पास २५-३० अप्रसिद्ध रागों की तालीम पा चुका था। 'निपुण' की कक्षाओं को जब अण्णासाहब तालीम दे रहे थे तब मेरी यह धारणा दृढ़ हो गई कि यदि कोई अप्रसिद्ध राग सीखना चाहे तो वह अण्णासाहबसे ही सीखे। इसके लिए मुझे पिताजी ने अनुमति दे दी। लखनौ में 'संगीत निपुण' की कक्षा में दाखिल होने के लिए मैंने कॉलेज में प्रवेश प्राप्त किया।

सन १९४५ की यह घटना है। मैं, चिंचोरे, छोटू, सुमतिबाई, नागपुर के आदलवार, कडू और दाऊजी गोस्वामी उक्त कक्षा में पढ़नेवाले शिष्य थे। 'निपुण' की कक्षा की तालीम ३-४ घंटे तक चलती थी। १९४५ में 'निपुण' प्रथम वर्ष एवं १९४६ में 'निपुण' की अंतिम परीक्षा हुई। चूंकि भाऊसाहब बड़ा मकान बदलकर छोटे मकान में रहने के लिए आए, मुझे अपने रहनेका अलग प्रबंध करना पड़ा। श्री सखाराम पखावजी के यहां एक बड़े कमरे में मैं रहने लगा। उसी कमरे में निकट ही की श्री जोगजी की खन्ना बिल्डिंग में रात-रात भर संपन्न गाने

की स्मृतियां आज भी ताजा हैं। उनका पर्याप्त गाना सुनने को मिला।

हैदराबाद में स्थापित नवीन शासकीय संगीत विद्यालय की ओर से गायन शिक्षक के पद के लिए विज्ञापन प्रकाशित हो गया था। मैंने वहां आवेदनपत्र भेज दिया। जुलाई में, इंटरव्ह्यू के पश्चात्, मैं चुन लिया गया। यहां के प्रसिद्ध गायक लहानू बापूरावजी के विरोध करने के फलस्वरूप शिक्षामंत्री, गृहमंत्री, गृहसचिव, डाइरेक्टर, डेप्युटी डाइरेक्टर प्रभृति कमिटी के सदस्योंके सामने मेरे और लहानू बापूराव के बीच गायन की प्रतियोगिता हो गई। सितार-शिक्षक का भी फिर से इंटरव्ह्यू लिया गया। उस वक्त मुल्की-गैर मुल्की आंदोलन चल रहा था। श्री अण्णासाहब के आशीर्वाद से मैं चुना गया और ३ अक्तूबर को Head of the Department of Hindustani Music के पद पर हिंदुस्तानी गायक/शिक्षक की ग्रेड पर मेरी नियुक्ति हो गई। १९५३ में PSC के प्रिन्सिपल के पद पर, प्रथम प्रिन्सिपल के रूप में मैं नियुक्त हुआ। १९५५ में नागपुर के कॉलेज में १९३८ से १९४४ तक पढ़ाई करके मैंने नागपुर युनिव्हर्सिटी की एम.ए. की उपाधि प्राप्त की। उत्तम नवोदित गायक, जलतरंग-वादक एवं चित्रकार के रूपमें नाम कमाया। उसी कॉलेज में म्यूझिक लेक्चरर के पद के लिए विज्ञापन प्रकाशित हुआ तब अण्णासाहब ने मुझे वहां आवेदन-पत्र भेजनेको कहा। किन्तु, चूँकि मेरे गुरुबंधु डॉ. शंकरराव प्रवर्तक के शिष्य श्री. प्रभाकर खर्डेनवीस ने आवेदनपत्र भेजा था, मैंने अपनी अर्जी वहां नहीं भेजी। १९५७ में श्री अण्णासाहब की खैरागढ़ के 'इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय' के व्हाईस चान्सलर के पद पर नियुक्ति होने के पश्चात् उन्होंने प्रोफेसर के पद के लिए मुझे अर्जी भेजने को कहा। उन्हें वहां मेरी ही नियुक्ति करनी थी। मैं इंटरव्ह्यू के लिए गया। अण्णासाहब के शिष्य चिंचोरे एवं शत्रुघ्न शुक्ला ने भी आवेदन-पत्र भेजे थे। अण्णासाहब ने हम तीनों को बुलाकर पूछा "तुम तीनों मेरे शिष्य हो, किसे चुनूँ, तुम लोग ही आपस में तय करके मुझे बताओ।" अण्णासाहब ने हमारे सामने धर्मसंकट उपस्थित किया। मैंने अण्णासाहब से कहा कि चिंचोरे मेरे गुरुबंधु हैं मैं उनके पक्ष में अपना नाम वापस लेता हूं। अण्णासाहब को यह बात पसंद नहीं आई, किसीको भी नहीं चुना गया।

परीक्षाओं के सिलसिले में संपन्न यात्राएं

बनारस विश्वविद्यालय की परीक्षाओं के सिलसिले में मैंने अण्णासाहब के साथ अनेक यात्राएं कीं। अलाहाबाद, अलवार, भरतपुर, जयपुर, दिल्ली, नागपुर, रेवा, कानपुर आदि सभी परीक्षा-स्थानों पर उनकी गाने की महफिलें भी होती रहीं। तानपूरे पर साथ-संगत के लिए मैं उपस्थित रहा।

नागपुर के वास्तव्य में मध्यप्रदेश के तत्कालीन गव्हर्नर माननीय श्री मंगलदास पक्कासा के राजभवन में अण्णासाहब का अप्रतिम गायन संपन्न हुआ। इस अवसर पर श्रीमती सुमतिबाई भी वहां मौजूद थीं। इसी प्रकार नागपुर युनिवर्सिटी में अण्णासाहब का विद्वत्ताप्रचुर एवं रंगतदार गायन संपन्न हुआ गाना सुननेके लिए युनिवर्सिटी के वाइस-चैन्सलर, रजिस्ट्रार तथा अन्य अधिकारी वर्ग आदि उपस्थित थे, विशेषकर नागपुर के प्रसिद्ध गायक-वादक भी वहां मौजूद थे। फलतः गाना और भी रंगतदार हुआ। अण्णासाहब ने उपस्थित रसिक श्रोतांओं को प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध रागों की और उनमें उनकी अपनी बनाई हुई बंदिशोंकी दावत ही दे दी।

बनारस की इस महफिल में अण्णासाहब एवं गु.पं. राजाभैया के शिष्य प्रा. परांजपे, प्रा.

बालाजी पाठक और अण्णासाहब के प्रति बहुत आदर एवं अभिमान रखनेवाले श्री सामंतजी और बनारस के बहुत-से गायक लोग उपस्थित थे। संगीत के मायके जैसे नागपुर शहर में संपन्न इस महफिल ने सभा में बहुत अच्छी तरह रंग भर दिया।

परीक्षा के सिलसिले में, कई वर्षों से अण्णासाहब ग्वालियर जाया करते थे। वहां महीने डेढ़ महीने तक तत्कालीन भूतपूर्व शिक्षा-मंत्री रावबहादुर मुळेसाहब के यहां ही उनका वास्तव्य रहता था। डेढ़ महीने की इस कालावधि में अण्णासाहब की कम से कम पंद्रह महफिलें संपन्न होती थीं। भोजन की पंक्ति में सुबह-शाम पं. राजाभैया शामिल होते थे और उन्हींकी इच्छानुसार महफिलें तय होती थीं। ग्वालियर के लोग अण्णासाहब का गाना बहुत पसंद करते थे। फलतः वहां के रसिक कलाकारों और श्रोताओं ने अण्णासाहब के गायन का पर्याप्त लाभ उठाया। पं. राजाभैया के साथ ही ग्वालियर के घरानेदार गायक, माधव म्युजिक कॉलेज के सभी शिक्षक, तथा अन्य संगीत विद्यालयों का शिक्षक-वर्ग आदि के सामने संपन्न महफिलों की रंगत एवं आनंद का वर्णन करना शब्दातीत है।

१९४७ और ४८ में दो वर्ष तक मुझे अण्णासाहब के साथ ग्वालियर जानेका अवसर प्राप्त हुआ। इन दो वर्षों में प्रथम बार ही मैं अण्णासाहब के साथ गया था और उनके साथ गाया था। मेरी वही साथ-संगत और मेरा गाना ग्वालियर के रसिक विद्वान् श्रोताओंको बहुत ही पसंद आया। मैंने सबसे खूब आशीर्वाद पाए। रावबहादुर मुळेजी के यहां हर शनिवार को भजन का कार्यक्रम संपन्न होता था। जिसमें मैं भी भावपूर्ण भजन गाया करता था। मेरी धार्मिकता, सादा रहन-सहन, विनम्र बर्ताव और अण्णासाहब के साथ गायन की उत्तम साथ-संगत के कारण मुळेसाहब मुझपर विशेष प्रसन्न रहते थे। इसी वास्तव्य में एक दिन सबेरे चायपान के पश्चात् अण्णासाहब की ब्रिंदावनी सारंग की 'नैना निरखि सखी' बंदिश तैयार हो गई।

ग्वालियर की ही तरह, परीक्षा के निमित्त किए हुए इंदौर के पंद्रह दिन के वास्तव्य में अण्णासाहब के अनेक जलसे कॉलेज एवं अन्य स्थानों में संपन्न हुआ करते थे। उस समय श्री मोरूभैया गोलवलकरजी कॉलेज के प्रिन्सिपल थे। अण्णासाहब के सब गानों की साथ-संगत के लिए वहां के प्रसिद्ध तबला-वादक उस्ताद जहांगीरसाहब रहा करते थे। प्रत्येक महफिल में श्री मोरूभैया गोलवलकर तथा नासिरुद्दीन खां साहब के शिष्य, शासकीय होळकर कॉलेज के प्रिन्सिपल श्री पद्मनाभ शास्त्रीजी निरपवाद रूप में उपस्थित रहते थे।

१९४८ के परीक्षा के दौरे में खमाज की 'सखी सांवरो' बंदिश की स्थायी तैयार हो गई, वहाँसे शिवपुरी जाने पर उसका अंतरा बन गया। इस समय अण्णासाहब के साथ श्री दिनकरजी उपस्थित थे। मैं उस वक्त अण्णासाहब की सिफारिश पर सरलाबेन साराभाई की 'श्रेयस्' संस्था में Director of Music के तौर पर नौकरी कर रहा था ।

कुछ अविस्मरणीय बैठकें

१९४८ में परीक्षा के सिलसिले में अण्णासाहब के साथ मैं इंदौर आया था। वहाँसे श्रीकृष्णराव मुजुमदार के साथ श्री कुमार गंधर्व जी से मिलने मैं देवास गया, जो तपेदिक से बीमार थे। श्री राजाभैया भी मेरे साथ थे। कुमार जी से मिलने के बाद रात को श्री कृष्णराव मुजुमदारजी ने अपने साले के यहां अण्णासाहब की बैठक आयोजित की। तबले की साथ-संगत के लिए इंदौर से उस्ताद जहांगीर खाँ और इंदौर के सारंगिये आए थे। अण्णासाहब का यह गाना भी

अविस्मरणीय रहा ।

१९४७ में अण्णासाहब के साथ बंडूभैया जोग, सुमतिबाई, चिंचोरे और मैं, सब जबलपुर आ गए। हम सब डॉ. सुभेदार के यहां ठहरे हुए थे। वहां के 'भातखंडे महाविद्यालय' के प्राचार्य श्री सदाशिवराव देशपांडे तो वहाँ थे ही। 'संगीत समाज' संस्था की ओर से अण्णासाहब का सम्मान एवं गाना संपन्न हुआ। व्हायोलिन की साथ-संगत के लिए बंडूभैया तो थे ही। गायन की साथ-संगत छोटू, चिंचोरे और मैंने की। मेरे पिताजी बाबासाहब ऊर्फ नारायणराव दंताळे उस समय जबलपुर में Rationing Office के Superintendent थे। मेरी बड़ी बहन सौ. विमल फलटणकर उस समय पिताजी से मिलने आई थी। हमारे यहां श्री अण्णासाहब एवं सब गुरुबंधु चाय-पान के लिए आए थे। मेरे पिताजी की अण्णासाहब से वह पहली ही भेंट थी। मेरे पिताजी से मिलकर अण्णासाहब को बड़ी खुशी हुई। मेरे पिताजी से अण्णासाहब ने विश्वासपूर्वक कहा– "मेरे ही निर्देशन में आपके सुपुत्र की संगीत शिक्षा ठीक तरह से चल रही है। उसकी ओर से आप निश्चिंत रहिए। इसके सिवा भाऊसाहब भाकेजी का पितृतुल्य छत्र उसपर है ही।" उनके इस कथन से मेरे पिताजी को भी बहुत तसल्ली हुई। जबलपुर से अण्णासाहब उनके साथ आए हुए हम शिष्यों के साथ नागपुर आए। नागपुर में 'चतुर संगीत विद्यालय' की ओर से अण्णासाहब का गायन हुआ। जबलपुर एवं नागपुर में प्राप्त मानधन को अण्णासाहब ने लखनौ के 'भातखंडे संगीत विद्यापीठ को' दान के तौर पर समर्पित कर दिया ।

'मद्रास म्यूजिक अकादमी' की ओर से अण्णासाहब का सम्मान, गायन और व्याख्यान

सन १९५० की बात है। 'मद्रास म्यूजिक अकादमी' ने अण्णासाहब को गायन एवं सप्रयोग व्याख्यान के लिए आमंत्रित किया। उस समय मैं अहमदाबाद में नौकरी कर रहा था। मैं और श्री अण्णासाहब दोनों अण्णासाहब का साथ देने के लिए मद्रास चले आए। 'मद्रास म्यूजिक अकादमी' के तत्त्वावधान में मद्रास में संपन्न होनेवाला दस दिन का संगीतोत्सव दक्षिण हिंदुस्थान में, कर्नाटक संगीत की दुनिया में प्रतिष्ठित माना जाता है। वहां 'रसिकरंजनी सभा' के सभागृह में अण्णासाहब का सम्मान एवं ३ घंटे तक गायन संपन्न हुआ। हॉल श्रोताओं से ठसाठस भरा हुआ था। वे राग गाने के पहले प्रत्येक राग का परिचय कराकर फिर गाते थे, ताकि सभी विद्वान, संगीत कलाकार एवं रसिक श्रोता उनके गायन का आस्वाद ग्रहण कर सकें। अण्णासाहब ने नंद राग से श्रीगणेश किया। प्रत्येक राग में सुसूत्र आलाप, बोलतानें, विविध लयों में सरगम के प्रकार आदि अण्णासाहब की गायकी में निहित अलंकार-सौंदर्य के फलस्वरूप यह संपूर्ण गायन श्रोताओं ने बेहद पसंद किया। उस बैठक के लिए अण्णासाहब ने कर्नाटक संगीत के राग 'बसंत' की बंदिशों की इसी समय रचना की। मुझे और भटसाहब को गाने की साथ-संगत के लिए अण्णासाहब ने पर्याप्त मौका दिया, जिससे श्रोताओं को गाना बहुत पसंद आया ।

दूसरे दिन प्रात्यक्षिक एवं चर्चावाले सत्र में हिंदुस्थानी संगीत-पद्धति के गीत-प्रकारों पर उनका अत्यंत उद्‌बोधक व्याख्यान हुआ। प्रात्यक्षिक में गाकर सुनाने के लिए मैं और भटसाहब तो थे ही। अपने व्याख्यान में हिंदुस्थान संगीत के Voice production, Voice culture और सुरोंके महत्त्व को अण्णासाहब ने कर्नाटक संगीत के सब विद्वान श्रोताओं को स्पष्ट करके समझा दिया। चर्चा-सत्र के अध्यक्ष तत्कालीन न्यायमूर्ति श्री वेंकटरामन् ने अपने समारोप के भाषण

में इस बात का जोरदार समर्थन किया कि कर्नाटक संगीत में श्री रातंजनकर जी की बताई हुई इन दो महत्त्वपूर्ण बातों का विचार एवं उसका योग्य उपयोग होना चाहिए। उन्होंने प्रमुखत: यह विचार सामने रखा कि संगीत, चाहे हिंदुस्थानी हो चाहे कर्नाटकी, दोनो मे स्वरों का प्राधान्य तो विद्यमान है ही। कर्नाटक संगीत में लय एवं विलास जितना ही वह भी महत्त्वपूर्ण है ।

बंबई की हमारी वापसी यात्रा में श्री अण्णासाहब के मस्तिष्क में हिंदुस्थानी संगीत के Short hand की कल्पना उद्‌भूत हुई। वह उन्होंने हमें सिखाई। इसी प्रकार इस यात्रा में 'रजनी कल्याण' की उद्‌भावना अण्णासाहब ने की और उसकी बंदिशें भी तैयार हो गईं ।

कुछ मौलिक विचार एवं मत :

(१) ललित के धैवत के विषय में

नागपुर के वास्तव्य में, जब मैं अण्णासाहब के साथ ऐसे ही रिक्षा में जा रहा था, मैंने उनसे ललित के धैवत के बारे में पूछा-

मैं - अण्णासाहब, ग्वालियर परंपरा के अनुसार, जो प्राचीन परंपरा है और जिसे हम मानते हैं, ललित में धैवत शुद्ध लगता है तो प्रचलित ललित में वह कोमल कैसे हुआ?

अण्णासाहब - ललित में शुद्ध धैवत उतरा हुआ लगता है। धैवत का स्थान गौण है। तीव्र म के साथ वह लपेट लिया जाता है। ..... उसपर न्यास नहीं होता। सितारियों ने उसे कोमल बनाया। सितार पर धैवत को तीव्र मध्यम के पड़दे पर खींचकर मींड द्वारा लिया जाता है। इस तरह मींड से लेते लेते सितारियों ने उसे कोमल स्थान पर खींच लिया। उनका यह निरीक्षण एवं विश्लेषण मुझे तुरंत जँच गया, क्योंकि सितार का मेरा अभ्यास था ।

(२) केदार बहार के विषय में

मैं - अण्णासाहब, केदार में रेगमप संगति नहीं आती। तब केदारबहार की अपनी 'मदमाते आए' बंदिश में आपने यह संगति कैसे रखी ?

अण्णासाहब ने कहा - I could not resist.' प्राय: राग मे न आनेवाली संगतियाँ स्वयंभू रूप में मन में उद्‌भूत होती हैं। वे केवल बंदिश तक ही सीमित होती हैं। राग में विस्तार में उन्हें नहीं लिया जाता। मेरी राय में उस संगति ने केदार बहार में बहार की है। वह बंदिशी का सौंदर्य बढ़ा देगी ।

(३) हिंदुस्थानी संगीत के शुद्ध ठाठ के विषय में :

मैं - अण्णासाहब, बिलावल ठाठ हिंदुस्थानी संगीत का शुद्ध ठाठ कबसे हुआ ? मध्ययुगीन हिंदुस्थानी संगीत का शुद्ध ठाठ तो ग्रंथों में बताए गए अनुसार 'काफी' था ।

अण्णासाहब - इस विषय में कोई निश्चित प्रमाण ग्रंथ में उपलब्ध नहीं होता। प्राय: तानसेन के जमाने में वह हुआ होगा। पंडितजी का भी यही मत था ।

(४) राग-रस के विषय में :

काव्य की 'रस' कल्पना को अपने राग के रस से जोड़ना ठीक नहीं। किसी राग का गायन करते समय उस राग की मूर्ति को सब प्रकार के नादसौंदर्य से सजाना-सँवारना ही राग का रस है। उदाहरण के लिए, दरबारी कानड़ा का दरबारी रस, तोड़ी का रस तोड़ी। देस का रस देस इ.। ये विचार लक्षणीय हैं ।

संगीत की श्रुतियाँ, स्वर, राग का मतलब केवल Mathematics नहीं है। स्वरस्थान अपने नियम स्थानों पर ठीक ढंग से लगने पर श्रुतियां अलंकार के रूपों से अपने आप लग जाती हैं। गाने में रंजकता-रंगत होनी ही चाहिए। वही सच्चा गाना है ।

(५) कर्नाटक संगीत के अतिरंजित गमक के विषय में :

राग-गायन में स्वर-संगति की तरह, प्रत्येक स्वर का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व (Personality) होता है, यह विचार अण्णासाहब अपने प्रिय विषय 'स्वरोच्चार' एवं 'काकुभेद' पर बराबर प्रसृत किया करते थे। उन्हें लगता था कि कर्नाटक संगीत को रंजक एवं हिंदुस्थानी संगीत को लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से स्वर के आविष्कार को महत्त्व देना आवश्यक है। इस संबंध में एक कर्नाटक संगीत के साथ की गई उद्‌बोधक चर्चा की यह स्मृति-

१९७० में हमने अपने पहले ही Government Music festival में Paper reading के लिए अण्णासाहब को आग्रहपूर्वक आमंत्रित किया । यहां के रवींद्र सभागृह में एक बड़े. कर्नाटक संगीतज्ञ के साथ बातचीत करते हुए उन्होंने अपने हाथ को लगातार हिलाते हुए पूछा- "मेरे हाथ की यह अँगूठी कैसी है?" मैं कुतूहल के साथ यह सब देख और सुन रहा था । उस गायक ने कहा- "आप तो लगातार हाथ हिला रहे हैं । उस अँगूठी के सौंदर्य के विषय में हाथ को स्थिर करके देखे बिना मैं कैसे कह पाऊंगा ?" अण्णासाहब ने तुरंत कहा- "वही बात अपने संगीत के स्वरोंके बारे में भी है । उसे स्थिर रूप में दिखाए बगैर उसका सौंदर्य कैसे मालूम होगा ? आपके कर्नाटक संगीत में भी स्वरविलास विद्यमान है ।"

(६) विलंबित ख्याल की लय :

अण्णासाहब हमेशा दृढ़ता के साथ कहा करते थे कि विलंबित ख्याल को अति विलंबित लय में नहीं गाना चाहिए । वे विलंबित ख्याल ग्वालियर लय में ही गाया करते थे, फिर वह चाहे एकताल हो, चाहे झुमरा, तिलवाड़ा या आड़ा चौताल । उनकी राय में अति विलंबित लय में गाने से बंदिश का रस निकल जाता है ।

मेरे कॉलेज में १९६२ में, सायंकाल को उनकी बैठक आयोजित की गई थी । हॉल रसिक श्रोताओं से ठसाठस भरा हुआ था । तानपूरे पर साथ-संगत के लिए मैं और भटसाहब थे । तबले की संगत के लिए शेख दाऊदसाहब और सारंगी पर रेड़ियो के हुसेनसाहब थे । तिलवाड़ा ताल में जैतश्री का विलंबित ख्याल शुरू करनेसे पहले उन्होंने दाउदसाहब से कहा- "दाऊदसाहब, बंबई-लय में तिलवाड़ा मत बजाइए । विलंबित ख्याल की बंदिश कोई सुनना चाहे तो अण्णासाहब और गुरुवर राजा भैयासे ही सुने । झपताल के साध्र भी वे मध्य लय में ही गाया करते थे । एक बार मैंने लखनौ आकाशवाणी से अण्णासाहब की मारूबिहाग की झपताल की 'सरस्वती माता' बंदिश बिलकुल धीमी लय में गायी । अण्णासाहब ने मेरा वह रेडियो कार्यक्रम सुना ।

रेडियो स्टेशन से लौट आने पर मैं अण्णासाहब से आशीर्वाद लेने के लिए उनके पास गया, तब अण्णासाहब ने संकेत दिया कि लय इतनी धीमी नहीं रखनी चाहिए ।

ग्वालियर-लय में विलंबित ख्याल गाकर अण्णासाहब ख्याल को सर्वांगीण सौंदर्य से सजा-संवार कर अत्यंत रंजक कर दिया करते थे ।

अण्णासाहब हमेशा कहा करते थे कि गुरु की गायन-शैली आत्मसात् करने के लिए शिष्यों को गुरु की संगति में खूब गाना चाहिए । अण्णासाहब गाने में अपनी साथ-संगत के लिए अपने शिष्यों को हमेशा साथ लेते थे और उन्हें गाने के लिए प्रोत्साहन दिया करते थे । अण्णासाहब के दौरे में जब मैं उनके साथ रहता था, मुझे ऐसे पर्याप्त मौके प्राप्त हुए और उनसे मुझे बहुत ही लाभ भी हुआ ।

अण्णासाहब की गायन-शैली :

गायन-शैली में आवाज लगाने से लेकर उस्तादी ढंग की बंदिशों के स्थायी-अंतरों की सच्चाई, राग की शुद्धता रागों के विविध पहलुओं का प्रदर्शन, ग्वालियर घराने की लय, आलाप, बेहेलावे, तानें बोलतानें, सपाट तानें, आग्रा घराने की गाने की आरंभिक नोमूतोम्, लयकारी, बोलालाप, विविध प्रकार की लयकारी, अतीत-अनागत की आकर्षक क्रीड़ा, सम पर आनेकी मनोहारी शैली, जयपुर घराने की लोच एवं पेंचदार तानें, चमत्कृतिपूर्ण तानें, अत्यंत जटिल किंतु उतनी ही रंजक तान, फिरत आदि सब प्रकारों में राग का सुसूत्र एवं ढ़ंगदार प्रस्तुतीकरण विस्तार एवं इन सब गायन-आविष्कारों पर रंजकता एवं रंगीलेपन का प्रावरण इत्यादि को अण्णासाहब की गायकी का वैशिष्ट्य कहा जा सकता है ।

पं. बालकृष्णबुवा, उस्ताद फैयाजखां साहब, उस्ताद अब्दुल करीमखां साहब, उस्ताद अल्लादियाखां साहब, पं. विष्णु दिगंबर, उस्ताद मुश्ताक हुसेनखां साहब, अनंत बुवा जोशी, पं. राजाभैया पूछवाले आदि अण्णासाहब के प्रिय गायक थे; गु. पं. भातखंडे तो उनका सांगीतिक जीवन बनानेवाले, उनके सभी सांगीतिक गुणों को आकार देनेवाले सद्गुरु और सभी संगीत कलाकारों के आदर-स्थान थे । फलत: अण्णासाहब अपनेको किसी विशिष्ट घराने के गायक नहीं मानते थे । यह बात उन्होंने प्रत्यक्षत: मुझसे कही है । वे कहा करते थे- "ग्वालियर, आग्रा, जयपुर आदि घरानों के श्रेष्ठ गायकों की तालीम मुझे भले ही न मिली हो, तो भी वह सब **हमारी अपनी ही गायकी है**" १९२६ से लेकर १९९१ तक उत्तमोत्तम श्रेष्ठ गायकों के गायन मैंने सुने, उन सबके प्रति मेरे मन में नितांत आदर है । किंतु मेरा आदर्श गायक श्री अण्णासाहब ही रहे हैं । कैसा रंगीलापन है उनके गाने में! मेरे स्मृतिपटल पर गहराईतक अंकित वह गाना याद आते ही मैं गानसमाधि में लीन हो जाता हूँ । यह सौभाग्य उनके चुने हुए हम सब श्रद्धावान् विनम्र शिष्यों तथा उनके निकट के सब सुहृदों को प्राप्त हुआ है ।

अण्णासाहब ने एक बार मुझसे कहा- "दंताळे, तुम सब मेरे सुशिक्षित शिष्य हो । मेरे गुण-दोष मुझे अवगत हैं, फिर भी तुम शिष्यों की मेरे प्रति कितनी भक्ति और श्रद्धा है ! तुम्हें तथा भट, छोटू, दिनकर इ. शिष्यों को देखकर मैं गद्गद् हो जाता हूँ । अपने बच्चों को देखकर भी मुझे ऐसा एहसास नहीं होता । " गुरुवर के आत्यंतिक ममता के इन शब्दों को सुनकर मेरी आँखों में आनंदाश्रु आ गए । मैंने अण्णासाहब के चरणों में मस्तक रखा ।

अण्णासाहब ने किसी भी गायक के विषय में बोलते समय अनादर प्रकट नहीं किया अथवा

उन्होंने उसके अवगुणों की भी कभी चर्चा नहीं की । घरानेदार गायक की तालीम प्राप्त किए एवं परंपरा की रक्षा करनेवाले गायक के प्रति अण्णासाहब के मन में सदैव आदर विद्यमान रहता था, जो मैंने उनकी बातचीत में तथा ऐसे अनेक गायकों के संपर्क में आनेपर श्री अण्णासाहब के उनके साथ किए गए बर्ताव में देखा है ।

रेडियो ऑडिशन के विषय में :

केन्द्र सरकार के नभोवाणी विभाग की ओर से Cultural Audition Board के द्वारा आकाशवाणी कलाकारों के 'ग्रेड्स' निर्धारित करने के उद्देश्य से लिए गए 'ऑडिशन' का उपक्रम एक ओर जहां पुराने परंपरागत एवं नवोदित रंजक गायन-वादन करनेवाले कलाकारों के लिए वरदान सिद्ध हुआ, वहीं अण्णासाहब के सांगीतिक एवं वैयक्तिक जीवन की दृष्टि से एक बड़ी दैवी आपत्ति साबित हुआ । हम अण्णासाहब के शिष्यों के लिए वह एक अत्यंत दुःखद घटना थी । इस घटना ने अण्णासाहब के जीवन को काफी ध्वस्त किया ।

सेंट्रल ऑडिशन बोर्ड (CAB)के विषय में कुछ तथ्य :

उस जमाने में राजाश्रय छूट जाने के फलस्वरूप घरानेदार गायकों तथा सर्वसाधारण शिक्षकों को अपनी आजीविका के लिए आकाशवाणी के रूप में राजाश्रय, लोकाश्रय एवं ट्यूशन्स पर निर्भर रहना पड़ता था । प्रतिकूल आर्थिक परिस्थिति से संघर्ष करते हुए व्यावसायिक घरानेदार कलाकारों एवं उत्तम संगीत-शिक्षकों को कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं, सो तत्कालीन नभोवाणी मंत्री डॉक्टर बी.व्ही. केसकरसाहबने देखा था । कलाकारों की यह परिस्थिति देखकर उन्हें प्रोत्साहन देने के लिए उनकी परंपरागत संगीत की अमूल्य धरोहर को सुरक्षित रखकर उसे अगली पीढ़ी तक पहुँचाने के उद्देश्य से तथा उनको आर्थिक सहारा देने के लिए डॉ. केसकरजी ने अण्णासाहब तथा अन्य संगीत कलाकारों से विचार-विमर्श करके IAS, IPS परीक्षाओं की तरह कलाकारों की जाँच-परीक्षा द्वारा उनके ग्रेडेशन के लिए राष्ट्रीय स्तर पर 'सेंट्रल ऑडिशन बोर्ड' की स्थापना की । उसमें कलाकारों की ऑड़िशन्स लेनेके लिए 'ऑड़िशन कमिटी'पर विविध घरानों के घरानेदार कलाकारों को नियुक्त किया, जिनमें मुश्ताक हुसेनखाँ साहब, विलायत हुसेनखाँसाहब, पं. विष्णु दिगंबर के शिष्य पं. विनायकराव पटवर्धन एवं श्री कशाळकर, बीरेंद्र रॉय, किशोर चौधरी, गजाननराव जोशी, मल्लिकार्जुन मंसूर, नासिरुद्दीन खां के शिष्य इंदौर के पद्मनाभ शास्त्री इत्यादि कलावंतों का सदस्य के रूप में समावेश था, कुछ लोगों की सलाहकार के रूप में भी नियुक्ति की गई । बड़े गायकों को ऑडिशन्स से छूट दी गई ।

बुद्धिमान छात्र जिस प्रकार परीक्षा में अच्छी तरह पर्चे लिखकर उसमें उच्च श्रेणी प्राप्त करते हैं, ठीक उसी प्रकार जिन कलाकारोंने उत्तम ऑड़िशन दी गई है। उनके Practical performance के स्तर के अनुसार, अर्थात् राग का सौंदर्यपूर्ण प्रस्तुतीकरण बंदिश की सच्चाई, राग की शुद्धता, सुर एवं ताल पर प्रभुत्व आदि गुणों के आधार पर उन्हें तदनुसार संबंधित क्लास दिया गया, चाहे वह कलाकार किसी भी घराने का गायक-वादक क्यों न हो । जिन कलाकारों का उनकी महत्त्वाकांक्षा के अनुरूप उनका अपेक्षित ग्रेड़ नहीं मिला उनकी सिफारिश उनके ५-६ कार्यक्रम सुनकर CAB के पास की जाने की सूचना प्रत्येक स्टेशन के स्टेशन-ड़ायरेक्टर को दी गई थी । अण्णासाहब ने मुझे यह प्रत्यक्षतः बताया था । परंतु इसका पालन न होने से जिनके

ग्रेड़ में सुधार नहीं हो सका उन कलाकारों ने विद्रोह खड़ा किया । उन्होंने CAB के चेअरमन स्वयं यूनियन मिनिस्टर केसकर और व्हाइस-चेअरमन श्री. अण्णासाहब दोनों पर गालियों की बौछार करते हुए तथा उनके विषय में अनादरदर्शक बातें फैलाकर उनकी भर्त्सना करनेका लगातार प्रयत्न किया, दोनों की आयु की समाप्ति तक यह चलता रहा ।

१९६२ के पश्चात् डॉ. केसकर अगला चुनाव हार गए । पहलेवाली ऑड़िशन कमिटी, जिसमें प्रधान संगीत-निर्माता के रूप में विद्वान् संगीतज्ञ ठाकुर जयदेवसिंह का अंतर्भाव था, बरखास्त की गई । हम शिष्यों को अण्णासाहब ने ग्रेड़ेशन नहीं दिया था । अन्य विद्वान कलाकार कमिटी मेंबर्स की ही सिफारिश से हमें "A" ग्रेड़ मिल गई थी । (Established Artists) लब्धप्रतिष्ठ कलाकार के रूप में 'A' ग्रेड़ प्राप्त किए हुए हम अण्णासाहब के शिष्योंने १९४८ में ही नाम एवं स्थान कमाया था । रेडियो संगीत-संमेलन, संगीत के एवं भाषण के राष्ट्रीय कार्यक्रम, प्रादेशिक कार्यक्रम आदि डॉ. केसकर एवं अण्णासाहब की आकाशवाणी को दी हुई बहुमूल्य देन है । हम उत्तम कलाकारों एवं हमारे तैयार किए हुए उत्तम शिष्यों को अब आकाशवाणी पर कार्यक्रम प्राप्त करने के लिए कैसी प्रतिकूल परिस्थिति का मुकाबला करना पड़ता है, हमीं जानें । आखिर परमात्मा की इच्छा !

घरानानिरपेक्ष आदर-भाव :

मैं जब अण्णासाहब के साथ बंबई से कलकत्ता जा रहा था, व्ही. टी. स्टेशन पर पं. विनायकबुवा पटवर्धन से भेंट हो गई । मैंने उन्हें हाथ जोड़कर आदर के साथ प्रणाम किया । अण्णासाहब ने कहा- "दंताळे, इस तरह नहीं, झुककर प्रणाम करो ।" मैं तुरंत झुककर नतमस्तक हुआ । बुवासाहब को अत्यंत खुश होते देखा । जब जब पं. विष्णुबुवा के निष्ठावान् शिष्य पं. विनायकबुवा एवं पं. नारायणराव व्यास से मेरी मुलाकात हुई, तब तब मैं उन्हें झुककर वंदन करता था । वही बात श्री. अंतुबुवा एवं पं. गजाननबुवा के संपर्क में आने पर भी न रही। अंतुबुवा तो हमारे दादागुरु और पं. गजाननबुवा अण्णासाहब के शब्दों में 'खलीफा' थे ।

'रेड़िओ संगीत संमेलन' में गायन (१९५८):

१९५८ में दिल्ली के 'सप्रू हाऊस में अण्णासाहब का रेड़िओ संगीत संमेलन में अप्रतिम गाना संपन्न हुआ। साथ-संगति के लिए रेड़िओ ने मुझे 'बुक' किया था। व्हायोलिन की संगत के लिए बंडू भैय्या, व्ही.जी. जोग थे। अण्णासाहब बेलूरजी के यहां ठहरे हुए थे। मैं सरोजिनी नगर में अपने मित्र बाबा भाके के यहाँ ठहरा था। दूसरे दिन अण्णासाहब रियाज के लिए बैठ गए। तिलक कामोद राग में, रूपक ताल में विलंबित ख्याल की बंदिश और विक्रम ताल में द्रुत ख्याल की, खासकर सम्मेलन के लिए, नवीन बंदिश ही बनाई थी। नोटेशन करके अण्णासाहब ने मुझे वह दे दी। उन्होंने उसे गाया, उनके साथ ही गाकर मैंने उसे तुरंत आत्मसात् किया। दिनकर जी उस समय दिल्ली में ही थे। तबले की संगत के लिए आकाशवाणी के एक जाने-माने कलाकार आए थे। उन्होंने रूपक ताल जैसे तैसे बजाया। परंतु विक्रम ताल के बोल सामने लिखकर देनेपर भी वे उसे बजा नहीं सके। अनेक बार प्रयत्न करने पर भी जब वे उसमें सफल नहीं हो सके तब उन्होंने कहा- "अण्णासाहब, आपका यह गाना रेड़िओ संमेलन के लिए है। मुझे आत्मविश्वास नहीं आता। यदि आप मुझे क्षमा करें, तो मैं उपकृत रहूंगा।

दिनकर ने संतराम को विक्रम ताल की प्रैक्टिस करवाई थी। वह तुरंत उसे ले आया। संतराम ने अच्छा बजाया। तिलक कामोद के बाद परज राग की 'मैं जो जमुना पानी' बंदिश गानी थी। रियाज अपेक्षित रूप में संपन्न हुआ। दूसरे दिन संमेलन में अण्णासाहब का आखिरी गाना था। डॉ. केसकरसाहब, ठाकुरसाहब, विलायत हुसेन खांसाहब, ड़ीजी.एचसी. माथुरसाहब, हमीद अहमदखां, नरेंद्र शुक्ला, वि.रा. आठवले आदि ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ रसिक कलाकारों एवं श्रोताओं से हॉल खचाखच भरा हुआ था। अण्णासाहब ने इस प्रकार सम्हलकर रंगतदार गाना गाया कि उसने पहलेवाले गायक-वादकों के गाने का प्रभाव मिटा दिया। अण्णासाहब की आवाज़ बिलकुल नॉर्मल थी। नोम् तोम् आलाप के बाद विलंबित ख्याल को उन्होंने विविध प्रकार के सौंदर्यपूर्ण एवं बौद्धिक आकृति-बंधों के जरिए बहुत ही सुंदर ढंग से गाया। उसके बाद विक्रम ताल के द्रुत ख्याल ने भी पर्याप्त रंग भर दिया। नवीन ताल की यह बंदिश सब श्रोताओं को बेहद पसंद आई। बंडू जोग ने भी सुंदर साथ-संगत की। मेरी संगत भी अपेक्षाकृत ठीक रही। गाना खत्म होने के बाद डॉक्टरसाहब, माथुरसाहब, खांसाहब एवं सब कलाकारों ने अण्णासाहब की खूब तारीफ की। मेरे सहगायन को भी बुजुर्ग श्रोताओं ने सराहा।

अण्णासाहब के इस रंगतदार गाने की रेकॉर्डिंग अमूल्य धरोहर के रूप में आज भी मेरे पास सुरक्षित है, जिसे दशहरा, दीपावली, वर्षप्रतिपदा आदि त्यौहारों के समय सुनकर मैं अपने कान पवित्र करता हूँ। अन्य समय में भी अण्णासाहब का स्मरण होते ही, वह रिकार्ड़ बजाता हूं। मुझे कई बार ऐसा लगता है कि अण्णासाहब का यह रिकार्डिंग सभी कलाकारों, शिक्षकों, विद्यार्थियों, रसिक श्रोताओं के पास कॅसेट के रूप में हो। "श्री रातंजनकरजी का गाना रुक्ष है, वह केवल शास्त्र है।" कहकर आलोचना करनेवालों का मुँह बंद करनेवाला हमारे आदरणीय गुरुवर का अमर किया हुआ सर्वांगपरिपूर्ण तिलक कामोद पिछले ६६ वर्षों में मैंने कभी नहीं सुना था।

एक बार मैं और भटसाहब बंबई में अण्णासाहब के यहां गवालिया टैंक गये थे। जानेके बाद हमने तानपूरे मिलाए। हम शिष्यों को गाना सिखानेके लिए अण्णासाहब हमेशा तत्पर दिखाई देते थे। एक घंटाभर राग पूरिया सिखाने के बाद अण्णासाहब को अड़ाणा के 'हे गिरधारी' विलंबित ख्याल का स्मरण हुआ। कुछ समय चिंतन करने के बाद अण्णासाहब ने तुरंत, बिना कागज पर लिखे वह राग हमें सिखाना आरंभ किया। बंदिश सिखाते सिखाते पूरी हो गई। फिर उसका नोटेशन करके उसे लिपिबद्ध कर रखा। अपने शिष्यों को भी अण्णासाहब ने बंदिशें बनाने के लिए प्रोत्साहन दिया। इसी प्रोत्साहन के फलस्वरूप गुरुवर के कृपाशीर्वाद से दिनकर ने सैंकड़ों उत्तमोत्तम बंदिशें बनाईं और नवीन राग भी तैयार किए। छोटू भैय्या ने भी उत्तम बंदिशें रचीं। उसी प्रकार मैंने भी २०० से अधिक ख्याल, ध्रुपद, धमार, तराने, टप्पा, ठुमरी आदि की रचना की। हैद्राबाद के वास्तव्य में मेरी आभोगी में रचित द्रुत ख्याल की 'करिए कृपा हे नाथ' बंदिश की स्थायी की आखिरी पंक्ति किसी तरह बैठती नहीं थी। मैंने अण्णासाहब को वह गा सुनाई। अण्णासाहब ने अत्यंत सुंदर शब्दों में स्वरसंगति जोड़कर स्थायी पूरी की।

बंदिश-रचना की सच्चाई, राग की शुद्धता एवं रंजकता :

लोकप्रियता एवं नामवरी हासिल किए हुए गायकों द्वारा बंदिशों को बिगाड़ना एवं राग की शुद्धता की ओर जान-बूझकर ध्यान न देना शास्त्रीय संगीत के विकास की दृष्टि से अत्यंत

घातक होता है। अण्णासाहब ने अपने एक लेख में गायक-वादकों को लक्ष्य कर किया हुआ निम्नांकित निवेदन विचारणीय है :-

"रागदारी संगीत गानेवालों को चाहिए कि जो थोड़े बहुत व्यभिचार परंपरागत राग-गायन में घुस गए हैं उन्हें हटा दें।"

एक अत्यंत ख्यातिप्राप्त गायक ने अपने एल.पी. रिकॉर्ड में सूरमलार गाया है। इस गायक को संभवत: इस राग की तालीम प्राप्त नहीं है। सुन-सुनकर ही उसने उसे गाने का साहस किया है। बालगंधर्व ने नाट्यसंगीत के अंतर्गत 'अनृतची गोपाला' पद सूर मलार में गाया है। उसीकी यह नकल है। सूरमलार का मतलब सामंत सारंग नहीं है। इसी बड़े गायक ने आभोगी की घरानेदार बंदिश 'चरन धर आये' की सम 'आ' पर रखकर बंदिश को पूरा बिगाड़ ही दिया है। उसी घराने की एक बड़ी गायिका से, जब उसे मैंने अपने घर भोजन के लिए आमंत्रित किया था, पूछा- "आपको अपने गुरु सवाई गंधर्व ने उस बंदिश के राग की तालीम किस प्रकार दी है?" उन्होंने साफ साफ बताया, "हमारे गुरुने हम दोनों को इस बंदिश की तालीम नहीं दी है। भातखंडे की पुस्तक के आधार पर वह मैंने सीख ली है।" इस घरानेदार बंदिश की सम अन्य सब घरानेदार गायकों ने 'च' पर ही रखी है। एक अन्य लोकप्रिय गायक ने अण्णासाहब के पूर्वकल्याण के अति प्रसिद्ध विलंबित ख्याल 'होवन लागी सांझ' को द्रुत ख्याल के रूप में गाया है। यह बड़े दुर्दैव की बात है कि बड़े गवैये के एल.पी. रिकॉर्ड में गाए हुए इस ख्याल का नवोदित गायक भी अनुकरण करने लगे हैं। इन महाशय को, जो मेरे मित्रों में से हैं, मैंने अपने यहां जब चाय के लिए आमंत्रित किया था, मैंने आड़े हाथों लिया और उनसे पूछा कि आपने यह विलंबित ख्याल द्रुत ख्याल के रूप में क्यों गाया? तब उन्होंने जवाब दिया, "मैं दूसरा द्रुत ख्याल जानता नहीं था इसीलिए विलंबित ख्याल को मैंने द्रुत बनाया।" मैंने उनसे कहा कि यदि आपको दूसरी बंदिश मालूम नहीं थी तो मैं अण्णासाहब से आपके लिए वह तैयार करा देता। अण्णासाहब के प्रति उनके दिल में आदर था, वे बड़े लज्जित हुए।

टिहरी गढ़वाल में, वहां के युवराज के अभिषेक के लिए मैरिस कॉलेज के हम कलाकारों को आमंत्रित किया गया था, इनमें सखावत हुसेनखां सरोदिया, पखवाज-वादक सखारामजी, व्ही.जी. जोग, बिस्मिलाखांसाहब और उनके बड़े भाई तथा कॉलेज के अन्य लोग भी मौजूद थे। राजासाहब ने सखावतखां साहब को सरोदपर धानी राग बजाने की फर्माइश की। खांसाहब ने धानी के बदले जंगला ठोंक दिया। मैं और बंडू भैय्या मूंछों में हंसने लगे। राजासाहब शायद धानी नहीं जानते थे। कार्यक्रम के बाद खाँसाहब ने मुझसे पूछा- "अरे भई दंताळे, प्रिंसिपल साहब ने आपको धानी कैसा बताया?" मैंने उन्हें धानी गा सुनाया और उसकी परंपरागत बंदिश भी सुनाई। खांसाहेब ने तुरंत कहा- "अरे यह धुन तो मेरे नाना ने मुझे सिखाई थी।" "फिर आपने क्यों नहीं बजाई खांसाहब?" मैंने पूछा। खांसाहब ने जवाब दिया- "अरे भई, याद नहीं आया।"

संभवत: १९७२-७३ साल की बात है। मैं अण्णासाहब से मिलने गवालिया टैंक गया था। वहां पहुंचते ही एक विलक्षण दृश्य देखा। जिस हॉल में बालकृष्णबुवा, विष्णुबुवा गा चुके हैं, पं. भातखंडे जहां उन्हें सुनने के लिए आया करते थे, अण्णासाहब जहां गा चुके हैं, हम गुरुबंधुओं ने जहां तालीम पाई, गाया, खूब मनोविनोद किया, आनंद के साथ गपशप होते

देखा, उसी हॉल में छोटे छोटे पार्टिशन करके सबने अपनी अपनी अलग अलग गृहस्थी बसायी थी। अण्णाजी का सामान, खाना-पीना, चौका चूल्हा एक कमरे में। प्रत्यक्षत: अण्णासाहब की बताई हुई घटना का स्मरण हो आया। जब उनके पिता गुजर गये थे तब उनके चरणों में सिर रखकर सब भाइयों ने कसम खायी थी कि हम एक दूसरे को छोड़कर अलग नहीं रहेंगे। माता का बचपन में ही निधन होनेसे बुआ ने जीवनभर अविवाहित रहकर सांसारिक जीवन का परित्याग किया। उसी घर की भला ऐसी दुर्दशा हो? दादा का तो १९४८ में ही देहांत हुआ, दूसरे छोटे बंधु 'भाई' भी गुजर गए, मानो दुख का पहाड़ ही टूट पड़ा और खाई हुई उस कसम पर पानी फिर गया। मुझे बहुत ही बुरा लगा। अण्णासाहब बाथरूम से तौल सम्हालते हुए आ रहे थे। मैंने उनका हाथ पकड़कर, कमरे में लाकर उन्हें बिस्तर पर बिठाया। अण्णासाहब ने विषण्ण मन से कहा- 'दंताळे, तुमने इसके पहले मुझे कितना ॲक्टिव देखा है? अब मैं चल नहीं सकता, लिख नहीं सकता। मेरी इस दशा को क्या कहा जाए?''

मैं - ''आपका स्वास्थ्य जल्द ही सुधर जाएगा, दिल छोटा न करें, चिंता को छोड़ दें। यह शरीर-भोग है।''

अण्णासाहब - ''दंताळे, मेरी और ८०-९० बंदिशें तैयार हैं।''

मैं - हम छपवा लेंगे अण्णासाहब।

अण्णासाहब - ''पैसा?''

मैं - ''अण्णासाहब, हमारा पैसा आप ही का है न? भटसाहब, छोटू, दिनकर आदि हम सब गुरुबंधु उसे मिलकर छपवा लेंगे''।

माताजी चाय ले आईं। घंटाभर उनके चरणों के पास बैठकर, चाय पी और उनके चरणों में मस्तक रखकर उनसे बिदा हो गया। बाहर आने पर मैं अपने आंसुओं को रोक नहीं पाया। दरवाजे के बाहर एक कोने में जाकर आँसुओं के लिए रास्ता खुला करके मैं दिनकर के पास जाने निकला।

आखिरी भेंट:

भाई के निधन के पश्चात् दूसरे छोटे बंधु 'बाबा' भी गुजर गए। दु:ख का यह सब भार सिरपर उठाकर गवालिया टैंक से अण्णासाहब विद्याजी के फ़्लैट में माताजीसह जोगेश्वरी में रहने आए।

जोधपुर युनिवर्सिटी की बोर्ड ऑफ स्टड़िज की मीटिंग के लिए बंबई होकर जाना मैंने तय किया था; तदनुसार दिसंबर १९७३ में अंतिम सप्ताह में मैं बंबई आया। छोटू के यहां ठहर गया और छोटू के साथ अण्णासाहब से मिलने जोगेश्वरी गया।

अण्णासाहब का शरीर अत्यंत जीर्ण एवं थका हुआ था। बाहर के हॉल में वे आराम कुर्सीपर पैर फैलाकर बैठे थे। हम दोनों ने उन्हें वंदन किया और उनके पास बैठ गए। माताजी भी बाहर आईं। लगा कि इस बार अण्णासाहब कुछ बोलने की स्थिति में नहीं हैं। जब से वे फ़्लैट में रहने के लिए गए थे, बाहर के ही हॉल में पड़े रहते थे। डॉक्टर के कहने पर भी वे घर के भीतर भी घूमते फिरते नहीं थे। गैलरी में धूप में बैठना भी वे टालते थे। माताजी से हैदराबाद की वार्ता एवं क्षेम समाचार बताकर हमने उनके और अण्णासाहब के स्वास्थ्य के बारे में पूछताछ की। उन्होंने कहा- ''जब से अण्णासाहब फ़्लैट में रहने आए हैं, बाहर

के हॉल में ही बैठे रहते हैं। पूरा फ़्लैट भी उन्होंने कभी नहीं देखा। जब से गवालिया टैंक के निकट का निवासस्थान उन्होंने छोड़ दिया है वे उदास-से रहने लगे हैं।

माताजी चाय-नाश्ता ले आईं। अण्णासाहब को भी मैं अपने हाथ से चाय देने लगा। उन्होंने जोर से चिल्लाते हुए इनकार किया। छोटू ने कहा- ''आजकल अण्णासाहब ने खाना-पीना भी लगभग छोड़ दिया है।'' उन्होंने जबरदस्ती जैसे-तैसे थोड़ी-सी चाय पी, मुंह थोड़ा-थोड़ा जूठा किया।

आंखों से आंसू रोकना मेरे लिए मुश्किल हो गया। अण्णासाहब को मैंने अपनी यह दशा मालूम नहीं होने दी। घुटने टेककर, उनके चरणों में मस्तक रखा और छोटू और मैंने अण्णासाहब से भारी दिल से बिदा ली।

वह बिदाई, चरणों में नतमस्तक होकर प्राप्त किए हुए वे आशीर्वाद, वह भेंट नियति ने आखिरी ही बना दी।

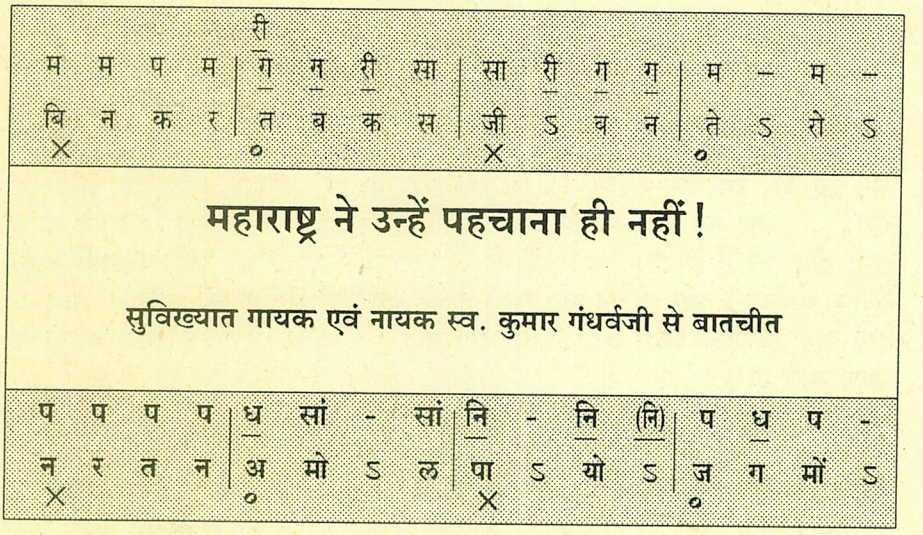

डॉ. के. जी. गिंडे, कुमारशिष्य श्री सत्यशील देशपांडे

(१ अगस्त १९९०)

गिंडे : कुमार भैया, आज हम अण्णासाहब के दरबार में बैठे हुए हैं और पुरानी यादों को उजाला देने की कोशिश कर रहे हैं। हम दोनों अपने गांव से बिछुड़ गए और चार साल बाद बंबई में ही मिले। याद है न ?

कुमार : हां, हां, याद है तो।

गिंडे : बंबई में प्रोफेसर बी.आर. देवधर ने अपने म्यूजिक स्कूल में हमारे अण्णासाहब के भाषणों का आयोजन किया था, वहां हम मिले। याने यह १९३६ की बात है। फिर मैं पढ़ाई के लिए गदग चला गया और तुम देवधर मास्टरजी के साथ बंबई आ गए।

कुमार : बिलकुल, मैं मन में यही सब स्मरण कर रहा था।

गिंडे : मेरी याद के मुताबिक बैरिस्टर जयकरसाहब ने १९३५ के आखिर में जिना हॉल में जो कान्फ्रेन्स आयोजित की थी, तब मास्टरजी ने तुम्हारा पहला प्रोग्राम पेश किया था। उस प्रोग्राम में उ. मंजीखां, उ. अल्लादियाखां, उ. फैयाजखां, उ. अब्दुल करीमखां ये सब मौजूद थे।

कुमार : हाँ, उस प्रोग्राम में मैं कलकत्ते से आया था।

गिंडे : अण्णासाहब से तुम्हारी पहली मुलाकात उसी वक्त हुई, क्यों ?।

कुमार : नहीं, मुझे ऐसा नहीं लगता। मैंने उन्हें उसके पहले देखा। लेकिन तुम्हारी याद तो बराबर थी। बचपन में हम मिले थे। गिंडे नाम भी याद था। तुम्हारे पिताजी मुझे चिदंबरस्वामी

के कार्यक्रम में ले गए थे। वह जमाना ही कुछ और था। उन दिनों वझेबुवा वहां आया करते। मैंने उनका गाना सुना था। इतना ही जानता था कि ये बहुत बड़े गवैया हैं। समझता तो कुछ भी नहीं था। तुम्हारे बड़े भैया दिलरुबा बजाते। वह तो हमारे लिए एकदम नया वाद्य था। आगे पता चला कि तुम्हारे भैया बड़े डॉक्टर हैं। तो ऐसा सब यादों का सिलसिला मन में जाग रहा था, उस वक्त १९३५-३६ में। सोच रहा था कि यह मेरा बचपन का साथी गया कहाँ? ... और सब याद आ रहा है। तुम्हारे पिता जब मुझे ले के आए, तब मैंने कमीज पहनी थी। गले में शिवलिंग था। और हम तो विष्णुपीठ जा रहे थे। तुम्हारे पिताजी ने मुझे कमीज का ऊपरी बटन लगाने को कहा। उनको शिवलिंग दिखना नहीं चाहिए! आज उन सभी बातों पर हंसी आती है। .... तो ऐसी बातें। ....लेकिन अण्णासाहब के भाषणों का स्मरण आज भी है।

गिंडे : हर शनिवार इतवार को देवधर साहब ने अण्णाजी के भाषण रखे थे।

कुमार : फिर मैंने तुमसे पूछा कि तुम आजकल कहां हो। तुमने बताया कि मैं लखनऊ में अण्णाजीके साथ रहता हूं। तो बंबई में उस वक्त अण्णासाहब शुद्ध कल्याण की चीज 'अल्ला ही बड़ा साईं' गाए थे। राजाभैय्याजी का भी गायन हुआ था। लेकिन अण्णासाहब से खास परिचय तब हुआ जब वे दो-ढाई महीने छुट्टी के लिए बंबई आते थे। .... मुझे हमारे बंडू जोग (व्ही. जी. जोग) की भी याद आती है। वह शिक्षक बनकर लखनऊ गया था। तुम लोगों को वहां वायलिन-वादक अध्यापक की जरूरत थी। बंडू को लखनऊ भेजना तय हुआ तब जोग के फुफेरे भाई आठवले मास्टरजी ने कहा कि अपने संगीतज्ञान की फिक्र मत करो। वहां पं. रातंजनकर हैं, वह सब देखभाल लेंगे। और तुम उस वक्त बंबई में नहीं थे। बैलहोंगल गए थे।

गिंडे : हां, मैं १ महीने की छुट्टी पर जाता था।

कुमार : मगर उस समय रातंजनकर जी के साथ अपना एस.सी.आर.भट था। तो कहने का मतलब यह कि मैं, बंडू, मुळे और भट वहां जमते थे। ५ बजते ही हाथ में एक कापी लेकर मैं वहां हाजिर हो जाता था। लगभग २ महीना यह उपक्रम चलता। हम उसे कभी टलने नहीं देते थे। अण्णासाहब की सोहबत में बैठना अपने में एक शिक्षा का ही अवसर था। फिर उस गपशप को सुनने और लोग भी आया करते। वह समय बिताने के लिए आते, मगर हम तो कुछ नया सीखने के लिए जाते।

भटसाहब से हमारी अच्छी दोस्ती थी। क्योंकि वह और बंडू लखनऊ में साथ साथ रहते। तुम तो क्या 'सुपीरियर क्वालिटी' के लोग! इधर हमारी महफिल कभी बंडू के यहां तो कभी देवधर सर के यहां चलती ही रहती थी। तो उस मुकाम में हर साल जबतक मैं बम्बई में रहा तबतक मुझे बहुत कुछ सीखने का मौका मिला। लेकिन अण्णासाहब की तबीयत का, उनके स्वभाव का जो रूप हमें देखने को मिला सो ग्वालियर में।

हमारे गुरुजी प्रो. देवधर साहब दिल्ली जाते तो लखनऊ भी जाया करते थे। वह हमें हमेशा बताते कि अण्णासाहब के यहां यह राग सुना, वह सुना.... वगैरेह। अण्णासाहब पर उनका

गहरा विश्वास था। और सुनो, हमारे गुरुजी यों तो भातखंडे जी की मुद्रा लिए हुए न भी थे, तो भी उन्हें रातंजनकरजी के शिष्यों में से ही एक मानना चहिए। हमारे सत्यशील के पिता श्री वामनराव और हमारे सर दोनों प्रतिदिन जाके भातखंडे जी से मिलनेवालों में थे।

गिंडे : सच है, भातखंडे जी की जीवनी में भी इसका जिक्र मिलता है।

कुमार : हमारे सर को (देवधर साहब को) भी बंदिशें जमा करनेका यह शौक भातखंडे जी की प्रेरणा से ही लग गया। अण्णासाहब जैसे संगीतकारों से मुलाकात होने पर पंडितजी को बड़ी ही खुशी होती थी। क्योंकि उन्हें हमेशा यही लगता था कि संगीतकला पढ़े लिखों के हाथ में जानी चाहिए। फिर ऐसे लोगों के साथ बड़े मन से वह काफी समझाकर और खोलकर बातें करते। उसका लाभ कितने लोग लेते होंगे इसका मुझे पता नहीं। किंतु-

गिंडे : सिर्फ राजारामबुवा पराड़कर इतवार को सबेरे जाया करते थे।

कुमार : हां... तो संगीत-कला, जिन लोगों के हाथ में रह गई है, उसे वह ठीक नहीं समझते थे। उन्हें वह मंजूर नहीं था। उन्हें बराबर लगता कि यदि हालत वही रही तो संगीत का उद्धार कदापि नहीं हो सकता। शिक्षित लोगों को इसमें दखल देनी चाहिए। उनका यह आग्रह था। हमारे गुरुवर को वे बहुत चाहते थे। वामनराव देशपांडे जैसे पढ़े-लिखे लोगों के लिए उनके मन में बड़ी चाहत थी।

गिंडे : गवैये उनसे नाराज रहते थे, किंतु शिक्षितों के मन में उनके लिए आदर का भाव था।

कुमार : गवैयों की नाराजी तो रहने ही वाली थी। क्योंकि यह संगीत को कागज पर उतारते थे, जो उन्हें एकदम नागवार था। और ज्ञान के बारे में यह उनसे प्रश्न किया करते जिससे वे परेशान हो उठते होंगे। ....हमारे गुरुजी भातखंडेसाहब के ज्ञान के बारे में हमेशा बताते। उनके पास भातखंडेजी की एक डायरी भी थी। .. मैं प्रोग्रामों के सिलसिले में दिल्ली, कलकत्ता, लखनऊ जाया करता था। और लखनऊ में तो काफी मजा रहता - तुम सब जो वहां थे! तबला-वादक सदाशिव से हमारी दोस्ती ! वह सबको लेकर इधर उधर जाता। तब मैं लखनऊ के प्रोग्राम उससे तय करवा लेता था। पहले दिल्ली, बाद में लखनऊ। अफसर लोग हमारे गुरुजी के दोस्तों में से ही थे। इससे लखनऊ का प्रोग्राम पक्का मिलता था । फिर क्या अण्णासाहब के और निकट जाने का मौका । तिसपर मैं तमाखूवाला पान खाता था, इससे और ज्यादा नजदीकी होती ।

गुरुजी हमेशा कहते तुम दिल्ली जाते हो, तो वापसी में ग्वालियर ठहरो और गाना बजाना सुन के आओ । तो मैं वैसा ही करता। और कैसा इत्तेफाक कि उन दिनों परीक्षाओं की वजह से अण्णासाहब का डेरा भी वहां रहता। उनका और मेरे ठहरने का स्थान एक ही रहता। फिर क्या चाहिए? वे ऊपर ठहरते, मैं नीचे। राजाभैय्याजी घर से नहा-धोकर आते और तब स्कूल में याने माधव संगीत महाविद्यालय में बैठक जमती। पान, चाय वगैरा हो जानेतक परीक्षा का वक्त आ जाता। मैं भी कभी कभी साथ हो लेता ।

गिंडे : रात को कोई महफिल वगैरेह.....

कुमार : अरे वह तो रोज ! उसका कोई शुमार नहीं था। ग्वालियर में कहीं आप घुस जाइए तो महफिल चालू ही हो जाती। हम कहीं भी जाएं हारमोनियम, तबला-बायां, तानपूरा सब हमारे हो जाते। उसमें गौर करने की बात यह कि ग्वालियर के लोग अण्णासाहब को बेहद चाहनेवाले। ऐसे माहौल में उनका गाना सुनने का मौका मिलना, याने वाह ! क्या कहना ! जिन्होंने अण्णासाहब का 'वह' गाना नहीं सुना उनको जो मैं यह सब बताता हूं वह सब झूठ ही लगता है ।

गिंडे : राजाभैय्या के शिक्षक गुणे मास्टर और अण्णासाहब का...

कुमार : सच है। उनके रिकार्डस' काफी अर्से बाद निकले। क्योंकि महाराष्ट्र के और लोगों ने अण्णासाहब का गाना बहुत बाद में सुना । उनके रिकार्डों से उनके गान-कौशल का पता नहीं चलता। मुझे बम्बई आदि के लोग टोकते कि क्या आप उनके सुरीलेपन वगैरेह का बखान करते हैं! मैं उन्हें बताता अरे आप लोगों ने सुना नहीं उनको। उनकी आवाज खराब होने के बाद ही आपके सुनने में उनका गाना आया। मैंने उनको खूब सुना है। मैं जो कह रहा हूं उसका विश्वास कीजिए। मैंने कितना ही उनका मनोहारी गायन सुना है ।

हां, एक शख्स ऐसे मिले - माधवराव संत। उन्होंने कहा कि अण्णासाहब के जैसा 'मिनिएचर' बगीचा लगानेवाला गाना मैंने कहीं सुना ही नहीं। सभी किस्म के फूल उसमें रहते थे। मेरी यह समझ में नहीं आता कि आवाज खराब हो जाने पर उन्होंने रिकार्डिंग क्यों करवाया। मुझे वे रिकार्ड पसंद नहीं आए। उनकी वह आवाज बाद में रही नहीं, किस वजह से, मालूम नहीं। ऐसी बारीक ऐसी सुरीली आजाज। रागों पर प्रभुत्व तो गजब का। शिर्क्षक भी बड़े ऊँचे। इससे राग ज्ञान वगैरेह का सवाल ही नहीं था। वे 'परफार्मिंग' नहीं थे। यों बहुत-से पुराने संगीतकार 'परफार्मिंग' थे ही नहीं। महफिल आ गई तो सौ 'रन' बना देंगे। बड़े मैच में खेलनेवाले कम ही संख्या में थे। अण्णासाहब का पूरा जीवन विद्यादान में गया। वे महफिलों में 'नार्मल' रह ही न पाते थे। क्योंकि सुर ही नहीं रहा था। छोटू भैया, महफिल अपने में एक अलग चीज होती है !

गिंडे : सच है ।

कुमार : अच्छे-खासे गायक भी वहां 'आउट' हो जाते हैं। मंचपर सवार होकर गाना तो बहुत सारे चाहते हैं। लेकिन वहां बैठते ही पसीना छूटने लगे तो वे करें भी क्या ? हमारे बम्बई के 'स्कूल आफ इंडियन म्यूजिक' का एक दिलचस्प किस्सा सुनो। हमारे स्कूल में हर शनीचर को 'कन्सर्ट' होते थे। हमारे कई शिक्षक वगैरेह उसमें गाना पेश करते। जब वह सिखाने बैठते तो मानो संगीत के 'राक्षस' लगते। उनका गला यों घूमता था..... कहीं अटक जाना वगैरेह का नाम तक नहीं। लेकिन महफिल में बैठने पर पता नहीं क्या हो जाता था। छात्रों के सामने हमारे मास्टरसाहब देवधर, अपने अण्णासाहब बड़े भयानक लोग थे। बड़े ही उच्च कोटि के अध्यापक। हमें उनकी कीमत आंकना नहीं आता। शिष्य के लिए गुरु कैसी महान हस्ती होता है, इसका अनुमान औरों को नहीं हो सकता। लोग उस शब्द में 'गु और रु'- दो अक्षर ही देखते हैं। उनको मिलाकर नहीं देखते। यों आजकल के गुरुलोग तो 'महागुरू' हैं। ये बराए नाम गुरु रहते हैं। बहुत-से साधकों को सच्चे गुरु से साक्षात् भी नहीं होता है।

.... तो कह रहा था, अण्णासाहब अपने छात्रों को बेहिसाब प्यार करते थे। मैं बिलकुल खुले दिल से घोषित करता हूं, हमारे जमाने में उनके जैसा गुरु हुआ ही नहीं ।

गिंडे : कुमार को तो वे पुत्र की तरह प्यार करते थे। जब वह लखनऊ आता तब उसे देखे बिना अण्णासाहब को चैन ही न आता। और कुमार को भी उनसे मिले बिना चैन नहीं आता था ।

कुमार : हां, कुछ भी हो, मुझे वे बहुत चाहते थे ।

गिंडे : फिर आते ही तुम पूछते- क्यों अण्णासाहब नया क्या चल रहा है?

कुमार : वह तो बाद की चीज। लेकिन जबसे अण्णासाहब बंदिश रचने लगे तबसे मैंने उनकी बंदिशें गाई हैं। लखनऊ आता, बंदिश सीख लेता और सीधे रेड़ियो पै पेश करता ।

गिंडे : मैं सबको हमेशा बताता हूं कि अण्णासाहब की बंदिशों को लोगों के सम्मुख कुमारजी ही लाए । क्योंकि उस काल में हम सब वहां अध्यापक थे। और कुमार तो उस वक्त भी महफिली गवैया था। इसलिए इधर बंदिश सीखी कि उधर महफिल में गा दी, ऐसा उसका रवैया था ।

कुमार : यही नहीं, मेरे बंदिश को गाने में कोई भूल हो जाए तो वे पत्र लिखकर सूचित भी कर देते थे ।

गिंडे : मुझे याद है, बम्बई रेड़ियो पर सालगवराली सबसे पहले गानेवाले तुम ही थे ।

कुमार : हां हां, उनकी बहुत सारी बंदिशें मैंने गाई हैं ।

गिंडे : और वह मालवी राग का 'उठ नमन कर ले प्यारे' का जोड 'नमो नमो नारायणा....'

कुमार : और वह पंचम राग की बंदिश! हमारे गुरु जी को (प्रो. देवधर जी को) वह राग तो मालूम था। लेकिन अच्छी बंदिश कहां थी ? अण्णासाहब की इस बंदिश पर हमारे गुरुजी बहुत खुश हुए। जगन्नाथबुवा ने तो वह मुझसे सीख ही डाली। बोले, भैया कुमार, क्या ही खास बंदिश है ! लेकिन यह तो 'जोड़' की (द्रुत ख्याल की) बंदिश बन गई। अण्णासाहब से कहो न, विलंबित भी बना दीजिए। मैंने वैसा उनको सूचित किया। फिर जोड़ के साथ उन्होंने ख्याल भी बांधा - 'चंद्र जाके भाल विराजे।' ....तो कह रहा था कि अण्णासाहब का गाना मैंने खूब सुना है, और बड़ा अच्छा गाना सुना है; लखनऊ, बम्बई, ग्वालियर सब जगह सुना है। लेकिन एक बात यह भी थी कि उनका गाना बम्बई में सुनने और ग्वालियर में सुनने के बीच बड़ा अंतर था। ग्वालियर में माहौल ही दूसरा था। वहां राजाभैया सामने हाजिर रहते थे !

मैंने अभी कहा था न कि अण्णासाहब 'परफार्मिंग' कलाकार नहीं थे। तो उसका भी मैंने बंबई में अनुभव पाया है। बम्बई में म्यूजिक सर्कल में आग्रह करके अण्णासाहब की महफिल तय की गई। प्रोग्रामवाले पाप्यूलर गायकों की खोज में रहते ही हैं। तानपूरे वगैरेह मिल गए। बंदिश भी बढ़िया पेश हुई। मगर पता नहीं क्या हुआ, उस दिन महफिल जमने का नाम नहीं

ले रही। मुझे मन ही मन बड़ा रंज हुआ। फिर वहां श्रोताओं में हमेशा के परिचित लोग भी कोई नहीं थे। इसलिए मैं हमेशा कहा करता हूं कि महफिल में दाद देनेवाले सामने रहने चाहिए । ... यह जो 'परफार्मिंग' वाला शब्द हमारी तरफ आया है न, वह पहले यहां नहीं था । कला का प्रदर्शन परिचितों की सीमित मंडली में हुआ करता था। याने कॉलेज के ग्राऊंड पर ही क्रिकेट होता था - टेस्ट मैच था ही नहीं। अब सिर्फ टेस्ट मैच ही चलता है ।

हमारे जगन्नाथबुवा को ले लो। और मौकों पर खूब बातें करते, किंतु...! स्वतंत्र भारत में कैनवास इतना बड़ा भारी हो गया है कि तुम्हें क्या आता है इसकी कोई कीमत नहीं, तुम लोगों को उल्लू बनाने में, और अपने अंदर ताकत होनेपर भी तुम उल्लू बनाने की कला में कितने माहिर हो, इसीपर तुम्हारा बड़प्पन आंका जाता है। क्योंकि रुचि बहुत बढ़ गई है। इसे मैं बुरा नहीं कहता। क्योंकि पहले वही वही लोग संगीत सुना करते थे। वे सभी प्राय: पहचान के ही रहते थे। यह हमारा, वह भी हमारा। उसमें कुछ परदा नहीं रहता था। शुरू से ही हम उनके और वे हमारे। पसंद आने की बात ही नहीं थी। हमने तो बुरे से बुरे लोगों का गायन मन लगाकर सुना है और वे भी मन लगाकर गाए हैं। पहलेवाले गवैये लोग आज के इस नए जमाने में कहांतक फिट हो सकेंगे, कहना मुश्किल है। उस जमाने में उनके गुणों को ध्यान में रखकर हम लोग सुनते थे। अब विलायत हुसेनखां का गाना है, तो उसके अंदर होनेवाले गुणों को देखकर ही तो उसे सुनना होगा। जगन्नाथबुवा पुरोहित का गाना एक हजार लोगों के सामने न जमता हो, पर वे क्या बताना चाहते हैं, उसे हम लोगों को सुनना चाहिए। पं. वझेबुवा का गाना आज के श्रोता सुनेंगे तो उन्हें वह पसंद नहीं आएगा ।

गिंडे : तुम बाम्बे सर्कल के प्रोग्राम की यादगार....

कुमार : हां तो प्रोग्राम में अण्णासाहब गाने के लिए बैठे। हमारे सब जाने-पहचाने संगीतकार सामने बैठे थे। तानपूरे पर भट था। लेकिन हमेशा की तरह कुछ बन नहीं रहा था। माईक भी नहीं था। लोग इधर उधर करने लगे। आज माईक की वजह से क्या होता है कि चींटी भी हाथी की तरह नजर आती है। यह उसका एक लाभ है। सामनेवालों पर आवाज का 'इंप्रेशन' हो जाता है। उसकी फेंक हो जाती है। बहुत जरूरी बातें हैं सब। तो मुझे उस वक्त का वह सब नागवार लगने लगा। कुछ गड़बड़ी ही महसूस होने लगी। मुझसे रहा नहीं गया। फिर मैं तानपूरे पर जा बैठा। तब महफिल कुछ संभल गई ।

बात यह है कि बम्बई ने, महाराष्ट्र ने अण्णासाहब की योग्यता को पहचाना नहीं। रातंजनकर क्या थे, उन्होंने जाना ही नहीं ।

गिंडे : उनकी बंदिशों के बारे में तुम्हारा अनुभव....

कुमार : बेशक उनकी बंदिशें बहुत ऊँचे स्तर की हैं। उनकी बहुत सारी बंदिशें मेरे पास हैं। उन्होंने शुरू में जो बंदिशें बनाईं वह पुस्तक बनाने के लिए नहीं बनाईं। उसके बाद उन्होंने जो बंदिशें रचीं वह एक दूसरे तकाजे से रचीं। क्योंकि केवल कोरा राग प्रचार में नहीं आ सकता। उसके लिए कोई देह चाहिए। वे सारी बंदिशें तुम लोगों को आती हैं, उनकी ओर मैंने ज्यादा ध्यान नहीं दिया है। शुरूवाली बंदिशों में अंतरे की फेंक वगैरेह का जो सौंदर्य

था वह.... याने उनका वजन भारी ही रहेगा ।

उनकी एकदम पुरानी बंदिश 'होवन लागी सांझ' पूर्व कल्याण की। ...बहुत पुरानी। हमारे गुरुजी (देवधर साहब) तक को, किराना घरानेवालों तक को मालूम नहीं था कि यह अण्णासाहब की रची है। बहुत बाद को उन्हें इसका पता चला। आगे वह भातखंडे जी के हिंदुस्थानी संगीत पद्धति के पांचवें-छठे भाग में आई है। और पुस्तक में आ जानेपर भी सब यही समझते थे कि भातखंडे जी के पारंपरिक संग्रह से वह आई है। उस जमाने में संगीतकार लोग बंदिश रचने के बाद यह नहीं बताते थे कि यह मेरी बंदिश है। क्योंकि परंपरा से आई पुरानी बंदिशों को ही मान्यता थी। फिर वह भले ही खरा न क्यों न हो। इसलिए अण्णासाहब, अल्लादियाखां, जगन्नाथबुवा कोई भी हो वे अपनी ओर से बताते नहीं थे कि बंदिश मेरी है। अब 'प्रेम प्रिया' की वजह से फैयाजखांसाहब की बंदिश का पता चलता था। लेकिन उन्हें जो पहली मान्यता मिली वह गायक की हैसियत से ही। सच है न !

गिंडे : हां, बिलकुल दुरुस्त है ।

कुमार : इसीलिए उनकी बंदिशें जल्द ही रसिकप्रिय हुईं। अब जयजयवंती की 'मोरे मंदिर अब लौं'। यह कोई बंदिश है? लेकिन वे गाते थे, इसलिए वह 'पाप्यूलर' हुई। इससे बढ़िया बंदिशें भातखंडेजी के ग्रंथों में हैं। यह मैं इसलिए बता रहा हूं कि यह बंदिश यू. पी. में इतनी 'पाप्यूलर' हो गई कि 'मेरे मंदिर' और जयजयवंती की जोड़ी ही जम गई ।....

अण्णासाहब की बंदिशों पर मैं लट्टू था। फिर आगे उनके फुर्ती के दिनों में उनसे मेरी मुलाकात ज्यादा नहीं हो पाई। बाद में जब मैं बीमार, बेड़ पर पड़ा था, वे और राजाभैय्या आ के गए थे। वह उनके प्रेम की बात है। उनकी पंचम राग की 'आओ गाओ रे गाओ रिझाओ' कैसी बढ़िया बंदिश है! और वृंदावनी का तराना! यार, क्या फेंक है उसकी! ऐसा तराना बहुत कम लोगों ने बांधा। और उस मुश्किल तराने को वे बेहद सहजता से गाते। आवाज पतली थी उनकी। बहुत सुंदर आवाज। थोड़ी सी नक्की थी जरूर, मगर पतली और मीठी। उनके उस्ताद फैयाजखां की तुलना में इनकी आवाज लघुरूप-मिनिएचर थी। इसलिए उनकी गायकी सोलहो आने खांसाहब जैसी नहीं लगती थी। फैयाजखां साहब का मामला ब्रॉड गेज का था। इनकी आवाज 'नैरो' गेज थी। और ब्रॉड गेज की अपेक्षा 'नैरो' गेज में सुविधाएं ज्यादा रहती हैं !

सत्यशील : फिर अण्णासाहब जो कुछ गाए उसमें भातखंडेजी का योगदान कितना माना जाए ?

कुमार : ज्ञान! फैयाजखां की अपेक्षा भातखंडेजी के पास ज्ञान असीम था। वह तो दुनिया को सुनके बैठे थे। लेकिन उनके जमाने में फैयाजखां लोकप्रिय गायक थे। और इस कलाकार को मुझे 'सरेंडर' होना चाहिए, यह भान भातखंडे साहब को बखूबी था। इसलिए तालीम के वास्ते अण्णासाहब को उन्होंने उस्ताद के पास भेज दिया। तालीम के लिए महफिल का गायक चाहिए। भातखंडेजी को गायक के रूप में मान्यता नहीं थी, उस वक्त। ज्ञानी लोग जमाने की करवट को पहचानते हैं, हम लोग नहीं पहचानते। तो बात यह कि फैयाजखां और भातखंडेजी की तुलना निरर्थक है। मैं समझ नहीं पाता कि उस जमाने में कलाकार भातखंडेजी

से डरते क्यों थे ? भातखंडे खुद सब समझते थे किंतु दिखलाते नहीं थे। उन्होंने किसी भी कलाकार को बुरा नहीं कहा। उन सबसे उन्हें कुछ न कुछ लेना था। तुम कहते हो वह भी सही और भैया तुम कहते हो वह भी ठीक। क्योंकि मुझे इन सब जनों से कुछ लेना है, मुझे विद्या का संग्रह करना है। वह कहीं से भी मिले ।

सत्यशील : और यह विद्या लेकर फिर उन्हींको लौटानी है.....

कुमार : ना ना, फिर से कहता हूं, उन्हें समझाने के लिए उन्होंने यह विद्या संग्रहीत नहीं की। हुआ यह कि जिनके पास यह विद्या नहीं जानी चाहिए उनके हाथ में वह चली गई थी। योग्यताहीन लोगों के हाथ में राज-कारोबार जाए तो कैसी हालत हो जाती है ! संगीत में ऐसा ही हुआ था। अनधिकारी लोगों के हाथ में विद्या गई थी। आजकल राजकाज में जो चल रहा वह सब हमारे संगीत में भी उस जमाने में गुजर चुका है ।

सब बातों को भली भाँति जानकर संगीत की शकल को बनानेवाले कोई रहे ही नहीं थे। संगीत में शिक्षा नाम का कोई चीज बची नहीं थी। सिर्फ सुन-सुनकर शागिर्द लोग गायक बनने लगे थे। ऐसी हालत में ज्ञान को जमा करना याने घूरे से मोती.....

गिंडे : समुद्र मंथन जैसा वह कार्य था ।

कुमार : यह बहुत अच्छा शब्द है। मैंने घूरे का उदाहरण सोचकर दिया। लेकिन बात यह नहीं कि यह शोध हमारी पहलेवाली पीढ़ी में ही हुई या भातखंडे जी ने ही की। पहले विजयनगर तथा और जगह १,००० वर्ष पहले ऐसा काम हुआ है। क्योंकि यह एक 'रिंग' है, एक वर्तुल है। एक जमाना ऐसा आता है कि बहुत-से साधक पैदा होते हैं, वे ऐसी ऊंचाई तक पहुंचते हैं, कि नीचे देखने के लिए तैयार ही नहीं रहते। और फिर वे अंतर्धान हो जाते हैं। आजकल कुछ ऐसी ही परिस्थिति से हम गुजर रहे हैं। अब लगाम किसके हाथ में दी जाए, यह एक समस्या है। लगाम हटा लें तो घोड़ा तो दौड़ेगा ही। मगर कहां जाएगा इसका क्या भरोसा ?

हमने गुरुवर की प्रेरणा से भातखंडे जी की बहुत-सी पुस्तकें पढ़ी हैं। उनकी क्रमिक पुस्तकें न सही लेकिन उनकी 'थ्योरी' वगैरह सब पढ़ा है। क्योंकि फिलहाल अपने भारत में उनके सिवा संगीत में नई स्थापनाएं वगैरह कहीं कुछ नहीं है। उन्होंने तो सब लिखके रखा है— मैंने क्या किया, क्या नहीं कर सका, और क्या क्या करना जरूरी है, सब उन्होंने लिखके रखा है। उनका कहना है कि जितना मुझे मिला, जितना मैं कर सका वह मैंने किया है। यह दावा नहीं कि सब कुछ किया। तुम लोग मुझे 'क्रिटिसाइज' कर सकते हो। न करो ऐसा मैंने कभी नहीं कहा। क्योंकि उसके बिना हम तरक्की कर ही नहीं पाएंगे। अब आगे क्या क्या करना चाहिए इसके लिए उन्होंने 'पॉइंटस्' दिए हैं। एक आदमी अपनी एक जिंदगी में कितना क्या कर सकेगा ? ढेर सारा कचरा पड़ा है। एक फावड़े से कितना उलीच सकेंगे आप ? आदमी बहुत चाहिए। यहां आदमी भी नहीं और फावड़े भी नहीं। कितना कचरा अपने सिर पर उठाएं और फेंक दें!

आज तो भातखंडे जी के वे 'पॉइंटस्' भी कोई नहीं पढ़ते। सिर्फ 'भातखंडे भातखंडे'

कहकर नाचते हैं। उनके कार्य के बारे में कोई कुछ नहीं कहता। अब तुम्हें अपनी दूकान चलाने के लिए बंदिशें चाहिए। सिखानेके लिए सामग्री चाहिए तो अब तुम्हें उनकी जरूरत पड़ी। जब वे मौजूद थे तब चार रुपये में एक पुस्तक मिलती थी। किसीने नहीं खरीदी। वे खुद ही दे देते। वे सब कुछ जानते थे। कहा करते कि मेरे जाने के बाद सब मुझे सर पर चढ़ा लेंगे। जो 'मिशनरी' होते हैं न उन्हें पूरा ज्ञात रहता है कि किसीको कुछ मालूमात नहीं हैं। कोई होश पर नहीं। सब 'हिप्नोटाइज' हुए-से बेखबर हैं। तो मैं जो काम कर रहा हूं, उसे ये समझ ही नहीं पाएंगे। भातखंडेसाहब यह भी जानते थे कि ये बड़े बड़े कलाकार मुझे मानते नहीं हैं ।

और सबसे ज्यादा 'ऑपोजिशन' विष्णु दिगंबर और भातखंडेजी को महाराष्ट्र में ही हुआ है। मैं महाराष्ट्र पर दोषारोप नहीं कर रहा हूं। एक एक जमाने का रवैया रहता है। करनेवाला अच्छी तरह जानता है कि लोगों की कोरी 'वाहवा' से कुछ नहीं होता। लेकिन भातखंडेजी को मित्र मिले। दत्तात्रय केशव जोशीजी ने उनका साथ दिया। एक आदमी भी ऐसे वक्त पूरा लगता है। 'मैं क्या कर रहा हूं' इसे दूसरा कोई देखे, इस दृष्टि से उस साथी की सहायता होती है। बाद में लोगों को उनकी कीमत का भान हुआ। मैं बचपन में जो बंदिशें गाता था, वह बड़े बड़े गायकों को भी नहीं आती थीं। उनका नाम बताना ठीक नहीं।

गिंडे : उस काल में लोगों का ज्ञान बहुत सीमित था।.....

कुमार : बहुत ही सीमित। अच्छे गायक बहुत थे। हमारे गुरुवर की एक खास बात थी। रेडियो पर एक बार गाया हुआ राग 'रिपीट' नहीं करते थे। जब तक रेडियो पर गाते रहे, तब तक हर वक्त नया राग। लेकिन बंदिश तो मिलनी चाहिए। उसकी बड़ी समस्या रहती थी।

मेरे बारे में क्या हुआ कि हमारे गुरुवर तो थे ही। किंतु अण्णासाहब, राजाभैय्या, जगन्नाथबुवा और भी कोई थे, सब हमारे गुरु ही थे। ढेर सारे गुरुजन! अंजलीबाई मालपेकर, वि.रा. आठवले सब प्रतीक्षा में ही रहते थे- कब मौका मिले और हम कुमा को सिखाएं!

सत्यशील- अण्णासाहब के साथ आपका कुछ आदान-प्रदान होता था क्या? याने आपका गाना वगैरे....

कुमार- मेरे साथ वे हमेशा बातचीत करते। संगीतकारों का मेरी तरफ देखने का दृष्टिकोण कुछ अलग ही रहा है। उनके पास इल्म लेकिन भुनानेवालों में मैं नहीं था। तो संगीत पर अण्णासाहब हमेशा मेरे साथ बात करते। इसी प्रकार गोविंदराव टेंबेजी मुझे बहुत चाहते थे। मुझे वे १९३४ से देखते आए थे। मुझे बराबर सुनते। मुझे फरमाइश करते। घुटने में दर्द होनेपर भी जीना चढ़ के आए हैं, मेरा गाना सुनने। बोले कोई बंदिश सुनाओ। मेरे अभिनंदन कार्यक्रम में १९५४ में अध्यक्ष थे। पैर में दर्द था, सो पूरा समय बैठनेवाले नहीं थे। फिर भी आए। १० मिनट भाषण दिया और मुझे बताकर गए। उनका भी मेरे बारे में मत अलग था। वे सबको बताते, तुम सब उसके जैसा करो। अण्णासाहब का स्वभाव भी ऐसा ही खुला था। रागों-बंदिशों के बारे में उनसे हमेशा चर्चाएं होती थीं। वे तो गुरुस्थान में थे, सो वे जो भी कहें सब मंजूर

ही था। वह हस्ती क्या थी, यह हमको गुरुजी से मालूम हो चुका था, उनके इल्म के बारे में संदेह उठने का सवाल ही नहीं था- बिलकुल नहीं।

सत्यशील- रागों के बर्ताव के बारे में वे कुछ बताते होंगे।...

कुमार- उसकी जरूरत ही नहीं थी। वह सब 'प्रॅक्टिकल' जो था। उनका गायन सुनने से वह समझ में आता था। वह गाकर सुनाते और मुझे वह तुरंत आ जाता। लखनऊ में उनकी क्लास में भी मैं बैठा हूं। मुझे उनका 'फुल परमिशन' था। मैं उनकी क्लास का मेंबर तो नहीं था, फिर भी वे मुझे सिखाते। वह शिक्षा का तरीका आज के जैसा नहीं था। बहुत भली प्रकार वे सिखाते। वह कक्षा बहुत ऊँचे छात्रों की रहती थी।

सत्यशील : आपकी राय में भातखंडे जी के बाद अण्णासाहब का योगदान क्या है?

कुमार : उनकी बंदिशें! उन्होंने इतनी पुस्तकें बनाई हैं - तुम्हें और क्या योगदान चाहिए? अगली पीढ़ी को रागों के रूप भली भांति ज्ञात हो जाएं, इसलिए उन्होंने बंदिशें बनाईं। अब वह उच्च स्तर की हैं या निम्न स्तर की, इसे तुम लोग तय करो। लेकिन राग का प्रयोग उससे तुम कर सकते हो। ऐसे प्रयोग भातखंडेजी ने भी किए हैं। और ऐसा करना जरूरी होता है। क्योंकि हमारे पास उतना वक्त नहीं रहता। जैसे अभोगी की वह बंदिश- 'चरन धर आयो।' 'राग कल्पद्रुम' में ये शब्द भीमपलास की रचना में हैं। बड़े अण्णासाहब याने भातखंडेजी को वे शब्द जंचे। जंचे का मतलब यह कि उन्हें झपताल के लिए एक छंद की जरूरत थी, अभोगी को प्रचार में लाने के लिए। किराना घराने के लोग उस बंदिश पर अपना हक बताते हैं। अब इसके लिए कोई क्या करे?

सत्यशील : फिर यह उन्हें कहां मिला?

कुमार : राग यात्रा कर सकते हैं। शब्द कोई भी हो, कैसे भी हों, रागों का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। अनजाने में कई सदियों में रागों ने ऐसी यात्रा की है। राग-रूप अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता है। तुम उसपर दवा छिड़को या और कुछ करो, उसका रूप बिगड़ता नहीं। तुम्हारा कवित्व कितना भी सुंदर रहे, राग बिगड़ जाए तो उस कवित्व को लेकर क्या करोगे? संगीत की शर्त क्या है? राग-रूप। तुम्हारा गाना जबतक राग को पकड़कर होता है, तबतक राग कुछ विरोध नहीं करता। फिर उस स्वरावली में तुम काका, मामा कुछ भी कहो। उससे उसे लेना-देना नहीं। इस लिहाज से भूपाली की यात्रा चल रही है। तुम बंदिश का अर्थ समझकर गाओ या न गाओ। उसका रूप साबित ही रहा है।

गिंडे : लेकिन भूपाली के सिर्फ स्वर दिखाएंगे तो भूपाली अपना अस्तित्व प्रकट नहीं करती।

कुमार : सही बात। उसका रूप कायम रखना होगा। रूप समरूप होना चाहिए। उसके रूप को न बिगाड़ते हुए तुम कुछ भी करो। इसीलिए तो लोगों की अभोगी के गायन में सहूलियत हो, इसीलिए उसका एक ढांचा भातखंडेजी ने बना दिया। अगर हम ही न हों तो सिर्फ आत्मा की क्या कीमत? कितने बदसूरत शरीरों के सामने हम सिर नवाते हैं। देवी-देवताओं की शकलें कितनी खराब होती हैं! हमें उसके देवत्व का अहसास होता है, इसीलिए वे इतनी सुंदर लगती हैं। अपने महात्मा गांधी, विनोबा कहां सुंदर थे? लेकिन कितने ऊंचे थे वे! वैसे ही राग-रूप

अपने में बड़ा रहता है। शरीर की कीमत कुछ नहीं। हां, अगर शरीर भी सुंदर हो तो सोने में सुगंध। तो अण्णासाहब हमारी पीढ़ी के बहुत बड़े संगीतकार और विद्वान थे। प्रेरणा देनेवाले थे। उन्होंने अपने प्रत्येक शिष्य को उसकी बुद्धिमत्ता के मुताबिक बढ़ने का अवसर दिया। कैसा प्यार दिया है उन्होंने मुझे!

एक बार मैंने जगन्नाथबुवा का एक तराना सुना। मैंने सोचा राजाभैय्या के यहां जाकर इसे सीख लिया जाए। उनसे पूछा तो उन्होंने कहा कि वह पुस्तक में है। मैंने कहा फिर भी आप मुझे सिखाइए। याने उनकी ईमानदारी देखिए। उन्हें ऐसा नहीं लगा कि पुस्तकवाली बात छिपाई जाए। सरस्वती राग बाळाभाऊ उमड़ेकर वगैरह सभी गाते-बजाते थे, पर बताते कुछ नहीं थे। जिन्हें मालूम था उन्होंने भी नहीं बताया, इसका मुझे बहुत गुस्सा आता है। ऐसी बातें आज के जमाने में नहीं चलनी चाहिए।

गिंडे : इधर कुछ लोग राजाभैय्या को ग्वालियर का गायक मानते ही नहीं।

कुमार : कहनेवाले कहा करें। जाननेवाले जान लेते हैं। यह नहीं कि वे लोग नहीं जानते। सब जानते हैं। मगर वह कुछ बहलानेवाली बात की खोज में रहते हैं। हम कोई बात कहेंगे तो चार लोग सुननेवाले निकलेंगे ही। वे ऐसा सोचते हैं। बीच बीच में चोरी करो, जिससे पुलिस थाने में जाने का मौका मिलता है। हमेशा सभ्य समाज में रहना नहीं चाहिए। कुछ ऐसा ही रवैया उनका रहता होगा।

राजाभैय्या भी क्या बंदिशें गाते-सजाते थे। लेकिन पुराने लोगों को सुनाकर उनसे 'वाहवा' लेने की दिलचस्पी उनमें नहीं थी। २-४ बंदिशें गा दीं और फिर गुटका फांकने को तैयार! हमारे इंदौर के केशवराव आपटे कभी इस झमेले में नहीं फंसे। आम गायकों की तुलना में देखें तो कभी लगता ही नहीं था, कि ये गानेवाले हैं। कहते हैं कि भास्करबुवा का ढंग भी कुछ ऐसा ही था। उनका हुलिया देखकर लगता था कि अभी अभी साड़ियां बेचकर आए हैं। लेकिन दो तानपूरों के बीच बैठेंगे तो ऐसी की तैसी कर देनेवाले! बड़प्पन का गरूर उनमें कहीं था ही नहीं।

अंजनीबाई भी मेरी गुरु ही रहीं। भातखंडेसाहब का उन्हें कितना अभिमान! उनके बारे में बहुत बताया करतीं। यही बात वझेबुवासाहब की भी थी। माईजी (अंजनीबाई) की महफिल में हाजिर होने का अवसर मिलना याने उन्हें अपना गौरव लगता था। उनके पास के तबक को मैं ही हाथ लगा सकता था; उनका बेटा भी नहीं। तो अण्णासाहब जब बम्बई आते तो किसीसे मिलना, गपशप करना वगैरेह में रस नहीं लेते थे। क्योंकि वे छुट्टी पर आया करते थे। वह बम्बई का काल कुछ अलग ही था। आग्रावाले, जयपुरवाले ऐसा 'जातिवाद' काफी था। ऐसी बातों से अपने कामों में बाधा पैदा होती है, यह सोचकर वे ऐसे मामलों में दखल नहीं देते थे। और उन्हें जरूरत भी नहीं थी। उन्हें कभी महफिल जीतने जाना नहीं था। किसीकी दखलअंदाजी उन्हें पसंद नहीं थी। लखनऊ में भरपूर छात्र थे। उनपर अपार स्नेह रखनेवाले लोग थे। और क्या चाहिए? इतना सब मिलने पर भी लोग उसका लाभ नहीं उठाते।

.... छोटू, तुम आज आए। अण्णासाहब के बारे में बहुत-सी पुरानी बातों को उजाला मिला।

गिंडे : हां, उनके लिए जैसे हम थे वैसे ही तुम भी।

कुमार : बेशक, इसमें दो राय नहीं । वे मुझे कुमारप्पा कहते थे । मैं कन्नड़िग था न ।

गिंडे : इधर के लोगों को उनके बारे में मालूमात ही कम हैं। तुम जैसे व्यक्ति से कुछ सुनने को मिले तो उसकी पूर्ति होगी; यह हमारा उद्देश्य था।

कुमार : अब भी लोग पूछते हैं । परसों ही ललिता राव बोलीं "अण्णासाहेब की बंदिश गाकर सुनाइए।"

गिंडे : जब मैं चंदनवाडी में अण्णासाहब की अंत्येष्टि में गया था, तब वहां तुम भी थे। लोगों ने तुम्हारे सामने माइक रखा। तुम बोले कुछ नहीं। पुणे में महफिल थी। तुमने उस दिन सारी महफिल अण्णासाहब की बंदिशें गाकर ही श्रद्धांजली के तौर पर पेश की।

कुमार : हां, हां, वैसा ही हुआ। दो ही दिन पहले कलकत्ते में अमीरखां चल बसे थे।

मैं उन दिनों इत्तेफाक से बंबई में था। अण्णासाहब तब जोगेश्वरी में रहने गए थे। वे सायन को 'वल्लभ संगीतालय' में जाते थे। मुझे यह मालूम नहीं था। मैंने उन्हें बस स्टॉप पर आम आदमी की तरह खड़े देखा। मैं रुक गया, उनसे बात की। जब आगे बढ़ा तो मुझे रोना आया। मन में कहा- "ऐसी हस्ती को बस से जाने की नौबत आ गई!" उनके बारे में जो गुजरा उसे सोचकर मन बेचैन हो उठता है। जिंदगीभर सबको विद्यादान करते रहे - बदले में कुछ भी नहीं लेकर। ऐसी महान आत्मा!

म	म	प	म	रे ग	ग	रे	सा	सा	रे	ग	ग	म	–	म	–
बि	न	क	र	त	ब	क	स	जी	ऽ	व	न	ते	ऽ	रो	ऽ
×				०				×				०			

गुणनिधान गुणवंत

डॉ. वसंतराव राजोपाध्ये

प	प	प	प	ध	सां	-	सां	नि	-	नि	(नि)	प	ध	प	-
न	र	त	न	अ	मो	ऽ	ल	पा	ऽ	यो	ऽ	ज	ग	मों	ऽ
×				०				×				०			

(ग्वालियर घराने के बुजुर्ग गायक, मान्यवर संगीतवेत्ता, रचनाकार, संगठन-कुशल कार्यकर्ता। विष्णु दिगंबर के शिष्य पं. नारायणराव व्यास से तालीम प्राप्त। संगीत-प्रसार एवं संगीत शिक्षा के लिए समर्पित। संगीतविषयक ग्रंथ एवं लेख प्रकाशित।)

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो पहली ही मुलाकात में कुतूहल पैदा कर देते हैं। पचपन छप्पन वर्ष पहले की यह स्मृति है। मेरे पास तबला सीखने के लिए आनेवाले कारवारी विद्यार्थी ने एक रविवार को प्रात: अपने मित्र के गाने के एक कार्यक्रम में मुझे आमंत्रित किया। हिंदू कॉलनी में, व्हिन्सेंट स्क्वेअर की एक इमारत में पहली मंजिल के एक ब्लॉक में मैं पहुँच गया। इने-गिने रसिक वहां इकट्ठा हो गए थे। गानेवाला व्यक्ति मेरे लिए अपरिचित था। साँवले वर्ण का, छरहरे बदन का यह व्यक्ति गायन के मंच पर विराजमान था। बैठक दस बजे शुरू हुई। गानेवाले ने देशी और कुछ अप्रसिद्ध राग सुनाए। मुझे यह गायन-शैली अलग प्रतीत हुई और इस गायक के विषय में मेरे मन में कुतूहल पैदा हुआ।

उस समय मैं हिन्दू कॉलनी में ही रहता था और संगीत का अभ्यास करते हुए संगीत में तैर रहा था। अभी मुझे काफी मंजिलें तय करनी थीं। संगीत-विद्या के कण-कण मैं संग्रह कर रहा था। उन दिनों की उक्त बैठक मुझे आज भी याद है।

पता चला कि गायक व्यक्ति श्रीकृष्ण ऊर्फ एस्.एन्. रातंजनकर थे। साथ ही यह भी मालूम हुआ कि वे लखनऊ के मैरिस म्युझिक कॉलेज के प्रिन्सिपल हैं। उनका वास्तव्य लखनऊ में ही है, किन्तु कभी कभी वे बंबई आया करते हैं। चूँकि रातंजनकर के मंडल से मेरा संबंध नहीं आया, मैं रातंजनकरजी से निकट संपर्क स्थापित नहीं कर सका।

सन १९३२ के अनंतर दस-पंद्रह वर्षों में, जब संगीत-संगोष्ठियों की सर्वत्र धूम मच गई थी, उनमें भाग लेने के लिए पं. नारायणराव व्यास, पं. विनायकराव पटवर्धन हमेशा जाया करते थे। उनकी बातों में श्री रातंजनकरजी का जिक्र चलता था। पं. रातंजनकरजी पं. भातखंडेजी

के पट्टशिष्य थे और सर्वश्री व्यास, पटवर्धन आदि पं. विष्णु दिगंबरजी के शिष्य थे। इन दो संगीतप्रवाह के संप्रदायों में एक प्रकार की होड़ लगी रहती थी, ईर्ष्या का भाव विद्यमान रहता था। हरएक को अपनी संगीत-पद्धति पर अभिमान भी हुआ करता था। लगता था कि ये दोनों प्रवाह अलग अलग बह रहे हैं और उनके शिष्यों में निकटता नहीं है। मेरे मन में यह तीव्र इच्छा जाग उठी कि संगीत-कला के प्रति समर्पित व्यक्तित्ववाले एवं विद्यादान करके भावी गायकों की पीढ़ी का निर्माण करनेवाले श्री रातंजनकर जी से मेरी पहली पहचान हो जाए। उनके इने-गिने गाने ही सुननेका मौका मुझे प्राप्त हुआ। कित्ते भंडारी हॉल का उनका उच्च कोटि का गायन और स्व. चिदानंद नगरकरजी का तबलची के साथ आत्मविश्वासपूर्वक किया हुआ संवाद आज भी ज्यों का त्यों मेरी आँखों के सामने हैं।

आदत जिगर हिसाब

दिन गुजरते जा रहे थे। मैं भी संगीत में प्रगति कर रहा था। 'गांधर्व महाविद्यालय मंडल' में काम करते करते मैं मंत्री एवं परीक्षा-विभाग प्रमुख बन गया। हमारी परीक्षाएँ आरंभ होनेसे पहले विदर्भ में 'भातखंडे-मैरिस कॉलेज' की परीक्षाएं हुआ करती थीं। मुझे अपने विदर्भ के कार्य में इस बात की प्रतीति हुई कि उक्त परीक्षाओं का तथा परीक्षक की हैसियत से पं. रातंजनकरजी का बहुत बड़ा आतंक सब पर छाया रहता था और साथ ही श्री रातंजनकर के प्रति भीतियुक्त आदर भी सब को महसूस होता था। इसलिए मुझे इस बात का भी एहसास हुआ कि ऐसे व्यक्ति से मुझे पहचान अवश्य कर लेनी चाहिए।

मैं गांधर्व महाविद्यालय से संबद्ध था तो श्री रातंजनकरजी भातखंडे परंपरा के थे। उनकी तुलना में मैं सब दृष्टि से 'छोटा' था। इसलिए मुझे आशंका थी कि यदि मैं उनसे मिलने जाऊं तो उनके यहाँ मेरा स्वागत कैसे होगा। श्री रातंजनकरजी से भेंट होने का एक अवसर दिल्ली के 'गांधर्व महाविद्यालय' में उपस्थित हुआ। वहां उनका 'आदत जिगर हिसाब' विषय पर एक व्याख्यान हुआ। उनके व्याख्यान से मैं भावविभोर हो गया। अत्यंत आसान भाषा में, धारावाही शैली में उन्होंने व्याख्यान के विषय का सोदाहरण प्रतिपादन किया। मुझे मन ही मन लगा कि यह व्याख्यान बंबई के विद्यार्थियों को सुनाया जाना चाहिए। उस समय मैंने श्री रातंजनकरजी से परिचय भी प्राप्त कर लिया। हमारे 'व्यास संगीत विद्यालय' का काम और अपनी ट्यूशन्स की वजह से मैं प्राय: बंबई से बाहर नहीं जा सकता था। अत: ऐसे ही जब दिल्ली गया था, उस वक्त रातंजनकरजी से भेंट होना एक संयोग की बात माननी चाहिए।

व्याख्यान का विषय मस्तिष्क से हटता नहीं था। पं. रातंजनकरजी भाषण देने आएंगे या नहीं इस बारे में संदेह था। आखिर एक मौके का फायदा उठाने का विचार मैंने किया। हमारे 'व्यास विद्यालय' की ओर से हम पलुसकर और भातखंडे की पुण्यतिथियों के निमित्त स्वर-श्रद्धांजलि समर्पित करने का उपक्रम चलाया करते हैं। एक बार भातखण्डे पुण्यतिथि के उपलक्ष्य में मैंने उनसे प्रमुख अतिथि के रूप में आकर आदत जिगर हिसाब' विषय पर व्याख्यान देने की प्रार्थना की। 'गुरुजी' हरएक छात्र का विक पॉइंट होता है - श्रीरातंजनकरजी ने आना स्वीकार किया, आकर व्याख्यान भी दिया। व्याख्यान के पूर्व पं. भातखंडेजी की प्रतिमा को पुष्पहार पहनाकर उन्होंने अपने व्याख्यान में प्रतिपादित किया कि "भातखंडेजी केवल शास्त्रज्ञ नहीं थे, बल्कि उत्कृष्ट रूप में गायन भी करते थे, जो बात उनके ग्रंथ में लिखित राग-विस्तार

से प्रमाणित होती है। शास्त्र में अपना लक्ष्य केंद्रित करनेके कारण उन्हें महफिलें जमाने के लिए अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ।'' उनके इस कथन का परिणाम यह हुआ कि श्री भातखंडेजी के बारे में विद्यार्थियों के मन में स्थित अज्ञानमूलक पूर्वाग्रह दूर होने में मदद मिल गई।

इस व्याख्यान के फलस्वरूप मैं श्री रातंजनकरजी के निकट संपर्क में आया। आगे चलकर 'संगीत नाटक अकादमी' पर मेरी नियुक्ति के पश्चात् वहां की सभाओं में वह अधिक दृढ़ हो गया। वे जब जब बंबई आते, राघवजी रोड़ के उनके निवास-स्थान पर मैं उनसे मिलने जाता।

लोगों में रातंजनकरजी को लेकर बहुत ही गलत धारणाएं हैं। जैसे- वे मिलनसार नहीं हैं, वृथा अभिमानी हैं, इ.। अपनी प्रकांड विद्या पर उन्हें पूर्ण अभिमान है। शास्त्र, कला, संगीत-रचना, संस्कृत आदि में वे पारंगत हैं। कर्नाटक संगीत का भी उनका अध्ययन है। उन्होंने अपने कुछ वर्णन हिन्दुस्तानी संगीत के लिए रचे हैं। ये सब बातें ऐसी हैं जिनपर हमें अभिमान होना चाहिए। उनकी अभिमानी वृत्ति की ओर दोषैक दृष्टि से देखा गया। तिसपर आकाशवाणी की श्रवण-कसौटी की बाबत उन्हें बड़ी यंत्रणा से होकर गुजरना पड़ा, अनेक लोगों के रोष का शिकार बनना पड़ा। कुल मिलाकर वह सब मामला सब के लिए तापदायक ही सिद्ध हुआ। किन्तु यह लक्षणीय है कि पं. रातंजनकरजी ने श्रवण-कसौटी का अपना काम बिना लोगों के विरोध की ओर ध्यान दिए, पूरी निष्ठा के साथ संपन्न किया।

श्रुतियों के मर्मज्ञ

लखनऊ के मैरिस कॉलेज का भातखंडे विद्यापीठ में रूपांतर, सर्वश्री गिंडे, भट, नगरकर, दंताळे, कायकिणी जैसे शिष्यों का निर्माण, संगीतविषयक 'लक्ष्य संगीत' पत्रिका, बंदिशों की 'अभिनव राग मंजरी' शीर्षक पुस्तकें आदि उनके अनेकविध कार्यों के गौरव के उपलक्ष्य में 'संगीत नाटक अकादमी' ने उन्हें फेलोशिप प्रदान की। उसके उपलक्ष्य में, 'व्यास संगीत विद्यालय' द्वारा आयोजित सम्मान-समारोह में उन्होंने अपने व्याख्यान के माध्यम से सब श्रुतियों का सुरम्य दर्शन कराया। इससे उनके स्वर-श्रुतिविषयक प्रकांड अध्ययन का प्रमाण लोगों को प्राप्त हुआ, एक प्रकार से सब लोगों को प्राप्त वह एक अविस्मरणीय अनुभूति थी। भारत सरकारने उन्हें 'पद्मभूषण' उपाधि प्रदान करके उनके संगीतविषयक कार्य की कद्र की।

अन्य लोगों के लिए श्रीरातंजनकरजी चाहे जैसे भी प्रतीत हुए हों, मुझे तो वे आस्थावान, आतिथ्यशील सज्जन ही महसूस हुए। जब जब मैं उनसे मिलने जाता, वे अत्यंत प्रेम से मेरा स्वागत करते, अत्यंत आस्थापूर्वक मेरी पूछताछ करते और आग्रहपूर्वक चाय पिलाया करते थे!

यहां एक संस्मरण का उल्लेख किये बिना नहीं रहा जाता। एक बार ऐसे ही जब मैं उनसे मिलने गया था, 'पूर्व्या-पूर्वा' राग के विषय में मैंने उनसे पृच्छा की, क्योंकि उस राग का एक अलग स्वरूप मैंने सुना था। तब उन्होंने तुरंत अपनी अलमारी से भातखंडे ग्रंथ निकालकर उसमें से उक्त राग का स्वरूप मुझे बताया और यह स्पष्ट किया कि भातखंडेजी को यही स्वरूप अभिप्रेत था।

रचनाकार के रूप में रातंजनकरजी अपनी बहुविध एवं बहुरंगी बंदिशों के कारण ख्यातनाम हुए। साहित्य और रागदारी की लय के साथ उनकी की हुई क्रीड़ा विलोभनीय है। वैसे अप्रसिद्ध

रागों में छोटे ख्यालों की कमी ही है। इसीलिए शायद उन्होंने ऐसे अनेक रागों में ढंग की बंदिशें तैयार कीं। कौसी कानड़ा की 'काहे करत मोसे' बंदिश आजकल नई पीढ़ी के सभी गायक गाया करते हैं, यह केवल बानगी के तौर पर ही मैंने कहा है। खट राग की 'बंधा समां' बंदिश के रचना-कौशल के संबंध में श्री गिंडेजी ने यह किस्सा बता दिया था कि उस रचना को आह्वान समझकर उसे उन्होंने एक ही रात में तैयार किया था। संगीत उनके रोम-रोम में निरंतर बहता था। मौका पाते ही वह उछलकर फव्वारे की तरह फूट पड़ता था। वे लखनौ के अपने सहाध्यापक पं. नातूजी को बंदिशों के माध्यम से कुछ संगीतविषयक प्रश्न, उन्हें प्राप्त कुछ अनुभूतियां, संवेदनाएं आदि मालूम करा देते थे। दोनों के बीच का यह 'डायलॉग' बड़ा रोचक हुआ करता था। इसे रचना-क्षेत्र का एक अनोखा प्रकार कहना चाहिए। यह 'डॉयलॉग' अवश्य प्रकाशित होना चाहिए।

लखनऊ से अवकाश प्राप्त करनेपर खैरागढ़ के 'इंदिरा कला विश्वविद्यालय' के वाइस चैन्सलर का पद उन्हें अनायास प्राप्त हुआ। कागजातों के चक्कर में शायद उनका मन न रमा हो, कार्यक्रम समाप्त होनेपर वे बंबई आए तथा नाद-ब्रह्म में विलीन होनेतक यहीं रहे।

ऊपरी तौर पर कुछ रुक्ष-से प्रतीत होनेवाले श्री रातंजनकरजी कटहल की तरह थे। बहिरंग कंटीला और भीतरसे मधुर। अपने शिष्यों से उन्हें अपने बच्चों जैसा प्रेम था। विद्या अर्जित करने के पश्चात् उनके शिष्य श्री गिंडेजी जब उन्हें छोड़कर कुछ स्वतंत्र करतब दिखाने के उद्देश्य से बंबई चले आए, तब उन्होंने दुःखावेग में 'वियोग वराली' नाम के राग में एक बंदिश बनाई। श्री गिंडेजी के लखनऊ छोड़कर चले जाने के उपरान्त कई दिनतक उन्होंने अपने को कमरेमें जकड़ रखा था। 'छोटू' का वियोग उनसे सहा नहीं जाता था। ऐसे प्यारे पितृवत् गुरु ने श्री गिंडेजी को 'जियो तुम करोर' बंदिश के माध्यम से जीवन में सफल होने का दिल खोल कर आशीर्वाद दिया।

'गुणनिधान गुणवंत' आशय की एक पुरानी बंदिश है। उसे भले ही किसी व्यक्ति ने किसी के लिए बनाया हो तो भी वह आज भी श्री रातंजनकरजी पर बखूबी चरितार्थ होती है। इसमें सचमुच कोई संदेह नहीं है कि सब लोगों के लिए आदरणीय बने हुए श्री रातंजनकर ऊर्फ अण्णासाहब संगीत के 'गुणनिधान, गुणवंत' थे।

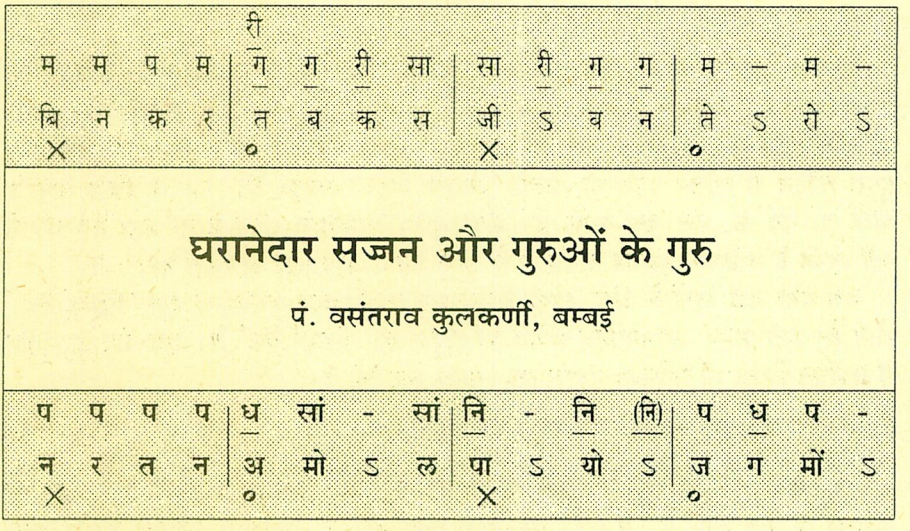

[पं. अनंतराव मनोहर जोशी के शिष्य, (बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर गायनाचार्य के नाती शिष्य)। साथ ही पं. जगन्नाथबुवा पुरोहित तथा उ. खादिम हुसेन से भी तालीम प्राप्त। श्रीगुरु समर्थ गायन विद्यालय के संचालक। मान्यताप्राप्त गायनगुरु]

''क्यों समधि बुवा?'' सामने के व्यक्ति ने मुझसे पूछा। संगीत की दुनिया में दूसरे व्यक्ति को 'बुवा', 'पंडितजी', 'खांसाहब' जैसे नामों से पुकारने की रूढ़ि ही बन गई है। अत: 'समधि बुवा' के नाम से पुकारने पर मैं पसोपेश में पड़ गया। क्योंकि पुकारनेवाले व्यक्ति गुरुवर अण्णासाहब थे। मेरे चेहरे पर उन्हें ऐसा संभ्रम का भाव दृष्टिगोचर हुआ जो अप्रचलित राग सुनने पर दिखाई देता है। उन्होंने ही हंसकर अपनी बात का स्पष्टीकरण करते हुए कहा- ''अरे भाई मेरे शिष्य, मानसपुत्र, श्री महाले ने आपकी शिष्या मानसकन्या लता भडसावळे से विवाह किया। तो क्या फिर हम दोनों समधि हो गए कि नहीं?'' बिना कन्यादान किए ही अण्णासाहब का किया हुआ यह 'नोटेशन' अनोखा था।

सजीव गायन-कोश

पं. रातंजनकरजी उन इने-गिने कलाकारों में से हैं जिन्होंने भारतीय संगीत की उपासना को ही अपना लक्ष्य माना। उन्होंने गायन की तरफ अर्थोपार्जन के साधन के रूप में कभी देखा ही नहीं। उन्होंने ऐसा कोई भी समझौता नहीं किया कि जिससे प्रसिद्धि या द्रव्यप्राप्ति के लोभ से अभिजात कला को बाधा पहुँच जाए। इसीलिए पंडितजी को सजीव गायन कोश ही कहना चाहिए।

पंडितजी एक 'कोठीवाले' नायक थे। अनेक प्रचलित, अप्रचलित रागों की अलग अलग घरानों की, अलग अलग शैली की बंदिशें संपूर्ण स्थायी-अंतरे के साथ उन्हें कंठगत थीं। 'नित्य नया कुछ न कुछ अर्जित किया जाए' इस नीति के अनुसार किसी आदर्श विद्यार्थी की तरह

उनकी ज्ञानलालसा पराकोटि की थी।

वे संगीत-कला का एक चलता-बोलता विद्यापीठ ही थे। 'विद्या विनय से शोभित होती है और दान से विकसित होती है।' इस ख्याल का निरंतर रियाज करनेवाले! किसीके सामने कोई सांगीतिक प्रश्न उठ खड़ा हो ही जाए, तो वह बेशक अण्णासाहब के पास जाए। वे तुरन्त कठिन से कठिन प्रश्न भी अत्यंत आसान ढंग से समझा देंगे, वह भी बिना ज्ञान के घमंड या गर्व के, सब कुछ साफ एवं स्पष्ट! प्रश्न करनेवाला छोटा है या बड़ा यह भेद वे नहीं मानते थे न उसकी कुव्वत के विषय में उनके मन में कोई संदेह ही रहता था।

सब बड़ी बड़ी बैंकों के लिए उनकी कठिनाइयों का निवारण करनेवाली एक 'रिझर्व्ह बैंक' होती है। उसी प्रकार अण्णासाहब संगीत की दुनिया की 'रिझर्व्ह बैंक' थे। ऐसी बैंक जो संगीत से संबंधित किसी भी मुश्किल सवाल को आसान कर देती है।

शिष्य की 'वियोग वराली'

एक आदर्श विद्यार्थी होनेसे वे आदर्श गुरु थे। पूरी लगन के साथ संगीत-विद्या सीखनेवाले विद्यार्थी के प्रति उनके मन में सदैव सहानुभूति रहती थी। पं. गिंडेजी के पिताजी ने छोटे कृष्ण को अण्णासाहब के हवाले किया, तब एक पिता अपने छोटे बच्चे को बड़े विश्वास के साथ अपने को सौंप रहा है इस विचार से ही अण्णासाहब गद्‌गद् हो गए और बोरीबंदर के प्लैटफार्म पर उन्होंने साक्षात् दंडवत किया और कृष्ण की ठीक तरह से देखभाल करने का उन्हें आश्वासन दिया।

यही कृष्ण पंद्रह वर्ष तक कठोर तपश्चर्या करके, गुरु की कृपा प्राप्त करके लखनौ से बंबई आने निकला तब अण्णासाहब की स्थिति वधू-पिता के समान हुई। गड़करी कहा करते थे कि 'कन्यादान के समय के आंसू दुख के होते हैं या आनंद के, इस का अंदाजा लड़की के बाप के सिवा कोई भी दूसरा बाप नहीं लगा सकता।' किन्तु गुरुशिष्य के पुण्यप्रभावी भावबंधन से आबद्ध अण्णासाहब ने उसका अचूक अंदाजा लगाया था। अत: कृष्ण को बिदा करते समय मंगलाष्टक की तरह स्वरचित 'वियोग बराली' राग में साश्रुनयनों से उन्होंने आशीर्वाद दिया-

"लाख करोर जियो ऐ नाद के पुजारी
जस कीरत अनत बढ़े, तिहारी या जग में ही॥
गावो, सुनावो, रिझावो, गायक गुनी कहावो,
सदा रत रहो, संगीत सुधा रस में हो-"

संगीत-कला के एक ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध, बुजुर्ग के द्वारा अपने शिष्य को 'नाद के पुजारी' कहकर संबोधित करना लोकविलक्षण ही है।

"किसी कठिनाई में फँसे व्यक्ति को फंदे में डालकर उससे बंदिशें वसूल करना तो अण्णासाहब की प्रकृति ही नहीं थी, उलटे अपने पासकी अनेक सांगीतिक बंदिशों को इस बुजुर्ग ने लेनेवाले की पात्रापात्रता का विचार भी न करके, किसी प्रकार की अपेक्षा न रखते हुए, निरपेक्ष भाव से लुटा दिया था! अण्णासाहब निर्मल मन के, साफ विचारों के व्यक्ति एवं संगीत के एक स्वच्छ झरना थे। मेरा सिर उनकी स्मृति में अपने आप झुक जाता है!

मेरे संगीत-जीवन के ब्रह्मा, विष्णु, महेश

मेरे बाद के दो गुरुवर पं. जगन्नाथबुवा पुरोहित (गुनीदास) और उस्ताद खांसाहब खादिम हुसैन खां (सजन पिया) दोनों जैसे गुणी शिष्य, उदार गुरु, उच्च श्रेणीके गायक के रूप में पहचाने जाते हैं, उसी प्रकार रसीले, रंगीले, रचनाकार के रूप में भी वे ख्यातनाम हैं। उन दोनों के बनाए नवीन राग एवं काव्यगुणों से सजी हुई बंदिशें लोकप्रिय हैं।

रचना के विषय में इन दोनों गुरुवरों ने अगर किसी को अपना गुरु माना हो तो वह 'पद्मभूषण' अण्णासाहब रातंजनकर को ही! अण्णासाहब का स्वर-रचना का कल्पनाविलास, माधुर्य पर उनका स्वामित्व, गाते समय महसूस होनेवाला अनोखा वजन दोनों को मुग्ध कर देता था और दोनों को अपने अधूरेपन का एहसास होता था। दोनोंका अण्णासाहब की रचनाओं का सूक्ष्म निरीक्षण जारी था। उसके मूल में उनकी शैली के नुक्स पर अंगुलिनिर्देश करने का उद्देश्य नहीं है। पूर्णत्व की राह पर ले जानेवाले अण्णासाहब उन दिनों के एक दृष्टि से गुरु ही थे और विशेष बात यह है कि इस ऋण को दोनों ने ही खुले दिल से मान लिया है!

गुनीदास के मन में तो बीच-बीच में अण्णासाहब से मिलनेकी उत्कट इच्छा होती थी। कई बार वे मुझे भी अपने साथ ले जाते। अण्णासाहब की नई बंदिशें, नए विचार, सुनकर वे अपनेको लाभान्वित समझते थे। उनके रचना-सौष्ठव, शैली, रचना का आकृतिबंध आदि का वे गहराई में जाकर विचार करते थे। केवल कार्बन पेपर न बनकर ब्लॉटिंग पेपर की तरह उनके सार-तत्त्व को वे सोख लेते थे और अपनी काव्य-प्रतिभा को उजाला देते थे। उनमें कुत्सित चर्चा, खिल्ली के तौर पर उपस्थित की गई शंकाओं, घृणास्पद असूया आदि के लिए स्थान नहीं होता था। केवल 'गुनीजन सब होत नाही, गुन की चरचा नाहि' का निर्मल भाव और 'सेवा गुनियन की कीजे' वाली निरपेक्ष वृत्ति उनके मन में विद्यमान रहती थी। इसीलिए 'बुवा' जी की अनेक बंदिशों पर अण्णासाहब की ढंगदार शैली का प्रभाव अनायास पड़ा दिखाई देता है। उसका एक ही उदाहरण पर्याप्त है। गुनीदास की अहीर भैरव की 'तेरो जिया सुख पावे' बंदिश के अंतरे की रचना, चलन आदि अण्णासाहब की 'सालग़बराली' जैसा प्रतीत होता हो तो वह अचरज की बात नहीं है।

खांसाहब खादिम हुसेन खां साहब को अण्णासाहब की झिंजोटी राग की ढंगदार बंदिश 'मेरो मन सखी हर लीनो' ने इतना मोहित किया कि खांसाहेब ने उससे स्फूर्ति लेकर उसी तरीके पर 'सांवरे सलोने से लागे मोरे नैना' बंदिश बनाई और विशेष बात यह कि महफिल में उसे गाते समय अण्णासाहब के इस ऋण को उन्होंने खुले दिल से प्रकट रूप में स्वीकार लिया।

'गुनीदास' और 'सजन पिया' ये दोनों तो मेरी संगीत-विद्या के गुरु ही ठहरे। किन्तु इन दोनों ने गुरुसमान श्रद्धा रखी तो अण्णासाहब के प्रति ही! उन्होंने एकलव्य की तरह कला-साधना की। इन दोनों के कारण ही अण्णासाहब के साथ मेरा घनिष्ठ संबंध जुड़ गया और विचारों को भी नई दिशा प्राप्त हुई। 'धन धन भाग' जैसा यह अपूर्व योग है। इसीलिए मेरे संगीत-जीवन के शिल्पकार इन तीनों - ब्रह्मा, विष्णु, महेश- के सामने दो हाथ और तीसरा मस्तक जोड़कर मैं अपनी विनम्र आदरांजली इन शब्दों में उनको अर्पित करता हूं- "गाऊं गुनन कैसे तुमरो, गुन नाहिं मोमें अब-"

जिस प्रकार मेरे इन दो गुरुओं का ऋणानुबंध अण्णासाहब से जुड़ गया था, लगभग उसी प्रकार का अनोखा ऋणानुबंध मेरे पहले गुरु स्व.पं. अंतुबुवा जोशीजी से भी जुड़ा हुआ था। संप्रति मेरे चलाए जानेवाले 'श्रीगुरु समर्थ गायन विद्यालय' के मूल संस्थापक श्री अंतुबुवा ही तो हैं!'' गिरगांव में १९०९ में स्थापित इस विद्यालय की आगे चलकर बहुत ही समृद्धि हुई। उसी समय पं. अण्णासाहब श्री अंतुबुवाजी के पास गाना सीखने जाते थे। फलत: एक प्रकार से मैं अण्णासाहब का गुरुबंधु ही हूं। इसीलिए मेरे पहले गुरु को 'गुरु: साक्षात् परब्रह्म' के रूप में विनम्र अभिवादन!

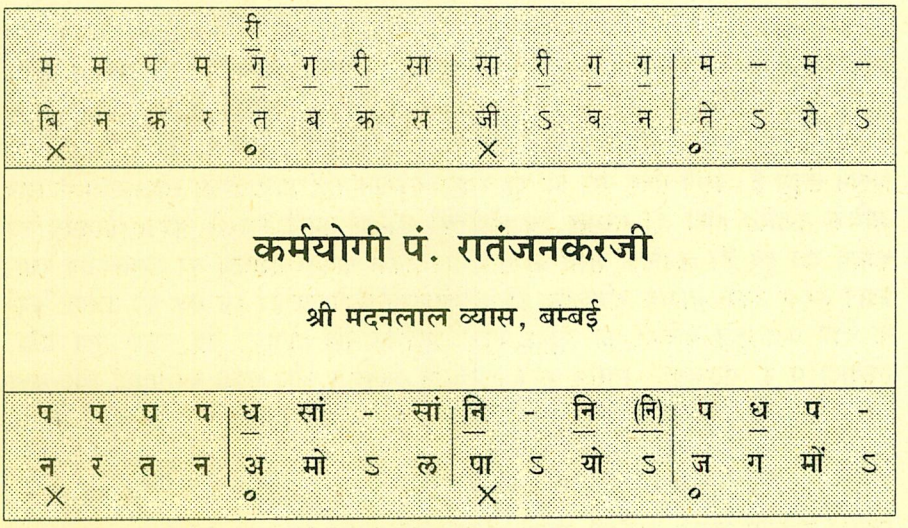

(श्री मदनलाल व्यास बहुत ऊंचे संगीतज्ञ और जाने-माने संगीत-समीक्षक हैं। अबतक आपने संगीत के अनेक मूल्यवान ग्रंथों का संपादन एवं अनुवाद किया है। 'नवभारत टाइम्स' तथा अन्य पत्रिकाओं में संगीत-समीक्षा लिखते रहे हैं ।)

अथाह सागर जब शांत और निश्चल रहता है तब उसका गांभीर्य किसीको भी विस्मित कर सकता है, किंतु जब उसमें तरंगों का वेग उठता है तब ऐसा लगता है कि वह जैसे सबको अपने में समा लेगा। उसका शांत भाव उसकी विशालता का परिचायक और गहन चिंतन का प्रतिरूप है और तरंगायित स्थिति उसके मुखरित होने की उत्कट आकांक्षा की अवस्था। ध्वंस-निर्माण-ध्वंस-पुनर्निमाण प्रकृति का नियम है और उसीमें चिरंतन स्वर अपनी अद्‌भुत छवि के साथ रूपायित होता है ।

पं. श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर के व्यक्तित्व को भी इसी रूप में देखना उचित होगा। इस पुरुष के अंतर में उसी विशालता, व्यापकता एवं गंभीरता के दर्शन किये जा सकते थे। इसके अंतर से उठनेवाली तरंगें रुद्र रूप नहीं, बल्कि शीतलता, आनंद प्रदान करनेवाली थीं, पथिक का पथ आलोकित करनेवाली थीं। यह मानव एक उद्देश्य लेकर चला था, अपने गुरु के प्रकाश-पुंज को विस्तृत करने, मुखरित करने को प्रवृत्त हुआ था। उच्चादर्श, दार्शनिक आधार और उदार भाव से जिस रूप में संगीत के उदात्त स्वरूप को कायम रखने, शिक्षा का स्वस्थ रूप प्रतिष्ठापित करने में अपने मार्गदर्शक गुरु पं. विष्णु नारायण भातखण्डे के निर्धारित लक्ष्य की ओर निस्वार्थ, निःस्पृह भाव से वे अग्रसर हुए, मनन-चिंतन से जैसा रचना-संसार खड़ा कर सके, वह निःसंदेह आदर्श कहा जा सकता है। घर के विशाल हॉल के एक कोने में बहुमूल्य ग्रंथों से घिरे शास्त्रों के प्रस्थापित मतों का मंथन करते हुए, संगीत महफिल में स्वर-लहरियों के साथ चिंतन-प्रवाह में विचार करते हुए एवं ईदगिर्द के वातावरण से निर्लिप्त इस भावप्रवण पुरुष को 'कर्मयोगी' ही कहना ठीक होगा ।

नवसर्जन के पथचारी पं. रातंजनकर सही अर्थ में वाग्गेयकार थे। नवरागों के सर्जन के साथ उनकी रचनाओं में अद्‌भुत लालित्य एवं भावगांभीर्य मिलता है। सर्वाधिक उल्लेखनीय बात यह है कि इस गुणी वाग्गेयकार की बंदिशें रागविशेष के अंतर्निहित भावों की वाहक हैं। इनमें शब्दों का चयन जिस रूप में किया गया है, उससे पाठ्य एवं गेय दोनों रूपों में वे रचनाएं अपने आपमें संपूर्ण हैं। इसमें संदेह नहीं कि वह रचना-कौशल और भावप्रवणता स्वर-सज्जा के साथ अधिक मुखरित होती है। संस्कृत एवं हिंदी की रचनाएं समान रूप से अपना गौरवमय रूप कायम रखे हुए हैं। कर्नाटक शैली के राग, एवं उनके गायन-वैशिष्ट्य को सम्माननीय स्थान प्रदान करना उनके व्यापक दृष्टिकोण को दरसानेवाली विशेषता है। इस पक्ष को उजागर करने के लिए यहां कुछ बंदिशों का उल्लेख करना अनुचित नहीं होगा। 'चंद्र लज्यो मुख देखि' (केदार) में पं. रातंजनकर स्तरीय कवि हैं जिसमें अलंकार और शब्दों का प्रवाह स्वर-सज्जा का आधार लेकर देदीप्यमान हुए हैं। इसी प्रकार 'गिरि कैलास पीठ' (बैरागी भैरव) में भगवान शंकर का वैरागी रूप मूर्त होता है, 'गगनमय थाल' (यमन), 'आद नाद ब्रह्मनाद' (यमन), दार्शनिक एवं समर्पण भाव की प्रतीक रचना 'नहीं मांगता हूँ' (खमाज), भक्तिभाव-प्रदर्शक रचना 'नमोनमो जयश्री सरस्वती दयानी' (छायानट), 'मेरो मन सखी हर लीनो' एवं 'सांवरी मन भायो' (झिंझोटी), 'दुर्गे महारानी पातक निवारिनी' (दुर्गा), 'दुर्गे महिषासुरमर्दिनी' (शंकरा), 'वंदे देवीम् श्री वाग्देवीम् श्री' (केदार गौल-वर्णम-संस्कृत) आदि कुछ ही उदाहरण यहां दिए गए हैं। उनके इस रचना-संसार ने संगीत-भण्डार को समृद्ध ही नहीं, समुज्ज्वल किया है, गौरवान्वित किया है।

यह रचना-कौशल उनके बहु-आयामी कार्य का एक मात्र पक्ष था। संगीत के व्यावहारिक और औपपत्तिक दोनों पक्षों का उन्होंने पूर्णता के साथ अध्ययन किया था और इनपर अपने सुचिंतित मत भी प्रकट किए थे। संगीत-शिक्षा के व्यवस्था-पक्ष को भी उनकी कर्मठता और सचेष्टता ने एक निश्चित रूप प्रदान किया, भातखंडे संगीत विद्यापीठ (लखनऊ) और खैरागढ़ संगीत विश्वविद्यालय उसके साक्षी हैं। इस कार्य को निश्चित स्वरूप प्रदान करने में उन्हें कितना त्याग करना पड़ा, यह बात भी छिपी नहीं है। पारिवारिक कष्ट झेलते हुए निःस्वार्थ भाव से सेवारत रहना निश्चित उद्देश्य को लेकर 'अवतरित मानव' के लिए ही संभव है और "अण्णासाहब" (पं. रातंजनकर) ने इसे संपन्न कर दिखाया। आज उनका शिष्य-परिवार तथा उस धरोहर को वहन करनेवाले संगीत विद्यालयीन शिक्षार्थी उनके आजीवन ऋणी रहेंगे। यह था उनका संगठन तथा व्यवस्था- पक्ष। यहां यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने उपनिषद् और स्वामी रामकृष्ण परमहंस के आप्त वाक्य का निर्वाह करते हुए 'मैं' को कभी प्रधान नहीं होने दिया बल्कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' को ही प्रमुखता दी। पं. रातंजनकर की उद्‌ग्र कर्तव्यपरायणता और बहुमुखी संकल्पों के समन्वय से खैरागढ़ विश्वविद्यालय गौरवमय स्थान पा सका। और उसकी नींव दृढ़ता से प्रस्थापित हो सकी। पं. रातंजनकर कला-विक्रय के घोर विरोधी रहे।

वीरेन्द्रकिशोर रायचौधरी के अनुसार पं. रातंजनकर भारत में संगीत-शिक्षा के प्रमुख स्तंभ थे और आदर्श शिक्षक भी। श्री अमृतराव निस्ताने (नागपुर) ने कहा है कि ध्रुपद अंग की गायकी, संगीत का वैशिष्ट्य, समप्रकृतिक रागों के सूक्ष्म भेद अण्णासाहब बहुत सहज भाव से समझा देते थे। उनका शास्त्रज्ञान अद्‌भुत था, यह सब उनकी विद्वत्ता और अलौकिक बुद्धिमत्ता का साक्षी है। श्री टी.एल. वेंकटराम अय्यर ने उन्हें हिंदुस्तानी और कर्नाटक संगीत की एकता

का प्रतीक बनाया है। प्रा. पी. साम्बमूर्ति ने पं. रातंजनकर को भारत का सर्वोत्तम लक्षणलक्ष्य विद्वान और आदर्श प्राचार्य कहा है। श्रीमती अरुणा देसाई ने पं. रातंजनकर को संगीतज्ञ, पंडित, अद्‌भुत शिक्षाविद् और सर्वोपरि आदर्श शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक उत्तराधिकारी बताया है।

संगीत जैसे विशद एवं जटिल विषय का शायद ही ऐसा कोई अंग रहा, जिसपर उन्होंने प्रकाश न डाला हो। श्रुति जैसा उलझा एवं गाणितिक विषय, लोकसंगीत, ठाठ रचना, जाति एवं जाति उद्‌भूत रागों की सृष्टि, आर्ष संगीत, रागदारी संगीत की पूर्वपीठिका और उसका भविष्य, सांगीतिक परंपरा, कर्नाटक और हिंदुस्तानी संगीत, प्राचीन और आधुनिक संगीत-शिक्षा, राग का अर्थ एवं उद्देश्य आदि विषयों पर जिस रूप में उन्होंने प्रकाश डाला है उसीसे इस दुर्बल शरीर के 'महामानव' के विशद ज्ञान की अथाह सागर से तुलना की जा सकती है।

अंत में राग मेघ के संबंध में पं. ननीगोपाल बंदोपाध्याय और स्वामी प्रज्ञानानंद को लिखे गए पत्रों के अंश उद्‌धृत करना समीचीन होगा।

(स्वामी प्रज्ञानानंद लिखित ग्रंथ 'राग ओ रूप' से)

Lucknow
24/8/48

My Dear Nani Babu,

Your letter of the 12th instant. 'Meggh Malhar' itself is some time called 'Megh'. It is a variety of Malhar. The swaras are सा रे म प नि सां- सां नि प म रे सा। It is distinguished from Sarang by the following points.:

(1) Madhyam is 'Vadi' in Megh, while Rickhav is vadi in Sarang. Shadja is samvadi in Megh and Pancham in Sarang. Accordingly there will be a 'niyas' on madhyam in Megh and on Rikhav in Sarang.

(2) 'Meed' from म to रे (म रे) and री-प संगति and peculiar manner of swaroccharana (स्वरोच्चारण) are distinguishing marks of Megh.)

xxx xxx xxx

Some musicians use Komal ग in it, probably to distinguish it more clearly from Sarang. But that not frequently- eg. म, रे प, सा रे, सा, रे, सा,

सा सां, नि, प, मप, म ग, म ग, म, सा रे सा

In rainy season it may be sung any time. Accordingly it is night Raga.

इस विषय में और प्रश्नों के साथ पत्र लिखे जाने पर पं. रातंजनकर का उत्तर-

MARRIS MUSIC COLLEGE
LUCKNOW
10th September 1948.

To
Shri Swami Prajnanananda,
Ram Krishna Vedanta Math, Calcutta.

Dear Sir,

x x x You are laying much stress on your following the 'Hanuman Mat'. This has created in me a hope that you have, after all, come across an old sanskrit work representing the 'Hanuman Mata'. I should, in case, like to know the name of the Grantha, its basic side i.e: its Shudda & vikrit swaras as compared to the modern Gamut, in general scheme and system of classification of Ragas.

So far no Grantha representing the Mata has been discovered. Whatever little we hear about the 'Hanuman Mata' is from the quotations of its scheme of Raga and Ragini classification quoted in Damodar's 'Sangit Darpana' and such other works and from some old musicians.

xxx xxx xxx

Regarding Mallar and Megh Mallar, I do not know either the Megh or Mallar of Hanuman Mata beyond what is given in the following sloka.

मेघपूर्णोधत्रय: स्यादुत्तरायतमूर्छन:।
विकृतो धैवतो ज्ञेय: शृंगाररसपूरक:॥
धा नि रि ग म प ध
मल्लारी 'स-प'हीना स्याद् ग्रहांशन्यासधैवता।
औडुवा पौरदीयुक्ता वर्षासु सुखदा सदा॥
धा नि रि ग म ध

But unfortunately we cannot sing these, because we do not know how much above 'Pa' is the vikrit 'Dha' of 'Hanuman'. Damodar does not explain it. In fact we do not know the Suddha vikrit swara of 'Hanuman'. The difference in words comes to this :-

मेघ- संपूर्ण, धैवत विकृत
मल्लारी (not Mallar)- औड़व, स-प वर्जित
Hanuman does not give any raga by name Mallar.

xxx xxx xxx

Now let us come to current system. The Raga known as Suddha Mallar

(or Mallar simply) is an oudav Raga omitting नि and ग।

xxx xxx xxx

Now Megh is a variety of Mallars. It is called Megh Mallar or Simple मेघ।

xxx xxx xxx

There is no Raga in vogue called Megh without reference to Mallar. There is no मेघ-अंग as such, so it is not possible to say that मेघमल्हार is a combination of मेघ and Mallar.

x x x

It is time we left their 'matas' to themselves. It is a wild goose chase, so long as the very foundation i.e. स्वरसमूह remains obscure.

- Ratanjankar

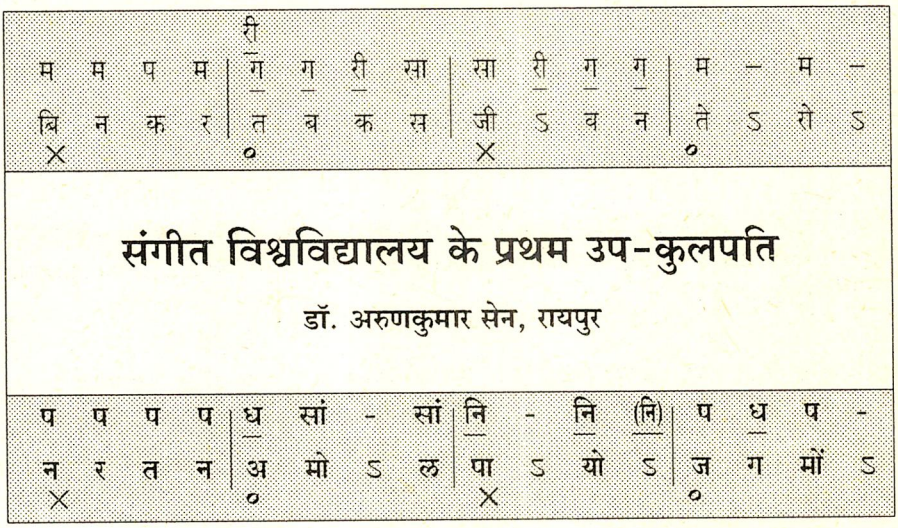

(बहुमुखी प्रतिभा के संगीत कोविद। एम.ए. (नागपुर वि.विद्यालय), संगीत निपुण (लखनऊ), पीएच.डी., साहित्यरत्न (प्रयाग), धर्मविशारद - उपाधियां। कमलादेवी संगीत महाविद्यालय रायपुर के प्राचार्य, इंदिरा सं.क. विश्वविद्यालय के डीन और तत्पश्चात् उपकुलपति रह चुके हैं। अनेक ग्रंथों के लेखक। उत्तर भारतीय संगीत का ऐतिहासिक विवेचन (पं. भातखंडेजी के अंग्रेजी ग्रंथ का अनुवाद).... इत्यादि। प्रस्तुत लेख अण्णासाहब के षष्ठिपूर्ति अभिनंदन ग्रंथ, १९६०, से लिया गया है।

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ की स्थापना भारतीय संगीत की एक ऐतिहासिक घटना है, क्योंकि संविधान के आधारपर सर्वप्रथम मध्यप्रदेश विधान-सभा को ही इस विश्वविद्यालय की स्थापना का श्रेय सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्राप्त हो सका। इं.क.सं.वि. एक्ट क्र. XIX १९५६ भारतीय संगीत के इतिहास का इसी हेतु एक अभूतपूर्व स्मरणीय पृष्ठ है। और श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर इस अभिनव विश्वविद्यालय के प्रथम महान उपकुलपति हैं।

इस विश्वविद्यालय को क्रियात्मक रूप देने का श्रेय स्व.पं. रविशशंकर शुक्ल, मुख्य मंत्री मध्यप्रदेश, को है जिनके हृदय में एक स्वप्निल चित्र इस विश्वविद्यालय का बन चुका था, जिसे आदरणीय रानी पद्मावती एवं राजा साहब खैरागढ़ ने राजमहल एवं अन्य उपकरण दान में देकर साकार किया था।

मुझे उस बात की याद है जब स्व.पं. शुक्ल ने इस विश्वविद्यालय के प्रथम उपकुलपति के लिए मुझसे विचार-विमर्श शुरू किया था। यद्यपि वे संगीत के जानकार नहीं थे पर संगीत संसार की गतिविधियों से परिचित थे और जब श्रद्धेय रातंजनकरजी का उल्लेख इस बारे में किया गया तो वे बड़े उत्फुल्ल हो गये। उन्होंने तुरन्त विश्वास कर लिया कि वे ही इस उत्तरदायित्व-पूर्ण पद के लिये सर्वथा योग्य हैं। लखनऊ छोड़कर उनके एकाएक खैरागढ़ आने की बात पर मुझे शंका थी, क्योंकि भातखंडे संगीत विद्यापीठ एवं भातखंडे संगीत महाविद्यालय, लखनऊ, का

क्रमिक विकास-कार्य उनके जीवन का व्रत बन गया था। मेरी शंका के संबंध में श्री शुक्लजी का ख्याल शायद यह था कि श्री. रातंजनकरजी संगीत के पथ-प्रदर्शक हैं अत: भारत के इस प्रथम कला एवं संगीत विश्वविद्यालय को उनकी आवश्यकता है। वे कदापि हमें निराश नहीं करेंगे। अंत में आदरणीय रातंजनकर को ही यह महा गौरवपूर्ण पद एवं साथ ही उत्तरदायित्व लेना पड़ा। उन्होंने यह पद दि. ५ फरवरी १९५७ को स्वीकार किया और लखनऊ के जनबहुल जीवन से मानों संन्यास लेकर खैरागढ़ की नीरवता में संगीत की प्रतिष्ठा हेतु चले आए। मध्यप्रदेश का संगीत-समाज इस कर्मठ नि:स्वार्थ योगी की कला-साधना को पाकर धन्य हुआ।

सौभाग्यवश इस विश्वविद्यालय के निर्माण काल से ही मेरा इससे घनिष्ठ सम्पर्क रहा है, इसलिए विश्वविद्यालयीन गतिविधि एवं आदरणीय रातंजनकरजी के ठोस रचनात्मक कार्य-कलापों को अंतरंग रूप से जानने एवं समझने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ है। आचार्य रातंजनकरजी विश्वविद्यालय के एक ऐसे उपकुलपति थे जिसके लिए कोई दूसरी उपमा नहीं थी। भारत ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण सभ्य जगत् में इस विश्वविद्यालय के समान किसी संस्था का निर्माण सम्भव न हो सका था। संगीत-क्षेत्र में अखिल भारतीय स्तर पर कार्य करनेवाली कुछ संस्थाएं अवश्य थीं किन्तु संविधान की धारा से शासकीय स्तर पर अनुदानित ऐसा कोई विश्वविद्यालय नहीं था।

इन समस्याओं के होते हुए भी आ. रातंजनकरजी ने दृढ़ता से इस विश्वविद्यालय की स्वस्थ प्रगति के लिये भगीरथ प्रयत्न किये एवं 'विश्वविद्यालय धारा' के नियमों की रक्षा करते हुए उन्होंने रचनात्मक कार्यक्रमों की व्यवस्थित परम्परा इस विश्वविद्यालय में स्थापित की। विश्वविद्यालयीन विधिविधान आदि की जटिलता का सम्यक् अध्ययन कर उचित कार्यों का सम्पादन करना एक सुयोग्य कलाकार ही नहीं वरन एक सुयोग्य विधि-व्यवसायी का क्षेत्र था और आ. रातंजनकरजी ने अपने जीवनभर के अनुभवों का निचोड़ इस विश्वविद्यालय की जड़ में डाल दिया।

अपने कार्य-काल में मैंने चिंतनशील एवं व्यस्त रातंजनकर जी को बड़े समीप से देखा एवं समझा है। वे बड़ी गहराई से हर तत्त्व का स्वयं अध्ययन कर ऐसे निष्कर्षों पर पहुंचते थे, जिनसे संगीत का वास्तविक कल्याण सम्भव हो सके। फिर इस दिशा में निर्णय आदि लेते समय उन्हें कभी कभी बड़ा मानसिक क्लेश होता था, क्योंकि अपने पथ का अपने ही विवेक-बुद्धि एवं आन्तरिक प्रकाश से उन्हें स्वयं निर्माण करना पड़ता था। दूसरे विश्वविद्यालयों की अपेक्षा इस विश्वविद्यालय का रूप पूर्णरूपेण संपन्न होने के कारण कई बातों में बड़ी सावधानी से आदेश देने पडते थे। आचार्य रातंजनकरजी की ही योग्यता थी जो विश्वविद्यालय का मार्ग क्रमश: प्रशस्त करती गई। कभी-कभी केवल कुछ ही घंटों का अवकाश लेकर दिन-रात अक्लांत परिश्रम उन्होंने किया।

किसी भी ज्ञान का परिरक्षण एवं शोध-कार्य बिना आर्थिक बल के सम्भव नहीं होता। विश्वविद्यालय की आर्थिक समस्याओं के साथ आचार्य रातंजनकरजी की उदात्त कर्तव्यपरायणता एवं बहुमुखी संकल्पों का समन्वय नहीं होता था। प्रांतीय शासन से केवल एक लाख रुपया प्रतिवर्ष इस विश्वविद्यालय को मिलता है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग जो भारत के समस्त विश्वविद्यालयों को विविध कार्य-कलापों के लिए अनुदान देता है, इस विश्वविद्यालय के हेतु मौन रहा है। जिनकी कल्पना का यह विश्वविद्यालय साकार रूप था, वे.पं. शुक्ल भी विश्वविद्यालय

के प्रारम्भिक काल में ही दिवंगत हो गए। अधिकारियों में भी सभी की सहानुभूति इस विश्वविद्यालय को प्राप्त न हो सकी। ललित कलाओं के लिए विश्वविद्यालय की रूप-रेखा को ही कुछ तथाकथित विद्वज्जनों ने संदिग्ध दृष्टि से देखा। इस विषम परिस्थिति में आचार्य रातंजनकरजी का व्यक्तित्व और भी निखर उठा और विश्वविद्यालय द्वारा नियुक्त कर्मचारियों की सुरक्षा हेतु उन्होंने ५०० रु. प्रति माह और कभी उससे भी अधिक द्रव्य विश्वविद्यालय को अपने वेतन से दे दिया। उनके इस दान की महानता से कार्यकारिणी के सब सदस्य परिचित नहीं हैं, क्योंकि उनका यह आर्थिक सहयोग सदा प्रचार से दूर रहा और जननी के दुग्ध के समान गोपनीय रहकर विश्वविद्यालय शिशु का पोषण करता रहा।

मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ क्षेत्र की सांगीतिक जन-चेतना भारत के अन्यान्य क्षेत्रों की तुलना में बहुत कम रही है। महाकोशल में बहुत कम संगीत-संस्थाएं कार्य कर रही हैं, जिन्हें प्रारम्भिक मान्यता एक प्राथमिक शाला के रूप में दी गई थी। आचार्य रातंजनकरजी के परिश्रम का ही यह परिणाम है कि आज केवल प्रांतीय सरकार ही नहीं अपितु भारत सरकार ने इन्हें विश्वविद्यालय के रूप में मान्यता दी है। यह आदरणीय रातंजनकरजी की प्रेरणा थी कि भारत शासन, शिक्षा मंत्रालय से सर्वप्रथम संगीत महाविद्यालय को एक विराट रंगशाला निर्माण हेतु ३५००० रु. का अनुदान प्राप्त हो सका। प्रथम उपकुलपति के नाते खैरागढ़ की शैक्षणिक सीमाओं का पर्यवेक्षण कर उन्होंने ऐसी छात्र-वृत्तियों की योजना की, जिनसे सीलोन आदि दूर दूर से संगीत-छात्र खैरागढ़ आए। यातायात, ठहरने आदि की कठिनाइयों के बावजूद माने हुए विद्वज्जन एवं भारतीय संगीत-समाज खैरागढ़ की ओर आकृष्ट हुआ। यह एकमात्र रातंजनकरजी के प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व का परिणाम था। निश्चित अवधि से ६ मास अधिक रहकर उन्होंने इस विश्वविद्यालय की भित्ति इतनी दृढ़ता से स्थापित कर दी कि अब उसका सुयोजित पथ पर अग्रसर होना शासन और जनता की सक्रिय सहानुभूति से संभव हो सकता है।

आचार्य रातंजनकरजी ने संगीत के साथ साथ अन्यान्य ललित कलाओं के योग्य अध्यापन एवं शोधकार्यों के लिए भी विश्वविद्यालयीन स्तर पर बड़ा कठोर परिश्रम किया है।

उनकी विस्तृत योजनाओं को कार्यान्वित कर प्रान्तीय एवं केंद्रीय शासन अवश्य ही लाभान्वित हो सकते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में इन योजनाओं में नि:संदेह पर्याप्त आर्थिक सहायता आवश्यक है किन्तु आगे चलकर इन योजनाओं से उपलब्ध कलात्मक कृतियों से इतना द्रव्य देश एवं विदेश से प्राप्त हो सकेगा, जो इन योजनाओं की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

अंत में यही कहना चाहता हूं कि किसी भी कला एवं विज्ञान में उच्चस्तरीय ज्ञान देश की महान सम्पत्ति है और उस सम्पत्ति का मूल्यांकन दैनंदिन उपयोगिता के आधार पर कभी सम्भव नहीं। पहले कतिपय महान शासकों के आश्रय में उच्चस्तरीय ज्ञान का यदा-कदा विकास होता था किंतु स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद आज इसका पूर्ण दायित्व हम सब का है। हम सब की सम्मिलित शक्ति एवं एकात्मता से आचार्य रातंजनकरजी द्वारा अंकुरित इस विश्वविद्यालय का क्रमश: पल्लवित, प्रस्फुटित रूप भारतीय ललित कलाओं का वास्तविक विकासकेंद्र बन विश्व का विद्यालय बने, यही कामना है।

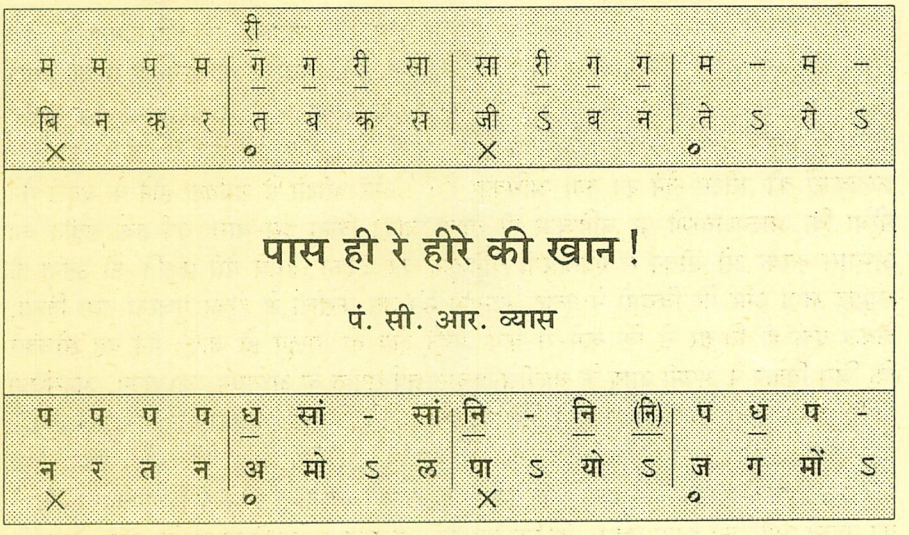

[पं. चिंतामणी रघुनाथ- (सी.आर. व्यास) : भारतीय संगीत-कला के नि:सीम उपासक। 'पद्मभूषण', संगीतशास्त्र के उत्कट जिज्ञासु, गानपंडित तथा गायनगुरु। पं. राजारामबुवा पराड़कर, पं. मिराशीबुवा तथा. पं. जगान्नाथबुवा पुरोहित आदि से संगीत-शिक्षा प्राप्त। जाने-माने महफिली गायक तथा अनेक बंदिशों के रचयिता के नाते वाग्गेयेयकार भी। 'संगीत सरिता' नामक संग्रह प्रकाशित। पं. व्यास का प्रस्तुत लेख अण्णासाहब की षष्ठचब्दिपूर्ति के अवसरपर प्रकाशित अभिनंदन-ग्रंथ (१९६०) से उद्धृत किया गया है।]

महाराष्ट्र में आजतक अनेक शूर, राजनीतिज्ञ, पंडित, संत, कलाकार, साहित्यकार जैसे श्रेष्ठ पुरुष पैदा हो चुके हैं। 'महाराष्ट्र की भूमि' का यह गुण ही है ऐसा विधान किया जाए तो मुझे लगता है वह सत्य स्थिति के अनुरूप ही है।

इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि संगीत के क्षेत्र में पं. श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर महाराष्ट्र में आविर्भूत एवं भारत को अनायास प्राप्त एक भूषण है। संगीत के क्षेत्र में मैं उनका नाम लगभग पिछले २५-३० वर्षों से सुनता आया हूं। मैंने सपने में भी नहीं सोचा था कि कुछ वर्ष पूर्व उनसे मेरी पहचान होगी और उनके संपर्क का लाभ मुझे मिलेगा, बल्कि मेरा तो यह अनुभव था कि यह बात असंभव ही है। क्योंकि उनका कार्य-क्षेत्र उत्तर हिंदुस्तान में होने से महाराष्ट्र में उनका वास्तव्य बहुत ही कम रहा करता था। फिर भी शास्त्रीय संगीत की उनकी कीर्ति सुनकर मेरे मनमें यही मनीषा विद्यमान रहती थी कि मुझसे उनकी पहचान हो जाए और उनके सान्निध्य का लाभ मुझे प्राप्त हो। मुझे यह कहने में संतोष होता है कि सौभाग्य से आगे चलकर ऐसा संयोग भी जुड़ गया और उनके प्रति मेरे मन में जो आदर-भाव पैदा हो गया था वह हजार गुना बढ़ गया।

सन १९५३ में, कलाकारों की परीक्षा लेकर उनका उचित स्तर निर्धारित करने के लिए आकाशवाणी द्वारा जो समिति नियुक्त की गयी थी उसके उपाध्यक्ष की हैसियत से उनके नाम

का बहुत ही बोलबाला हुआ। चूंकि सन १९४७ से मैं आकाशवाणी पर गाता आया हूँ, मुझे उस कसौटी से होकर गुजरना क्रमप्राप्त ही था। किन्तु उक्त व्यवस्था के फलस्वरूप वातावरण कुछ दूषित-सा हो जाने से, उनके प्रति मेरे मन में जो धारणा थी उसे थोड़ा-सा धक्का पहुँच ही गया। मनुष्य प्राय: प्रवाहपतित ही होता है। अन्य लोगों की तरह मुझे भी लगा कि 'इन्हें कलाकारों की परीक्षा लेने का क्या अधिकार है?' और परीक्षा में शामिल होने के बदले मैंने सोचा कि आकाशवाणी पर बहिष्कार ही डाला जाए। किन्तु दस-बारह वर्ष तक संगीत का अभ्यास करके उसे जीवन से एकबारगी बहिष्कृत कर देनेका विचार मेरी प्रकृति को उतना ही कष्टप्रद लगा और मेरे विचारों ने पलटा खाया। मैंने उस कसौटी से होकर गुजरना तया किया, केवल एक ही विचार से कि कम-से-कम अपने दोष तो मालूम हो जाएं। मैंने यह सोचकर कि जिस विद्वान ने अपनी आयु के चालीस-पचास वर्ष संगीत के अध्ययन, अध्यापन, अनुसंधान आदि में गुजारे हों, वह अधिकार में निश्चय ही बड़े होंगे, केवल व्यावसायिक संगीत कलाकार नहीं होंगे। उनके विषय के कुविचारों को मैंने मन से हटा दिया और मैंने उन्हें सचमुच वैसा ही पाया। शास्त्रीय संगीत में रागों की विशेषताएं, उनका विस्तार, उनमें गाई जानेवाली बंदिशों का महत्त्व आदि का इतना गहरा और विस्तारपूर्वक अध्ययन उन्होंने किया था कि उनके मार्गदर्शन में यदि संगीत का सामान्य छात्र भी अध्ययन करे तो उस कला में वह नि:संदेह प्रभुत्व प्राप्त कर लेगा। कम से कम मिलावटी शास्त्रीय संगीत तो वह न तो गाएगा, न सुनेगा ही। कुछ लोगों की यह धारणा है कि 'संगीत' शास्त्र नहीं, बल्कि कला है और वह कला बंधनातीत हो तभी उसका विकास होगा, अन्यथा यदि उसे अधिक बंधन में जकड़ रखा जाए तो वह लुप्त होगी।

हीनता ग्रंथि का परिणाम

यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण एवं गहन है कि 'संगीत' शास्त्र है या कला, और यदि वह दोनों है तो शास्त्र पहले है या कला? इसपर आजतक अनेक विद्वानों एवं अधिकारी व्यक्तियों ने अपने अपने अलग अलग मत प्रदर्शित किए हैं, किन्तु इस प्रश्न का एक मात्र निश्चित उत्तर देना संभव नहीं है, क्योंकि उसमें सर्वप्रथम यह दूसरा महत्त्वपूर्ण मुद्दा उपस्थित होता है कि कला की व्याख्या अभी तक कोई भी साहित्यकार समाधानपूर्वक एवं सर्व सम्मत रूप में नहीं कर सका है। सभी विद्वानों के मतों के आधारपर निष्कर्ष निकाला जाए तो इतना ही कहा जा सकता है कि 'संगीत' को कुछ हदतक शास्त्र की अपेक्षा हुआ ही करती है। उस शास्त्र का निर्माण भी 'शास्त्र आवश्यक है' इस विचार से बुद्धिपुरस्सर रूप में नहीं किया गया है, बल्कि अनेक उच्च कोटि के कलाकारों के प्रत्यक्ष गायन का विश्लेषण एवं विवेचन करने के उपरांत उसमें सर्वसाधारण रूपरेखा यानी नियम दृष्टिगोचर होने के पश्चात् ही उसका उल्लेख किया गया है। अर्थात् प्रत्यक्ष गायन-कृति में वह अंतर्भूत था ही। भाषाशास्त्र या शब्दशास्त्र यानी व्याकरण भी भाषा के निरीक्षण के फलस्वरूप उसमें दृष्टिगोचर शास्त्र ही तो है। संगीत-कला को यदि बंधनातीत, यानी मुख्यत: रागों के नियमों से परे रखा जाए, तो मेरी राय में, उसका विस्तार या उद्धार तो दूर ही रहा, उल्टे उसकी अधोगति ही होगी। क्योंकि 'राग' (Melody) अपने भारतीय शास्त्रीय संगीत का प्राण है और यही उसकी विशेषता है। यदि इसमें गायक ने स्वतंत्रता से काम लिया, दूसरे शब्दों में, यदि वह ताल स्वर के साथ किन्तु 'राग' याने रंजकत्व को

ही त्याग कर गाने लगे तो मुझे नहीं लगता कि उसके गायन को 'कला' कहना कोई पसंद करेगा।

यदि चार-पांच सालतक अध्ययन किए हुए छात्र ने कहा कि "रातंजनकर शास्त्र का चर्वित चर्वण करके संगीत के रस को नष्ट करनेवाले एक संगीतज्ञ हैं, उन्हें गायन-कला की माधुरी ज्ञात ही नहीं हुई है।" तो मुझ जैसा उस कला का एक जिज्ञासु यही कहेगा कि उस छात्र की संगीत की बुनियाद मजबूत नहीं है; क्योंकि उसकी जानकारी के पांच-दस रागों एवं उनमें आत्मसात् की हुई पंद्रह-बीस बंदिशों से ही वह अपने को कृतार्थ मानता है। उससे आगे थोड़ी-सी तानबाजी वह कर सकता हो तो वह अपने से परे किसी को भी नहीं मानेगा; उसका दृष्टिकोण हमेशा दूसरों की कला के विषय में अपने साथ तुलना करनेवाला ही होगा, यथा "इसके गले से तान ठीक नहीं निकलती, इसकी आवाज मधुर नहीं है, फलाने व्यक्ति का रागज्ञान अधूरा है।" आदि। उसकी अध्ययनशीलता लुप्त होती जाती है। संगीतकला के जिज्ञासु को सदैव अध्ययनशील वृत्ति का अवलंब करना चाहिए। अंधश्रद्धा या अंधानुकरण व्यर्थ है। इस कला में छात्रों के सामने विविध शंकाएं, अड़चनें आदि पैदा होती हैं। उनका निरसन गुरुजी के द्वारा कराकर उनके कहने और सिखाने के अनुसार रियाज और मेहनत करते हुए अपनी क्षमता के अनुसार कला को अर्जित करने का संप्रदाय अबतक चलता आया है, किंतु फिलहाल काल का प्रवाह पलट गया है।

सौ साल पहले शास्त्रीय संगीत कितना दुर्लभ था! किन्तु आज वही विपुल मात्रा में उपलब्ध हो गया है। यह निःसंदेह है कि इसका श्रेय सर्वथा स्व. विष्णु नारायण भातखंडे जैसे संगीतशास्त्रज्ञ एवं गायकवर्ग के अविस्मरणीय कार्य की ओर ही जाता है। पं. भातखंडेजी की ही धुरा का वहन श्री रातंजनकर निःस्वार्थ भाव से एवं अविश्रांत परिश्रम से अबतक करते रहे हैं। बहुजनसमाज के लिए कला मुक्त हो, उसमें उसे अभिरुचि पैदा हो और सर्वसाधारण श्रोतृवर्ग को उसका महत्त्व जंच जाए इस उद्देश्य से पं. भातखंडे एवं रातंजनकर ने इस कला को स्थिर एवं व्यवस्थित प्रणाली का स्थान प्राप्त करा दिया है। यह सब लिखनेका कारण इतना ही कहने के लिए है कि श्री रातंजनकर जी जैसे महाराष्ट्रीय गुणी सज्जन की सराहना करना तो दूर, किन्तु उनके विषय में अनुदार उद्गार सुनने में आएं यह बडे दुख की बात है! इस बात का कारण मुझे यही प्रतीत होता है कि श्री रातंजनकरजी के कार्य की प्रशंसा करने और उनके श्रेष्ठ एवं गुणी कलाकार होने की बात को स्वीकार करने में दूसरों के हीन होने की हीनता-ग्रंथि की भावना काम कर रही है। जो कुछ भी हो, मुझे तो लगता है कि श्री रातंजनकर के किए गए कार्य का एहसास महाराष्ट्र को न होना जितनी खेदजनक बात है, उतना ही महाराष्ट्रीय सर्वसाधारण समाज़ की प्रकृति का वह एक गर्हणीय पक्ष है! यहां मैं यह रेखांकित करना चाहता हूं कि पं. रातंजनकरविषयक उपर्युक्त बात मैं प्रत्यक्ष अनुभवोपरान्त कर रहा हूं।

भ्रांत कल्पनाएं

इसीलिए श्री रातंजनकर के बारे में मुझे जो अनुभव हुआ उससे थोड़े में लिखना चाहता हूं। सबसे पहले यहां उनके विषय में प्रसृत भ्रांत कल्पनाओं की सूची देता हूँ (इसका मूल, लगता है, सन १९५३ में आकाशवाणी की जांच-परीक्षा के समय उठ खड़े हुए तूफान में निहित है।):-

(१) श्री रातंजनकर जी घरानेदार गायक नहीं हैं, न ही उन्हें घरानेदार कला की तालीम ही प्राप्त है; (२) पोथीनिष्ठ गायक हैं; (३) वे कृति की अपेक्षा शास्त्र की ही चर्चा अधिक करते हैं; (४) वे दुराग्रही हैं; (५) उनके गायन में रस नहीं है; (६) उनमें व्यक्तित्व का अभाव है; (७) संगीत के क्षेत्र में वे दूसरों की अपेक्षा स्वयं को बहुत बड़ा समझते हैं; (८) दूसरों के दोष निकालने की उनकी जबर्दस्त प्रवृत्ति है; आदि। अब ये कुतर्क किस प्रकार निराधार हैं, इसे आगे अपने अनुभव के सहारे बताने की कोशिश करता हूँ।

अपनी आयु के ७ वें वर्ष से लेकर संगीत की संथा लेकर उन्होंने तीन-चार वर्ष के भीतर केवल बारह स्वरों का ज्ञान और उनपर इतना प्रभुत्व प्राप्त किया कि उनके स्वरज्ञान से स्व. भातखंडे जैसे गुणी एवं तज्ज्ञ पुरुष ने उनपर प्रसन्न होकर उन्हें नियमित रूप से कई वर्षतक स्वयं संगीत की तालीम दी। कई लोगों की यह धारणा है कि पं. भातखंडेजी भी स्वयं गायक नहीं थे किन्तु मुझे यहां यह स्पष्ट करना उचित लगता है कि श्री भातखंडेजी न केवल पंडित थे, बल्कि आला दर्जेके आवाजदार, घरानेदार गायक थे। उनका नाम जिन्होंने प्रत्यक्षत: सुना है ऐसे अनेक श्रोता आज भी मौजूद हैं। यह विधान मैंने अपने परमपूज्य गुरुजी पं. राजारामबुवा पराड़करजी से अनेक बार सुना है। इसके सिवा, जो व्यक्ति स्वयं गा नहीं सकता, क्या यह इतनी गहराई के साथ संगीत-शास्त्र एवं संगीत-कला के विषय में अधिकार के साथ लिख पाएगा? नितांत असंभव है। उनके विपुल लेखन से विचारकों को निश्चय ही विश्वास हो जाएगा कि पं. भातखंडे न केवल शास्त्रकार हैं, बल्कि उत्तम श्रेणी के गायक भी होने चाहिए। हाँ, यह बात सही है कि पं. भातखंडेजी ने संगीत-कला को अपनी आजीविका का साधन नहीं बनाया अथवा किसी भी कार्य के हेतु केवल द्रव्योपार्जन के लिए महफिलबाज़ी नहीं की है, न ही दूसरों को केवल खुश करने के लिए उन्होंने गाया है। इसीलिए मुझे लगता है कि उनके बारेमें कुछ लोगोंने यह गलत धारणा बना ली है। यह बात उनसे परिचित कोई भी सज्जन बता सकेगा कि पं. भातखंडेजी ने स्वयं कई मशहूर घरानों के गायकों का गंडा बँधवाकर प्रत्यक्ष तालीम भी पा ली है। अस्तु। ऐसे इस महापुरुष ने स्वयं श्री रातंजनकरजी को कई वर्ष तक तालीम देकर, उन्हें महफिलबाज गवैये की भी प्रत्यक्ष तालीम प्राप्त हो उस इद्देश्य से उन्हें बड़ौदा में मरहूम उस्ताद फैयाज हुसेन खां के पास पांच वर्ष तक तालीम प्राप्त करा देनेकी व्यवस्था की। इसके अलावा संगीत-शिक्षा के आरंभ में उन्हें पतियाला घरानेके प्रसिद्ध कालेखां के शिष्य स्व. कृष्णभट होनावर और तत्पश्चात् ग्वालियर घरानेके प्रसिद्ध बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर जी के शिष्य पं. अनंत मनोहर जोशी जी की तालीम भी प्राप्त हुई। ऐसा होनेपर भी वे घरानेदार गायक नहीं हैं अथवा उनतक घरानेदार संगीत-कलाकी तालीम नहीं पहुंच पाई ऐसा कहना सत्य के विपर्यास की चरम सीमा कहनी चाहिए।

फिर उनपर आक्षेप है कि वे पोथीनिष्ठ गायक हैं। मुझे संदेह है कि ऐसा आक्षेप करनेवाले लोगोंने स्वयं इस आक्षेप का मतलब समझा है या नहीं। ग्रांथिक गायक का मेरा अभिप्रेत अर्थ तो यह है कि (१) ग्रंथ में लिखी हुई बातों के आधार पर, याने केवल शास्त्र के आधार पर गानेवाला अथवा (२) ग्रंथ में देखकर, पढ़कर, कंठगत न किया हुआ गायक अथवा (३) केवल संगीत-शिक्षा का व्यवसाय करनेवाला, यानी गायन-शिक्षक। जिन मार्मिक रसिकोंने उनका संगीत-गायन निष्पक्ष भावसे सुना हो उन्हें तुरंत ज्ञात होगा कि उपर्युक्त तीनों आरोप नितांत झूठे और निराधार हैं। मेरी राय में राग के नियमों का निर्वाह करके, किन्तु एक ही राग में

भिन्न भिन्न समय पर अलग अलग रंग भर देनेवाले तथा उस राग में अभिनव कलात्मक दृष्टिसे विस्तार करनेकी कितनी गुंजाइश है, सो आसान ढंग से समझा देनेवाले जो चंद कलाकार हैं उनमें श्री रातंजनकर की गिनती करनी होगी। पुस्तक में देखकर गीत कहनेका मतलब यह है कि पं. रातंजनकरजी को बंदिशें कंठगत नहीं हैं। अलग अलग ढंग की सैंकड़ों रचनाओं का जिन्होंने निर्माण किया तथा उन्हें लोकप्रिय भी बनाया है, यही नहीं तो उनमें से कुछ तो समयानुसार अल्पावधि में, उन्हें कंठगत करने या ग्रांथिक विद्या की भला क्या जरूरत है? श्री. रातंजनकरजी ने शिक्षा का यानी विद्यादान का व्यवसाय अवश्य किया है किन्तु उसके साथ ही उन्होंने यह सावधानी भी बरती है कि संगीत की कलात्मता को बिलकुल धक्का न पहुंच जाए। शिक्षण-व्यवसाय के साथ ही साथ उन्होंने उत्कृष्ट गान-क्रिया का व्यवसाय भी चालू रखा है और था, जिसका प्रमाण उन लोगों को अवश्य प्राप्त हुआ होगा जिन्होंने लखनौ, दिल्ली, ग्वालियर, बड़ौदा, बनारस, बंबई, पुणे, कलकत्ता, मद्रास आदि स्थानोंपर संपन्न उनका गाना सुना है। राग-विस्तार अपनी बुद्धि एवं प्रतिभा का भाग है। और उनके इसी गुण की ओर कम ध्यान दिए जाने का कारण यह है कि वह आलोचकों की बुद्धि से परे होता है। इसलिए फिर 'अंगूर खट्टे हैं' कहने के सिवा कोई चारा नहीं रहता।

विद्यादानी गायक

शास्त्र की चर्चा के विषय में कहना हो, तो उनके द्वारा किए गए प्रश्नों का उत्तर न दे सकने से मिलनेवाला आसान मार्ग और उत्तर यह है कि वे 'शास्त्र की चर्चा अधिक करते हैं' कहना। दुराग्रह का आरोप भी उसी प्रकार का है। चर्चा करते समय आदमी स्वभावत: अपना तर्क प्रस्तुत करके उसे समझा देनेका प्रयत्न करता है और वह समझ में न आनेपर समझनेवाला दुराग्रही ठहरता है। मेरा अपना अनुभव बिलकुल भिन्न है। मैंने भी उनसे बिलकुल खुले दिल से चर्चा की है। तत्त्व के लिए उनके साथ झगड़ा भी किया है। किन्तु बादमें जब ठंडे दिमाग और निर्मल मन से उनके विधान का विचार किया तब उन बातों के सत्य होने तथा उनके गहन अध्ययन का मुझे एहसास हुआ। अर्थात् विरोधकों को उनका कहना जँचे या न जँचे यह सवाल व्यक्तिगत मान-अपमान और महानता को मानने या न मानने पर निर्भर होता है। अगला मुद्दा यह है कि उनके गाने में रस नहीं है। अपनी आयु के ४० वर्ष तक जिस व्यक्ति ने लोगों के गले से गला मिलाकर उन्हें संगीत की शिक्षा प्रदान की और ऐसा करते वक्त इस बात का विचार तक नहीं किया कि वह बिलकुल नौसिखुआ है, उसको स्वरज्ञान नहीं है, उसका गला अपने जैसा नहीं चलता, इ. बल्कि उन्होंने पत्थरों को भी आकार दिया, रूप दिया, जो यह भी नहीं जानते थे कि स्वर किस चिड़िया का नाम है, उन्हें भी अच्छी तरह तैयार किया, और इस प्रकार एक नहीं, दो नहीं, बल्कि पचास-साठ से भी अधिक छात्रों को उन्होंने शिक्षा प्रदान कर उन्हें तैयार किया, ऐसे व्यक्ति को रसहीन गायक कहना केवल विचारशून्यता ही कहनी पड़ेगी। मुझे पूरा विश्वास है कि कोई भी ख्यातनाम गायक कम से कम एक वर्ष उनकी तरह पढ़ाकर दिखाए, सिखाने में उनके जैसा कष्ट उठाए और साथ ही महफिल में भी गाए, तो श्रोताओं को ज्ञात हो जाएगा कि श्री रातंजनकरजी की तुलना में उनके गाने में एक दशांश भी रस नहीं है।

महफिलबाजी करना आसान है किन्तु विद्यादान का कार्य बहुत ही दुष्कर एवं मुश्किल है।

लोगोंके गले से गला मिलाकर अपने कंठ को खराब करके लोगों में संगीत के प्रति अभिरुचि पैदा करना कितना बड़ा त्याग है। किन्तु इतना सोच-विचार भला कौन करता है? यह तो दुनिया का न्याय ही है कि त्याग करनेवाला मूर्ख साबित होता है।

घर की मुर्गी...

अब इस आक्षेप पर विचार करें कि वे दूसरों के दोषों की ओर ही ध्यान देते रहते हैं। कोई कलाकार अगर उनसे उसके अपने स्वयं के गायन के बारे में उनका प्रामाणिक मत पूछ रहा हो और उसमें उन्हें कोई दोष दिखाई दे तो वह उसे दूर करे इस शुद्ध एवं अच्छे हेतु से वे कहा करते हैं - "भई, यह दोष है, ऐसा नहीं गाया जाता।" उदाहरण के तौर पर वे उनमें से चार-पांच बंदिशें भी सुनाकर उसे समझा देंगे। किन्तु सुननेवालों ने यदि उससे गलत अर्थ लिया तो इसमें दोष किसका है? यदि यह कहा जाए कि दोष निकालना उनका व्यसन है, तो उनके द्वारा संपन्न किये हुए कार्य का संगीत को योगदान प्राप्त न हुआ होता। उन्होंने अपना समय यदि इन मामूली बातों में खर्च किया होता तो वे इतना बड़ा कार्य कर भी नहीं सकते थे। जिस मनुष्य की कार्यनिष्ठा महाराष्ट्र के बाहर गौरवपात्र सिद्ध हुई है वह लोगों के दोष निकालकर नहीं, बल्कि उसमें उन्होंने अपना तन मन धन खर्च किया है इसलिए।

बाह्य व्यक्तित्व से संपन्न होना मनुष्य के बस की बात नहीं है। और यदाकदाचित् परमात्मा ने उन्हें वह दिया होता तो लोगों ने ऐसा भी कहा होता कि उनका बाह्य व्यक्तित्व तो अच्छा है, किन्तु उनमें विद्वत्ता नहीं है। आलोचकों की कल्पना कहां से कहा जा पहुंचेगी इसका कोई ठिकाना नहीं है। अस्तु। अपने यहां एक कहावत है। - 'घरकी मुर्गी दाल बराबर!'

इस प्रकार ऐसी कई बातें हैं, जो लिखी जाएँ उतनी थोड़ी ही होंगी। वस्तुत: मैंने उनकी पद्धति से गाना नहीं सीखा है अथवा उनके साथ मेरा विशेष संपर्क भी नहीं रहा। किन्तु जितने अल्प संपर्क में ही उनके आचार-विचार मैंने जान लिए उनके किए हुए कार्य को देखा, कि ऐसा लगता है कि महाराष्ट्र इस संगीतज्ञ ज्ञानेश्वर की आरती उतार उनके मन को पहचान ले, और ऐसी परिस्थिति पैदा करे कि जिनसे उनके हाथों महाराष्ट्र के लिए कुछ न कुछ तो ठोस कार्य संपन्न हो। महाराष्ट्रीय जनता से मेरी यही विनम्र प्रार्थना है। इस लेख के मूल में दूसरों को हीन समझकर केवल उन्हींको महानता प्रदान करने का मेरा इरादा नहीं है, बल्कि उनके जैसे ही और भी कई व्यक्ति होंगे, अज्ञात व्यक्ति होंगे, उन्हें एक साथ लाकर उनके ज्ञान का लाभ समाज को प्राप्त करा दिया जाए यही मेरा अभिप्राय है। कविवर सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' के शब्दों में— "पास ही रे हीरे की खान। भटकता कहां नादान!"

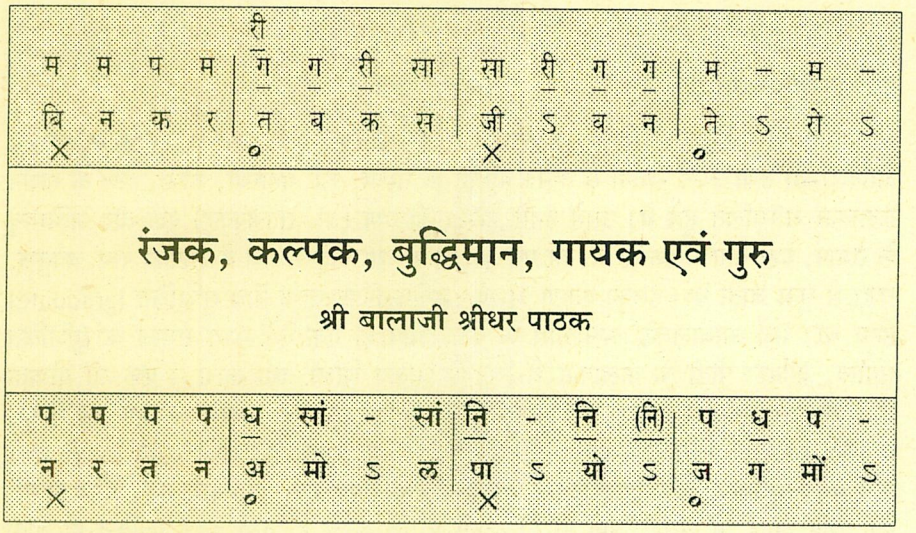

[१९२६ से संगीत के शिक्षक (मैरिस कॉलेज में और बाद में प्रयाग विश्वविद्यालयमें)। आचार्य रातंजनकरजी के शिष्य। उसके पूर्व पं. राजाभैय्याजी से शिक्षा पाई। प्रस्तुत लेख अण्णासाहब के षष्ठिपूर्ति के अवसर पर प्रकाशित अभिनंदन-ग्रंथ से लिया गया है।]

अपने बाल्यकाल में १९२० से १९२६ तक ग्वालियर के 'माधव संगीत महाविद्यालय' में गायन की शिक्षा प्राप्त करते समय अनेक बार श्रद्धेय पूज्य गुरुवर्य स्व. पं. भातखंडेजी के मुख से उनके प्रिय शिष्य डॉ. रातंजनकरजी के विषय में प्रेमोद्गार सुनने के कारण उनसे मिलनेकी तथा देखनेकी तीव्र इच्छा हृदय में विराजमान थी। सौभाग्य से यह अवसर शीघ्र ही मुझे प्राप्त हुआ। सन् १९४२ के 'अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन, लखनौ,' में मुझे कुछ सहाध्यायियों के साथ हमारे पूज्य गुरुजी स्व. राजाभैय्या साहब की संरक्षता में सम्मिलित होने की विद्यालय की ओर से आज्ञा हुई। उस समय मुझे एक साथ दो सुयोग प्राप्त होने के कारण अत्यधिक आनंद हुआ। एक संगीत सम्मेलन देखने का, जिसकी मुझे कुछ भी कल्पना न थी, दूसरा वहां मुझे श्री बाबूराव (डॉ. रातंजनकरजी) जिस नाम से पंडितजी इन्हें पुकारते थे, को मिलने का।

लखनौ पहुंचकर जब हम लोग गु. राजाभैय्याजी के साथ गु.पं. भातखंडेजी के दर्शन करने उनके निवासस्थान पर गये, वहां एक पाश्चात्य वेषभूषासंपन्न तरुण युवक को पंडितजी के समीप बैठे देखा। पंडितजी के पैर छूकर हमारे बैठते ही उन्होंने कहा "यह मेरा 'बाबू', जिसके विषय में मैं तुम्हें ग्वालियर में कहता था।" मैं श्री बाबू की ओर श्रद्धायुक्त, प्रेम भरे नेत्रों से किन्तु आश्चर्य से देखता ही रह गया। ग्वालियर में तथा उनको समक्ष देखने के पूर्व मैंने अपने हृदय में (कलाकार के नाते) आपका जो चित्र खींचा था तथा वेषभूषा के विषय में अपनी बाल्य-बुद्धि से जो धारणा की थी उससे कहीं भिन्न पाया। डॉ. रातंजनकरजी ने जब स्मितयुक्त प्रेमभरे शब्दों में आत्मीय भाव से हमारे विषय में हमारे गुरुजी से पूछताछ की तथा हम लोगों का परिचय

प्राप्त किया, मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे मैं बिछड़े हुए ज्येष्ठ भ्राता से मिल रहा हूँ।

वह संस्मरणीय गायन

उस संगीत सम्मेलन में रामपुर, जयपुर, अलवार, धौलपुर, इंदौर, बड़ौदा, ग्वालियर, महियर आदि राज्यों तथा अन्य स्थानों से अनेक संगीत के धुरंधर, रथी महारथी, भीष्म, द्रोण के समान कलाकार सम्मिलित हुवे थे। उसमें हमारे मास्टर श्रीकृष्ण (डॉ. रातंजनकर) एक वीर अभिमन्यू के समान, यहां वहां चमक रहे थे। हर एक कलाकार तथा श्रोतृ-समाज में आपका नाम, कौतुक, श्रद्धा से सुना जाता था। इसका कारण आपका संगीत-निपुणता के साथ सुशिक्षित (graduate) होना था। सर्व आबालवृद्ध कलाकारों के मध्य आप ही एक ऐसे सभ्य समाज के सुशिक्षित सुयोग्य, वर्तमान पीढ़ी के कलाकार थे जिनकी शालेय शिक्षा तथा कला में एक-सी योग्यता थी। यह उस समय एक कुतूहल, आदर तथा अभिमान का विषय था। उस सम्मेलन में मुझे तथा मेरे सहाध्यायी मित्र श्री गोविंद नारायण नातू को डॉ. रातंजनकर जी के साथ तानपूरे लेकर गाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय आपके गाये हुए राग, देसी तथा भीमपलासी, की ध्वनि आज भी स्मरण आते ही मेरे कानों में गूंज उठती है, तथा हृदय पुलकित हो जाता है।

सन १९२६ में ग्वालियर की शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् मैंने पूज्य पंडितजी को बम्बई में पत्र लिखकर उनके पास उच्च शिक्षा ग्रहण करने की इच्छा प्रगट की। उससे उनका अपने प्रिय शिष्य की कला की योग्यता पर कितना विश्वास, कितना संतोष था, यह स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है। पंडित जी ने मुझे लिखा था "मैं गायक नहीं, मेरा कंठ तैयार नहीं, तुम्हें मेरे पास आने से कोई लाभ नहीं होगा। तुम्हें किसी अच्छे कलाकार के सान्निध्य में रहकर तालीम लेनी चाहिए। उसके लिए तुम्हें लखनौ जाकर श्री रातंजनकर के पास अध्ययन करना चाहिए; वे ही सुयोग्य व्यक्ति हैं जो तुम्हारी सहायता कर सकते हैं।"

सौभाग्य से यह मेरी इच्छा शीघ्र ही पूर्ण हुई। इसी वर्ष पूज्य पंडितजी ने मुझे लखनौ मैरिस म्यूझिक कॉलेज में शिक्षक के रूप में बुला लिया।

व्रतस्थ अध्यापक

मुझे गुरुवर्य पूज्य स्व. पं. भातखंडेजी तथा डॉ. रातंजनकरजी के साथ लखनौ में पांच छह वर्ष एक ही भवन में रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इस अवधि में मेरी डॉ. रातंजनकरजी से घनिष्ठता हुई, जिस कारण आपके व्यक्तित्व, आपका संगीत क्षेत्र में अधिकार, आपका स्वभाव, शिक्षा-पद्धति आदि बातों का पूर्ण परिचय हुआ। उसीके आधार पर संक्षेप में अपनी योग्यतानुसार वर्णन करने का प्रयास कर रहा हूँ। मैं करीब ९/१० वर्ष लखनौ में रहा। उस काल में मुझे आपकी गुरु-श्रद्धा, गुरु-भक्ति कितनी अटल है इसका अनेक बार साक्षात्कार हुआ। डॉ. रातंजनकरजीने लखनौ में पंडितजी की आज्ञा के ही कारण करीब तीस वर्ष तक निरपेक्ष अल्प वेतन पर सेवा की। वर्तमान समय के पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त तथा सुधारक समाज में इतनी गुरु-भक्ति विरले ही लोगों में दिखाई देगी। लखनौ की संस्था स्थापित होने के पश्चात् २०/३० वर्षों तक आपने स्वयं को उसे अर्पण कर दिया। संस्था के ही कारण आपने गृहस्थी-जीवन को पूर्ण रूप से नहीं अपनाया। संस्था के आर्थिक संकट के समय आपने अल्प वेतन पर कार्य

किया, किन्तु इस विषय में कभी भी आप असंतुष्ट नहीं दिखाई दिए। आपसे शिक्षा ग्रहण करने के हेतु समस्त भारत अपितु सीलोन, बर्मा आदि स्थानों से विद्यार्थी आकर शिक्षा ग्रहण कर वापिस गए। विद्यार्थियों से किसी प्रकार की भेंट आपने कभी स्वीकार न की। संगीत की निरपेक्ष सेवा के व्रत के कारण आपने किसी संगीत सभा सम्मेलन से गायन शुल्क नहीं ग्रहण किया। कॉलेज के होस्टल के एक कमरें में रहकर दिन-रात विद्यादान देना ही आपका दैनिक कार्यक्रम रहा। आपके जीवन में अनेक समय आपको उच्च वेतन पर अनेक संस्थाओं ने आमंत्रित किया किन्तु अपने गुरु के लगाये पौधे को अपने त्याग रूपी जल से सींचकर वृक्ष रूप में फलने फूलने तक आपने उसे छोड़कर जाना उचित नहीं समझा। मेरे लखनौ के ९-१० वर्ष के निवास के समय में अनेक बार आपका गायन श्रवण करने का तथा आपसे कुछ शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हुवा। मैंने आपके मुख से यमन बिलावल से लेकर नट-नारायण, भंकार, दीपक आदि प्रचलित तथा अप्रचलित सभी रागों को सुना है। आप सभी रागों को समान अधिकार से गाते हैं। पूज्य स्व. पंडितजी का क्रमिक पुस्तकों का पांचवा, छठा भाग सन १९३६ के लगभग प्रसिद्ध हुआ, किन्तु इन पुस्तकों में प्रकाशित गीतों को आपके मुख से मैंने अनेक वर्ष पूर्व कंठस्थ सुना था। कोई ऐसा विलम्बित या द्रुत ख्याल नहीं जो आपको स्मरण न हो। उस समय हम लोगों को आश्चर्य होता था कि डॉ. रातंजनकरजी ने इन सब गीतों की शिक्षा कब प्राप्त की होगी! कब शालेय तथा कॉलेज के विषयों का अध्ययन किया होगा! संगीत-शास्त्र के रत्नाकर, नाट्यशास्त्र, रागतत्त्व-विबोध, लक्ष्य-संगीत, आदि ग्रंथों का कब अवलोकन किया होगा! इतनी अल्प अवस्था में इन सब वस्तुओं का अध्ययन तथा उसपर प्रभुत्व यह दैवी कृपा से ही हो सकता है।

उनकी गायन कला

एक कलाकार का गायन के आलाप, तान, बोलतान, लयकारी इन अंगों में से किसी एक या दो पर विशेषाधिकार रहता है। अन्य अंग उसके पोषक रहते हैं। मैंने डॉ. रातंजनकरजी से अनेक बार भिन्न भिन्न अंगों की विशेषता के साथ एक ही राग का गायन सुना है। आपका गायन सुनकर यह दृढ़तापूर्वक कहना कठिन है कि आपकी गायनशैली में अमुक अंग की विशेषता है। जितना वक्र राग अथवा मिश्र राग होगा उतनी ही आपकी प्रतिभा अधिक रूप में विकसित होती जाती है। समप्रकृतिक रागों को बचाते हुवे तिरोभाव करते हुवे विविध अंगों द्वारा भिन्न भिन्न कर्ण-मधुर रचनाद्वारा जब राग को आप सुशोभित कर दिखाते हैं, उस समय विद्वान श्रोता आपकी कल्पकता एवं बुद्धिमत्ता को देख आश्चर्यचकित होकर आनंद-विभोर हो जाते हैं।

मुझे अपने इस जीवन-काल में अनेक उत्तम उत्तम कलाकारों को श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, किन्तु राग की प्रकृति, उसके अंग आदि का संपूर्ण ज्ञान जितना डॉ. रातंजनकरजी के गायन में स्पष्ट दिखाई देता है उतना शायद ही किसी कलाकार के गायन-वादन में दृष्टिगोचर हुआ होगा। डॉ. रातंजनकर किस घराने की शैली के प्रतिनिधि हैं यह निश्चित रूप से प्रतिपादन करना सरल नहीं है। यद्यपि वे आग्रा घराने के, अर्थात् स्व. खांसाहब फैय्याजखां के, प्रमुख शिष्य हैं, किन्तु आपके गायन में सभी शैलियों का आभास समय समय पर होता जाता है। जिस समय जिस शैली के Mood में आप हों उसी शैली के अंग की प्रधानता गायन में दिखाई देती है। अनेकों का आक्षेप है कि डॉ. रातंजनकर की ताल अंग में कमजोरी है, किन्तु जिन्होंने

आपके आलाप, तान, बोलतान, सरगमांग की विभिन्न लयों द्वारा रचना का अवलोकन किया है, वे कदापि इस आक्षेप से सहमत नहीं होंगे। यह सत्य है कि आपको तबला-वादक की लड़त, उछल-कूद पसंद नहीं है। इस क्रिया से मन का संतुलन, विचार-श्रृंखला भंग हो राग-रचना की माला के गुंफन में विघ्न उपस्थित हो जाता है। आपके गायन का वैशिष्ट्य, रंजकता में, आपकी रागरचना में, कल्पकता में, बुद्धिमत्ता में है तथा उसीमें आप डूबे रहते हैं।

अद्वितीयता का प्रमाण

संगीत-शास्त्र संबंधी लेख आपने इन २०/२५ वर्षों में समय समय पर 'संगीत', 'लक्ष्यसंगीत' तथा अन्य संगीत-पत्रिकाओं में प्रकाशित किये हैं। उनके द्वारा आपका अध्ययन तथा उस पर विशेष अधिकार प्रमाणित हो जाता है। मेरी यह धारणा है कि क्रियात्मक कला तथा उसके शास्त्र दोनों पर समान योग्यता रखनेवाला पुरुष वर्तमान समय में हिन्दुस्थानी संगीत में आप ही एक मात्र हैं। आपकी गेय रचना की ग्रंथों में वर्णन किए लक्षणों से तुलना की जाय तो डॉ. रातंजनकर एक सच्चे वाग्गेयकार हैं, यह प्रमाणित हो जाता है। 'अभिनव-गीत मंजरी' ग्रंथ का जिन्होंने अध्ययन किया है तथा इन गीतों की शिक्षा प्राप्त की है वे अवश्य इस बात से सहमत होंगे कि आपकी गेय रचनाएँ, चीजों की बंदिशें उच्च कोटि की हैं। अनेक रचनाओं की तो कोई तुलना ही नहीं हैं। जिन रागों में विलम्बित तथा द्रुत ख्याल उपलब्ध नहीं थे, उनमें शब्द, स्वर-सौंदर्यपूर्ण रचनाओं का आविष्कार कर संगीत-समाज पर आपने उपकार ही किये हैं। आपके स्वयंरचित गीत प्रत्यक्ष गायन के लिए कितने अनुकूल हैं इसका प्रमाण गायक ही दे सकते हैं।

आपके स्वभाव का पूर्ण परिचय आपके शिष्य, मित्रवर्ग तथा जिनसे आपका घनिष्ठ संबंध आया है उन्हींको विशेष रूप से हुआ है। आपके हृदय में विद्यादान, संगीत की सर्वांगीण उन्नति तथा समाज की निरपेक्ष सेवा की इच्छा सदा विराजमान रहती है। इसके अनेक प्रमाण दिए जा सकते हैं। आप भातखंडे पद्धति के सच्चे समर्थक तथा एकमेव अनुयायी हैं। अतएव अनेक समय संगीतज्ञों में आपके विषय में अशुद्ध धारणाएं उत्पन्न हुई हैं, किन्तु गुरु के कार्य तथा पद्धति में दृढ़ विश्वास के कारण विरोधियों के सम्मुख आप कभी झुके नहीं। वर्तमान समय के अनुकूल आत्मप्रशंसा, आत्मप्रतिष्ठा, उसके लिये योग्य-अयोग्य प्रचार, संगीत-क्षेत्र में गुट-बंदी, पद्धति-प्रचार के लिये सत्य-असत्य योजनाएं आदि से आपको अत्यंत घृणा है। पद्धति के प्रचार में इससे कुछ बाधा भी उत्पन्न हुई। प्रचार के शस्त्र से असत्य आगे बढ़ा किन्तु इसकी आपने किंचित् भी परवाह नहीं की। आप सदा यही कहते रहे हैं कि वह दिन दूर नहीं जब समाज का सुशिक्षित वर्ग सत्य-असत्य, योग्य-अयोग्य को पहिचान जाएगा। आपके विनयशील स्वभाव के कारण अनेक समय आपको कष्ट भी हुए किन्तु आपने कभी विरोधियों का कठोरता से प्रतिकार नहीं किया।

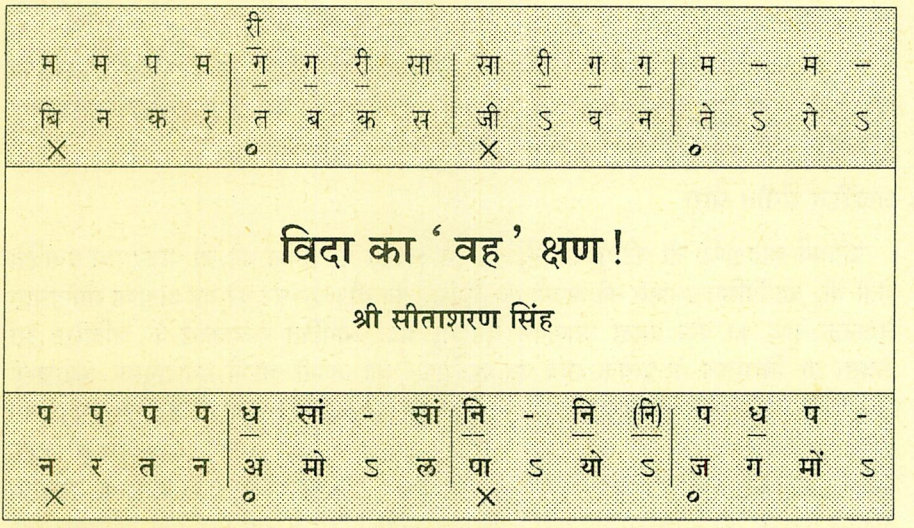

[लखनऊ विश्वविद्यालय के एम्.ए. एवं भातखंडे संगीत विद्यापीठ के बी. म्यूज. (संगीत विशारद)। लगभग सात-आठ वर्ष भातखंडे संगीत महाविद्यालय में श्री. रातंजनकर तथा अन्य शिक्षकों के पास गायनकला का अभ्यास। एम्.ए. उत्तीर्ण करके लखनऊ के शासकीय टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज में कुछ वर्ष अध्यापन-कार्य। प्रस्तुत लेख अण्णासाहब की षष्टिपूर्ति के अवसर पर प्रकाशित अभिनंदन-ग्रंथ से लिया गया है।]

सन १९५५ की बात है। भातखण्डे संगीत विद्यापीठ, लखनऊ, के छात्र-छात्राओं एवं अध्यापकों में एक सनसनी-सी फैल गई थी। सब एक दूसरे से सशंकित हो कर पूछ रहे थे "क्या सचमुच प्रिंसिपलसाहब जा रहे हैं?" बात सच थी। विद्यालय के प्रिंसिपल डाक्टर श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर जिन्हें शासन की ओर से 'पद्मभूषण' की उपाधि से अलंकृत किया जा चुका था, विद्यालय छोड़कर जा रहे थे। पर किसी को विश्वास नहीं हो रहा था। किसी को साहस भी नहीं हो रहा था कि स्वयं जाकर प्रिंसिपलसाहब से इसका स्पष्टीकरण कर ले। डर था, कहीं वह भी यह न कह दें, "हां, यह बात सच है कि मैं जा रहा हूं।" सच पूछिए तो कोई इसकी स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकता था कि प्रिंसिपलसाहब भातखण्डे विद्यापीठ छोड़कर कभी जा भी सकते हैं। विगत २७ वर्षों में प्रिंसिपलसाहब का व्यक्तित्व विद्यापीठ की नस नस में कुछ ऐसा व्याप्त हो गया था कि प्रत्येक व्यक्ति के कल्पना-चित्र में स्वयं प्रिंसिपलसाहब ही विद्यापीठ थे और प्रिंसिपलसाहब के जाने का अर्थ था विद्यापीठ का जाना। उन्होंने भातखण्डेजी की इस धरोहर की शान में अपना सब कुछ बलिदान कर दिया था। विद्यालय के एक कमरे में ही उन्होंने अकेले रह कर अपने यौवनकाल के २७ वर्ष बिता दिये थे। परिवार बम्बई में था। चौबीसों घंटे विद्यालय में रहना, विद्यालय की ही प्रगति की चिन्ता में मग्न रहना और छात्र-छात्राओं को सिखाने में अपना अस्तित्व ही मिटा देना शायद उनका ध्येय था।

जिस समय प्रिंसिपलसाहब की कक्षा चल रही होती, दूर से ही मालूम हो जाता। छात्र-छात्राओं

की एक अच्छी-खासी भीड़ मंत्रमुग्ध-सी खड़ी शिक्षण के आनन्द में मग्न दूर से ही नजर आ जाती। तानपूरे की मधुर ध्वनि में समाए हुए प्रभावशाली स्वरोच्चार जैसे आने-जाने वालों को बाँध लेते। और यदि कभी किसी कार्यवश प्रिंसिपलसाहब दो चार दिनों के लिए बाहर चले जाते तो जैसे विद्यालय का सूना वातावरण स्वयं इस बात की सूचना दे देता।

अखंडित संगीत धारा

प्रतिवर्ष भातखण्डे जी की पुण्यातिथि के शुभ अवसर पर संगीत की जो पावनधारा प्रवाहित होती थी, वह प्रिंसिपलसाहब की अपनी एक विशिष्ट देन थी। ७२ घंटे की यह अखण्ड संगीतधारा लखनऊ नगर का एक प्रमुख आकर्षण बन गई थी। आमंत्रित कलाकारों के अतिरिक्त इस अवसर पर विद्यालय के प्रत्येक छात्र एवं अध्यापक को अपनी अपनी मर्यादानुसार श्रद्धाञ्जली के रूप में अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करने का सुअवसर मिलता था। श्रोताओं के लिए इस उत्सव में कोई टिकट या पास नहीं होता था। फलत: सहस्रों की संख्या में लोग इस धारा के प्रवाह का आनन्द लेने आते थे। इस सम्बन्ध में एक बार एक सज्जन ने सुझाव दिया कि कार्यक्रम अखण्ड ७२ घंटे का न रक्खा जाए क्यों कि इसका कार्यकर्ताओं के और विशेषकर प्रिंसिपलसाहब के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है, किन्तु प्रिंसिपलसाहब अड़िग रहे। उनका उत्तर था - "हमारे कदम आगे की ओर बढ़ने चाहिए और आप की सलाह है कि हम अपना बढ़ा हुआ कदम भी वापस ले लें?.... और फिर आप तो जानते हैं कि हमारी यह संगीत-धारा संगीत-उपासकों के लिए एक तीर्थ का रूप धारण कर चुकी है। भारत के कोने-कोने से लोग इसके वार्षिक पर्व की प्रतीक्षा में रहते हैं। क्या आप इन संगीत-प्रेमियों को यूँ ही निराश कर देंगे?"

अतएव जबतक प्रिंसिपलसाहब विद्यालय में रहे, संगीत के सहस्रों प्रेमियों ने यह तीर्थ-लाभ किया। पूरे ७ घंटे का कार्यक्रम पहले से ही छापकर जनता में बाँट दिया जाता था और श्रोतागण अपनी रुचि और सुविधानुसार बड़ी संख्या में उपस्थित हो जाया करते थे। शास्त्रीय संगीत की ७२ घंटे की यह अद्वितीय सभा प्रति वर्ष १९ सितम्बर को प्रात:काल ६ बजे प्रिंसिपलसाहब के गायन से आरम्भ होती थी और २२ सितम्बर को प्रात:काल ६ बजे उन्हींके गायन से समाप्त होती थी। उत्तर प्रदेश के उन दिनों के मुख्य मंत्री डाक्टर सम्पूर्णानन्द राज्यकार्य में अति व्यस्त होते हुए भी प्रति वर्ष २२ सितम्बर को लगभग ३-३० बजे प्रात:काल इस सभा में अवश्य पधारते थे। शायद वह प्रिंसिपलसाहब का उस समय का गायन सुनने का लोभ संवरण नहीं कर पाते थे। धन्य थी वह घड़ी! ऐसा प्रतीत होता जैसे स्वयं भातखण्डेजी की आत्मा प्रिंसिपलसाहब में एकाकार होकर समस्त श्रोताओं पर छा रही हो। ऐसे ही अपूर्व क्षण की एक सरस घटना याद आ रही है। लगभग ४-३० बजे थे। प्रिंसिपलसाहब ललित के द्रुत ख्याल के गायन में तल्लीन थे। श्रोतागण आनन्द से झूम रहे थे। अकस्मात् देखा गया कि एक ३ या ४ वर्ष का बालक, जो अपनी माँ की गोद में सोया हुआ था, उठकर खड़ा हो गया और आँखें बन्द किये हुए ही ख्याल की लय फुदकने-सा लगा। यूं तो उस अलौकिक वातावरण में सभी श्रोता आनन्दविभोर होकर फुदक ही रहे थे, परंतु अन्तर केवल यह था कि बालक अर्धनिद्रावस्था में होने के कारण शरीर से भी फुदक रहा था जब कि अन्य श्रोता सभा-धर्म की ओर से सतर्क रहने के कारण केवल मन ही मन में फुदक रहे थे।

विदा समय का गायन

आज उन्हीं प्रिंसिपलसाहब के जाने की खबर ने सम्पूर्ण विद्यालय में एक सनसनी पैदा कर दी थी। प्रत्येक छात्र-छात्रा चिन्तामग्न थे। सबके मन में एक ही शंका समाई हुई थी कि अब विद्यालय का क्या होगा? कौन इतना समर्थ व्यक्ति है जो प्रिंसिपलसाहब के स्थान की पूर्ति कर सकेगा? अतीत की कुछ स्मृतियाँ आज एक टीस-सी पैदा कर रही थीं।

गणेशचतुर्थी के अवसर पर एक बार एक ऐसे लोकप्रिय गायक का कार्यक्रम हुआ जिसकी विशेषता थी फिरत की तान। ४५ मिनट में उस गायक ने तीन राग सुनाए। तत्पश्चात् प्रिंसिपलसाहब को गाना था। उन्होंने उस दिन अपने आपको बिलकुल उस गायक की शैली में ढाल दिया। लगभग आध घंटे तक राग परज को उसी शैली में गाते रहे, मानो उस कलाकार के सम्मान में उसीकी शैली पेश कर रहे हों। श्रोता यह देख कर दंग थे कि यह शैली उस कलाकार की अपेक्षा प्रिंसिपलसाहब के कण्ठ में कहीं अधिक आकर्षक लग रही थी। इसके बाद अपनी गायकी से उसी परज राग को उन्होंने सवा घंटे तक इतनी सुन्दरता से बरता कि लगता था जैसे १५ मिनट ही गाया हो।

इसी प्रकार एक सभा में एक ऐसे विख्यात कलाकार के बाद प्रिंसिपलसाहब का गाना हुआ जो तीन सप्तक की सपाट तानों का बड़ा प्रेमी था, यद्यपि उसके ये सप्तक के स्वर नकली कण्ठ के थे। उस दिन शायद अतिथि-सम्मान के नाते प्रिंसिपलसाहब ने तीन सप्तक की सपाट तान की गायकी में ही गाना उचित समझा। अन्तर केवल यही था कि प्रिंसिपलसाहब का स्वरोच्चार अतिमन्द्र से अतितार तक स्पष्ट ही नहीं वरन् हृदयग्राही था। गा क्या रहे थे मानो उदाहरण देकर समझा रहे थे कि सपाट तान यदि तीन सप्तक की ली जाए, तो ईमानदारी से ली जाए, या यूं कहिये कि शास्त्रोक्त ली जाय।

आज उन्हीं प्रिंसिपलसाहब की बिदाई की सूचना से जैसे सम्पूर्ण विद्यालय विक्षुब्ध-सा हो गया था। यदि थोड़ा-बहुत संतोष था तो इस बात का कि वे इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय के उपकुलपति हो कर जा रह थे। किन्तु निश्चित रूप से विदा की बात मालूम हुई जब केवल दो दिन शेष थे। जल्दी जल्दी में छात्र और प्राध्यापकों ने मिल कर एक विदाई-सभा का आयोजन किया। इस सभा में कुछ छात्रों ने तो जैसे हृदय ही निकाल कर रख दिया। कुछ ने रातोरात जग कर ऐसी कविता बना डाली कि जिसे सुन कर सभा शोकविह्वल हो उठी। कविताकार ने प्रश्न किया था कि "दो चार दिनों की अनुपस्थिति तो हम किसी प्रकार झेल लेते थे पर अब तो आप विद्यालय छोड़ कर ही जा रहे हैं। अब हमारा क्या होगा?" इसका जो उत्तर प्रिंसिपलसाहब ने दिया था उसे कोई कभी नहीं भूल सकेगा। उनके शब्द थे- "मेरे जाने के बाद आपका विद्यालय, आपके सहपाठी, आप के अध्यापक सभी आपके साथ होंगे केवल मैं नहीं रहूँगा। इस प्रकार आपको तो केवल एक की जुदाई सहन करनी पड़ेगी पर मेरा तो सब कुछ छूट रहा है। मुझे तो धैर्य बँधानेवाला भी कोई नहीं होगा! ऐसी दशा में मेरा क्या हाल होगा इस पर भी आप ने कुछ ध्यान दिया है?" इस उत्तर ने सब को जैसे स्तब्ध कर दिया। सबकी पीड़ा जैसे एकदम उड़ गई यद्यपि आँखें सबकी भर आईं।

भातखण्डे की जय!

अंत में विदा का वह क्षण भी आ पहुँचा। चारबाग स्टेशन का प्लैटफार्म नम्बर ५ भातखण्डे

संगीत विद्यापीठ के छात्र, छात्राओं से खचाखच भरा हुआ था। सबके हाथ में एक सुन्दर माला थी। प्रिंसिपलसाहब कम्पार्टमेन्ट के द्वार पर खड़े थे। एक एक व्यक्ति आगे बढ़ता जाता और हार पहनाकर चरण-रज माथे पर लेता जाता, यहांतक कि मालाओं का एक बड़ा भारी ढेर लग गया। यदि प्रिंसिपलसाहब इन मालाओं को उतार-उतारकर रखते न जाते, नामुमकिन था कि सारी मालाएँ उन्हें पिन्हाई जा सकतीं। मैंने अपने जीवन-काल में बहुत-सी बिदाइयाँ देखी हैं। बड़े से बड़े अफसरों और नेताओं को बड़ी से बड़ी भीड़ द्वारा गगनभेदी नारों के साथ विदा होते देखा है; पर आज की विदा का यह क्षण कुछ और ही था। इतनी बड़ी भीड़ होनेपर भी एक विलक्षण शान्ति थी। सबों के मुँह पर जैसे ताले पड़े हुए थे। शून्य भविष्य की कल्पना ने जैसे सब को संज्ञाहीन कर दिया था। यकायक सीटी बजी और गाड़ी धीरेसे रेंग उठी। सब की दृष्टि गुरुजी पर थी। सब देखा, जैसे किसी अद्‌भुत शक्ति से प्रेरित होकर गुरुजी का दाहिना हाथ अति वेग से हवा में उठा और साथ ही हर्षातिरेक में उनकी ओजस्वी वाणी सुनाई दी 'भातखण्डेजी की'.... 'जय'! इस नाद ने जैसे सारे प्लेट-फार्म को हिला कर रख दिया। यकायक सब के चेहरे प्रसन्नता से खिल उठे जैसे इस नारे ने उनकी समस्या हल कर दी हो। इस नारे के पीछे गुरुजी का सन्देश स्पष्ट था कि भावावेश में हमें कर्तव्य नहीं भूल जाना चाहिए और संगीत की जो ज्योति भातखण्डेजी ने जगाई उसे सदा प्रज्वलित रखने के लिए हमें अपना सब कुछ बलिदान करने को तैयार रहना चाहिये।

धन्य था वह विदा का क्षण!

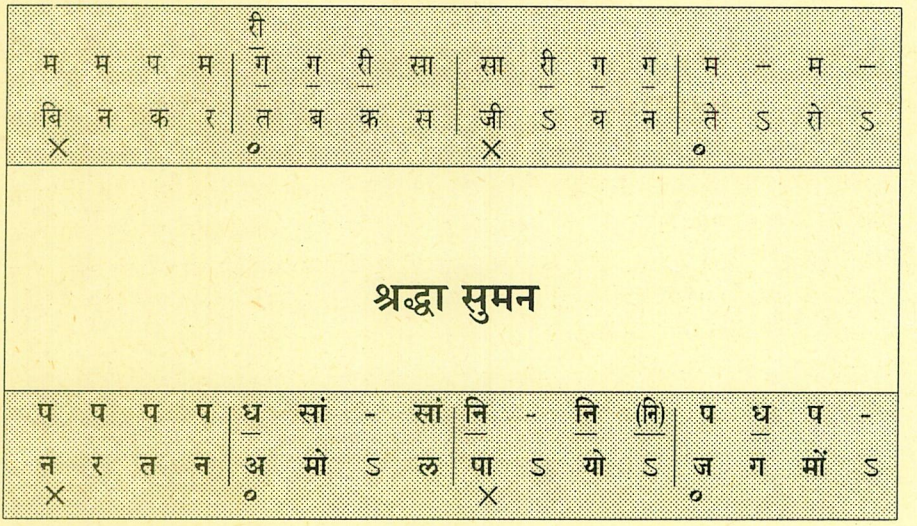

श्री विष्णु नारायण से प्रसाद पा
शिष्य हुए 'श्रीकृष्ण' मुदित,
स्वर्णिम आभा ललाट अंकित
सुर का सूरज हो गया उदित।
मन वीणा मधुर बजाई
संगीत-सुधा शुचि लहराई।

कोटिश: नमन शत शत प्रणाम
'श्रीकृष्ण नारायण' भव्य नाम
निज योग - साधन तपस्या
से पाया है पुण्य धाम
रत्न समान "रत्नजंकर" की
स्मृति सकल उभर आई
संगीत-सुधा शुचि लहराई।

हे सरस्वती के वरद पुत्र!
तुम श्रुति-सागर में सरसाए
संगीत-सरित का ले प्रवाह
गायन के निर्झर झरवाए
शास्त्रों की परंपरा बरती
सत् ज्ञान सुर-सरि उतराई
संगीत-सुधा शुचि लहराई।

आजीवन सेवा का व्रत ले
अमरत्वामृत का पान किया
गीतों की रचनाओं द्वारा
तुमने भावों का दान दिया
श्रद्धा के सुमन समर्पित हैं
हो सुगंध सबको सुखदाई
संगीत-सुधा शुचि लहराई

पद विभूषित स्वयं श्री
श्री कृष्ण नारायण रत्नजंकर
संगीत गगन के मार्तण्ड
स्वर प्रेमी जन के अभ्यंतर
गुरु चरणों में नत मस्तक हो
'कूला' की मति ने गति पाई
संगीत-सुधा शुचि लहराई।

कमला श्रीवास्तव
सहायक प्राध्यापिका (संगीत शास्त्र एवं व्यवहार)
भातखण्डे हिंदुस्तानी संगीत महाविद्यालय,
लखनऊ



यादों के झरोखों से



पं. रातंजनकर मेरे शुरू के साथी

(उस्ताद निसार हुसेनखांसाहब से डॉ. के.जी. गिंडे की बातचीत से)

पं. रातंजनकर और मैं, हम दोनों बचपन से बड़ौदा में रहे हैं। मुझे वहां १९१७ में बुलाया गया था। वे १९१८ में आए। वह इत्तफाक ऐसा हुआ कि जब मैं बड़ौदा पहुंचा तब मैंने महाराज को अपना गाना सुनवाया। मेरे दादा गाए थे उस वक्त, वालिद भी गाए थे। मेरा गाना महाराजसाहब, दीवानजी, रानीसाहब सबने सुना। रानीसाहब को भातखंडेसाहब सिखाया करते। एक-दो महीनों में उनकी बारी आती। वे रातंजनकरजी को ले आए। उन्होंने फैय्याजखांसाहब से कहा, "भई, खांसाहब, मैंने इसको पंडिताई तो सिखा दी है। जो कुछ भी है 'थ्योरी' वगैरह वह सब। थोड़ा-सा गाना भी सिखाया है। गाता है, सुरीला है। अब मैं आप के सुपुर्द करता हूं, इसे। आप इसे गायकी बताएं।".... तो खांसाहब ने रातंजनकरजी को लिया। वह रोजाना आया करते थे स्कूल के अंदर। हम भी जाया करते थे स्कूल में। तो रोजाना बात होती थी उनसे। मुझे भी उनके साथ स्कॉलरशीप मिला।

रातंजनकरजी से मेरे ताल्लुकात बहुत अच्छे थे। वे मुझे भाई समझते थे। वे हमारी इतनी मुहब्बत रखते थे कि मैं बयान नहीं कर सकता। पं. भातखंडेजी के बाद रातंजनकर ही ऐसे थे कि उनका जवाब नहीं था। किसीने जवाब नहीं दिया उनका। वैसे जाननेवाले बहुत लोग और पंडत भी होंगे। मगर उनके जैसा कोई भी नहीं था। सबसे लाजवाब थे आदमी। वे आखिर तलक अपने गुरु (भातखंडेजी) के कदम-ब-कदम चलते रहे। अपने शागिर्दों को भी तैयार किया। किसीसे वकालिफत नहीं की।

ऑल इंडिया रेडियो में तो उनका बड़ा हाथ था। केसकरसाहब ने वहां उनको मुकर्रर किया था। पंडितजी का गाना मैंने कई मर्तबा सुना है। शुरू में बहुत बढ़िया गाते थे। बाद में उनकी वह मियाद कम हो गई थी। थ्योरी, पंडिताई में काफी 'टेम' (टाइम) निकल जाता था। उन्हें तो सब करना था। फिर भी अच्छा गाते थे। सुरीले थे। याददाश्त बहुत अच्छी थी। उनका राग का चलन बढ़िया रहता था। कभी गाना बिठाते थे तो सब कुछ उसके अंदर बना दिया करते थे। देखिए इसका वादी यह है, विवादी यह है। सब बताके गाया करते थे और जो सुर खास या वादी हुआ करता था उसपर ज्यादा जोर देते थे।

ऑडिशन के वक्त उनकी काफी नुक्ताचीनी हुई; लेकिन बात यह है कि जो कामयाब हो जाता है वह तारीफ ही करता है और जिसको नाकामी मिलती है वह उस आदमी को बदनाम करता है। जिसने स्थाई भरी अच्छे तरीके से वह माना जाता था। अब गायकी जो है, किसीकी कम किसीकी ज्यादा है। मगर सच्चाई जो है स्थाई-अंतरे से ही मालूम हो जाती है।

मैं कई बार इम्तेहान लेने मैरिस कॉलेज गया हूं। अल्लाउद्दीन खांसाहब आते थे; और और बड़े बड़े लोग आते थे। तो मैंने तो बेहतर बात यह कह दी कि उनके जैसा अभीतक कोई जानकार पंडिताई का, थ्योरी का, भातखंडेजी के बाद कोई नहीं हुआ।

—उस्ताद निसार हुसेन खांसाहब

सहस्वान घराने के वयोवृद्ध गायक,

संगीत रिसर्च अकादमी, कलकत्ता में उस्ताद।

रातंजनकरजी ने संगीत की महान सेवा की ।

(उस्ताद खादिमहुसेनखांसाहब से पं. एस्.सी.आर. भट की बातचीत से)

पं. रातंजनकरजी से मेरी पहली मुलाकात लखनऊ कॉन्फ्रेन्स में हुई। वहां मैंने उन्हें सुना। बहुत अच्छा गाए। खूब जवान थे। हम उस वक्त बच्चे थे। वे बहुत उमदा गाते थे। उसके बाद अर्से तक मुलाकात नहीं हो सकी। फिर जब आप बम्बई आए तब मुलाकात होती रही। गाने-बजाने का जिक्र होता था।

बाद के जमाने में वो ज्यादा गाते नहीं थे। इसके मायने यह नहीं हैं कि वे बड़े गायक नहीं थे। बंदिशें बहुत अच्छी बनाते थे, मैंने उनकी झिंझोटी की, सालगवराली की बंदिशें सुनीं। झिंझोटी में (मेरा मन हर लीनो..) उन्होंने गंधार पर मुंह रखा था।

आपने मुझे रागसंगीत में बाजे (हारमोनियम) के बारे में पूछा है, उसका उत्तर यह है कि मैं भी अण्णासाहब की तरह ही बाजे के खिलाफ हूँ। गंधार जैसे स्वर को पेटी पे सीखोगे तो वह बेसुरा हो जाएगा। गाना सीखने के लिए यह साज अच्छा नहीं।

ऑडिशन के सिलसिले में मेरे मुताबिक उन्होंने अच्छा काम किया। उनका मिजाज बहुत अच्छा था। हमारे संग तो बहुत देर तक संगीत पर बातें होती थीं। सिखाने के बारे में भी उन्होंने बहुत बड़ा काम किया है। बंदिश को कभी बिगड़ने नहीं दिया। शुद्धता को कायम रखना ही चाहिए। उसे तोड़ना बेकार है। रातंजनकर साहब ने इस उसूल को बखूबी निभाया।

—उस्ताद खादिमहुसेनखां, बम्बई
आग्रा घराने के वयोवृद्ध गायक, नायक और उस्ताद

संगीत के सच्चे व्याख्याता

(पं. मल्लिकार्जुन मन्सूरजी से डॉ. के.जी. गिंडे की बातचीत से)

पं. श्रीकृष्ण रातंजनकरजी को मैंने देखा है और सुना भी है। वे संगीत विद्या के परम विद्वान् गायक थे। संगीत का बहुत गहरा अध्ययन उन्होंने किया था। किसी राग को प्रस्तुत करते समय रागरूप के मुताबिक श्रुतियों का अनुपात कैसा होना चाहिए, इसका विचार बराबर उनके मन में रहता था। जब कभी वे राग के संबंध में तथा उसको गाने की पद्धति के बारे में समझाकर बताया करते तब उनके गहन अध्ययन की प्रतीति सहज रूप में मिलती थी। किसी भी राग में आरोह-अवरोह लेते समय स्वरों का व्यक्तित्व किस तरह बदलता है और वे उस विशिष्ट राग में किस प्रकार ढल जाते हैं उसका भी उन्हें निरंतर भान रहता था।

ऐसे विद्वान कलाकार के दर्शन संगीत-क्षेत्र में दुर्लभ हैं।

पं. मल्लिकार्जुन मन्सूर
जयपुर घराने के सुविख्यात गायक और गुरु

संगीत को उच्च कोटि के अध्ययन का विषय बनाया।

(पं. भीमसेन जोशी से पं.के.जी. गिंडे की बातचीत से)

सन १९३८-३९ की बात है। उन दिनों रामपुर के उ. मुश्ताक हुसेनखांसाहब के पास एक वर्ष में सीख रहा था। फिर लखनऊ आया। चाहता था कि ठुमरी की गायकी के बारे में निकट से कुछ जान सकूं। उस काल में सभी 'टॉप फॉर्म' में थे, सिद्धेश्वरीबाई, रसूलनबाई, बेगम अख्तर (जो उस समय बेगम नहीं थीं), अख्तरी फैजाबादी थी। वह उन दिनों खड़ी रहकर गाया करती। माइक तो था नहीं उस जमाने में। फिर भी दो-दो चार हजार आदमियों को साफ सुनाई देने जैसी आवाज उनकी थी। मैं उस वक्त रेडियो पर स्टाफ आर्टिस्ट था - सिर्फ नाम के वास्ते। १५-१५ मिनट दो बार गाना था; ३५ रुपये मिलते थे। ५-१० रुपयों से ज्यादा खर्चा नहीं था।

एक दिन मैं महाराष्ट्र मंडल में गाया। फिर अण्णासाहब के पास पहुंचा। उन्होंने बारीकी से और प्यार से पूछताछ की। मैंने उन्हें बताया कि मैं यहां गायकी सीखने और खासकर ठुमरी अंग से पहचान करा लेने के लिए आया हूं। उन्होंने प्रेमपूर्वक कहा "तुम्हें जब कभी जरूरत हो, यहां आ जाओ। उस समय आप सब लोग - भट, चिदानंद, जोग, बंदोपाध्याय सभी थे।.... अण्णासाहब का बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने शास्त्रीय संगीत को एक ऊंचा स्थान प्रदान कर दिया। उस जमाने में संगीत के अंदर बी.ए., एम.ए., पीएच.डी ऐसा कुछ नहीं था। उसे सबसे पहले लानेवाले अण्णासाहब ही थे। गांधर्व महाविद्यालय में यह पद्धति बाद में प्रचलित हो गई। इसकी शुरुवात हुई मैरिस कॉलेज में; बाद में भातखंडे विद्यापीठ बना। बड़े बड़े उस्ताद और पंडित वहाँ सिखाने के लिए आते थे।.... रातंजनकरजी ने सुशिक्षित समाज में संगीत का प्रचार, भली प्रकार से किया । उन्होंने सरकार को भी दिखला दिया कि संगीत भी उच्च कोटि के अध्ययन का - डॉक्टरेट तक का - विषय हो सकता है। रातंजनकरजी गायक ही नहीं नायक भी थे। उनके जैसा संगीतकार पैदा होना कठिन है।

—पं. भीमसेन जोशी
किराना घराने के ख्यातिसंपन्न गानसम्राट्

दिव्य गायन और दिव्य ज्ञान के दो संस्मरण

संगीताचार्य श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकरजी ने संगीत के क्षेत्र में इतना अलौकिक कार्य किया है कि उसपर एक ग्रंथ सहज ही में लिखा जा सकता है। लखनौ के 'भातखंडे संगीत महाविद्यालय' एवं 'भारतीय संगीत विद्यापीठ' से अवकाश प्राप्त होने तक अपने परिवार के लोगोंसे दूर, ऋषि-मुनियों की तरह व्रतस्थ रहकर , संगीत को तन-मन समर्पित कर, धन के लोभ के बिना विद्या-दान करते हुए आपने प्रमुख अध्यापक का पद विभूषित किया। पं. व्ही. जी. जोग, डॉ. एस्. सी. आर्. भट, पं. चिन्मय लाहिरी, डॉ. के. जी. गिंडे, पं. दंताळे, पं. चिदानंद

नगरकर, पं. दिनकर कायकिणी, डॉ. सुमति मुटाटकर आदि नामवर शिष्यों की एक पीढ़ी ही आपने तैयार की। देश के बड़े बड़े गायक एवं वादक कलाकार लखनौ जाकर उनसे संगीत के विषय में चर्चा किया करते थे और उनके सामने अपनी कला को प्रस्तुत करने में अपने को धन्य मानते थे। हिंदुस्तानी संगीत के विषय में श्री. रातंजनकरजी के जो अनेक विद्वत्ताप्रचुर लेख हैं वे वर्तमान एवं भावी कलाकारों एवं विद्यार्थियों के लिए अवश्य ही अध्ययन करनेलायक हैं।

ऐसे महान् व्यक्ति को पहली बार देखने और सुनने का संयोग मुझे सन् १९४८ में प्राप्त हुआ। ताड़देव के तालम की वाड़ी के हॉल में उनका गायन रखा था। हमें अपने 'भट मास्टरजी' (पं. एस्.सी.आर्. भटजी) ने बताया था कि विद्यार्थियों को उनका गाना सुनने के लिए अवश्य उपस्थित रहना चाहिए। जब हमने हॉल में प्रवेश किया तब काली शेरवानी पहने हुए एक मामूली कदवाला, छोटा-सा व्यक्ति मंच पर गर्दन झुकाकर बैठा था। उनके पीछे साथ-संगत के लिए हमारे 'भट-मास्तर' एवं पं. चिदानंद नगरकर बैठे थे। तानपूरों को बहुत अच्छी तरह मिलाया गया था। श्रोतागण में सामने विलायत हुसेनखां, खादिम हुसेनखां आदि आग्रा घराने के बुजुर्ग कलाकार एवं अन्य जानकार विद्वान् भी बैठे थे। यह तो याद नहीं कि उस समय उन्होंने कौन-सा राग गाया था, किन्तु याद आ रही है उनकी वह पतली, जव्हारीदार किन्तु उतनी ही तीक्ष्ण आवाज, तीनों सप्तकों में होनेवाला उनका वह मुक्त एवं लयबद्ध स्वर-संचार तथा उनके संगीत से तुष्ट श्रोताओं से उचित स्थान पर दी हुई दाद! गाते समय हाव-भाव या अंग-विक्षेप नहीं था, बल्कि थोड़े से झुककर ही गाते थे। बीच ही में श्री नगरकरजी की साथ-संगत में कुछ गड़बड़ी होती देखकर वे रुक गए। अण्णासाहब (रातंजनकरजी) ने उनकी ओर तिरछी दृष्टि से देखा। और उत्स्फूर्त रूप में तार सप्तक का ऐसा षड्ज लगाया कि हम सब गद्गद् हो गए। उसके बाद बड़ी तबियत से राग का चलन गाते हुए मध्य सप्तक के 'सा' पर आकर वे स्थिर हो गए। श्रोताओं ने "वाह! क्या बात है!" कहकर दाद फर्माई, बीच ही में तालियों की कड़कड़ाहट से उन्होंने रसभंग नहीं किया जैसा कि आजकल के श्रोता करते हैं। उसके पश्चात् पूरी महफिल में श्री नगरकर जरा सम्हलकर ही गा रहे थे। वस्तुतः नगरकर के रोष से हम विद्यार्थी बहुत ही डरते थे, किन्तु उन्होंने अत्यंत विनम्रता के साथ की हुई साथ-संगत को देखकर हमें यह बात जंच गई कि हमारे गुरुजी के गुरुवर संगीत-क्षेत्र के एक अत्यंत मान्यवर विभूति हैं।

आगे चलकर गाना सीखने के क्रम में हम उनकी बनाई हुई बंदिशों को गाने लगे। खमाज राग की 'सखि सांवरो गिरिधर गोपाल' बंदिश गाते समय हमारी सांस घुटती थी। झिंझोटी राग की दूसरी मात्रा से शुरू होनेवाली त्रिताल की 'मेरो मन सखि हर लीनो सांवरिया ने' बंदिश, तो खंबावती राग की 'लाज शरम तोको, नहिं आवे', बिभास एवं खट राग की 'बंधा समा सुर लय राग ताल सो', बंदिशों में शब्द सचमुच ही सुर, लय एवं ताल में नाचते-ठुमकते हुए आते हैं। यहां केवल उदाहरणों के तौर पर उनका उल्लेख किया है। उनकी एक एक बंदिश विविध तालों एवं रागों का मानो एक-एक बगीचा ही है। ऐसे चार सौ से भी अधिक बंदिशों के बगीचे उन्होंने अनेक रागोंमें खिलाए हैं, सजाए-संवारे हैं। 'सास एवं ननद'वाली पुरानी बंदिशों की अपेक्षा भिन्न किन्तु उच्च श्रेणी की, शृंगार एवं उदात्त भक्तिरस से सराबोर, अनेक बंदिशें उन्होंने बनाईं। उन्होंने संस्कृत विषय में बी.ए. की उपाधि प्राप्त की थी। पुराने संस्कृत

ग्रंथों के अनुसंधान द्वारा दक्षिणादि पद्धति के अनुरूप उन्होंने संस्कृत में 'वर्णम्', भजन एवं ख्याल रचे और गाकर उन्हें लोकप्रिय बनाया। इस अनुसंधान की विरासत उन्होंने अपने गुरुवर पं. भातखंडेजी से ही प्राप्त की थी।

अण्णासाहब का रागों एवं तालों पर इतना प्रभुत्व था कि किसी कलाकार के एक राग को एक ताल में गाते समय उसे सुनने के साथ ही साथ वे वहीं अन्य राग की बंदिश अन्य ताल में रचते थे। सर्वसाधारणतया कलाकारों के लिए मामूली गुनगुनाना भी असंभव होता है। पं. रविशंकर जैसे जगद्विख्यात् कलाकार उन्हें कितना मानते हैं, आगे के एक प्रसंग से प्रमाणित हो जाएगा। लगभग पंद्रह-बीस साल पहले उनके द्वारा महफिल में बजाए गए एक विशिष्ट राग की शुद्धता के विषय में आलोचकों ने समाचारपत्रों में उनकी बड़ी सख्त आलोचना की थी। तब उन्होंने अपने बंधु (श्री राजेंद्रशंकरजी) से कहा था कि राग की शुद्धता के विषय में वे केवल डॉ. रातंजनकरजी के मत को प्रमाण मानते हैं। श्री अण्णासाहब की जवानी में संपन्न महफिलों के विषय में अनेक बुजुर्ग लोग उनकी मन:पूर्वक प्रशंसा करते हैं, किन्तु दुर्भाग्य से आकाशवाणी के उनके जो रेकॉर्ड उपलब्ध हैं वे उनके वृद्धापकाल में लिए गए होने से वर्तमान पीढ़ी के लिए उनकी कला एवं विद्वत्ता की सही कल्पना करना मुश्किल है।

हिंदुस्तानी संगीत को समृद्धि प्रदान करने के लिए उन्होंने 'तन मन धन सब वारूं' वृत्ति से अपने को समर्पित किया था। हिंदुस्तानी संगीत का यह सौभाग्य है कि उन जैसा श्रेष्ठ वाग्गेयकार, संगीतकार, कलाकार एवं गुरु इस शती में पैदा हुआ। किन्तु बड़े खेद की बात है कि उनके इस महान् कार्य का गौरव उनके जीवन-काल में नहीं हुआ और उन्हें अपेक्षित लोकप्रियता प्राप्त नहीं हुई। उन्होंने अपनी 'सरस्वती-वंदना' में कहा है।

"ध्यानगंधं तथा ध्वानधूपं साहित्यरूपिणीम्।
समर्पयामि तेद्यश्री भक्तिभाव पुरस्सरम्॥
अभिषेक: स्वरासन्तु सुशब्दाकुसुमान्यपि।
लयोर्घ्यमाचरेद्रागा रसात् नैवेद्यरूपिण:॥"

(हे देवी! मैं आपकी सेवा में ध्यान, गंध एवं धूप साहित्य रूप से ही भक्ति-भाव से समर्पित करता हूँ। स्वरों का ही अभिषेक, सुंदर शब्द ही मानो फूल, लय का अर्घ्य और उस गति से निर्मित रागस्वरूप ही मेरा नैवेद्य है।)

श्रीमती सुमन सावुर, बंबई
(सर्वश्री चिदानंद नगरकर, एस.सी.आर. भट तथा
के.जी. गिंडे की शिष्या)

अनोखा स्नेह और वैसी ही कर्तव्यदक्षता

सन १९६४-६५ में, गणेशजी के उत्सव में प्रथम बार ही लखनौ, कानपुर, बनारस आदि स्थानों पर कार्यक्रम के लिए जानेका अवसर प्राप्त हो गया था। उस समय मैं पहले कानपुर के 'महाराष्ट्र मंडल' में कार्यक्रम संपन्न करके फिर लखनौ गया। इस कार्यक्रम को सुनने के लिए स्वयं पं. अण्णासाहब उपस्थित थे। उन्हें कार्यक्रम बहुत पसंद आया और मेरे बारे में

उन्होंने गौरवोद्‌गार प्रकट किए तथा उसके पश्चात् मेरे दो-एक खानगी कार्यक्रम उन्होंने स्वयं अपनी ओर से तय कराए। वे कार्यक्रम संपन्न होने के बाद उन्होंने लखनौ के 'भातखंडे ॲनिव्हर्सरी रवीन्द्र थिएटर' में आयोजित कार्यक्रम में गाने के लिए मुझसे बिनती की। किन्तु उस कार्यक्रम के लिए १०-१२ दिन की अवधि शेष होने से, मेरी कठिनाई को जानकर उन्होंने कहा, "१०-१२ दिन तक आपके रहने और भोजन आदि का प्रश्न है, उसके लिए आप अपना बोरिया-बिस्तर लेकर नि:संकोच मेरे यहां ठहरने के लिए आ जाइएगा।"

अण्णासाहब जैसा व्यक्ति मुझ जैसे कलाकार से इतनी आत्मीयता से पेश आए, इसकी मुझे बेहद खुशी हुई। मैंने इसे अपना सौभाग्य समझकर उनके सान्निध्य में १०-१२ दिन व्यतीत किए। आगे चलकर उक्त 'भातखंडे उत्सव' में मेरा कार्यक्रम संपन्न हुआ। कार्यक्रम अच्छा रहा। उचित मानधन एवं यात्रा का किराया देकर उन्होंने मुझे बंबई भेजा। मैं अपना यह बड़ा भाग्य मानता हूं कि उपर्युक्त वास्तव्य में उनसे मुझे कुछ शिक्षा का भी लाभ हुआ। तत्पश्चात् यह स्नेह बढ़ता ही गया। उसके बाद आगे चलकर जब वे बम्बई आए तब मेरे यहाँ भोजन आदि करके उन्होंने खूब गपशप भी की। यह था पं. अण्णासाहब का महान् व्यक्तित्व!

'आकाशवाणी' की ओर से जब कलाकारों की जांच-परीक्षाएं चल रही थीं, उस वक्त परीक्षक की हैसियत से उनके विषय में प्राप्त अनुभव को आगे बता रहा हूं।

उस समय पैनल में पं. अण्णासाहब थे, और सब कलाकारों ने ऑडिशन पर बहिष्कार डाला था। किन्तु उस हड़ताल में मैं शामिल नहीं था। जो कलाकार पात्र नहीं थे, उनकी परीक्षा के उपरान्त उनकी अपनी अपनी लियाकत के अनुसार उनका स्तरीकरण हुआ। उस वक्त, जो पात्र नहीं थे उन्होंने अण्णासाहब पर न जाने कैसे कैसे आरोप किए। किन्तु जब मैं ऑडिशन के लिए गया तब उन्होंने ४५ मिनट तक परीक्षा ली। उन्होंने मुझसे न तो कोई टेढ़ा-मेढ़ा प्रश्न ही किया न मुझपर कोई अन्याय ही । जो पात्र व्यक्ति थे उन्हें उचित न्याय ही मिला। मेरी दृष्टि में अण्णासाहब सचमुच सत्य को सत्य के रूप में स्वीकारनेवाले, किसी भी घराने के प्रति कोई भी पूर्वाग्रह न रखनेवाले, सच्चे विद्वान् व्यक्ति थे। परीक्षक के नाते वे असल में सुयोग्य व्यक्ति ही थे।

पं. यशवंतबुवा जोशी

जानेमाने महफिली गायक और सिद्धहस्त गायनगुरु, बम्बई

ऐसा गायन, ऐसी बंदिशें और 'वह' भैरवी!

गुरुवर के प्रथम दर्शन मुझे सन १९३४ में परीक्षक के रूप में हुए। तब मैं 'माधव संगीत विद्यालय' में चतुर्थ वर्ष में पढ़ता था। मेरे पूज्य पिता स्वर्गीय राजाभैया और बाबूराव के आपस में बंधुवत् प्रगाढ़ स्नेह होने से वे प्रतिवर्ष ग्वालियर में जब परीक्षक के रूप में आते थे, तब मेरे यहाँ ही ठहरते थे। सन १९३४ से १९४५ तक उनके सान्निध्य का मुझे पर्याप्त लाभ हुआ। इस कालावधि में अतीव निकट का संबंध जुड़ जाने से उनके व्यक्तित्व का मुझे पूर्ण परिचय प्राप्त हो गया।

स्व. गुरुवर के गीत-संग्रह से ज्ञात होता है कि वे मराठी, उर्दू, गुजराती, बंगला, संस्कृत

आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। एक ही व्यक्ति में उत्तम शिक्षक, गायक एवं रचनाकार के गुण एक साथ मिलना असंभव है। किन्तु मुझे उनमें ये तीनों गुण दृष्टिगोचर हुए। जितनी तैयारी के साथ वे प्रचलित राग प्रस्तुत करते थे उतनी ही तैयारी के साथ वे अप्रचलित रागों का भी प्रस्तुतीकरण करते थे। मेरी राय में सन १९३६ से १९५५ तक की कालावधि को उनके गायन का उत्कृष्ट काल मानना चाहिए। उनके गायन पर आगरा घराने के आफताबे मौसिकी मरहूम फैयाजखांसाहब का अत्यंत प्रभाव था। राग को प्रारंभ करनेसे पहले वे उत्कृष्ट नोम् तोम् की सहायता से ख्याल का वातावरण निर्माण करते थे। जिन जिन लोगोंने उन्हें सुना हो, वे इस बात को जानते ही होंगे। उनकी कल्पनाशक्ति गजब की थी। उनकी साथ-संगत करने का सौभाग्य मुझे सन १९३६ से १९५५ तक निरंतर रूप में प्राप्त होता रहा। उनके सान्निध्य के फलस्वरूप अप्रचलित राग सीखने और उनके साथ गाने का संयोग बराबर प्राप्त हुआ करता था और कई बार तो, लखनऊ के वास्तव्य में वे मुझे अपने यहां रख लेते थे। और अन्य छात्रों को पढ़ाते समय प्रत्येक अप्रचलित राग की विस्तारपूर्वक जानकारी दे देते थे।

उनकी खुद की रची हुई अनेक बंदिशें गानेके लिए उन्होंने छात्रों को तैयार किया। वे राग-विस्तार, बोलतानों, तानों आदि के विषय में विस्तृत जानकारी दिया करते थे। नई 'बंदिश' तैयार होनेपर उसकी प्रतिलिपि वे मुझे भेजा करते थे और यद्यपि मैंने उसे रियाज द्वारा तैयार किया भी हो तो भी उसके महत्त्वपूर्ण शब्द एवं स्वरोच्चार वे ठीक-ठाक कर देते थे। चूंकि मैंने उनके गाने की अनेक महफिलें सुनी हैं, उनके गायन का मुझपर प्रभाव था और आज भी है। उनका गाना समाप्त होने पर भी मेरे दिमाग में उनके ही विचार चक्कर काटते थे। कई बार तो नींद में भी वे सामने आते। हम दोनों की आवाजों का गुण-धर्म मिलता-जुलता होने से, उस जमाने में मेरे गायन के समय लोग कहा करते थे कि उनके गायन का मुझ पर अधिक प्रभाव पड़ा है। कई बार तो लोग कहते - "अपने पिताजी को भी भुला मत देना!"

एक बार जब दिल्ली रेडिओ पर उनका कार्यक्रम था, मैं साथ-संगत के लिए उनके साथ था। शाम को कार्यक्रम समाप्त होने के तुरंत डेढ़ घंटा बाद उनका पुन: कार्यक्रम था और उन्होंने गानेके लिए 'मारु बिहाग' राग मुकर्रर किया था। मैं उनके कार्यक्रम के बाद पास ही के पार्क में विश्राम कर रहा था। उसी समय उन्होंने मारू बिहाग में 'ब्रिज जुवति संग' बंदिश बनाकर उसे तुरंत कार्यक्रम में प्रस्तुत भी किया। दूसरे दिन के प्रात:काल के कार्यक्रम के लिए उन्हें 'पंचम' राग गाने के लिए कहा गया था। सब कार्यक्रम समाप्त होनेपर भोजन आदि के उपरान्त हम बैठ गये और उन्होंने 'पंचम' राग की बंदिश तैयार करके उसे प्रात:काल के कार्यक्रम में पेश किया। इस प्रकार, बंदिशें रचने का उनका कौशल उत्कृष्ट था।

दूसरा एक प्रसंग मेरे स्मरण में है। मुझे सूचित किया गया कि 'रेडिओ संगीत संमेलन' में मुझे हमीर राग में 'टप ख्याल' गाना है। उस समय मैं खैरागढ़ में था। मेरे साथ उन्हें भी सम्मेलन में गाने के लिए आता था। मैंने उनसे हमीर के 'टप- ख्याल' के बारेमें बात की, क्योंकि मैं वह जानता नहीं था। किसी काम से हम दोनों नागपुर में रुक गए थे। काम खत्म करके रात को हम बैठ गए। उन्होंने 'जाग रही सगरी रतिया' टप्पे-ख्याल की रचना करके मुझसे उसे तैयार कराया। तत्पश्चात् दिल्ली जाने के लिए जी.टी. से यात्रा करते समय गाड़ी में ही उन्होंने बिहाग का पंजाबी शब्द लेकर 'दिल दा प्यारा' टप्पे की रचना की और मुझे दे दी। इस प्रकार दोनों रागों में रचना तैयार होनेसे मुझे तो लाभ हुआ ही, साथ ही दूसरों

को भी उससे फायदा हुआ।

यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि उस जमाने में साधनों की कमी होनेसे वे बंदिशें आज लोगों को सुनने के लिए उपलब्ध नहीं हैं। उनके साथ साथ-संगत करना अत्यंत मुश्किल लगता था। अर्थात् प्रचलित रागों में विशेष कठिनाई महसूस नहीं होती थी किन्तु अप्रचलित रागों में बेहद परेशानी होती थी। किन्तु वे स्वयं गाते समय मुझसे भी गवाते थे और इस प्रकार भी उनसे शिक्षा ग्रहण करने का सुयोग मुझे प्राप्त हुआ।

एक बार ग्वालियर में महफिल खत्म होने पर उन्होंने भैरवी गाना प्रारंभ किया। भैरवी के विषय में यह कल्पना रूढ़ है कि उसमें बारह स्वरों का उपयोग किया जाता है। पुराने लोग भी भैरवी में केवल शुद्ध ऋषभ एवं तीव्र मध्यम का प्रयोग मजे के तौर पर करते हैं, किन्तु आपने जो भैरवी गाना शुरू किया वह शुद्ध भैरवी थी। उसमें इनमें से किन्हीं ऐसे स्वरों का प्रयोग गाना खत्म होने तक मैंने नहीं सुना। बहुत ही कठिन कार्य था। ऐसी भैरवी मैंने कभी सुनी नहीं। ऐसे थे हमारे गुरुवर! उन्हें मेरे शत कोटि प्रणाम!

—बाळासाहब पूछवाले, भोपाल

पं. राजाभैय्याजी के सुपुत्र। माधव म्यूजिक कॉलेज, ग्वालियर के भूतपूर्व प्राचार्य

पं. रातंजनकरजी से भेंट की स्मृतियां

पं. रातंजनकरजी से मेरी पहली भेंट सन १९४३ में लखनौ में हुई। अपने आकाशवाणी कार्यक्रम के सिलसिले में लखनौ गई थी तब पं. रातंजनकरजी ने मुझे वहाँ के मैरिस कालेज में कार्यक्रम देने के लिए आमंत्रित किया था। मेरे उस कार्यक्रम को सुनने के लिए पांच सौ से ऊपर छात्रगण उपस्थित थे। मैंने उस समय राग पूरिया और सुहा प्रस्तुत किए थे।

हर साल मैं अपने कार्यक्रम के निमित्त से दो-तीन बार लखनौ अवश्य जाती थी। जब जब मैं वहां जाती थी तो उनसे मेरी भेंट अवश्य हो जाती थी। काफी मिलनसार व्यक्तित्व था उनका। संगीत के उत्कष्ट गायक तथा शास्त्र के गाढ़े आचार्य थे वे। उन्होंने अनेक रागों में काफी बंदिशें लिखी हैं। उनकी रचनाओं में राग केदार-बहार, प्रभात-भैरव की बंदिशें मुझे अच्छी लगीं।

एक बार उनके विद्यापीठ में मुझे उनका गायन सुनने का अवसर मिला था। उन्होंने राग शुद्धसारंग प्रस्तुत किया था जो काफी प्रभावशाली था।

आकाशवाणी पर हार्मोनियम के निर्बंध पर अक्सर मेरी उनके साथ चर्चा होती थी। उनका कहना था कि गायन की साथ-संगत के लिए सारंगी वाद्य अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुआ है, अपितु आजकल सारंगी, पखावज, बीन आदि वाद्य लुप्त हो रहे हैं। अत: उनको संरक्षण देने के लिए विशेषत: सारंगी को संरक्षण देने के लिए हार्मोनियम वाद्य को रेडियो पर निर्बंधित किया गया है।

संक्षेप में कहा जाए तो पं. रातंजनकरजी काफी मिलनसार व्यक्ति थे। संगीत के विद्वान थे। उनका सदैव हंसमुख चेहरा मैं अभी भी भुला नहीं पा रही हूं।

—डॉ. गंगूबाई हनगल, हुबली

किराना घराने की भारतविख्यात गानसम्राज्ञी

पुण्य स्मृति में शतशः नमन

पं. रातंजनकरजी के सर्वप्रथम दर्शन सन १९४९ में लखनऊ में मध्यमा परीक्षा में बैठते समय हुए थे। उन दिनों ये और पं. राजाभैया पूंछवाले क्रियात्मक परीक्षा के परीक्षक हुआ करते थे। परीक्षा का जो आतंकमय स्वरूप उन दिनों हुआ करता था उसकी कल्पना भी आज के परीक्षार्थी नहीं कर सकते। बड़े-से कमरे के एक सिरे पर बैठे परीक्षकद्वय और दूसरे सिरे पर बैठा परीक्षार्थी। दोनों के बीच की देशगत दूरी विलक्षण 'आतंक' की सृष्टि करती थी। इतना ही स्मरण है कि जो कुछ भी पूछा गया था, सब कुछ मैंने गाकर सुना दिया था।

दूसरी भेंट सन १९५५ के आरंभ ही में पटना के एक महाविद्यालय में संगीत-प्राध्यापिका के पद के लिए साक्षात्कार के प्रसंग में बिहार लोकसेवा आयोग के कार्यालय में हुई। पं. रातंजनकरजी विशेषज्ञ (Expert) के रूप में वहां थे। उन्होंने जो भी प्रश्न पूछे थे, उनमें से एक ही का विशेष स्मरण बना रहा है और वह है 'स्थाय'। मैंने तबतक 'स्थाय' का नाम नहीं सुना था। घर लौट कर 'संगीत रत्नाकर' का 'स्थाय' प्रकरण पढ़ा और दस वर्ष बाद १९६५ में 'स्थाय' पर एक लंबा लेख लिखा जो कि दिल्ली से प्रकाशित 'इंडियन म्यूजिक जर्नल' में तीन खण्डों में प्रकाशित हुआ था।

तीसरी और अंतिम भेंट दिल्ली में आकाशवाणी द्वारा आयोजित एक 'सेमिनार' में सन १९७० में हुई थी। उसीकी सबसे सुखद स्मृति चित्त पर अंकित है। उन्होंने भारतीय संगीत के सूक्ष्म अंतरालों के लिए हामोर्नियम की अनुपयुक्तता का जम कर सोदाहरण प्रतिपादन किया था। 'ललित' के तीन मध्यम - शुद्ध, तीव्र और अति तीव्र - गाकर बताए थे। मैंने भी अपने ढंग से हार्मोनियम का विरोध किया था। दूसरे दिन आकाशवाणी के किसी कार्यालय में उनसे भेंट हो गई। तब उन्होंने मुक्त भाव से मेरे विषय-प्रतिपादन का समर्थन करते हुए भरपूर आशीर्वाद दिया था। पीठ पर हाथ रखकर आशीर्वाद की अभिव्यक्ति को उत्कटता दी थी। वही स्मृति मेरे लिए अमूल्य है।

परीक्षक के रूप में असंख्य जनों को उनके दर्शन मिले होंगे। शिक्षक के रूप में उससे कम संख्या के जन उनके संपर्क में आए होंगे। गायक के रूप में अनेकों श्रोताओं का उनसे संपर्क हुआ होगा। मैंने शायद सन ५० में मथुरा के 'किशोरीरमण कन्या महाविद्यालय' में उनका गायन सुना था। तब विशेष समझ तो थी नहीं। फिर भी जो कुछ स्मृति है, वह सुखद है, मधुर है। संगीत-शास्त्र का चिंतन-मनन, गायन का अभ्यास, शिक्षण में तत्परता और निष्ठा, ये सब गुण एक साथ उनमें विद्यमान थे। उनकी पुण्य - स्मृति में शतशः नमन !

—प्रेमलता शर्मा
विख्यात संगीत विदुषी,
बनारस हिंदू युनिवर्सिटी संगीत विभाग (भूतपूर्व) अध्यक्षा,
संप्रति बेजंट कॉलेज, वाराणसी में संगीत की प्रोफेसर)

आदत, जिगर और हिसाब

मैं उन दिनों पूना के गांधर्व महाविद्यालय में स्व. गुरुवर्य पं. विनायकराव पटवर्धन के निर्देशन में संगीत का अध्ययन कर रहा था । सन १९३७ दिसंबर मास में बलरामपुर रियासत तथा आगरा में होनेवाले संगीत-समाराहों में भाग लेने के लिए पंडितजी मुझे साथ लेकर लखनऊ आए थे । तभी मैंने पहली बार स्व. अण्णासाहब (पं. श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर) के दर्शन किए थे । उस समय के भातखंडे संगीत महाविद्यालय (तब मैरिस कॉलेज ऑफ म्यूजिक) के आश्रमवासी छात्रों को तालीम दे रहे थे । उनके सिखाने के ढंग से मैं बहुत प्रभावित हुआ । कुछ ही दिन बाद बलरामपुर के समारोह में उनकी गाई हुई 'नायकी कानड़ा की बंदिश 'पापी हरि मुख बोल' अभी तक मुझे स्मरण है । प्रशिक्षण की समाप्ति पर सन १९३९ में दिल्ली आकर गुरुजी के आदेशानुसार गांधर्व महाविद्यालय का आरंभ मैंने किया । संभवत: सन ४४ या ४५ में अण्णासाहब दिल्ली आकर श्री गोपालराव रानड़े के यहां ठहरे थे । उन्हींके घर पर गायन की बैठक का आयोजन था । इस अवसर का लाभ उठाने के लिए मैं भी अपनी पत्नी सौ. पद्मादेवी के साथ वहां पहुँचा था । अनेक परिचित रागों के बाद रातंजनकरजी ने एक अप्रचलित राग प्रस्तुत किया । न समझ पाने पर राग का नाम जानने की इच्छा पद्मादेवी ने व्यक्त की । न जाने किस कारण वे एकदम रुष्ट हो गये । बोले- "राग का नाम क्रमिक पुस्तकमाला के भाग अमुक के पृष्ठ अमुक पर देख लेना । " उनका कथन सुनकर सन्नाटा छा गया । सभी हतप्रभ होकर रह गये ।

संभवत: बाद में उन्होंने स्वयं महसूस किया कि यह ठीक नहीं हुआ । उनके हृदय की विशालता का परिचय अगले दिन मिला जब उनका एक शिष्य स्वयं उनके हाथ का लिखा पत्र लेकर मेरे पास आया । लिखा था- "कल के अशिष्ट व्यवहार के लिए क्षमा चाहता हूं । क्रमिक पुस्तक में राग का नाम गलत छपा है । मेरे गाए पटबिहाग पर नटबिहाग और नटबिहाग पर पटबिहाग छपा है । "

इसके बाद क्रमश: यह परिचय घनिष्ठता में परिणत हुआ । विद्यालय की 'संगीत सलाहकार समिति' की सदस्यता उन्होंने सहर्ष स्वीकार की । समय-समय पर विद्यालय में आकर प्रशिक्षण के संबंध में मार्गदर्शन भी किया । उनका यह कथन मुझे पसंद आया कि क्लास में पुस्तक मत आने दो, प्रत्यक्ष स्वयं गाकर ही तालीम दो । विद्यालय द्वारा आयोजित अनेक आयोजनों में अध्यक्ष, वक्ता और कलाकार के रूप में उन्होंने भाग लिया । स्व. पं. ओंकारनाथ ठाकुर के साथ उनका तीव्र मतभेद सर्वविदित है । 'आदत, जिगर और हिसाब' विषय पर अण्णासाहब के भाषण के बाद, भाषण के अंतिम भाग के समय पं. ओंकारनाथ जी भी पहुंच गए । पंडितजी ने बिना सुने ही अण्णासाहब के मंतव्यों का समर्थन किया जो हम सबके लिए सुखद आश्चर्य था । बाद में अत्यंत सौहार्दपूर्ण वातावरण में चाय-चिवड़ा का आस्वाद लेते हुए दोनों दिग्गजों का छायाचित्र मेरे पास अभी भी सुरक्षित है ।

कलाकार, गुरु, विचारक, वक्ता तथा वाग्गेयकार के रूप में भारतीय संगीत के प्रति अण्णासाहब का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है ।

– पं. विनयचंद्र मौद्गल्य

पं. विनायकबुवा के पट्टशिष्य, गायक एवं वाग्गेयकार, श्रेष्ठ संगठक एवं गांधर्व महाविद्यालय दिल्ली के प्रिंसिपल।

सम्मान-भावना

मैं तो यह समझता हूं कि सभी दिशाओं में आचार्य रातंजनकरजी के कार्य और व्यापक विचार, लगन एवं प्रयास से राग की शुद्धता को लेकर एक अपूर्व जागृति संगीत के क्षेत्र में पैदा हुई थी। आज भी यदि कोई रागदारी का प्रदर्शन करता है तो प्रतिष्ठित कलाकार हो या नवोदित ही क्यूं न हो, यदि उसका कभी भी आचार्य रातंजनकर जी से साक्षात् हुआ है तो राग की शुद्धता को ध्यान में रखते समय उनका स्मरण आना एक स्वाभाविक बात है । मैं तो यह भी प्रतीत करता हूं कि आज उनके न रहने से रागदारी गायन-वादन में जो डर-सा बना रहता था वह समाप्त होकर स्वतंत्रता का रुख अपनाया जा रहा है, क्यूंकि अब कोई टोकनेवाला नहीं, यदि कोई बात सामने आती है तो वह 'घराने' की आड़ में अड़ जाती है ।

आचार्य रातंजनकरजी के व्यक्तित्व को किसी सीमा में बांधना संभव नहीं, जैसा कि मैंने उनके इतने समय-काल के सान्निध्य में रह कर जाना, वे किसी भी समय खाली बैठे मुझे नजर नहीं आए, मैं तो यही कहूँगा कि संगीत के लिए ही उन्होंने जन्म लिया और निरंतर भगवती शारदा की सेवा एवं चिंतन में ही अपनेको पूर्ण समर्पित कर दिया, वे सदैव ही सच्चाई और नवीनता तथा शुद्धता के प्रतीक थे ।

आचार्य की गायकी में विशेष रंग ग्वालियर और आगरा घराने के ज्यादे परिलक्षित होते थे, आलापचारी में जोड़ आलाप, चार अंगों में राग की पूर्ण अभिव्यक्ति, गमक, जोरदार आवाज तथा तानों में उनका एक अलग रंग झलकता था, साथ ही जिन रागों में बंदिशों का अभाव था उन रागों में नवीन रचनाओं का सृजन कर संगीत-प्रेमियों के संगीत-पथ को और आलोकित करने का उन्होंने प्रयास किया, इन अनेक विशेषताओं का किसी एक व्यक्ति में होना असाधारण ही कहा जाएगा, अतएव सच्चे माने में उनको 'गंधर्व' की संज्ञा देना तथा सम्पूर्ण 'वाग्गेयकार' ही कहना उचित होगा ।

—दाऊजी गोस्वामी
अवकाशप्राप्त प्राध्यापक,
भातखंडे हिंदुस्तानी संगीत महाविद्यालय, लखनऊ

संगीत की दुनिया का कर्ण

१९३२ साल में नागपुर के मनहर गायन समाज में मैंने प्रथमत: स्वर्गीय डॉ. रातंजनकर का गायन सुना जिसमें उनका गाया हुआ 'जयजयवंती' राग कभी नहीं भूल सकता। मैं तानपूरा बजाकर कंठ-साथ भी करता था। कुछ सालों के बाद जब मैं स्थायी रूप में रहने लगा तब अण्णासाहब से मिलने का मौका बार बार मिलता रहा। भारतीय संगीतकार एवं तज्ञ ही केवल अण्णासाहब को मानते थे सो नहीं, दक्षिण भारत में भी उनकी विद्वत्ता पहुंच गई थी। १९४१ में जब मैं मद्रास, कुंभकोणम् के संगीत-महोत्सव में कार्यक्रम के लिए गया था, तब दाक्षिणात्य संगीत के विद्वान डॉ. अद्यनथैया ने अण्णासाहब की स्तुति की थी। अन्नामलाई युनिवर्सिटी के संगीत विभाग के प्रमुख विद्वान टायगर वरदाचारी ने भी उनकी प्रशंसा की थी ।

मैं जब बंबई आकाशवाणी पर म्युझिक प्रोड्यूसर के नाते काम करता था, तब रातंजनकरजी

लखनौ से बंबई आकर म्युजिक ऑड़िशन लेते थे। वे स्वभाव से सरल, स्पष्ट तथा निरंहकार थे। कलाकारों से बातचीत करते समय वे कभी मीठा कभी कड़वा बोलते थे। लेकिन मन बिलकुल साफ था। एक दिन सुबह मैंने अण्णासाहब को चाय के लिए घर पर आमंत्रित किया। तो चाय के नाम पर वह एक छोटी महफिल ही हो गई। बारा बज गए, रेड़ियो की गाड़ी उन्हें ले जाने के लिए आ गई। मैंने कहा "आप भोजन करके निकलेंगे तो जरा आराम मिलेगा"। बड़ी खुशी से यह बात उन्होंने मान ली। भोजन के बाद हम दोनों रेड़ियो स्टेशन पर पहुंचे। रास्ते में हमारी रागदारी पर चर्चा अधूरी हुई। दूसरे दिन मुझे अण्णासाहब ने अपने घर बुलाया। इस सुवर्ण अवसर का लाभ उठाने हेतु मैंने हिंडोल और यमन रागों के मेल से बना हुआ 'यमनी हिंडोल' का स्वरूप गाकर बताया। अण्णासाहब ने आधा घंटा कुछ पुराने ग्रंथ और किताबें देखकर और कुछ आधार है या नहीं इसे देखकर यह नतीजा निकाला कि अभीतक संगीत-तज्ञों या कलाकारों ने इस राग का निर्माण नहीं किया था। इस राग में चीज बंदिश बनाना तो चाहता था, किंतु सफल नहीं हो रहा था। सुनकर अण्णासाहब ने कहा "मैं अभी बनाता हूँ।" और एक घंटे में दो चीजों की बंदिश बनाई। एक झपताल में और दूसरी तीन ताल में। अण्णासाहब ये दोनों चीजें गाते समय बीच में रुककर पूछते थे, "मेरी रचना सही है? कुछ स्वरों में, शब्दों में अगर गलती हो तो बता देना। मैं सब ठीक करूंगा।" यह सुनकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। कितना सरल, और निरहंकार स्वभाव! इसलिए डॉ. रातंजनकर को संगीत-दुनिया का 'कर्ण' कहने में मैं अतिशयोक्ति नहीं समझता ।

–वि. दे. अंभईकर, बंबई
श्रेष्ठ गानसाधक, आकाशवाणी संगीत-निर्माता (भूतपूर्व)

गायकी का अनुपम नमूना

स्व. रातंजनकरजी एक संगीत परिषद के लिए पूना आए थे। उसी वक्त उनसे नजदीक से संपर्क पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस परिषद के अवसर पर मैंने एक निबंध 'ठाठ पद्धति' के बारे में पढ़ा था। उस संबंध में स्व. रातंजनकरजी से व्यक्तिश: सविस्तार चर्चा मैंने की। चर्चा में उनका स्नेह तथा सौहार्द मुझे प्राप्त हुआ। पूना से वापस जाने पर उन्होंने मेरे स्वर्गीय पिताजी को लिखी हुई चिट्ठी में लिखा था कि आपके सुपुत्र ने विरोध-भक्ति से ही सही, भातखंडेजी के ग्रंथों का अच्छा अध्ययन किया है ।

बाद में कई बार उनसे मिलने तथा कई विषयों पर चर्चा करने के अवसर पर मुझे प्राप्त हुए। कौशी कानड़ा की द्रुत बंदिश के बारे में तथा उस राग के स्वरूप के बारे में मैंने चर्चा की। मालकंस तथा बागेश्री (जो अष्टादश कानड़ों में से एक माना गया है) के संयोग का विवेचन उन्होंने किया था। चर्चा में वे बहुत गहराई से और विश्वास के साथ बातचीत करते थे। शंका पूछनेवाले व्यक्ति को निरुत्साहित करने की उनकी वृत्ति नहीं थी ।

वे जब खैरागढ़ गए तो नागपुर आकाशवाणी का कार्यक्रम करने नागपुर आते थे। मैं उन दिनों नागपुर आकाशवाणी केंद्र पर कार्यरत था। प्रचलित राग श्रोता आपसे सुनना चाहते हैं



स्व. राजकुमारी इंदिरा

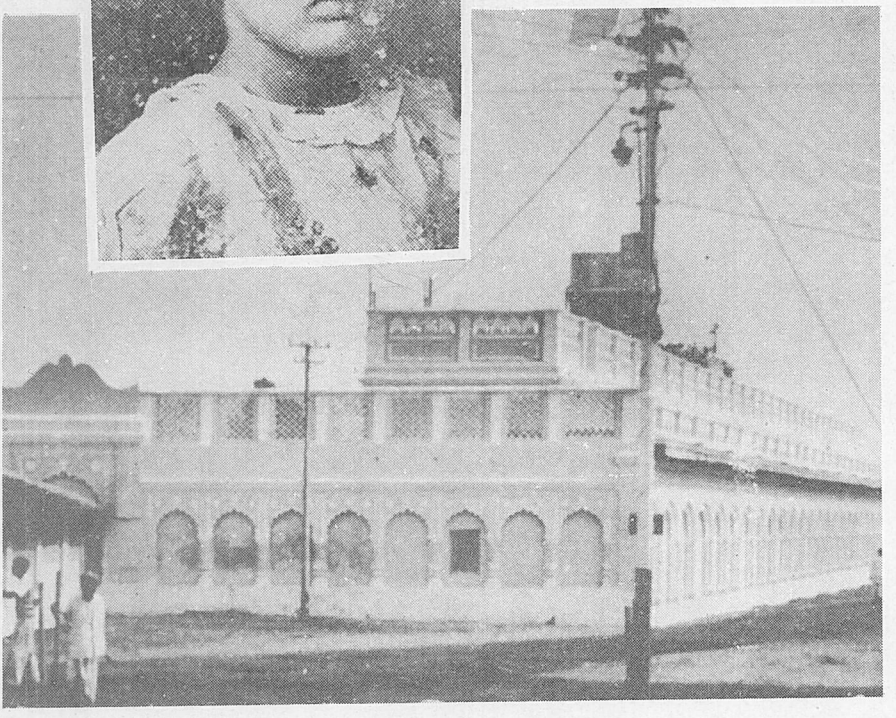

स्व. राजकुमारी इंदिरा की स्मृति में खैरागढ़ विश्वविद्यालय स्थापित हुआ.....
उसका भव्य भवन



इं. क.सं. विश्वविद्यालय के उपकुलपति की मुद्रा में
डॉ. रातंजनकर

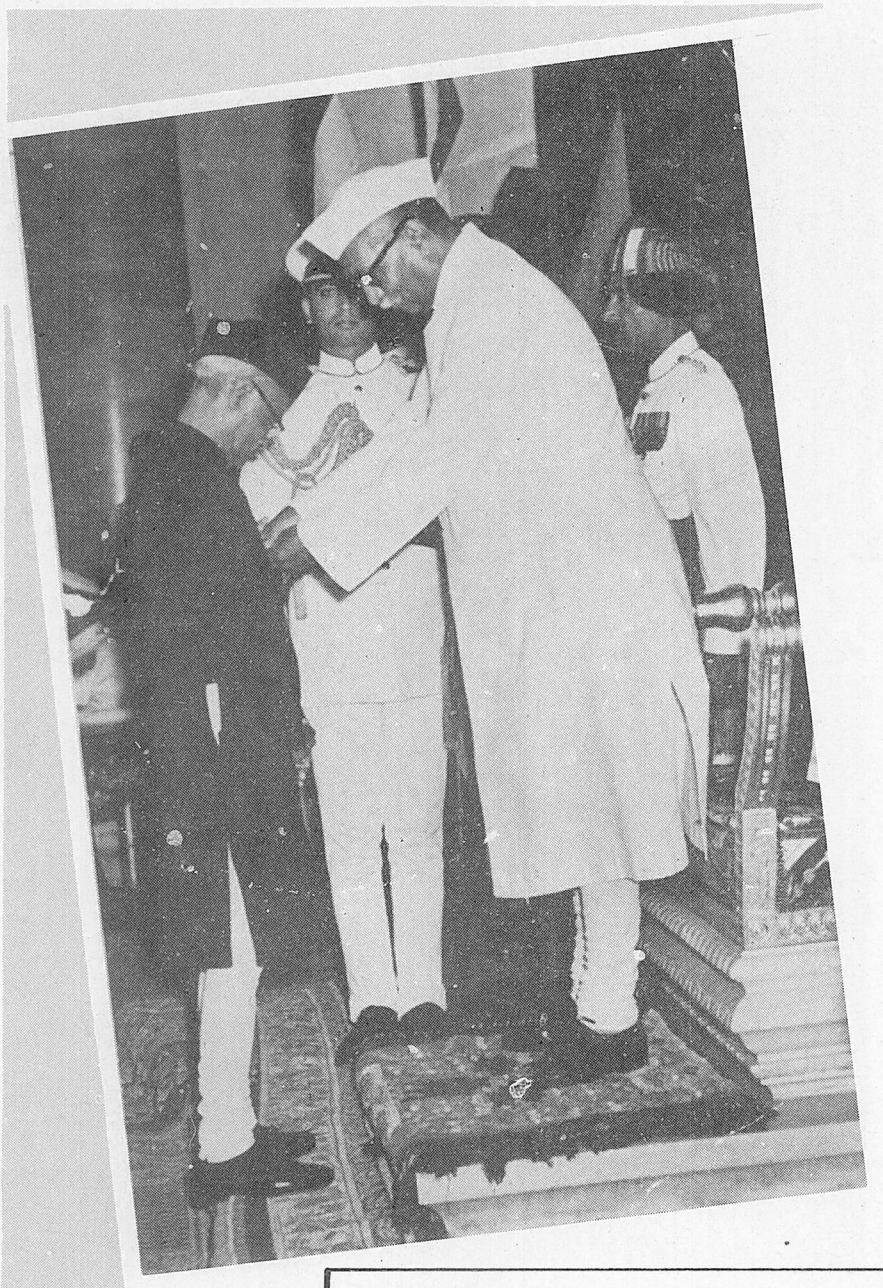

'पद्भूषण' सम्मान का स्वीकार करते हुए
राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद के हाथों राष्ट्रपति भवनमें



वीतरागी आत्मगौरव की मुद्रा में ' पद्मभूषण ' सम्मान स्वीकारने के उपरान्त

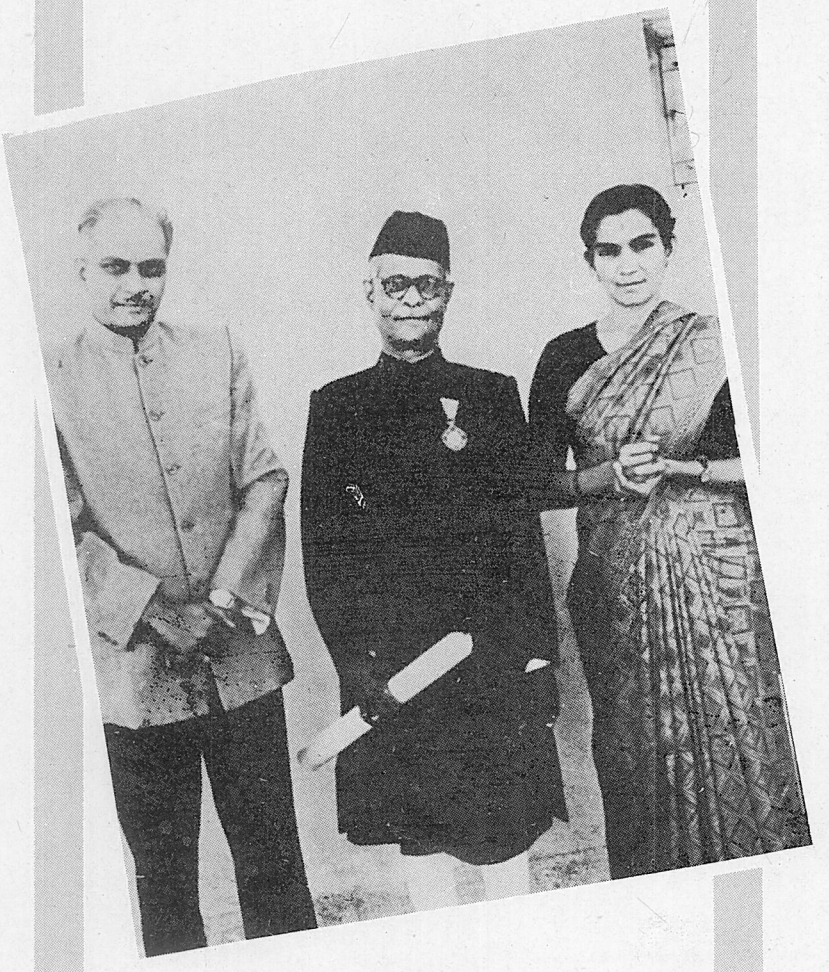

'**पद्मभूषण**' **सम्मान** प्राप्त करने के उपरान्त
सुहृद्वर श्री बैलूर एवं
श्रीमती बैलूर के द्वारा घरेलू स्वागत

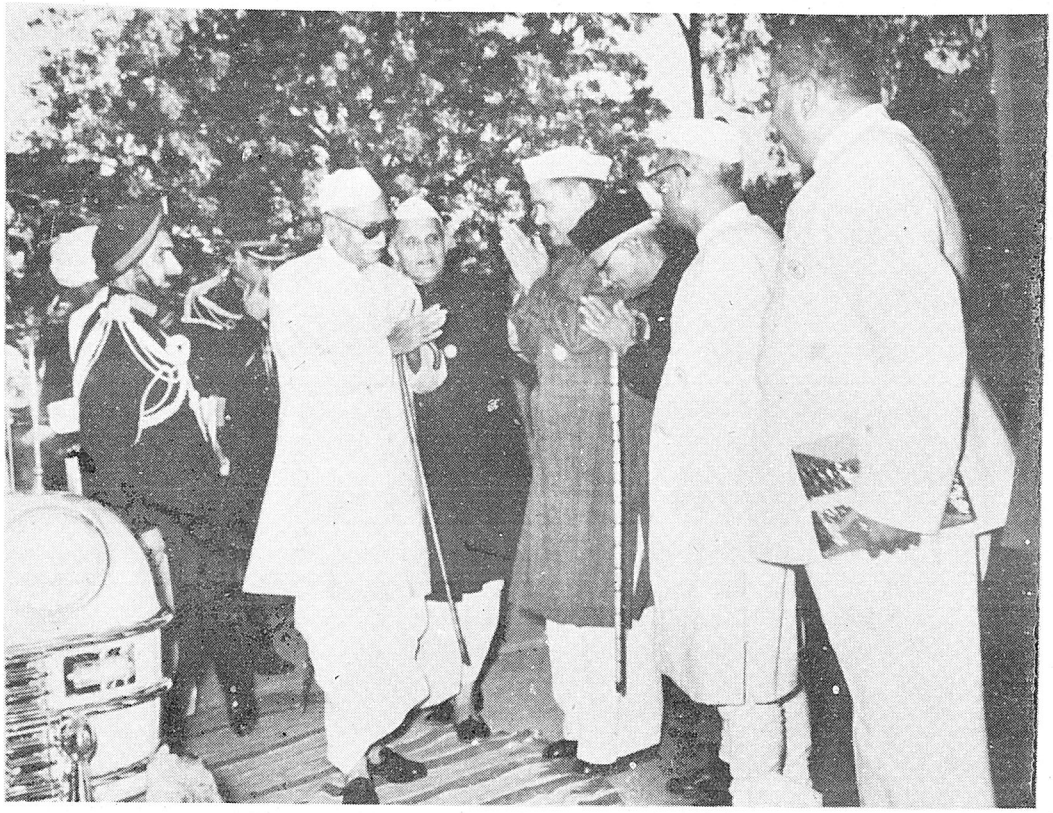

कालिदास समारोह, उज्जैन १९५८ खैरागढ़ विश्वविद्यालय द्वारा मंचित तथा पं. रातंजनकर द्वारा लिखित नाटक का दल राष्ट्रपति राजेंद्रप्रसाद, रातंजनकरजी के बाएं (विद्यमान राष्ट्रपति) डॉ. शंकरदयाल शर्मा, उपकुलपति पं. रातंजनकर के साथ

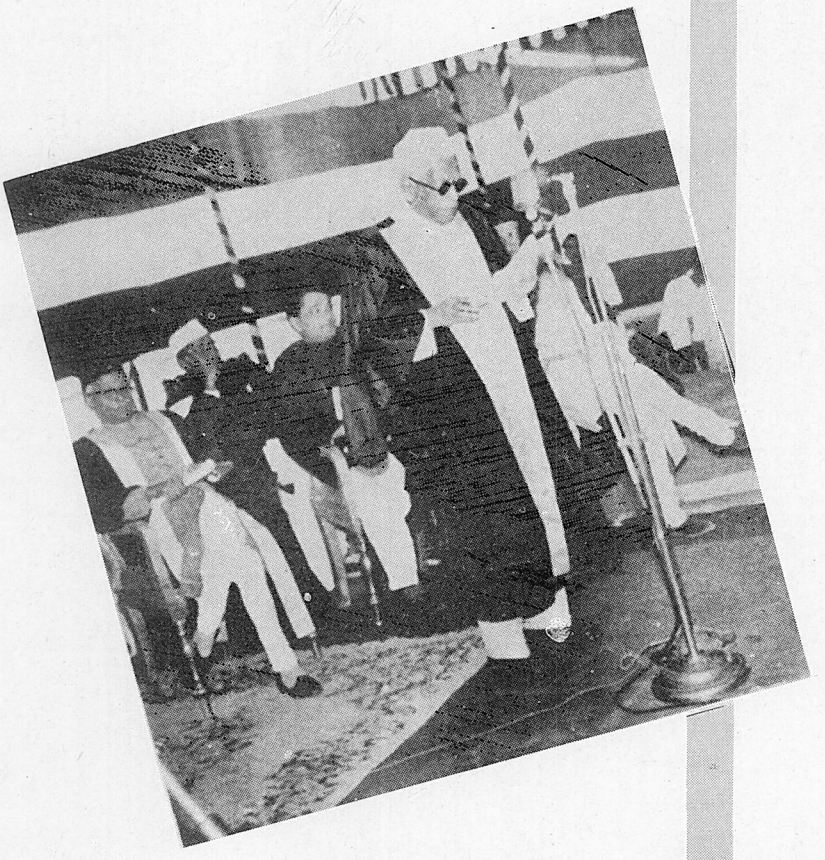

खैरागढ़ विश्वविद्यालय प्रथम प्रमाणपत्र वितरण (१९५९)
के अवसर पर भाषण देते हुए कुलपति (Chancellor)
डॉ. ह. वि. पाटसकर



Sitting on the chair (Left to Right) :
Dagar Brothers, Dr. S.N. Ratanjankar (V.C.), Ustad Vilayat Khan, Shri G.N. Natu, Smt. Rasoolan Bai, Smt. Siddheswari Devi.
Standing : Ustad Yunus Hussain Khan, Shri. K.G. Ginde, Shri A. Kanan, Prof. D.T.Joshi, Prof. V.G. Jog.
Sitting on the Floor :
Dr. (Smt.) S. Mutatkar, Smt. Malabika Kanan, Smt. Meera Banerjee, Smt. Lakshmi Shankar, Smt. Shanta Devi.

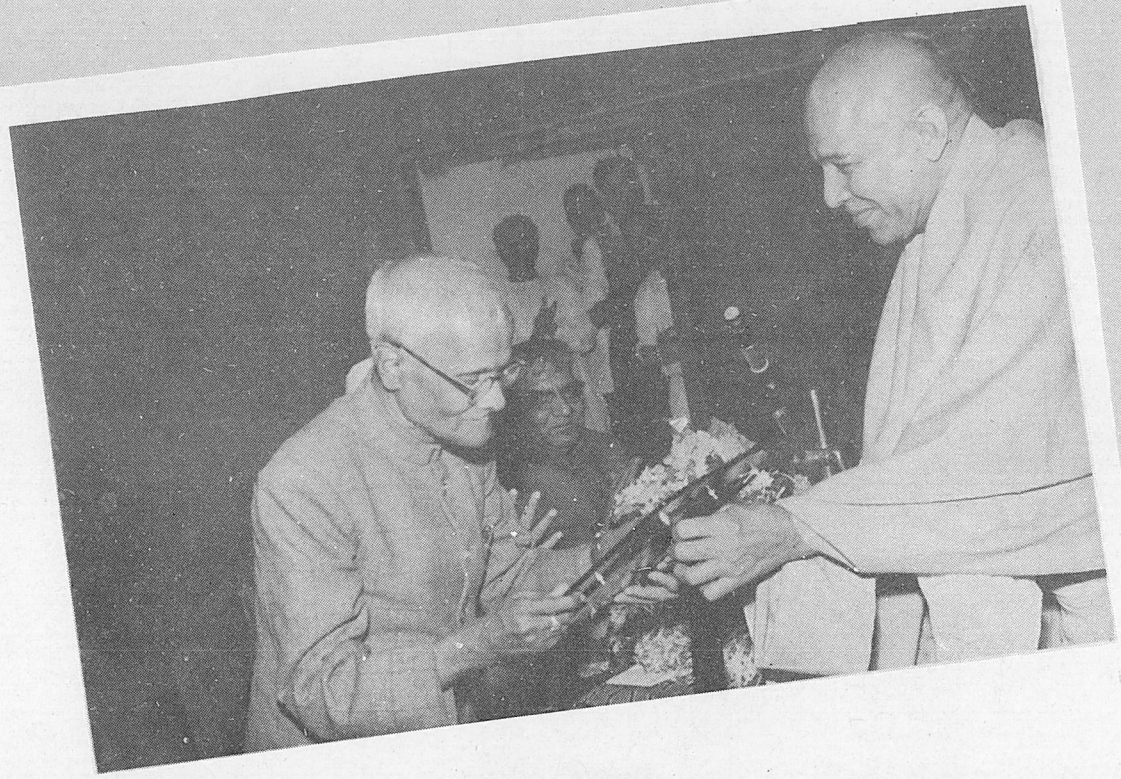

दिल्ली संगीत नाटक अकादमी की 'फेलोशिप' प्रदान हो जाने पर श्रीवल्लभ संगीतालय, बंबई में गुरुबंधु स्वामी श्रीवल्लभदास के हाथों अभिनंदन! (बीच में) श्री सी.पी. गोड़से (भूतपूर्व चैरिटी कमिशनर, महाराष्ट्र)



श्रीवल्लभ संगीतालय सायन, बंबई : १९६५
'नादवंदना' की ओर से उ. फैयाजहुसेनखां की
पुण्यतिथि में श्री सी. पी. गोड़से तस्वीर
को माल्यार्पण करते हुए

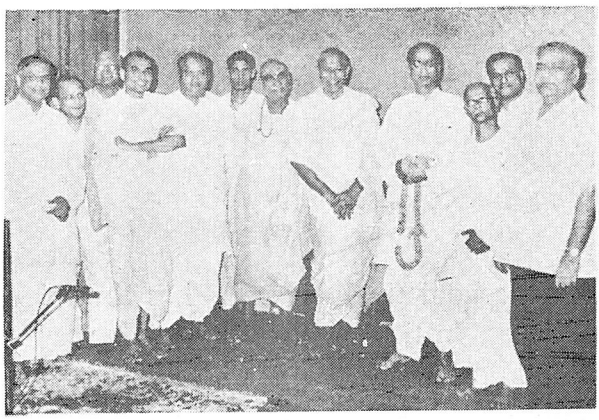

प्रधान अतिथि डॉ. बालकृष्ण केसकर का स्वागत

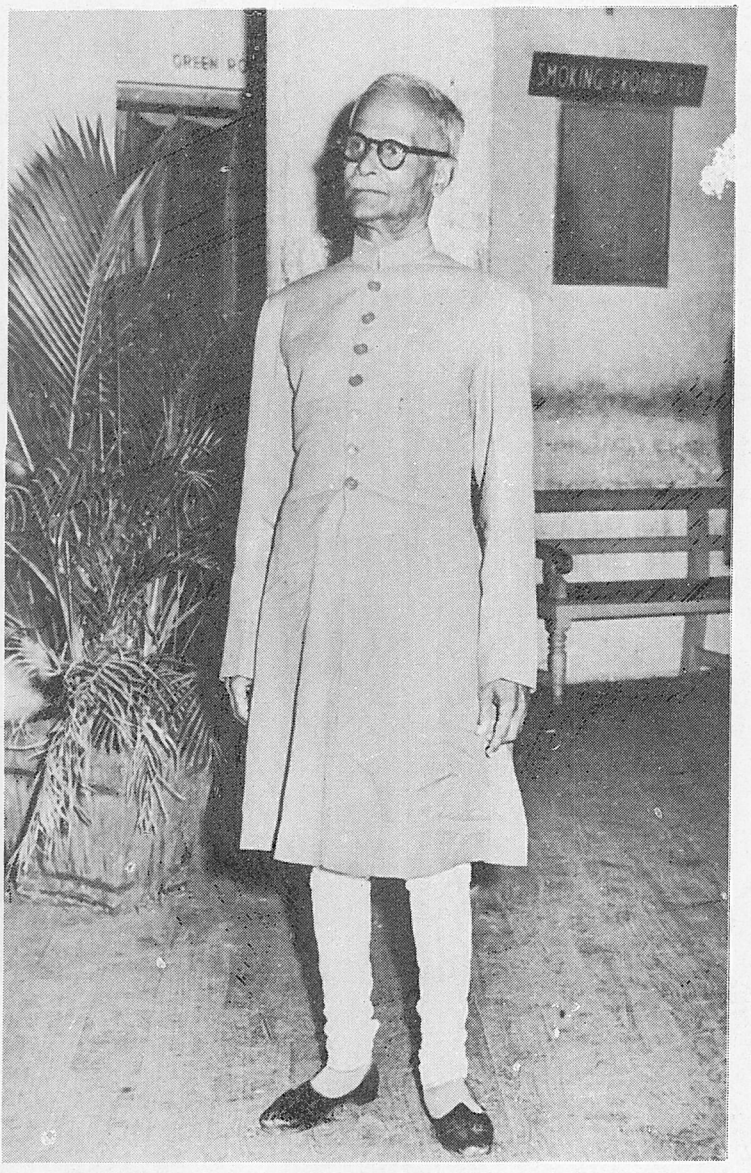

षष्ठिपूर्ति के अवसर पर पं. रातंजनकरजी

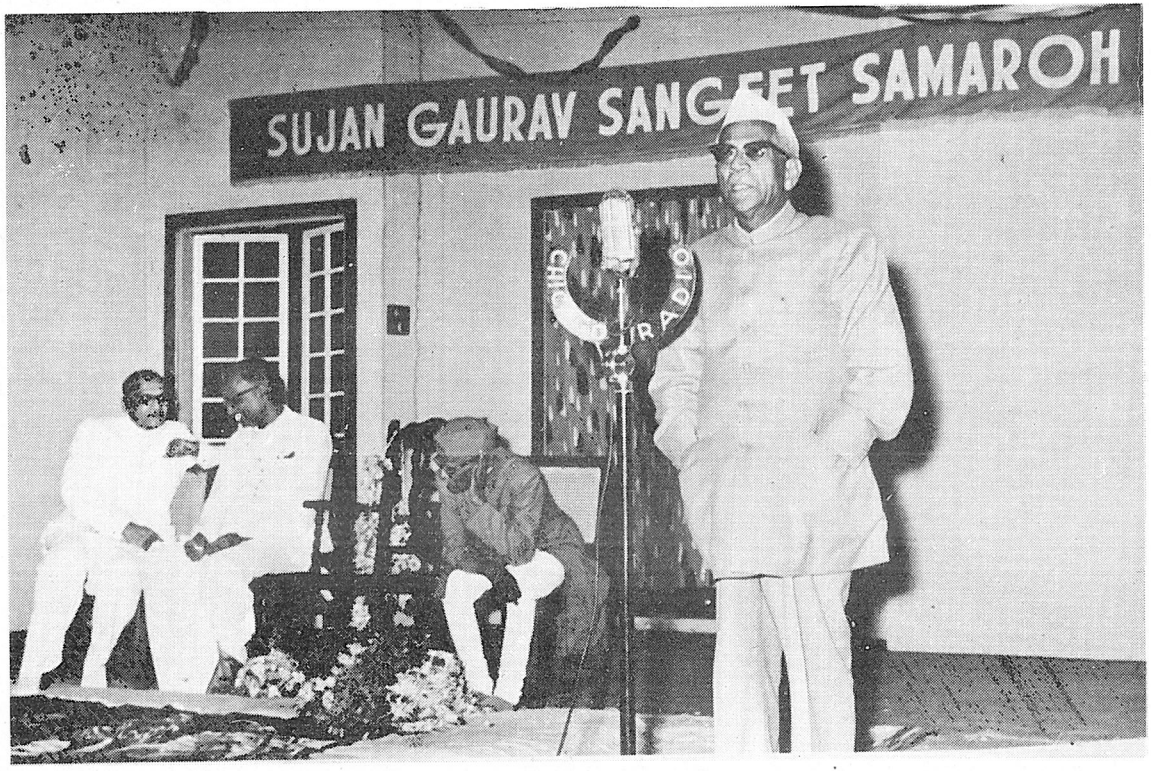

'**सुजान गौरव संगीत समारोह**' राज्यपाल मान्यवर पाटसकर भाषण देते हुए
बैठे हुए (बाएं से) न्यायमूर्ति गोखले, मा. केसकर तथा पंडितजी

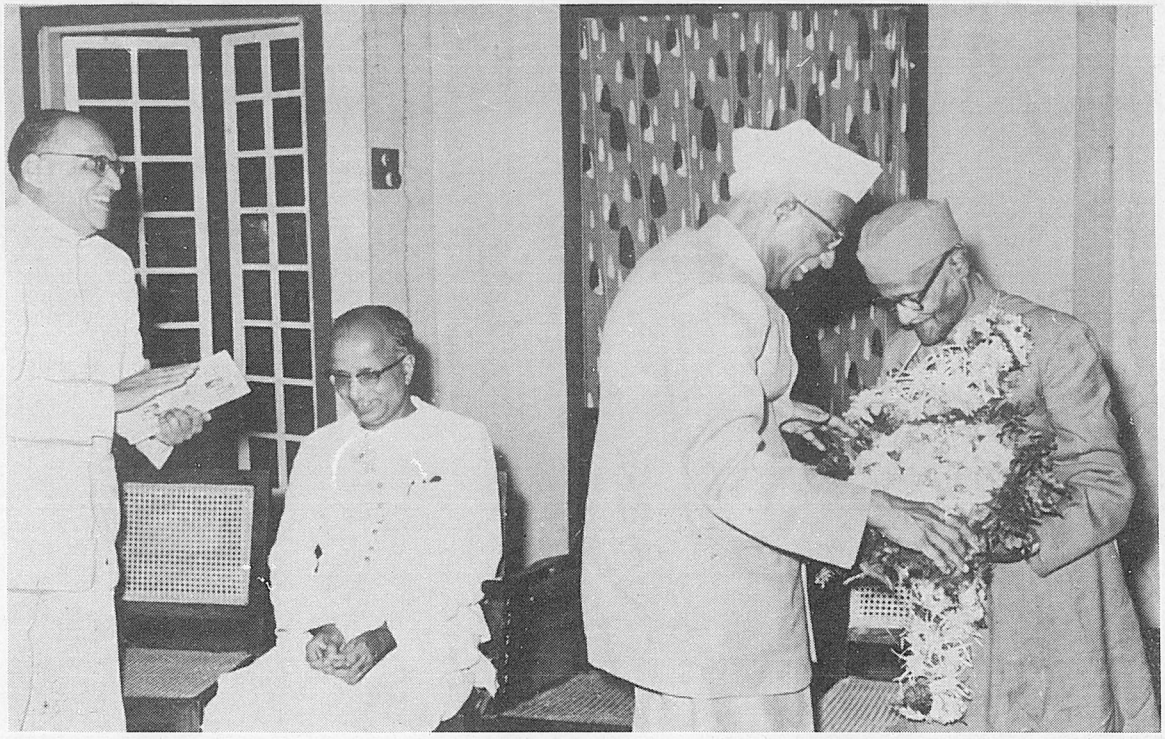

षष्टिपूर्ति समारोह के अवसर पर राज्यपाल पाटसकर जी के हाथों रातंजनकरजी का सम्मान



षष्ठिपूर्ति : उस्ताद विलायत हुसेनखां के हाथों पं. रातंजनकरजी का सम्मान



'सुजान' गौरव संगीत समारोह (१९६१) में गाते हुए किराना गायक पं. बेहरेबुवा; संवादिनी पर पी. मधुकर



'षष्ठिपूर्ति : सुजान संगीत समारोह' में गा रही है श्रीमती सिद्धेश्वरीदेवी अपनी सुपुत्री शांतादेवी के साथ

ऐसी बात जब एक बार मैंने उनसे की तो उन्होंने यमन की दो बंदिशें - जो उनकी स्वरचित हैं - ध्वनिमुद्रित की थीं। वह ध्वनिमुद्रण उनकी गायकी का एक अनुपम नमूना है ऐसा मैं मानता हूं ।

उन्हीं दिनों मैंने अखिल भारतीय संगीत के कार्यक्रम में उनके गाए हुए रामदासी मलार के बारे में उनसे पूछा। मैंने स्व. पिताजी से उस राग को जिस प्रकार सीखा था उससे वह काफी भिन्न था। इसलिए उसके स्वरूप को मैं समझना चाहता था। उन्होंने उस स्वरूप की जानकारी ही नहीं दी, बल्कि ' माधो मुकुंद ' बंदिश भी मुझे सिखाई तथा उसका स्वरलेखन अपने हस्ताक्षर में मुझे दिया ।

'तरल प्रबंधावली' की हस्तमुद्रित प्रति मैंने उनके अभिप्राय के लिए उन्हें भेजी थी। उस बारे में बहुत अच्छा अभिप्राय भेजकर उन्होंने मुझे प्रोत्साहित किया ।

उनकी 'अभिनव गीत मंजरी' में प्रकाशित रचनाएं उनके वाग्गेयकार के रूप में संगीत के लिए अत्यंत श्रेष्ठ योगदान है। उनकी रचनाओं का अध्ययन नई दिशा प्रदान करने में सहायभूत होगा। राग का सुंदर स्वरूप तथा विविध प्रकार की शब्दरचना इन दोनों का अपूर्व संगम उन बंदिशों में दिखाई देता है। ऐसे गुणी एवं विद्वान आचार्य को मैं नम्र भाव से प्रणाम करना चाहूंगा ।

–प्रो. नारायण विनायक पटवर्धन, बड़ौदा

संगीत के श्रेष्ठ एवं विद्वान् प्रोफेसर,
पं. विनायकबुवा के सुपुत्र एवं शिष्य
तथा गायक एवं गुरु

स्मृतियों के संचित पराग

गुरुदेव पं. श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकरजी का लंबा-चौड़ा नाम जब मैंने बाल्यकाल में पहली बार सुना तो ऐसा लगा कि वे अपने नाम के अनुरूप लंबे-चौड़े डील डौलवाले होंगे। परंतु जब इनके प्रत्यक्ष दर्शन हुए तो उन्हें एक छोटा नाटा-सा व्यक्ति पाया। प्रारंभ में उनके कद से बड़ी निराशा हुई परंतु, मैरिस म्युझिक कालेज, लखनऊ में जब वहां के प्रत्येक विद्यार्थी, शिक्षक एवं कर्मचारी में उनके प्रति अगाध प्रेम एवं श्रद्धा देखी तो अपनी धारणा बदलनी पड़ी। धीरे धीरे यह बात समझ में आई कि इनके समान छोटे कदवाले और भी व्यक्ति हुए हैं, जैसे लालबहादुर शास्त्री, नैपोलियन आदि। वे अपने कार्यों से विशालकाय और महान् बन गए हैं ।

मुझे सन १९५४ में भारत सरकार की २५०/- प्रति माह की सांस्कृतिक छात्रवृत्ति संगीत की उच्च शिक्षा हेतु प्राप्त हुई थी। इसके अंतर्गत मैंने रातजंनकरजी से शिक्षा प्राप्त करना प्रारंभ किया। वे एक राग के प्राय: सभी उपलब्ध विलंबित एवं मध्यलय के ख्याल, ध्रुपद धमार, तराना आदि भी सिखाते थे। कुछ राग जैसे यमन, मालीगौरा, खट, बरवा, आदि तो कई बार सीखने को मिले। परंतु इनसे यह कहने की सामर्थ्य किसी भी विद्यार्थी में नहीं थी कि वह राग पहले सीखा जा चुका है ।

गुरुदेव मैरिस म्युझिक कॉलेज भवन के एक कमरे में तीस वर्ष तक अकेले ही रहे। वहाँ इनके परिवार में एक बिल्ली, बंदर तथा एक कुत्ता, रहता था। जो उनका मन बहलाते थे। इनकी देखरेख या तो इनके विद्यार्थी करते थे या फिर मातादीन या रामा नामक इनका भृत्य। वे बहुत ही नर्वस टेंपरामेंट के तथा भुलक्कड़ थे। इन कारणों से, घर बाहर सभी जगह इन्हें अपने साथ देखरेख के लिए, घर का व्यक्ति, विद्यार्थी अथवा भृत्य रखना ही पड़ता था। उनकी यात्राओं में उनके साथ चाय बनाने का सारा सामान एक लकड़ी की जालीदार पेटी में रहता था तथा फर्स्ट क्लास के डिब्बे में स्पिरिट लेंप पर चाय बनती थी। वे अपने सोफा पर तन्मय होकर काम करते रहते थे तथा कभी कभी बहुत देर तक मिलने के लिए आए हुए व्यक्ति को देख नहीं पाते थे। काम करते करते एकाएक इनका ध्यान सामने बैठे हुए व्यक्ति पर जाता था और वे मुस्कराकर इसका स्वागत करते थे। प्रतिउत्तर में दूसरे व्यक्ति को, उनकी मुस्कराहट का जवाब, फौरन मुस्कराहट से देना आवश्यक था। इसमें चूक होने पर उसे उनकी नाराजी सहनी पड़ सकती थी ।

गुरुदेव को विभिन्न भाषाएं सीखने और इनकी पुस्तकें पढ़ने का शौक था। उन्होंने कॉलेज के विद्यार्थियों से ही बंगला, सिंहली और उर्दू भी सीखी थी। वे अपने कार्यालय में कार्य करते रहते थे और ऐसे ही सटे हुए कक्ष में उनके विद्यार्थी अभ्यास भी करते रहते थे। वे अपने कार्यालय से ही बगल के कक्ष में चल रहे रियाज को भी सुनते रहते थे और रियाज में कोई त्रुटि अनुभव करने पर, काम छोड़ कर, सुधार करने पहुंच जाते थे, या फिर पर्ची लिखकर सुधार करने के आवश्यक निर्देश भेजते थे। ऐसी अनेक पर्चियाँ मैंने वर्षों तक गुरुप्रसाद समझ कर सहेजकर रखी हैं। उन्हें समय होनेपर वे तीन-चार घंटे भी सिखाते रहते थे। उन्होंने पाठ्यक्रम, समय या वर्ष की मर्यादा में रहकर कभी नहीं सिखाया। अतः वहांके किसी भी विद्यार्थी ने वहाँ की स्नातकोत्तर 'संगीत निपुण' परीक्षा चार या पाँच वर्ष के पहले नहीं दी ।

यह सर्वविदित है कि वे एक अप्रतिम वाग्गेयकार थे। उन्होंने मेरे गले में तान उत्पन्न करने के लिए, कई तान-अंग के मध्यम ख्याल जैसे यमन में 'करीम करतार', 'हंसध्वनि' में 'हे रिधसिद्धदायक गण नायक' की रचना की ।

अण्णासाहब की शिक्षा-विधि अत्यंत वैज्ञानिक परंतु साथ ही कलात्मक भी थी। वे सिखाते समय राग अथवा बंदिश के एक-एक पुर्जे को अलग करके सिखाते थे और बाद में उन्हें एकत्र कर एक सुड़ौल राग या बंदिश का रूप प्रदान करते थे। इस विधि से चलन की दृष्टि से कठिन लगनेवाले राग या बंदिशें भी आसानी से सीखी जाती थीं ।

आवाज या अभ्यास के प्रति लापरवाह रहने पर भी वे छोटी घरेलू बैठकों में तथा विशेषकर भातखण्डे पुण्यतिथि के बहत्तर घंटे के अखण्ड अनुष्ठान के अंत में इतना उच्च कोटि का श्रेष्ठ प्रदर्शन करते थे कि कई बार श्रोतागण भावविभोर होकर उन्हें घंटों सुनते रहते थे ।

गुरुदेव को जब इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ (म. प्र.) में प्रथम उपकुलपति बनाकर भेजा गया, उन्होंने वि. वि. कार्यालय के स्थापित होने तक महीनों टाइपिंग, डिस्पेच, रिसीट का भी लिपिकीय कार्य स्वयं ही किया। इस वि. वि. की आर्थिक स्थिति खराब होने पर उन्होंने लगभग डेढ़ वर्ष तक पूरा वेतन नहीं लिया अपने वेतन में से ५००/- प्रति माह कटाते रहे। बादमें श्री पी. एन. चिंचोरे ने इस संपूर्ण राशि को 'भातखण्डे स्मृति ग्रंथ' के प्रकाशन हेतु लगा दिया। गुरुदेव चाहे जितनी आर्थिक कठिनाई में रहे हों, परंतु उन्होंने किसीकी

कोई सहायता कभी स्वीकार नहीं की। उनके सान्निध्य में आए इनके शिष्यों ने, इनका ही खाया, नि:शुल्क सीखा और अपने भविष्य का निर्माण भी किया। ऐसे उदार, नि:स्वार्थ गुरु इस कलियुग में दुर्लभ हैं। हम सदैव उनके ऋणी रहेंगे ।

–डॉ. अमरेशचंद्र चौबे
इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़
गायन विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

"आए संत सुजान देत विद्या को दान"

गुरुवर्य स्वर्गीय पंडित श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकरजी को अण्णासाहब अथवा केवल अण्णा से ही संबोधित किया जाता था। महाराष्ट्र से लेकर दक्षिण भारत तक बड़ा भाई एवं अपनेसे बड़ों को अधिकतर अण्णा ही कहा जाता है। स्वयं उनके वरिष्ठ बन्धु स्व. श्री दत्तात्रेय रातंजनकरजी और बड़ी बहन श्रीमती माणिकबाई उन्हें अण्णा कहते थे। अण्णा शब्द का विश्लेषण करें तो सही माने में इसका अर्थ पिता समान बड़ा, एक जिम्मेवार व्यक्ति एवं सारे कुटुंब को आधार देनेवाला व्यक्ति होता है। अण्णासाहब में ये तीनों विशेष गुण मौजूद थे। (१) इस शतक के उत्तरार्ध के सभी संगीतकारों एवं विद्वानों के वह बड़े भाई समान थे। (२) अपने गुरु पं. विष्णु नारायण भातखंडेजी के सांगीतिक कार्य को निष्ठापूर्वक आगे चलाने के वह जिम्मेवार थे और (३) अपने निजी कुटुंब-परिवार के साथ साथ अनगिनत शिष्य गणों के लिए वह एक आधारस्तंभ के समान थे।

अण्णासाहब के सान्निध्य में करीब आठ वर्ष अर्थात् लखनऊ मैरिस म्यूझिक कॉलेजवाले उन्हींके निवासस्थान पर रहने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय मेरी आयु ग्यारह वर्ष की थी। अण्णासाहब का महान व्यक्तित्व एवं महत्ता को जानने की अथवा भांपने की न तो मुझमें बुद्धि थी न शक्ति। यों समझिए कि एक अज्ञानी बालक ज्ञान के अथाह समुद्र के तट पर खड़ा उस विशाल दृश्य को निहारता रहा, निरीक्षण करता रहा। आठ वर्ष उपरान्त जैसे जैसे समय बीतता गया, गुरूवर्य के सान्निध्य में उनके अगाध ज्ञान के प्रकाश से मेरा अंधकारमय अज्ञान दूर होने लगा और ज्ञान के किरण प्रज्वलित होने लगे, वैसे वैसे उस ज्ञान समुद्र की गहराई एवं विशालता केवल एक दृश्य नहीं रहकर उसमें स्थित गरिमा का मुझे अहसास होने लगा। वह एक सामान्य सहृदय व्यक्ति ही नहीं किन्तु ऋषि- समान हैं इसका मुझे परिचयात्मक अनुभव उनके संग में रहकर हुआ। इसमें मेरा काफी समय नष्ट हो चुका था परंन्तु उस महासागर से, आचमन के रूप में भी, जो पा सका, ग्रहण कर सका वह मेरे इस जन्म को सार्थक बनाने में सिद्ध हो सका है और भविष्य के लिए पर्याप्त है ऐसी मेरी पूर्ण धारणा एवं विश्वास है।

अण्णासाहब का संपूर्ण जीवन सांगीतिक रहा। मेरी दृष्टि से गुरूजी ने अपना सर्वस्व जीवनकाल, समय और आकाश का यथार्थ भावार्थ को संगीत में परिवर्तित कर समझाने के प्रयासमें ही बिताया। मेरे अनुभव में ऐसा कोई एक क्षण मुझे याद नहीं जब कि मैंने देखा हो कि अण्णासाहब निश्चिंत होकर, एकान्त में आराम कर रहे हों या किसी हमउम्र व्यक्ति से इधर उधर की गपशप कर रहे हों। स्वर, लय और साहित्य में मग्न मन को इतनी फुरसत कहा कि जीवन के अन्य विषयों पर ध्यान दे सकें। हर समय हाथ में हरे रंग की स्याहीवाला कलम और कागज़ या

कागज़ का टुकड़ा जिसपर जरासा भी कोरापन हो, मानसपटलपर उभरा हुआ स्वरांकन शीघ्र ही कागज पर स्वर-लिपिबद्ध करते समय हम उन्हें देखते थे अथवा सांगीतिक लेख, भाषण एवं पत्रलेखन में व्यस्त पाते थे। न खाने की चिन्ता न पीने की, जिन्दगी में केवल एक ही व्यसन को अपनाया और वह था पान और तमाखू। पढ़ने का शौक बहुत था। रात के दो ढ़ाई बजे तक पढ़ते थे। सांगीतिक विषयों के अतिरिक्त उन्हें अंग्रेजी जासूसी साहित्य अथवा विभिन्न भाषाओं की किताबों को पढ़कर भाषाएं सीखने का भी काफी शौक रहा। मराठी उनकी मातृभाषा रही परन्तु संस्कृत अंग्रेजी, हिन्दी, गुजराती भाषाओं में वे पारंगत थे एवं बंगाली, कन्नड़ तथा ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, बुन्देलखंडी इत्यादि भाषाओं में उनका अध्ययन और रुचि अत्यन्त तीव्र रही।

आयु के छब्बीसवें वर्ष की युवा अवस्था में ही प्राचार्यपद की जिम्मेवारी, परिवार से अलग रहकर छब्बीस वर्ष भातखंडे कॉलेज की एकनिष्ठ सेवा, नि:स्वार्थ मन से शिष्यों को नि:शुल्क विद्यादान करना और मार्गदर्शन देने में सम्पूर्ण आयुष्य लगाना यही उनके जीवन का एकमेव ध्येय और उद्देश्य रहा। इस कारण अण्णासाहब को अपना शारीरिक स्वास्थ्य और उससे जुड़ी अपनी लाजवाब गायन-कुशलता और अपनी आवाज (कण्ठ-स्वर) की सुरक्षितता पर कतई ध्यान नहीं रहा। दोपहर का भोजन दो या ढ़ाई बजे, रात्रि का भोजन दस या ग्यारह बजे, वह भी अत्यन्त निम्न मात्रा में। फिर इन दो भोजनों के बीच, चाय के अनगिनत दौरे चलते रहते थे। नतीजा यह हुआ कि उनकी हमेशा पेट की शिकायत (Gastirc condition) रही। गायक का स्वास्थ्य ठीक न रहे तो कण्ठ स्वर पर उसका बुरा असर पड़ना और उससे मानसिक तनाव इत्यादि होना स्वाभाविक है। गुरुजी का स्वभाव कुछ हठी किस्म का रहा। इसकारण जीते जी उन्होंने अपने हितचिन्तकों के कहने पर भी कभी भी डॉक्टरी इलाज नहीं किया। केवल अपने हठ से ही अपने को स्वस्थ समझते रहे, दिन दूना रात चौगुना कार्य करते रहे। उनको रेलगाड़ी की यात्रा बहुत पसन्द थी। परीक्षक के नाते और रेडियो के ऑडिशन के चक्कर में उन्होंने हिन्दुस्तान का ऐसा कोई भी कोना बाकी नहीं रखा जहाँ रेलगाड़ी जाती हो और गुरुजी वहाँ नहीं गये हों। भरपूर सामान (luggage) के साथ प्रवास करने में आनन्द लेते थे। साथ में एक शिष्य अथवा कोई न कोई व्यक्ति जरूर रखते थे। कई लेख-लेखन एवं रागों में बन्दिशों की रचनाओं की स्फूर्ति का स्रोत रेल सफर ही रहा यह कहें, तो इसमें अतिशयोक्ति नहीं होगी। वख्त बेवख्त खाना, पीना, सोना इन सब बदपरहेजियों के कारण बदन में कमजोरी कायम रही। उसका परिणाम, सिखाते समय अथवा छोटी महफिलों में, आपस के लोगों में एवं शिष्यगणों में उस अभाव को नजर अंदाज किया जाता रहा और अण्णासाहब के बहुमूल्य गुणमान की ओर सभी का ध्यान केन्द्रित होता था और आकर्षक लगता था। परन्तु आम श्रोता एवं आधुनिक तकनीकी साधन (माइक, लाऊड स्पीकर इत्यादि) कंठ की मधुरता के साथ साथ दोषों को भी समान दृष्टि से स्वीकार कर फैलाता है, और वही उसका कार्य है। ऐसी स्थिति में आवाज में खर्राश बारबार आने से श्रोताओं के साथ कलाकार स्वयं बेचैन और अधीर हो जाता है और उसका परिणाम उसकी कला के स्तर पर पड़ना स्वाभाविक है। ठीक यही प्रकार गुरुजी के १९५० के बादवाले कार्यक्रमों में होने लगा, जिसके कारण इस शतक के उत्तरार्धवाले संगीत श्रोताओं को अण्णासाहब का उच्च कोटि का अलौकिक गायन, गुणज्ञान और मधुरता से भरा, सुनने का लाभ नहीं मिला। संगीतकला में उनकी आंतरिक दृष्टि का परिचय सही मानो में नहीं हो सका। खैर, इस दिशा में वह स्वयं निश्चिन्त थे। क्योंकि

गायनकला के वे उपासक थे। इसके द्वारा नाम, ख्याति और वैभव की अपेक्षा से वह सदा वंचित रहे। कार्यक्रमों के द्वारा जो भी धनलाभ होता था वह सर्वस्व रूप में भातखंडे कॉलेज लखनऊ को भेंट-अर्पण करते थे। केवल रेडियो एवं परीक्षक के नाते जो शुल्क मिलता था उसको वह स्वयं स्वीकार कर लिया करते थे, वह भी हम जैसे शिष्यगणों के आग्रह पर। वह निरंतर संगीत की सेवा में कर्मठ संन्यासी का जीवन व्यतीत करते रहे।

अण्णासाहब रियाजी गायक नहीं थे परन्तु गाते समय ऐसा महसूस होता था कि हर राग उनका गुलाम है, रागों के शुद्ध रूपों का रहस्य और उनका सौंदर्य इतनी सहजता से प्रस्तुत करते थे कि मानो सुननेवालों को राग हस्तगत हो जाता था। गुरुजी के साथ गायन में तानपूरे की साथ संगत से मुझे और अन्य शिष्यों को जो उनके निकट सम्पर्क में रहे बहुत कुछ सीखने को मिला। नाद सागर को पार करने की, शक्ति और युक्ति को गायनद्वारा ज्ञानानुभव कराने की प्रबल क्षमता उनमें थी। 'राग' केवल स्वरों के आरोही-अवरोहीकरण की उथलपुथल से नहीं परन्तु रागांग वाक्यों से एवं श्रुतिप्रमाण स्वरों के नियमित आन्दोलनों पर नियन्त्रण रखते हुए सही उच्चारण से उजागर होता है, इस रहस्य का ज्ञान सर्वप्रथम अण्णासाहब से ही हम सबको प्राप्त हुआ। मैंने अच्छे से अच्छे भूतपूर्व तथा आधुनिक काल के कलाकारों को सुना परन्तु उन सबमें ऊपर बताए राग के मूल सिद्धांतों का अभाव पाया। रियाज़ी होने के कारण प्रस्तुतिकरण में दम खम रहा किन्तु राग को अपने अस्तित्व की छाप निखर नहीं पाती थी। फिर बन्दिशों के सहारे अथवा तय्यार सट्टे की तानों के जरिये अल्पज्ञानी श्रोताओं की तालियों से प्रभावित होकर उस्ताद और पंडित का तखल्लुस जोड़कर भले ही नाम और शोहरत हासिल कर लें पर राग उनसे कोसों दूर है, ऐसा जान पड़ता था।

अण्णासाहब का स्वभाव उपरसे जितना तीखा लगता था उतना ही उनका हृदय अंदर से कोमल था। हर सत्यवादी, स्पष्टवादी व्यक्ति का बाह्य रूप उसी प्रकार का होता है यह एक अनुभवित सत्य है। ऐसे व्यक्तियों से पहली बार मुलाकात का कटु अनुभव होना भी स्वाभाविक है। परन्तु जैसे जैसे निकटतम सम्पर्क होता जाएगा वैसे वैसे उन व्यक्तियों कि दैवी गुणों के अनुभव भी आप कर पाएंगे। अण्णासाहब की गणना मैं उन व्यक्तियों में करना उचित समझता हूँ। बचपन से ही गुरुजी से मैं कुछ डरा डरा-सा रहता था। संगीत के संदर्भ में कुछ शंकाओं के प्रश्न उनके सम्मुख रखकर समाधान के दो शब्दों की अपेक्षा रखता रहा परन्तु साहस नहीं हुआ। १९६० से गुरुजी का दिल्ली कई बार आना हुआ और उनका निवास स्थान मेरा ही गरीबखाना रहा। उस समय मैं कुछ साहस जुटा पाया और उन्होंने मेरे हर प्रश्न के उत्तर बड़े ही प्रेमभाव से हल किए और प्रात्यक्षिक उदाहरण देते हुए मुझे समझाए। और उसके बाद १९७१ में मेरा बम्बई आना हुआ और डेढ़ दो वर्ष उनके निवासस्थान पर 'हिल व्यू, राघवजी रोड' उनके दर्शनार्थ मैं प्रात: जाया करता था। उस समय मेरे अनुभव में आया कि गुरुजी के स्वभाव में काफी अंतर आया है। उन्होंने तत्कालीन पार्श्व-आवरण से मुक्त होकर समय की वास्तविकता को समझकर स्वीकारा है। वह दिल खोलकर मुझसे समसमान की दृष्टि रखते हुए बहुत कुछ कहना चाह रहे हैं और यह रवैया कई दिनों तक रहा। बातचीत के दौरान मेरी कई सांगीतिक समस्याओं के संतोषजनक उत्तर मुझे मिले जिन्हें मैं आजन्म याद रख पाऊं तो यह मेरा सौभाग्य समझूंगा। केवल सांगीतिक विषय पर नहीं पर अध्यात्मिक विषयोंपर गुरुजी के चिंतन के अवशेष मुझे जाननेको मिले और उन विचारधाराओंका विस्मय होनेसे पूर्व मैं, अपनी बन्दिशों में उन विचारों को गठित करने की कोशिश कर पाया हूं। उसका एक उदाहरण इस भक्तिपरक रचना

का प्रयत्नमात्र है :-

सारा जग लूटा, साईं नाहीं लूटा।
हाथ लागा सब टोटा ही टोटा।।सारा.।।
साईं गुन जपमें, भरा है नफा नफा।
नाहीं लागे दौलत नाहीं होवे घाटा।।सारा.।।
चाहे साईं कहलो, चाहे ईसा कह लो।
चाहे श्याम कहलो जाए एक खाता।।सारा.।।
चाहे राम कहलो, रहीम चाहे कह लो।
चाहे जो भी कह लो पर एक नाता।।सारा.।।
देख्या 'दिनरंग', लहू रंग जीव एका।
वही रंग करता, वही रंग दाता।।सारा.।।

इस भक्तिपद की रचना की स्फूर्ति अथवा स्रोत मेरे और गुरुजी के बीच गपशप के बाद जो प्रेरणा मिली उसका फल है।

युगपुरुष अण्णासाहब के निधन के पश्चात् कुछ समय बाद मुझे राग 'जोग' गाने की मन में उत्कण्ठा पैदा हुई। परन्तु गुरुजी भी इस राग को कभी गाए नहीं थे और इसमें कोई बन्दिश भी मुझे याद नहीं थी। तालीम बगैर और गुरुजी के मुख से सुने बिना इस अछोप राग को गाना भी मैंने ठीक नहीं समझा। परन्तु मेरे मन की पुकार गुरुजी ने सुन ली। एक रात, मध्यरात्रि के दो बजे अण्णासाहब मेरे स्वप्न में आए और राग 'जोग' का सम्पूर्ण ज्ञान देकर लुप्त हुए। मेरी नींद टूटी और मैंने अपने को अत्यन्त आनन्दमय वातावरण में पाया। उस समय प्रात: चार बजे थे। मैंने तुरन्त तानपूरा उठाया और जो भी स्मरण था, रियाज करना आरम्भ किया। करीब एक घंटे तक आलाप करने के बाद जो पंक्तियां सूझीं (मानो कोई Prompt कर रहा हो) गाने लगा :-

"आए संत सुजान, देत विद्याको दान,
भनकत मेरे कान, सुपने में आन"

इस पंक्ति को स्थायी का रूप देकर एक घंटाभर गाकर, फिर मैं दुबारा सो गया। रात को रियाज के समय फिर एक बार इसी पंक्ति को गाया और तुरन्त अन्तरे के बोलों ने जन्म लिया :-

"कित बड़ भाग, जागे सबनके,
ज्यों प्रसाद पाए, 'दिनरंग' सुजनसों आज।"

और सचमुच गुरु प्रसाद समझकर मैंने जहां जहां भी यह राग और यह बन्दिश गाई वह महफिल कामयाब और यशस्वी रही। ऐसे महापुरुष हर समय स्वर्ग से उतरकर मेरे स्वप्न में आते रहें और मेरे अज्ञान को मार्गदर्शन देकर दूर करते रहें यह मेरी इच्छा ईश्वर से प्रकट कर, अण्णासाहब के प्रति यह मेरा आत्मचिन्तन समाप्त करता हूं।

—पं. दिनकर कायकिणी
—आचार्य रातंजनकरजी के चुनिंदा शिष्यों में एक।
श्रेष्ठ गायक, रचनाकार एवं गुरु।
संप्रति बंबई के 'संगीत तथा नर्तन शिक्षा पीठ' के मानद निदेशक।

समदर्शिता

स्व. अण्णासाहब से मेरी पहली मुलाकात इलाहाबाद रेड़ियो के उद्घाटन के तुरंत बाद ही हुई थी । मेरे रेडियो के ग्रेडेशन में 'अण्णासाहब' और पं. विनायकराव पटवर्धनजी ही थे । उन दिनों सामने बैठकर प्रदर्शन और ग्रेडेशन किया जाता था । इस मुलाकात के बाद बरसाहाबरस मैं लखनऊ आता रहा और हमेशा उनसे संपर्क बना रहा ।

दिल्ली के एक जलसे में उस्ताद फैयाजखां के साथ मुझे तबला-संगति का अवसर मिला था । उनके पीछे तानपूरे पर 'अण्णासाहब' थे । कार्यक्रम के अंत में खांसाहब ने तो मुझे तारीफ से नवाजा ही परंतु 'अण्णासाहब' ने मुझे प्रशंसा के जो दो शब्द कहे वे मेरे लिये बड़े प्रोत्साहन की बात थी क्योंकि वे जल्दी किसीकी तारीफ नहीं करते थे ।

'अण्णासाहब' एक बहुआयामी व्यक्तित्व के अनन्य संगीत-सेवी रहे हैं । एक रचनाकार, एक गायक, एक अनुशासनप्रिय प्रधानाचार्य, एक प्रबुद्ध एवं विचारवान लेखक, एक सहज और सहृदय शिक्षक के रूप में वे हम सबको हमेशा याद रहेंगे

— डॉ. लालजी श्रीवास्तव
डाइरेक्टर, प्रयाग संगीत समिति, इलाहाबाद

गान-कौशल, भाषाप्रेम तथा दार्शनिक-सा स्थिरमतित्व

मेरे व्यवसाय के कारण सन १९५७ के अप्रैल से १९६४ के अप्रैल तक मुझे लखनऊ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । हिंदुस्थानी संगीत का आकर्षण होने के कारण उस काल के अंतर्गत मैं भातखंडे संगीत विद्यापीठ से संगीत की शिक्षा ग्रहण कर रहा था । उसी समय सन १९५९ के दिसंबर माह में श्रद्धेय गुरुदेव पं. श्रीकृष्ण रातंजनकर ऊर्फ अण्णासाहब से परिचय हुआ । पंडितजी उस समय परीक्षक के रूप में खैरागढ़ से लखनऊ पधारे थे । परीक्षाएं समाप्त होने के पश्चात् रात को साढ़े आठ बजे से लेकर साढ़े बारह बजे तक भातखंडे संगीत विद्यापीठ की ओर से विद्यापीठ के संग्रह के लिए अण्णासाहब के रेकॉर्डिंग करने का कार्यक्रम निश्चित किया गया था, जिसके लिए मुझे तानपूरा बजाने की आज्ञा हुई थी । रेकॉर्डिंग के समय एक बंद कमरे में तानपूरे पर मैं और मेरे एक कक्ष-साथी तबले पर श्री रामकुमार शर्मा, रेकॉर्डिस्ट श्री बेनीमाधव त्रिपाठी और स्वयं गुरुदेव अण्णासाहब को मिलाकर पांच व्यक्ति उपस्थित थे । यह कार्यक्रम लगातार आठ दिन तक चलता रहा । अण्णासाहब हर रोज रेकॉर्डिंग के दस मिनट पूर्व उपस्थित रहते थे । कमरे में आने के बाद अण्णासाहब श्री त्रिपाठीजी से पूछते थे - "हां, कहिए, आज मुझे क्या गाना है?" श्री त्रिपाठी अण्णासाहब को सिर्फ उसी समय बताते थे कि उन्हें फलाने रागों की रेकॉर्डिंग करनी है । पूर्व सूचना के बगैर इस प्रकार रेकॉर्डिंग के लिए रोज आठ दिन तक गाना मेरे विचार से केवल अण्णासाहब की योग्यता के लिए ही संभव होगा ।

सन १९६५ के दिसंबर महीने के दरमियान सौभाग्यवश मुझे आदरणीय अण्णासाहब के साथ बंगलूर, मद्रास, नई दिल्ली, लखनऊ और खैरागढ़ जाने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ। एक दिन बंगलूर में गुरुवर्य अण्णासाहब को कन्नड़ सीखने की इच्छा हुई। उन्होंने मुझे 'चंदामामा' का

एक कन्नड़ और एक मराठी अंक खरीद कर लाने के लिए कहा। बाद में उन्होंने कुछ ही घंटों में कन्नड़ लिपि को समझ लिया और तत्पश्चात् चंदामामा के दोनों अंकों के आधार पर केवल एक दिन में कन्नड़ भाषा सीख ली। बंगलूर से मद्रास की यात्रा के दौरान उन्होंने कन्नड़ भाषा में तीन कहानियों की किताबें पढ़ लीं।

सन १९७४ के अप्रैल महीने की बात है, जब गुरुवर्य अण्णासाहब डोंबिवली में मेरे निवास-स्थान पर चार दिन के लिए रहने आए थे। एक दिन शाम को किसी अन्य विषय पर बातचीत के दौरान एकदम-सा उन्होंने मुझे कुछ लिखने के लिए कहा। कुछ ही पलों में उन्होंने बिना गाए स्वरलिपि के रूप में झपताल की एक बंदिश लिखवाई और मुझे गाने को कहा। बंदिश गाने के बाद मैंने कुतूहल के नाते झिझकते हुए गुरुवर्य अण्णासाहब से पूछा कि यह कुछ तीव्र मध्यम की दुर्गा के समान दिखाई देता है। तब मुस्कुराते हुए उन्होंने कहा - "हां, ऐसा ही कुछ समझो और इसीलिए उसे 'हिमनंदिनी' या 'श्यामली' (हिमालय की पुत्री याने दुर्गा का दूसरा स्वरूप) कहना ठीक होगा। आश्चर्य की बात तो यह कि मेरे साथ किसी अन्य विषय पर बातचीत करते समय उनके मन में उसी समय नए राग और बंदिश की निर्मिति के विचार चल रहे थे। तो इस प्रकार श्रद्धेय अण्णासाहब 'चतुर पंडित' के 'चतुर शिष्य' ही कहने योग्य हैं।

अत: सन १९५९ से १९७४ तक (उनके अंतकाल तक) उनके सान्निध्य में रहकर उनके सांगीतिक और आध्यात्मिक विचार, कलात्मक दृष्टिकोण और रचनात्मक कार्य-कलापों को अंतरंग रूप से जानने और समझने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ। सेवा तथा परिश्रम करते हुए यश की कामना से दूर रह कर सुख अथवा दु:ख दोनों में ही समभाव से रहना- उनके जीवन का एक ध्येय और आदर्श था, जिसका प्रमाण मुझे उनके सान्निध्य में रहकर प्राप्त हुआ।

बंदिश के माध्यम से वे अपने आपको कभी कभी उपदेशात्मक बातें कहते थे जिसका एक उदाहरण राग जैतकल्याण में उनकी एक रचना (लक्षण-गीत) द्वारा दिया जा सकता है। झपताल में इस बंदिश के बोल हैं - 'मनको निग्रहित जैते होवे कल्याण, पांचों किये शुद्ध 'स'- 'प' वाद संवाद।' सर्वसाधारण अर्थ से इस बंदिश द्वारा राग जैत कल्याण के लक्षण बताए गए हैं, जैसे कि मध्यम और निषाद वर्जित करके 'सारीगधसां' इस प्रकार के आरोह-अवरोह में जब षड्ज-पंचम वादी-संवादी होगा तब वह जैत कल्याण का स्वरूप धारण करेगा। परंतु सूक्ष्म आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अण्णासाहब ने इसमें मनुष्य के जीवन का सारांश बताया है। आध्यात्मिक दृष्टि से उनको कहना है कि मन को निग्रहित करने से कल्याण होगा, और पांचों इंद्रियों को शुद्ध करने से स्वरूप ('स') और परमेश्वर ('प') में संवाद होगा। उसी प्रकार पूरी संगीत-साधना का तत्त्व आपने स्वकृत राग सुरंजनी की एक बंदिश में निचोड़ दिया है, जिसके बोल हैं–

सुरन बीच सोहे प्रथम खरज,
रागन बीच भैरव राग प्रथम,
ध्रुपद सोहे सबहुं गीतन मों।
खरज साधे, साधे कंठ स्वर,
साधे भैरव, राग साधे सब,
गीत साधे, ध्रुपद साधनसों॥

ऐसे कर्मठ नि:स्वार्थ कला-योगी का चिंतनशील जीवन तथा उदात्त कर्तव्य एवं संकल्पों का समन्वय राग भैरवी में उनकी एक रचना द्वारा प्रतिबिंबित होता है जिसके शब्द इस प्रकार हैं -

बिन करतब कस जीवन तेरो,
नरतन अमोल पायो जगमों,
कुछ कर काज 'सुजन' उपजु गत।
शुद्ध चरित रखि निरमल तन मन,
कीजो दु:खित कष्ट निवारण
देश समाज बिबुध जन सेवा,
कर सारथक मनुख जीवन नित॥

– श्री वाय.एम. महाले, बंबई
भातखंडे कॉलेज के स्नातक,
आ. रातंजनकरजी के काफी निकट रहे।

अविस्मरणीय गान-कौशल और व्यक्तिविशिष्टता

संस्मरण-१

नवीन प्रयोग का एक उदाहरण प्रस्तुत है :- भातखंडे जयंती के पावन अवसर पर अण्णासाहब को एक जुगलबंदी कार्यक्रम का विचार आया। उनका आदेश हुआ कि स्व. सखावत हुसैन खांसाहब का सरोदवादन, उनके साथ, उनके पट्टशिष्य स्व. रसिकबिहारीलाल द्वारा हो तथा तबले की संगत स्व. पं. सखारामजी एवं उस्ताद मुन्नेखां साहब के पट्टशिष्य डी.पी. जौहरी द्वारा प्रस्तुत की जाए। मैंने १९६० में तबला-विशारद की उपाधि ग्रहण की ही थी कि अगले वर्ष यह कार्यक्रम निर्धारित हुआ। मेरी परीक्षा अण्णासाहब स्वयम् सुन चुके थे। अपनी युवा अवस्था में इस आदेश को सुनकर मैं नाड़ी-हीन हो गया। वे मुझे निर्जीव अवस्था में देखकर बोले, "वैज्ञानिक, क्या हुआ?" मैंने कहा "सर, मैं तो उस्ताद मुन्नेखाँ का शिष्य हूं, पंडित सखारामजी के साथ बैठना मेरे लिए उचित नहीं प्रतीत होता। अण्णासाहब ने तुरंत मेरी पीठ पर हाथ रखकर स्नेहपूर्वक कहा, "तुम तो वैज्ञानिक हो, तुम्हें संकोच क्यों है?" मैंने कहा, "संकोच का कारण पं. सखारामजी के साथ, तबला बजाने में है। मैं इतने प्रतिष्ठित गुरु के साथ बैठकर तबला बजाना उनका अपमान करना समझता हूं।" मुझे पुन: रोककर अण्णासाहब ने कहा, "गुरु का स्थान केवल गंडा बंधाने से ही नहीं होता, पंडितजी तुम्हारे गुरु के समान हैं। तुम इस महाविद्यालय के छात्र रहे हो, क्या हर्ज है? जाओ, आज्ञा लो और बजाओ।" उनका वह उत्साहवर्धक आदेश मुझे आजतक स्मरण है। कार्यक्रम के अंत में अण्णासाहब एवं उस्ताद सखावत हुसेनखां साहब तथा पं. सखारामजी ने स्नेहमय आशीर्वाद दिया। अण्णासाहब ने भी पुन: कहा- "हो न वैज्ञानिक!"

संस्मरण-२

अण्णासाहब के गायन में राग की आकृति एवं प्रकृति दोनों ही का समन्वय होता था। कभी-कभी वे बड़े मूड़ में आ जाते थे। भातखंडे जयंती के अवसर पर कार्यक्रम का समापन उन्हीं के द्वारा हुआ करता था। मुझे वे 'साइंटिस्ट' के नाम से संबोधित करते थे। मंच पर बैठकर पहले पहल वे श्रोताओं को देख लेते थे। उनको यह जानने में देर नहीं लगती थी कि श्रोताओं का क्या स्तर है। स्वर में मिली हुई तानपूरों की जोड़ी को वे फाइनल टच बड़े प्रेम से देते थे। संगीतकारों को स्नेहमयी मुस्कराहट से स्वागत करते हुए अपनी तर्जनी उंगली से संकेत देते थे अर्थात् जिसको संकेत किया उसका आशय उस व्यक्ति से होता था जो उनके साथ संगत करेगा। हम सब लोगों को उनके संकेत की प्रतीक्षा रहती थी जैसे कोई लाटरी निकलनेवाली हो। छात्रों में मैं ही भाग्यशाली था जिसे वे तबले पर बुलाते थे। रचना 'भवानी-दयानी' का गायन उनके द्वारा एक अनूठी छबि लिये रहता था। झपताल में निबद्ध यह रचना सभी को बड़ी प्रिय थी। मैं तबले पर था। गाते गाते झपताल के मध्य-लय में मैंने ताल की दसवीं मात्रा के अक्षर 'ना' पर बल दे दिया। अण्णासाहब एकदम 'अलर्ट' हो गए। मुझे देखा, मुस्करा दिए। बस फिर क्या था! प्रकार-प्रकार के अनागत के रूप प्रस्तुत कर दिए उन्होंने। थोड़ा-सा भी लयकारी का प्रदर्शन कर दीजिए और फिर देखिये उनके द्वारा उसका गायन में व्यवहार। इस प्रयोग-उपयोग का व्यवहार हम सब में रोमांचकारी प्रेरणा जाग्रत कर देता था। शिक्षक-गणों एवं विद्यार्थियों में इस उत्तेजन का बड़ा ही अनुकूल प्रभाव पड़ता था। दूसरे ही दिन से हम सबको गुण-ग्रहण एवं अभ्यास की लौ लग जाती थी। बड़े ख्याल की रचनाओं में अंतिम एक या दो मात्राओं में तैयारी से बोलों की तबले पर कुशलता एवम् कर्णप्रियता में व्यवहार करने पर सम दिखाने को वे अधिक सराहते थे, शब्दोच्चारण होता था "वाह! क्या बात!" अंतिम मात्राओं पर झपटके तान लेकर सम पर आना उनके द्वारा बड़ा प्रिय एवम् मनोभावन प्रतीत होता था।

एक बार बड़े ख्याल एक ताल में मैंने अंतिम मात्रा पर धीरे से 'तीन धा' लगाकर उन्हें संबोधित किया। अब तो रंग आ गया। मुस्कुराते हुये इस 'तीन धा' के, रचना के शब्दों द्वारा अनेक रूप, प्रस्तुत कर दिए उन्होंने। जब जब मुझे उनका आदेश संकेत द्वारा होता था मैं कोई न कोई क्रिया करके उनका आशीर्वाद अर्जित कर लेता था। श्रोताओं में से संकेत द्वारा मुझे छेड़खानी करने का अनुग्रह होता था। मैं भी समय की खोज में रहता कि कब अवसर मिले तो धीरे से स्वीच दबाऊँ। कभी कभी उनकी तानों के साथ लय-वजन के अनुरूप तबले पर बोल-समूह द्वारा कोई मोहरा लगाता था, तो उद्‌गार निकलते, "वाह! क्या बात है!" ऐसा उत्साहवर्धक प्रोत्साहन देना हर किसी व्यक्ति से अपेक्षित नहीं। आचार्यजी महाविद्यालय में रहते हुए अपना दायित्व भली प्रकार निभाते थे। उनके व्यक्तित्व में ऐसा आकर्षण था कि उनके सामने आते ही अनुशासन का बोध हो जाता था।

संस्मरण-३- 'बंदर प्रसंग'

अण्णासाहब ने किसी समय एक बंदर पाला था। सभी जानते हैं कि विश्वविख्यात वैज्ञानिक चार्लस् डारविन के अनुसार आज का मानव उसी वंशपरंपरा का सदस्य है। वर्तमान युग में बंदर का सहयोग कई विषयों में सिद्ध हो चुका है परंतु रामायण-काल के बंदरों के समान

वह अभी भी नहीं है। आपरेशन-कक्ष में सर्जन के साथ बंदर की भूमिका एक विशिष्ट महत्त्व रखती है। यही विचार संभवत: अण्णासाहब के भी मस्तिष्क में आया होगा। परिवार-सहित जीवनयापन करते ऐसे व्यक्ति को अकेलापन दूर करने का इससे अच्छा साधन क्या हो सकता है? राम के प्रति भक्तों में श्री हनुमान एवम् श्री सुग्रीव के स्मरण करने से जो भक्ति-भाव दर्शाया गया है, वर्तमान में उसकी छाया का एक उदाहरण अण्णासाहब के सहयोगी बंदर का भी है। मैंने जैसा प्रतीत किया वह एक रोमांचकारी दृश्य है, परंतु वास्तविकता इसके विपरीत है जिसका आभास एक परिवाररहित व्यक्ति को ही हो सकता है, अन्यको नहीं। बंदर की क्षमता का अनुमान सरकस से लग सकता है। अण्णासाहब भी इसी आधार पर बंदर की संगत किया करते थे। दोनों में एक समन्वय था। समय-समय पर एक दूसरे को मानसिक प्रसन्नता का सहयोग प्राप्त होता था।

अण्णासाहब अपने कक्ष में मेज पर बैठे बंदर को गाना सुना रहे थे। मैं बाहर से झांक रहा था। बंदर चुप बैठा था। कभी-कभी आंखें मूंद लेता था। अनायास अण्णासाहब ने गाना रोक दिया; बस बंदर तुरंत उनके समीप आकर एक हाथ में खुरचने लगा। उनकी तानों की दाद वह बंदर अपना मुँह ऊपर उठाकर गोलाकार क्रिया द्वारा दिया करता था तथा अपना आनंद प्रकट करता था, ऐसा था वह बंदर। अण्णासाहब उस बंदर को अपनी गोद में भी बिठाया करते थे। उसे कंधे पर बैठा कर प्रांगण में टहलते थे। प्रत्येक खाद्य पदार्थ जो अण्णासाहब खाते थे वे उसे खिलाते थे। जंजीरबंधा वह बंदर मानो उनका परम सहयोगी एवं मित्र हो। बंदर मेज पर बैठा कुछ खा रहा था, पास ही तखत पर अण्णासाहब तानपूरा लेकर गा रहे थे। गायन एवं तानपूरा दोनों रुक गए। बस बंदर उनके निकट आकर अपने हाथ से तार झनझना देता, संकेत था कि बजाइये और गाइये। ऐसा था वह बंदर।

— डॉ. देवेंद्र प्रताप जौहरी, लखनऊ
वाद्यविशारद, प्रवीण, एम.एस्सी., पीएच.डी. (कृषि)

राग एवं बंदिश-रचना का अनोखा करिश्मा

जब मैं संगीत का विद्यार्थी था तब मेरे गुरुजी ने अभोगी राग में एक मध्य लय की बंदिश सिखाई। बंदिश के अंतरे में 'देखी सुजन मन मोही गयो अत' पंक्ति गाई। बंदिश में स्वर, लय और भाव का त्रिवेणी संगम देखकर मुझे सदारंग और अदारंग की भांति प्रतिभासंपन्न 'सुजान' का आभास हुआ और प्रत्यक्ष रूप से मिलने की इच्छा हृदय में जागृत हुई।

बंबई में गुरुवर्य स्वामी श्रीवल्लभदासजी के सान्निध्य में और डॉ. के.जी. गिण्डे तथा श्री. भटसाहब के पास मेरी संगीत की शिक्षा चल रही थी। एक बार स्वामीजी रियाज कर रहे थे और उनके साथ एक और आवाज आ रही थी। मुझे ठीक से याद है कि राग झिंझोटी में 'मेरो मन सखी हर लीनो सांवरिया ने' यह बंदिश चल रही थी। मैं मंत्रमुग्ध होकर सुनता रहा। किंतु अंतरे की चाल इतनी टेढ़ी थी कि वह प्रयास के बावजूद मेरे दिमाग में बैठती नहीं थी। दोनों महानुभावों का रियाज पूर्ण होने पर मैंने प्रयाण किया। सामने बैठे हुए व्यक्तित्व की ओर संकेत करते हुए स्वामीजी ने बताया कि आप संगीताचार्य श्री. रातंजनकरजी 'सुजान'

हैं। बस, इतना कहना था कि मैं भावविभोर हो गया। भूतकाल से मेरे मानस पर एक इच्छा गूँज रही थी - 'सुजान'जी से मिलने की, वह पूरी हो गई। साथ ही उनका गायन भी सुनने का शुभावसर प्राप्त हुआ। बाहर से उनका व्यक्तित्व विशेष आकर्षक नहीं था, पर उनके आंतरिक व्यक्तित्व में जो संगीत था, वह हिमालय की भांति महान था। आवाज में पतलापन, लेकिन तीनों सप्तकों में आसानी के साथ फिरना, तान में वैविध्य, लयकारी की सरगम, यह सब उनके लिए सहज बात थी। उनके बनाए हुए ख्याल, ध्रुपद, ठुमरी, भजन वगैरह गीतों में भक्तिभाव उभर आता है। रागों को भिन्न-भिन्न रूप में देखना और उनकी रचना करना, उनकी विशेषता रही है। बंदिश गाते ही राग को पूर्ण रूप से प्रकट करना, उनके स्वरकरण की गरिमा है।

शीघ्र रचनाकार, मूर्धन्य संगीतज्ञ श्री रातंजनकरजी के समान आजतक मैंने किसीको नहीं देखा है। एक बार संगीत का कार्यक्रम चल रहा था, मैं पास में बैठा था। वे कुछ लिख रहे थे। देखते ही देखते उन्होंने तीन-चार पन्ने भर दिए। मैंने पूछा कि आप क्या लिख रहे हैं। उन्होंने बताया कि एक राग के बारे में सोचा और लिख दिया। लो पढ़ो। मैंने देखा कि मंच पर एक कलाकार प्रात:कालीन राग गा रहा था और अण्णासाहब किसी भिन्न राग का स्वर-विस्तार तथा गीत का स्वरकरण कर रहे थे। संगीत में उनकी पैंठ का यह करिश्मा था।

एक बार रातंजनकरजी गाना गा रहे थे। उसमें उन्हींकी बनाई बंदिश 'मैं गई जमुना नीर भरन सखी' इतनी भावुकता से वे गाए कि सचमुच 'सखी जमुना में नीर भरने गई हो'। का आभास हुआ। यह थी उनकी गायकी की मधुरता जो आज भी मेरे स्मरणपटल पर छाई हुई है।

साहित्य के साथ लालित्यपूर्ण बनाई बंदिश को स्वरकरण से अलंकृत करके संगीत-जगत् को प्रदान करनेवाले अण्णा को मैं श्रद्धापूर्वक कोटि कोटि वंदन करता हूं!

— स्वामी चैतन्यस्वरूप

वल्लभ संगीत विद्यालय के स्नातक तथा वहींपर एक अधिकारी

आदर्श शिक्षक - डॉ. एस.एन. रातंजनकर

मैं अपनेको सौभाग्यशालिनी समझती हूं कि मुझे गुरुदेव, डॉ. रातंजनकर के चरणों में बैठकर सीखने का अवसर मिला। मेरी यह इच्छा १९४७ में फलवती हुई जब मैं छात्रा के रूप में मैरिस कॉलेज, लखनऊ (भातखण्डे संगीत महाविद्यालय) में प्रविष्ट हुई। कुछ ही समय बाद गुरुदेव ने मुझसे पूछा कि क्या मैं संगीत की कक्षाओं में अध्यापन-कार्य करना चाहूंगी? मेरी अवस्था तब कुल १७ वर्ष की थी, मेरे पांव तले से धरती खिसक गई और मैंने धीरे से कहा, "मुझमें ज्ञान की कमी है, मैं इस जिम्मेदारी का निर्वाह न कर सकूंगी।" गुरुदेव ने हंसकर कहा - "तुम अपने ज्ञान का मापक कैसे हो गई, यह काम मुझपर छोड़ो, कल से तुम तृतीय वर्ष तक की कन्याओं की कक्षाएं लिया करोगी। न घबराओ और न संकोच करो; तुम इसके योग्य हो तभी मैं कह रहा हूं, अन्यथा न कहता।" और दूसरे दिन से मैं अध्ययन के साथ-साथ अध्यापन-कार्य भी करने लगी।

आज भी वे दिन मस्तिष्क में चलचित्र की भांति उभर आते हैं जब मैं चार वर्ष की थी और मेरे पूज्य पिता एवं मेरे प्रथम संगीत-शिक्षक गायनाचार्य पं. रामसम्भार शर्मा, राजगायक, बलरामपुर स्टेट, उ.प्र. मुझे राजा साहब के घर, विशेष कर रेडियो पर पूज्य अण्णासाहब का गायन सुनाने के लिए ले जाते थे, उन दिनों रेडियो एक संपत्तिशालियों का शौक था; यह सन १९३४ की बात है। पिताजी पू. अण्णासाहब के बडे प्रशंसक थे और उनके प्रति बड़ी गहरी निष्ठा रखते थे। बलरामपुर में आयोजित होनेवाले अखिल भारतीय संगीत सम्मेलनों में, भारत के सुविख्यात कलाकार आते थे और उनमें श्री रातंजनकरजी भी आमंत्रित होते थे। मेरे पिताजी कहते - "यह केवल संगीतज्ञ ही नहीं, इनमें आदर्श शिक्षक के सभी गुण विद्यमान हैं, देखो कैसा सच्चा स्वर लगाते हैं और कितना साफ-सुथरा गाना गाते हैं। मेरी हार्दिक इच्छा है कि तुम्हें इनसे सीखने का अवसर मिले।"

सन १९४० में मैं तृतीय वर्ष (मध्यमा) की परीक्षा देने लखनऊ आई। सर्वश्री अण्णासाहब, नातू साहब, राजाभैय्या पूछवाले आदि से गठित परीक्षा-समिति ने हमारी परीक्षा ली, उस समय तो अण्णासाहब कुछ नहीं बोले। लेकिन कुछ ही दिनों बाद जब उनका पत्र मेरे पिताजी के पास आया कि यह बच्ची बड़ी होनहार है, तो मेरे हर्ष की सीमा नहीं रही। १९४२ में मैंने 'संगीत विशारद' परीक्षा उत्तीर्ण की और फिर १९४५ से १९४७ में 'महादेवी कन्या पाठशाला' देहरादून में अध्यापन-कार्य करने के पश्चात् गुरुदेव से संगीत सीखने की इच्छा से लखनऊ आई। मैंने उक्त महाविद्यालय से दो वर्ष का अवकाश लिया था। लेकिन गुरुदेव के पितृवत् स्नेह ने ऐसा बांध दिया कि फिर लखनऊ छोड़ न सकी। वहां से बुलावे आते रहे और मुझे क्षमायाचना करनी पड़ती रही।

१९४८ की बात है, उन दिनों ऑल इंडिया रेड़ियो में शास्त्रीय गायन प्रस्तुत करनेवाली संभ्रांत परिवार की महिलाओं का अभाव था। अण्णासाहब का आल इंडिया रेड़ियो में बड़ा मान-सम्मान था। एक दिन हठात् पूछ बैठे, "तुम्हें रेडियो पर गाने में आपत्ति तो नहीं होगी। मेरी इच्छा है कि तुम इसका अनुभव प्राप्त करो।" इसी वर्ष के अंत में मुझे ऑल इंडिया रेडियो से कार्यक्रम देने का आमंत्रण मिला और मैंने अपना पहला कार्यक्रम १९४९ के जनवरी मास में प्रस्तुत किया, यदि बात इतनी ही होती तो उसे यहां लिखने की आवश्यकता नहीं थी, यह बात मैं केवल इसीलिए लिख रही हूं कि वे केवल संगीत की कक्षाओं में ही नहीं, कक्षा के बाहर भी मार्गदर्शन करनेके लिए सजग रहते थे। इस तथ्य के प्रमाणस्वरूप उनके एक पत्र को प्रस्तुत कर रही हूँ जो उन्होंने १६/१/१९४९ को मेरे कार्यक्रम को सुनने के पश्चात् मेरे पास प्रेषित किया था। जौनपुरी जैसे प्रचलित राग को भी उन्होंने किस सूक्ष्म आलोचनात्मक दृष्टि से सुना और किस प्रकार मेरा मार्गदर्शन किया यह तथ्य इस पत्र का प्राण है। पत्र की प्रतिलिपि नीचे प्रस्तुत है:-

श्री बागेश्री देवी,

आपका गाना आज सबेरे, जौनपुरी बड़ा छोटा ख्याल, मैंने सुना। जौनपुरी का बड़ा ख्याल आपने एक ताल में गाया जो झूमरा में है। खैर, उसमें कोई विशेष बाधा नहीं।

आपका गाने का ढंग अच्छा है। गले में कन् अच्छे हैं। गला काफी सुर में है।

जौनपुरी में निषाद तो आरोह में लगता है। पर " ध़ निसां " यह स्वर-विन्यास अधिक होनेपर जौनपुरी पर अड़ाने की छाया पड़ती है। गंधार भी बहुत हिलाया जाने पर अथवा उसको मध्यम का कन् अधिक देने पर भी कान्हड़े की छाया जौनपुरी पर पड़ती है। गंधार कभी कभी सीधा रखते हुए और बीच में 'ध सां' यह स्वरविन्यास रखने की आवश्यकता है। धैवत भी कभी कभी अवरोह में लेकर उसपर न्यास करते हुए पंचम पर आना चाहिए।

ये बातें ध्यान में रखनेयोग्य हैं। इति।

१६-१-४९ **श्री. ना. रातंजनकर**

पुनश्च : आप श्रुतिमंडल में प्रविष्ट हो जाइए। और कभी कभी गाया भी कीजिए उसमें। आपके गाने की जाति रागदारी गायन के लिए अच्छी है।

यह तो केवल एक घटना है। यदि मैं अपनी तथा अपने सहृदयों की भावनाओं एवं अनुभवों को शब्दों में व्यक्त करने बैठ जाऊं तो संभवत: एक ग्रंथ तैयार हो जाएगा। ऐसा शिक्षक मिलना दुर्लभ है जो केवल कुछ वर्षों ही न सिखाकर आजीवन शिक्षण देने की जिम्मेदारी को प्रसन्नतापूर्वक वहन करता रहे। साधना में व्यस्त, अपने अमूल्य क्षणों में से पत्र लिखने के लिए, तर्क-वितर्क द्वारा तथ्यों को समझाने के लिए, जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिए, समय निकालना उनके लिए कितना कठिन था यह हम सभी अनुभव करते थे; लेकिन गुरुदेव समय निकाल ही लेते थे। जब मैंने राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, नैनीताल में संगीत विभागाध्यक्ष के रूप में कार्य आरंभ किया तो गुरुदेव अवकाश प्राप्त कर मुंबई में निवास कर रहे थे। उन्होंने वहां से बधाई एवं आशीर्वाद का पत्र भेजा था जो मेरे लिए एक अमूल्य निधि है। गुरुदेव के हाथों से लिखे पत्र पाकर हृदय आनंद से विह्वल हो जाता था और नेत्र सजल हो आते थे। कितना कष्ट उठाकर गुरुदेव अपने शिष्यों को ये पत्र लिखते थे। जब कभी भी उन्होंने मुझे लिखा तो मेरे परिवार के विषय में अवश्य पूछा और सबको आशीर्वाद भेजा। पू. माताजी (गुरुदेव की धर्मपत्नी) आज भी अपने शिष्यों को वही स्नेह दे रही हैं।

श्रीमती बागेश्रीदेवी पांडे, लखनऊ
भातखंडे कॉलेज की स्नातकोत्तर स्तर तक की छात्रा।
संगीत की प्राध्यापक

संगीताश्रम और अण्णासाहब

बंदिश-रचना का करिश्मा

'पद्मभूषण' डॉ. रातंजनकर, हमारे 'अण्णासाहब'.....

नाटा-सा कद, पतला शरीर, सदैव अपनी धुन में खोए हुए, मितभाषी, सत्यवक्ता, ऐसे व्यक्तित्व के स्वामी यानी गागर में सागर-सा व्यक्तित्व।

अण्णासाहब के बारे में मैं बचपन से ही अपने गुरुजी 'स्वामी श्री वल्लभदासजी' से सुनता आया था। उन जैसे विशेष व्यक्ति से मिलने की बहुत ही उत्कंठा थी।

मेरे विचार से १९५३ में ऑल इंडिया रेडियो में उनकी मुलाकात पूज्य स्वामीजी से हुई थी। तब मैंने पहली बार अण्णासाहब को देखा। तत्पश्चात् उनका आना जाना हमारे संगीताश्रम में चलता रहा।

श्री भटसाहब तथा श्री गिंडेसाहब हमारे संगीतालय का कार्यभार संभालते थे। उनके कारण भी अण्णासाहब के, परिचय और संगत का मौका बार-बार मिलता था।

आफताबे मौसिकी, ज्ञानरत्न उस्ताद फय्याजखां साहब का शिष्यत्व स्वीकारने के बाद अण्णासाहब की प्रतिभा में चार चांद लग गए।

आगरा घराने की खूबियां जैसे कि आलाप, सुर का लगाव, बोलतान, बंदिश के शब्दों की भावना की सुंदरता की स्वर द्वारा अभिव्यक्ति तथा सम पर अलग-अलग तिहाइयों के साथ आना। ये सभी खूबियां उस्ताद फय्याजखां साहब से अण्णासाहब को प्राप्त हुईं।

मेरे गुरुजी पूज्य स्वामी श्री वल्लभदासजी उस्ताद फैय्याजखां साहब के प्रमुख शिष्य होने के नाते अण्णासाहब तथा स्वामीजी दोनों गुरुबंधुओं में अगाध स्नेह था। घंटों तक दोनों ज्ञान की चर्चा करते रहते थे।

जहां तक मुझे याद है, पूज्य स्वामीजी ने झिंझोटी राग में मध्य लय की बहुत सुंदर बंदिश तथा भैरव बहार की बंदिश जिसकी अण्णासाहब ने स्वयं रचना की थी, पूज्य स्वामीजी ने अण्णासाहब से सीखी थी। उसी प्रकार पूज्य स्वामीजी के शिष्य श्री रामराव नायक 'बेंगलोरवाले' ते दक्षिण भारतीय राग 'नागरंजिनी' में मध्य लय की चीज की एक बंदिश स्वयं बनाई थी, जिसका उठाव और सम बहुत ही प्रभावशाली था, वह चीज पूज्य स्वामीजी से अण्णासाहब ने सीखी थी और उसे वे बड़े प्रेम से गाते रहते थे। इस प्रकार दोनों गुरु बंधुओं को एक दूसरे के ज्ञान का आदान-प्रदान करते देखकर मेरा हृदय गद्‌गद हो उठता था।

अण्णासाहब की एक और अद्‌भुत खूबी थी कि वे किसी भी नए राग की प्रस्तुति या नई बंदिश को बगैर गुनगुनाए सीधे कागज पर लिख देते थे।

अण्णासाहब ने सैंकडों बंदिशें और कई नए रागों का आविष्कार किया था; इसीलिए वे बैजू बावरा की तरह गायक और नायक दोनों थे।

- स्वामी हरिप्रसाददास
मैनेजिंग ट्रस्टी, श्रीवल्लभ संगीताश्रम,
(सायन), बंबई

लोकसंगीत में पैठ

कितनी सौभाग्यशाली थी मैं कि मुझे वनस्थली में संगीत का श्रीगणेश करवाया श्रद्धेय एस.सी.आर. भट ने। उनसे बादमें कई बार मैं जोधपुर और बंबई में भी सीखती रही। अण्णासाहब के निधन का समाचार वनस्थली में फैला तो भटसाहब इतने उद्‌विग्न हुए कि कोई पुत्र भी अपने पिता के लिए नहीं हो सकता। गुरु का वृत्त मिलने पर ही वे स्वस्थ हो सके। संगीत-संस्थान, जयपुर

के प्राचार्यपद के लिए साक्षात्कार लेने आए अण्णासाहब। एक प्रार्थी थे श्री ब्रह्मानंद गोस्वामी। प्रश्न किया, "आप स्वामी, फिर भी आपके पुत्र-पुत्रियां?" उत्तर भी कम विदग्ध नहीं था, "मेरे गुरु का आदेश था, बेटा, प्रवृत्ति में निवृत्ति और निवृत्ति में प्रवृत्ति देखो।" आलोचना-प्रत्यालोचना के वितंडावाद में अण्णासाहब की रुचि नहीं थी। वे सुलझे हुए विचारों के निष्पक्ष व्यक्ति थे। एक बार कोई सज्जन विष्णु दिगंबर की कटु आलोचना करने लगे तो उन्हें यह कहकर टोकना पड़ा, "आप जानते नहीं कि संगीत-जगत् को उनका कितना योगदान है।"

१९६२ में जोधपुर विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। संगीत विभाग को (जिसकी मैं अध्यक्ष थी) सही मार्गदर्शन मिले, इसलिए मैंने अण्णासाहब को पाठ्यक्रम समिति का बाह्य सदस्य मनोनीत करवाया। भटसाहब के आग्रह पर ही वे आए तथा फिर वर्षों आते रहे, और वह भी तब जब वे अकेले यात्रा नहीं करते थे। एम.ए. का पूरा पाठ्यक्रम उन्होंने ही बनाया जिसे हमने ही नहीं, राजस्थान के सब विश्वविद्यालयों ने अपनाया। पाठ्यक्रम की बैठकों के विवरण संयोजक होने के नाते मुझे ही लिखने होते, पर वह सब भी वे ही कर देते ताकि कोई अशुद्धि न रहे।

प्रारंभ में अण्णासाहब से मुझे श्रद्धासमन्वित भय-सा लगता था, यद्यपि मेरे पति डॉ. नागरमल सहल से उनकी खूब पटती थी और वे घंटों साहित्य-संगीत के विषय में चर्चा करते रहते। स्टाफ नोटेशन और पाश्चात्य संगीत के बारे में मुझे पढ़ाना था। अच्छी पुस्तक अनुपलब्ध होनेके कारण हिम्मत करके अण्णासाहब से ही मैंने निवेदन किया। आधे घंटे में ही वह सब मुझे हस्तामलकवत् हो गया। वह मेरे जीवन की थाती है। बंबई में बच्चों के साथ उनसे मिलने गई तो वे बड़े प्रसन्न हुए तथा बाहर आकर देखते रहे कि हम निर्विघ्न 'मुरारका हाउस' पहुंच जाएं। ऐसा था उनका स्नेह। मेरी छोटी लड़की ज्योत्स्ना उनसे बहुत हिल गई थी और निर्भय उनके पास पहुंच जाती थी। अण्णासाहब ने उसका नाम रख दिया था 'बातुन'।

जोधपुर में एक बार वे भटसाहब को रात के दस बजे हमीर का टप्पा सिखाने लगे, 'जाग रहे सगरी रतियां।' अंतरे की अंतिम पंक्ति तारसप्तक के पंचम से शुरू हो रही थी। जब तक भट साहब के गले से वह सोलह आने ठीक नहीं निकली तबतक दोनों गाते रहे। अण्णासाहब रात को देर तक पढ़ते रहे थे। एक बार मैंने उनको बाइबल पढ़ते देखा।

लोक-संगीत वे बड़े चाव से सुनते गौरीबाई और लंगाओं आदि से। एक-से स्वर होते हुए भी लोक-संगीत और रागदारी संगीत में क्या भेद-साम्य है, यह सब वे मुझे समझाते रहते। मैंने पूछा-"एक ही राग में अनेक भावों का समाहार कैसे हो सकता है?" उनका उत्तर था, "विभिन्न स्वर-संगतियों का विभिन्न स्थानों, विभिन्न प्रकारों, न्यास-स्थानों तथा विभिन्न लय-प्रयोगों से।" उन्होंने बताया कि एक ही राग की कई बंदिशें क्यों तैयार करनी चाहिए? स्वरोच्चारों तथा विभिन्न स्वर-संगतियों का महत्त्व तभी बोधगम्य होता है। अण्णासाहब की बंदिशों में मैंने स्वयं देखा कि एक ही राग की सब बंदिशों के चेहरे अलग दीखते हैं। कायकिणीजी की पुस्तक 'दिनरंग' में यही प्रतिफलित हुआ है। अण्णासाहब ने मुझे सांगीतिक नई दृष्टि दी। वस्तुतः वे मेरे परम गुरु थे।

–श्रीमती शांति सहल

भूतपूर्व अध्यक्षा, संगीत विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर



षष्ठिपूर्ति : सुजान संगीत समारोह में पं. कुमार गंधर्व का गायन, तबले पर श्री. वसंतराव आचरेकर, संवादिनी : गोविंदराव पटवर्धन, तानपूरा : पंढरीनाथ कोल्हापुरे, वसंधरा पंडित (कोमकली)



सुजान गौरव समारोह के समापन में पं. रातंजनकर का गायन : साथसंगत (बाएं से), ऐतवड़ेकर (तबला) चिदानंद नगरकर, के. जी. गिंडे (तानपूरा)



'षष्ठिपूर्ति : सुजान संगीत समारोह' में सहभागी कलाकारों के साथ
(नीचे) दिनकर कायकिणी, प्रभाकर चिंचोरे,.... दंताळे, एस्सीआर भट, ऐतवडेकर



From Left to Right :

Sitting : Shri. Tarun Kant Chowdhary, Shri Har Dayal Malhotra, Prin. Shri. S.N. Ratanjankar Shri. K.K. Kapoor, Shri. Rajendra Misra.

Standing: Km. Dilraj Kaur, Km. Jhunu Day, Km. Purnima Bhattacharya, Km. Indu Kela, Km. Madhu Bhatnagar, Km. Shipra Sinha, Smt Kamala Srivastava.

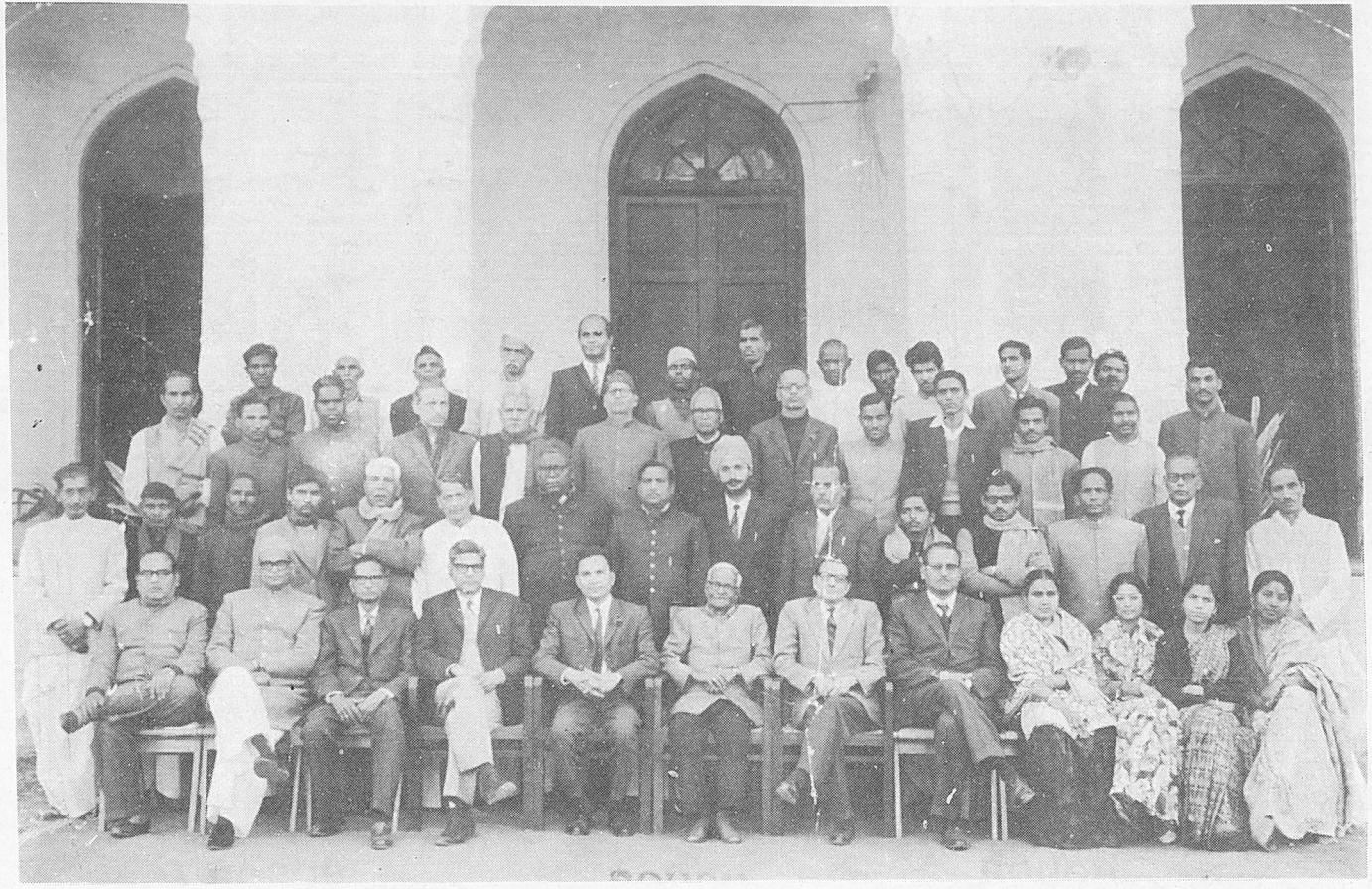

बिदाई !... पर जुदाई नहीं !! भातखंडे विद्यापीठ से पुनश्च बंबई : १२ फरवरी १९७०



बम्बई आकाशवाणी (१९५५) 'शिवमंगलम्' संस्कृत श्रुतिका : प्रस्तुतकर्ता पं. रातंजनकर
कलाकार : (बाएं से) वी. जी. जोग, कुमुद मोघे, पं. रातंजनकर, वी. डी. अंभईकर, वामनराव सडोलीकर, लक्ष्मी शंकर, हाफिज अहमद, पणशीकर



हैदराबाद शासकीय संगीत महाविद्यालय
अध्यापक गण तथा कार्यालय के अन्य सदस्यों के साथ पं. रातंजनकर, सी. पी. गोडसे,
जी.एन. दंताळे, सां. कार्यकारी संचालक तथा उस्ताद शेख दाऊदखां



ग्वालियर के संगीतानुरागी रायबहादुर लक्ष्मण भास्कर मुळे तथा
उनके परम स्नेही भैय्यासाहब के समवेत।

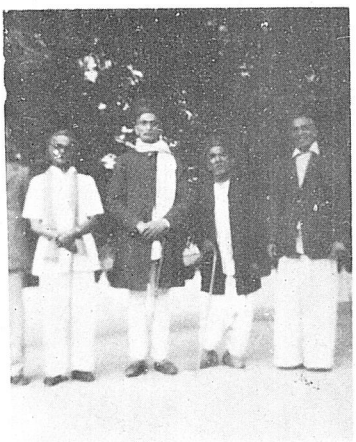

माधव संगीत महाविद्यालय के प्रांगण में ग्वालियर घराने के पुराणपुरुष कृष्णराव शंकर पंडित के समवेत अण्णासाहब। साथ में पं. राजाभैय्या पूछवाले तथा उनके शिष्य श्री सदाशिव अग्निहोत्री।



संगीताचार्य की शौकिया फोटोग्राफी



संगीत विश्वकोश 'संगीत महाभारती'
के संपादक मंडल की बैठक १९६५
आचार्य रातंजनकरजी के बंबई स्थित
निवास में आचार्यजी के साथ
(कुर्सी पर बाएं से)
प्रो. ऐण्टशेर लोबो, प्रो. आर. सी. मेहता
(नीचे) पं. निखिल घोष तथा अन्य सदस्य

।। अभिनंदन-पत्र ।।

।। सुस्वराः सन्तु सर्वेऽपि ।।

सेवा में,

लोकवंद्य पद्मभूषण डॉ. श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर !

परम पूज्य आचार्य प्रवर,

हम लोगों के लिए आज यह बड़ा ही शुभ दिवस है क्योंकि सहसा आपका यहाँ आगमन हुआ। यों तो आप इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय के प्रथम उपकुलपति होने के कारण हमारे ही नहीं समस्त संगीत प्रेमीजनों के लिये भक्ति श्रद्धा और स्नेह के पात्र हैं तथापि, आपके विशेष सान्निध्य और सम्पर्क से हमारे समान आपके जिस छात्र वर्ग को विशेष लाभ हुआ है उनके लिए आपका यह शुभागमन सचमुच एक अपूर्व उल्लासपूर्ण उत्सव का दिन ही हो गया है। आपके दर्शन मात्र से हम लोग वास्तव में कृतार्थ हो गये हैं।

श्रीमान् संगीत कला महोदधि,

आपके द्वारा संगीत विद्या के प्रति हम लोगों के हृदय में जो प्रेरणा उत्पन्न हुई है उसीसे आपको कुछ समय के लिये ही अपने बीच पाकर हम सभी यह अनुभव कर रहे हैं कि इस क्षणिक मिलन के द्वारा भी हम लोगों में यह प्रेरणा सच्ची अन्तःस्फूर्ती के रूप में परिणत हो गई है। यह कौन नहीं जानता कि संगीत शास्त्र के लिये आप अक्षय गौरव के स्तंभ हैं। आपकी ज्ञानगरिमा तथा कला-कुशलता के कारण ही आपको भारतीय शासन ने भी 'पद्मभूषण' की उपाधि देकर आपको ही नहीं भारत को गौरवान्वित किया है। आपने आजीवन संगीत की साधना को ही अपना जीवनव्रत मानकर इसीकी श्रीवृद्धि के लिए सदैव प्रयत्न किया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्तमान युग में प्राचीन संगीत शास्त्र के पुनरुद्धार के साथ नवीन संगीत कला के निर्माण में आपके इन प्रयत्नों से अखिल भारतवर्ष को नवीन दृष्टि प्राप्त हुई है। हम लोग, जो आपसे सदैव प्रेरणा पाते रहे हैं इस अवसर पर आपको इस अभिनन्दन-पत्र के रूप में अपनी सच्ची भक्ति, श्रद्धा और स्नेह की अंजलि अर्पित कर रहे हैं। जो स्वयं गौरव का स्तंभ है, जो स्वयं लोक वंदनीय है, उसको किसी प्रकार से अभिनन्दन-पत्र वा मान-पत्र देकर हम लोग उसकी सच्ची महिमा को प्रकट नहीं कर सकते। परन्तु, हमें विश्वास है कि हम सब लोगों का यह हृदय के सच्चे भावों से युक्त अभिनन्दन श्रीमान् आचार्य प्रवर के द्वारा सच्ची भक्ति का प्रतीक समझा जाकर सस्नेह स्वीकार करने योग्य होगा।

अन्त में, हम लोग आपकी सादर और सभक्ति वन्दना कर, भगवान से यही प्रार्थना करते हैं कि आप चिरायु होकर भारतीय संगीत कला की सदैव गौरव वृद्धि करते रहें। अन्तःकरण से हम सब लोगों की यही शुभ-कामना है।

खैरागढ़
दिनांक २४ अप्रैल १९६४.

आपके स्नेहभाजन,
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय के
समस्त छात्र वर्ग, अध्यापक तथा कर्मचारीगण

सादगी की प्रतिमूर्ति

बात जुलाई १९५५ के आरंभ के दिनों की है। महाविद्यालय की गेट पर एक तांगा रुका, एक विदेशी सूट-बूट में सजा युवक उतरा; अमेरिका से आया था वह। गेट के भीतर झाका। किसीको एक बनियन-जांघिये में काम करते देखा तो रौब से पूछा, "प्रिंसिपलसाहब हैं? कब मिलेंगे?" दयनीय-से दिखनेवाले बगीचे में काम कर रहे व्यक्ति ने उत्तर दिया, "शाम को आना.... इस कमरे में मिलेंगे.... प्रिंसिपल साहब" और फिर बागबानी में लग गया वह पूर्ववत्।

शाम को जब वह विदेशी उस कमरे में पहुंचा तो देखा... अरे!! यह तो वही सुबहवाला व्यक्ति है.... प्रिंसिपल... डॉ. श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर... इतने... नम्र और इतने आड़ंबररहित थे हमारे सबके प्रिय अण्णासाहब! उस विदेशी युवक (जो कि महाविद्यालय में प्रवेश लेने आया था) की तो लज्जा और संकोच से बोलती ही बंद हो गई थी। परंतु प्रिंसिपलसाहब थे निर्विकार। रातंजनकर जी अत्यंत सरल और सादगी से रहते थे। संग्रह के नाम पर पुस्तकें ही उनकी साथी-संगी थीं। महाविद्यालय के एक छोटे-से कमरे में उन्होंने जीवन के ३०-३२ वर्ष बिना किसी आड़ंबर के गुजारे। संगीत-सेवा में समर्पित ऐसा दूसरा उदाहरण नहीं मिलेगा। त्याग की वे प्रतिमूर्ति थे। महाविद्यालय की व्यवस्था शिक्षकों की सहायता और आयोजनों के समय उपस्थित आर्थिक संकट के समय अनेक बार उन्होंने अपनी स्व-अर्जित संपत्ति और पुस्तकों से आई धन-राशि महाविद्यालय के लिए नि:संकोच खर्च कर दी। उनकी-सी वैरागी वृत्ति आज तो कहीं देखने को नहीं मिलती। यह उनकी तपस्या, त्याग और अथक परिश्रम का ही फल है कि भातखण्डे संगीत महाविद्यालय लखनऊ की शिक्षा-दीक्षा की प्रशस्ति चारों दिशाओं में फैली और यहां के प्रशिक्षित लोग देश भर में संगीत-शिक्षा के प्रसार में लगे। मैं उन दिनों महाविद्यालय में दो विषयों का विद्यार्थी था - गायन एवं तबला। प्रिंसिपलसाहब महाविद्यालय की प्रत्येक कक्षा और विद्यार्थियों पर नजर रखते थे। किस क्लास में क्या सिखाया जा रहा है। कौन विद्यार्थी क्या कठिनाई महसूस कर रहा है। सब उन्हें पता रहता था। तीन वर्षों तक तो उन्होंने मुझे व्यक्तिगत रूप से प्रोत्साहित किया परंतु मध्यमा परीक्षा के समय वे मुझसे बोले, अब बस.... दो घोडों की सवारी नहीं चलेगी... एक विषय रखो, तबला सीखो, उसीमें खूब मेहनत करो। उनका वह निर्देश मेरे लिए आशीर्वाद बन गया। आज उन्हींके बताए मार्ग पर चलकर मैं इसी महाविद्यालय में शिक्षक हुआ।

–सुधीरकुमार वर्मा, लखनऊ

तबलावादक, उ. थिरकवा के शागिर्द, भातखण्डे कॉलेज के अध्यापक

सहृदय रोबीला व्यक्तित्व

डॉ. रातंजनकरजी से मेरा निकट का गुरुशिष्य-संबंध वर्ष १९५६ तक रहा। उसके बाद वे उपकुलपति, खैरागढ़ विश्वविद्यालय का कार्यभार ग्रहण कर यहां से गए।

शासनद्वारा इस संस्था का अधिग्रहण होने पर प्रो. जी.एन. नातू के अवकाश-प्राप्ति के पश्चात् वर्ष १९६६ में वे पुन: बुलाए गए और वर्ष १९७० तक मैं पुन: उनके निकट बना रहा। इस लम्बी अवधि की कई घटनाएं एवं संस्मरण आज भी मेरे सामने उजागर होकर दुहर जाते हैं।

मेरे सम्मुख उनके व्यक्तित्व की जो तस्वीर उतरती है, वह है - छोटा कद, तना हुआ शरीर, हाथ में छोटा डंडा विद्यार्थियों को अनुशासित करने के लिए, आवाज में कड़क, परंतु गाते समय आवाज में मधुरता, मंच पर वीर आसन की बैठक, एक उच्च कोटि के गायक एवं वाग्गेयकार की प्रतिमूर्ति, कुल मिलाकर एक अनूठा रोबीला व्यक्तित्व। समय एवं नियमों के पाबंद छात्र-छात्राओं पर कड़ी नजर, महाविद्यालय के शिक्षण-कार्य पर विशेष ध्यान, सभी के सुख-दुख में सम्मिलित, सदैव महाविद्यालय की प्रगति तथा उन्नति की कामना रखनेवाला व्यक्तित्व जो कदापि भुलाया नहीं जा सकता।

उनकी सहृदयता का एक नमूना :- उन्हें पशु-पक्षियों से विशेष लगाव था। पंक्षियों को बंद पिंजरों में देखना उन्हें असह्य लगता था। प्रत्येक रविवार को पशु-पक्षियों की बजार नक्खास, चौक के समीप जाकर पशुपक्षियों को खरीद कर वे हार्डिंग ब्रिज, जो पक्का पुल कहलाता, वहां जाकर उस पुल से एक एक पक्षी को पिंजड़े से आजाद करते हुए आनंदित होते थे, कैसा सुंदर विचार, कैसा स्नेही मन! वे सहृदयता की प्रतिमूर्ति थे।

डॉ. रातंजनकरजी महाविद्यालय के लिए तन मन धन से सेवा करने में तत्पर रहते थे। वे अपने लेखन-कार्य एवं कार्यक्रमों से अर्जित धनराशि को भी महाविद्यालय के कठिन आर्थिक क्षणों में दिया करते थे। उस समय शिक्षकों को वेतन मिल जाए और महाविद्यालय का शिक्षण-कार्य अवरुद्ध न हो इसलिए निजी संपत्ति को उत्सर्ग करने की उनकी मिसाल अकेली है।

–कृष्णकुमार कपूर
असिस्टंट प्रोफेसर (वोकल)
भातखंडे म्यूजिक कालेज, लखनऊ

ऐसे कठोर, ऐसे कोमल!

स्व. पंडित रातंजनकरजी उर्फ आप्त स्वकीयों, निकटवर्तियों के 'अण्णासाहेब' के सम्बन्ध में सोचते ही उनकी छोटी-सी किन्तु रुआबदार मूर्ति आंखों के सामने खड़ी हो जाती है। अण्णासाहब का व्यक्तित्व मुझे तो कटहल जैसा लगता था। बाहर से कांटों से युक्त, लेकिन अन्दर से बहुत ही मिठास से भरा हुआ। उनकी बातचीत का ढंग बाहर से बिल्कुल अलग प्रतीत होता था, जिससे उनके सामने जाने से भी डर लगता था, बात करना दूर ही रहा। परंतु उनके सान्निध्य में रहने के बाद उनके मृदु स्वभाव का अंदाज आता था।

मैंने पहली बार उन्हें १९४१ में लखनौ के म्युझिक कॉलेज में देखा था और वह भी मेरे परीक्षक के रूप में। मैं उस समय 'इंटरमीजिएट इन म्युजिक' की परीक्षा देने वहां गई थी। उनके साथ और अन्य परीक्षक थे स्व. पं. राजाभैय्या पूछवाले तथा इन लोगों के साथ श्री वाड़ीलालजी तथा श्री बसू भी वहां बैठे थे। एक बड़े-से हॉल में श्रोताओं तथा छात्र-छात्राओं की भीड़ और उसपर पूज्य अण्णासाहब को देखा, बस हो गई परीक्षा! कारण कि उनके बारेमें लोग जो तरह-तरह की बातें करते थे उससे पहले से ही मैं नर्व्हस थी, उसपर परीक्षा दो घंटे तक चलती रही। पता नहीं मैं कैसे गा गई; पर बाहर आते ही मैंने रो दिया केवल डर के मारे। परीक्षा-फल में मेरा नंबर ऊंचा देखकर मुझे कुछ क्षणों तक विश्वास ही नहीं हो रहा था।

मेरे पति स्व. राजाभाऊ पोहनकर सन १९४० से लखनऊ के मैरिस म्युझिक कालेज के विद्यार्थी रहे। वे पं. एस.सी. आर. भटजी की क्लास में पढ़ते थे। कॉलेज में रहने से अण्णासाहब के सम्पर्क में बहुत आए। उन्हींसे मैं अण्णासाहब के बारे में बहुत-सी दिलचस्प तथा प्रशंसाभरी बातें सुनती थी। वे मुझे हमेशा समझाते थे कि अण्णासाहब वैसे नहीं हैं, जैसे कि तुम लोग सोचते हो। वे अत्यंत सहृदय तथा नरम मिजाज के हैं। अण्णासाहब जब पहली बार हमारे घर पर ठहरे तब उनके अन्तरंग का परिचय हुआ। वे जब भी जबलपुर आते थे हमारे ही साथ रहें यह हम लोगों का आग्रह था। उनके सान्निध्य में रहकर उनके स्वभाव के बहुत-से पहलू मालूम हुए। उनकी विनोदबुद्धि का अनुभव करने के कई अवसर मुझे प्राप्त हुए। उनकी विद्वत्ता के बारे में तो मैं क्या बताऊं। छोटे मुंह बड़ी बात होगी। उनसे ध्रुपद-धमार गायकी तथा कुछ थोड़े-से राग सीखने का सौभाग्य मैंने पाया है। ज्ञान का अथाह सागर थे अण्णासाहब और उनकी विशेषता यह थी कि सीखते समय छात्र के कितनी भी गल्तियां करने पर भी नाराज नहीं होते थे, यह मेरा निजी अनुभव है। विद्यादान करने में भी उदार थे वे। मेरे पुत्र अजय पोहनकर को उसके बचपन में ताल पंचानन में तिलक कामोद की सिखाई हुई उनकी एक बंदिश अभी तक मुझे याद है।

कभी कोई घटनाएं ऐसी हुई हैं कि उनके स्वभाव की गहराई को समझना हम लोगों के लिए मुश्किल था। मैं 'संगीत-निपुण' की परीक्षा देने लखनऊ गई थी। मेरे पति साथ थे। वे सहज ही वहां अण्णासाहब से मिलने गए तो उनके व्यवहार से उन्हें बहुत दुख हुआ। वापस लौटने पर बोले, "तुम्हारे कारण आज अण्णासाहब ने मुझसे बात नहीं की, मेरी ओर दुबारा देखातक नहीं।" अर्थात् मेरी परीक्षा होने के बाद फिर उनका व्यवहार पहले जैसा ही रहा तब हमारे साहबजादे का उनके प्रति प्रेम, आदर उमड़ आया।

एक अन्य घटना १९५२ की है, हम दोनों ने रेडिओ ऑडिशन नागपुर आकाशवाणी से दिया और अन्य लोगों के साथ ऑड़िशन लेनेवालों में अण्णासाहब थे। उस जमाने में ऑड़िशन पास होना वह भी अण्णासाहब के हाथों दुष्कर लगता था। वह ऑडिशन क्या, अच्छी खासी परीक्षा ही होती थी। मैं तो पास हो गई लेकिन मेरे पति फेल हुए। उन्हें दूसरे भी रागों में बड़ा ख्याल पूछा तो उन्होंने नहीं गाया। अण्णासाहब तपाक से बोले, "नहीं आता तो ऑडिशन में क्यूं बैठे हो।" वे बोले, "ठीक है, अगले साल दूंगा ऑडिशन" और तानपूरा रखकर चले आए बाहर। देखने में यह घटना बहुत ही छोटी लगती है लेकिन इन दोनों घटनाओं से उनके नि:स्वार्थ, स्वभाव का दर्शन होता है। चाहे अपने हों या पराए, उन्होंने किसीसे पक्षपात नहीं किया था, किसीका नुकसान भी नहीं किया।

इसी प्रकार की एक और घटना याद आती है। सन १९५५ में पी.एस. सी. (पब्लिक सर्व्हिस कमिशन) के संगीत-व्याख्याता पद का इंटरव्ह्यू था जो लगातार आठ दिन तक चल रहा था। मैं भी उसमें एक कैंडिडेट थी। आमंत्रित रसिकों के सामने १॥-२ घंटे गाना तथा सवालों के जवाब देना और वह भी अण्णासाहब से - बापरे! किसीको इंटरव्ह्यू में कहा जा रहा था, "संगीत के व्याख्याता बनने जा रहै हैं आप और तानपूरे में मध्यम का पंचम नहीं करते बन रहा, क्या शिक्षा देंगे आप कॉलेज के विद्यार्थियों को..." और रागों के बारे में भी बहुत कुछ सवाल सुने और मुझे तो पसीना छूटने लगा। भले ही लोग उनकी अनुपस्थिति में कुछ भी

कहें, उनके सामने जवाब देने की अच्छे-अच्छों की हिम्मत नहीं होती थी। एक संगीत महाविद्यालय के प्राचार्य थे उन्हें भी उनके पद की गरिमा रखने की याद स्पष्ट शब्दों में उन्होंने दी थी। योग्यायोग्यता का ख्याल बहुत रखते थे। हम लोगों के लिए तो वे आदरणीय श्रद्धास्थान थे और मन में उनके प्रति आदरयुक्त डर था।

डॉ. रातंजनकरजी का स्वभाव मजा किया भी खूब था। उनकी सेहत मेरे देखने में तो कभी स्वस्थ, तन्दुरुस्त नहीं थी। उनका आहार भी अति अल्प था। जब वे हमारे यहां रहते थे, लगता था उन्हें कुछ-कुछ बनाकर खिलाएं। उस समय वे हंसकर कहते, "भई मेरा शरीर तो देखिए, क्या मैं हाथी हूं जो इतना खाऊं?" और उसके बाद वे कई मजेदार किस्से सुनाते थे।

अण्णासाहब की महफिल सुनने का सौभाग्य तो मुझे नहीं मिला किन्तु पोहनकरजी से अक्सर वर्णन सुनती थी अलग-अलग महफिलों का। होली की महफिल का वर्णन करते समय तो पोहनकरजी मन ही मन लखनऊ पहुंच जाते थे। स्व. पं. वसंतराव देशपांडेजी जो हमारे घर आते रहते थे, के मुंह से मैंने अण्णासाहब की प्रशंसा सुनी है। वे बोलते थे, "तुम्हें पता नहीं होगा शायद, अण्णासाहब बहुत सुरीले गाते थे, मैंने बम्बई में उनका बहुत अच्छा गाना कई बार सुना है।" वसंतराव को किसी के गाने की तारीफ करते हुए मैंने बहुत कम सुना था, अत: यह बात सुनकर मेरा हृदय उनके प्रति आदर से भर आता था।

मैंने पीएच.डी. के लिए जो शोध-प्रबन्ध लिखा था वह है 'छत्तीसगढ़के लोकगीत'। अण्णासाहब छत्तीसगढ़ के ही खैरागढ़ गांव में 'इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय' के उपकुलपति ३-४ वर्ष रह चुके थे तब उनका वहां के लोकसंगीत का अध्ययन बहुत विस्तृत था मेरी जानकारी में। मैंने वहां के लोकगीतों का विस्तारपूर्वक नोटेशन किया था, गीतों के साथ प्रयुक्त होनेवाले वाद्यों पर बजने वाली धुनों का भी। और मुझे गर्व है कि वह काम अण्णासाहब ने बहुत सराहा था।

डॉ. सुशीला पोहनकर, बंबई
खैरागढ़ से पीएच.डी.,
जबलपुर विश्वविद्यालय संगीत विभाग अध्यक्ष (भूतपूर्व),
रचनाकार और गुरु।

ऐसे इंद्रधनुषी अनुभव और संस्मरण

गुरु से केवल तालीम प्राप्त करना पर्याप्त नहीं है। वस्तुत: उनके सान्निध्य में रहकर अनेक छोटी-मोटी बातें सीखनेको मिलती हैं। इस बात की प्रतीति तो श्री भटसाहब, श्री गिंडेसाहब, श्री नगरकरसाहब के संपर्क में रहकर हो ही गई थी; किंतु अण्णासाहब के सान्निध्य में जो अनुभव प्राप्त हुए उन्हें कभी भुलाया नहीं जा सकता।

(१) एक बार अनेक कलाकारों की एक महफिल में, जहां अण्णासाहब भी उपस्थित थे, एक गायिका ने शामकल्याण गाया था। उन दिनों हमारा भी शामकल्याण चल रहा था।

अवकाश-काल में अण्णासाहब अपने गवालिया टैंक के पास के निवास-स्थान पर हमें पढ़ाते थे। पढ़ाते समय उन्हें उस महफिल का स्मरण हुआ। उन्होंने हमसे पूछा - "क्या परसों का शामकल्याण सुना?" हमारे 'हां' कहनेपर उन्होंने पूछा–"उसमें कौन-सी विशेषता तुम्हें नजर आई?" हममें से कोई भी उत्तर नहीं दे सका। तिसपर उन्होंने कहा - "तो फिर तुम लोग आखिर सुनते क्या हो? हमेशा कानों को खुला रखकर सुनना चाहिए। वह महिला अवरोह में तीव्र मध्यम लगाती थी; यह बात तुम्हारे ध्यान में कैसे नहीं आई? आगे चलकर सावधानी के साथ सुना करो।" हमें बहुत अच्छी सीख मिल गई और आगे चलकर हम श्रवण में चिकित्सक बुद्धि का उपयोग करने लगे।

(२) अण्णासाहब गपशप के दौरान जो कुछ सिखाते, वह स्मरण में रखनेलायक होता था। एक बार भारतीय विद्याभवन के 'गीतामंदिर' हॉल में श्री बालचंद्र का वीणावादन था। वादन आरंभ करनेसे पहले अण्णासाहब ने नटभैरवी की फरमाइश की। बालचंद्रजी ने उसे तुरंत स्वीकार लिया और नटभैरवी बजाना आरंभ किया। थोड़ी-सी आलापी होने पर अण्णासाहब ने हलके से मेरे कानों में कहा - "नटभैरवी यानी अपना संपूर्ण आसावरी।" बात तुरंत मेरी समझ में आई और नटभैरवी की खुमारी का आस्वाद लेने को मिला।

(३) एक बार 'श्रीवल्लभ संगीतालय' में लड़कियों के समूह-गीत की तालीम चल रही थी। बंदिश के लिए त्रिंबकराव जाधव ने एकताल लगाया। अण्णासाहब वहीं थे; उन्होंने विक्रम ताल की सिफारिश की। त्रिंबकरावजी ने जब इशारे से बताया कि विक्रम ताल उन्हें ज्ञात नहीं है, तब अण्णासाहब ने उनके निकट जाकर उनके कानोंमें ठेका बताया और ज्यों ही जाधवसाहब ने ठेका पकड़ लिया, बंदिश का नूर ही एकदम पलट गया।

(४) अण्णासाहब ने एक बार गाने के सिलसिले में, सहज ही में कहा -"कभी किसीसे यह न पूछो कि अपना गाना कैसा लगा? उलटे लोग खुद ही आकर कहेंगे कि गाना बहुत पसंद आया। किंतु इस प्रशंसा से भी तुम्हें आनंदातिशय में विभोर नहीं होना चाहिए। अपने दोष हमें ढूंढ निकालने चाहिए।" गुरु से प्राप्त यह उपदेश सचमुच अमूल्य है।

(५) अण्णासाहब के गायन के बारे में जितना कहा जाए उतना थोड़ा ही है। अण्णासाहब ने जो जो गाया वह चिरस्मरणीय है, चाहे वह बड़ी महफिल में हो, चाहे छोटी-सी खानगी बैठक में। राग चाहे सीधे-सादे हों, चाहे मुश्किल से मुश्किल हों, गानेकी धारा-प्रवाहिता में कोई अंतर नहीं पड़ता था। एक बार भारतीय विद्याभवन के थिएटर में, जहां कुमार गंधर्व एवं बड़े गुलामअलीखां का गाना सुनने के लिए श्रोताओं का तांता बंधा हुआ था, उन्होंने काफी कानड़ा ऐसा जमकर गाया कि श्रोताओं की तालियों की कड़कड़ाहट से सारा थिएटर गूंज उठा, जिसकी एक झलक उस समय किए गए रिकॉर्डिंग में आज भी सुनी जा सकती है। गायन समाप्त होने पर कुमारजी ने अण्णासाहब की चरण-वंदना करके बड़े गुलाम अली की ओर मुखातिब होकर कहा - "पंडितजी हमारे लिए गाते हैं, जब कि हम सिर्फ लोगोंके लिए गाते हैं।" खांसाहब ने जवाब में कहा - "जी हां, उनके इल्म की यह ईमानदारी है।"

(६) अण्णासाहब एक बार दिल्ली विद्यापीठ की परीक्षा के लिए परीक्षक की हैसियत से दिल्ली गए थे, मैं भी उनके साथ था। उस समय के वहां के आठ-दस दिन के वास्तव्य में सीखनेलायक बहुत कुछ अनुभव प्राप्त हो गए। परीक्षा के दिन एक लड़की देवगिरी बिलावल की छोटी बंदिश 'मानो जरा अब मानिनी' गा रही थी। बंदिश अण्णासाहब की ही थी। 'मानो'

शब्द 'सा ध सा' इस रूप में वह गा रही थी। मैं अण्णासाहब के पास ही बैठा था। अण्णासाहब ने मेरे कान में कहा - "इसमें निषाद आना चाहिए, शुद्ध कल्याण का अंग दीखना चाहिए।"

(७) उसी दिन रातको गपशप के सिलसिले में रावसाहब यानी भातखंडेजी की स्मृतियों का जिक्र हुआ उसमें उन्होंने 'बहार' के बारे में एक बात बताई। एक प्रसिद्ध पुरानी बंदिश की अंतिम पंक्ति में ग्वालियरवालों की पद्धति के अनुसार शुद्ध गंधार लगता था। रावसाहब ने राजाभैय्या से पूछा- "क्या नोटेशन में इस गंधार को ऐसा ही रखा जाएगा?" तिसपर राजाभैय्या ने तपाक से कहा - "बिलकुल नहीं, बहार के नियमानुसार गंधार कोमल ही होना चाहिए।" अण्णासाहब ने दोनों प्रकार से गा दिखाया।

(८) अण्णासाहब के तत्त्वनिष्ठ कड़े स्वभाव पर प्रकाश डालनेवाली दिल्ली के वास्तव्य की एक छोटी-सी घटना है। दिल्ली के वास्तव्य में अण्णासाहब की पसंदगी की हरी स्याही खत्म हो गयी थी। मैं केनॉट प्लेस की ओर अपने दोस्त से मिलने जानेवाला था। अनायास मैं जा ही रहा था, तो मैंने कहा कि स्याही मैं ले आऊंगा। संयोग से, उनकी अपेक्षित स्याही मिल गई। घर आने पर स्याही की शीशी मैंने उन्हें दे दी। किन्तु शीशी लेने से पहले उन्होंने कहा- "दाम कितने दिए सो पहले बताओ" मैंने ननु नच किया तो उन्होंने चिढ़कर कहा - "मेरे प्रश्न का उत्तर दो।" मैं कहने पर मजबूर हुआ। "ढाई-तीन रुपये का ही तो सवाल था। क्या मैं गुरु की इतनी-सी सेवा भी नहीं कर सकता हूं?" इसी विचार के कारण मैं दाम बताना नहीं चाहता था। किन्तु अण्णासाहब के सामने मेरी एक न चली। इसका कारण था उनका तत्त्वनिष्ठ स्वभाव। इस तरह के अनेक अनुभव कइयों ने प्राप्त किए थे यह बात मैं ही नहीं अनेक लोग जानते हैं।

(९) अण्णासाहब ने अपनी साथ-संगत करनेवाले वादकों के साथ कभी अपमानजनक बर्ताव नहीं किया। जो सच्चे विद्वान हैं, वे ही इस प्रकार संयम से पेश आ सकते हैं। शीव (बंबई) में डॉ. अंबर्डेकरजी के यहां अण्णासाहब का गाना था। विलंबित आड़ाचौताल की बंदिश गाते समय तबलजी कुछ घपला कर रहे थे। किन्तु अण्णासाहब झुंझलाए नहीं, न ही उन्होंने तबलची को वहां से हटाया। उलटे मृदु शब्दों में उनसे कहा, "बुवाजी, मात्राएं कम पड़ती हैं।" फिर उन्होंने उन्हें ठेका ठीक तरह से समझा दिया और गाना चालू रखा। महफिल में अपना रोब जमानेवालों अथवा अपना बड़प्पन सिद्ध करने की अकड़ दिखानेवालों को इससे बहुत कुछ सीखनेलायक है।

श्री कमलाकर कुलकर्णी
भातखंडे संगीत विद्यापीठ के स्नातक,
गहरे गान-साधक, डॉ. रातंजनकर तथा
उनके शिष्यों से तालीम प्राप्त

नादब्रह्म की शाश्वत आराधना

मेरा परिचय अण्णासाहब के नाम से एवं स्वयं उनसे बिल्कुल वैसा ही था जैसा कि होश सम्हालते ही शिशु का माता-पिता एवं स्वजनों से स्वत: अनायास ही होता है जिन्हें वह जन्म से ही देखने, पहचानने एवं जानने लगता है।

मेरे पिता स्व. महादेवराव सामन्त (श्री. एम्. के. सामंत) से गुरुवर रातंजनकर का सम्बन्ध गुरु, घनिष्ठ मित्र, अग्रज सभी सम्बन्धों का एक अनूठा, अपूर्व संगम था। गुरु के रूप में पूर्ण आस्था, बंधु एवं मित्र के नाते अनन्य प्रेम एवं चिन्तक, विद्वान्, कलाकार के रूप में अण्णासाहब के प्रति पिताजी की गहन श्रद्धा जीवन पर्यन्त रही।

पू. अण्णासाहब एवं पिताजी दोनों में मैंने एक दुर्लभ एवं अत्यंत मधुर चारित्रिक गुण-साम्य देखा वह था उन दोनों की विनोदप्रियता। दोनों ही विद्वान् थे, गम्भीर विषयों पर मनन-चिन्तन करते थे, पर दोनों में ही बड़ा अनूठा 'Sense of humour' था। दोनों की सरल नोक-झोंक के, विनोद के अनेक प्रसंग मुझे स्मरण आ रहे हैं। पिताजी एक बार दीर्घ समय तक किसी कारणवश अण्णा को पत्र नहीं लिख पाए थे, कि अचानक एक दिन अण्णा का पोस्टकार्ड आया उसी सुपरिचित हरी स्याही से लिखा हुआ -

" My Dear Samantjee,

म ग रे	सा (सा) ग म	नि ध प प	ग म ग –	
रै न दि	ना ऽ न हिं	चै ऽ न अ	ब मो हे ऽ...	इत्यादि..."
०	३	×	२	

(नट बिहाग की यह प्रसिद्ध रचना पू. अण्णासाहब ने पहले पहल इस तरह से अपने हाथ से पिताजी को भेजी थी।)

पिताजी अनेक वर्षों तक नियम से श्री भातखण्डे जयन्ती के अवसर पर अण्णासाहब के पास लखनऊ जाते थे, जहां ७२ घंटों का अखण्ड, अविस्मरणीय संगीत-समारोह होता था। कुछ ऐसा हुआ कि एक बार कई महीनों तक दोनों की भेंट नहीं हो पाई। एक दिन पू. अण्णासाहब का पत्र यों आया—

" Dear Samantjee,

सा	नि ध सा - रे	ग - - ग	म प ग म	ग रे सा सा	
मा	- - नो ऽज	रा ऽ ऽ अ	ब मा ऽ न	नी ऽ ऽ मा	इत्यादि"
	३	×	०		

" ...So you better come over for the Janmashtami-or at least for Bhatkhande aniversary.

Affly Yours
Anna"

(देवगिरी बिलावल की यह लोकप्रिय रचना इस प्रकार भेजी थी पू. अण्णा ने!)

मेरे पिताजी को चित्रकला में रुचि थी और वे स्वयं अच्छे चित्रकार थे। सन् १९५० अप्रैल

में एक बार पिताजी ने राग खम्बावती की प्रसिद्ध बन्दिश 'लाज शरम तोको नाहिं आवै' के आधार पर चित्र बना कर भेजा। अण्णासाहब का उत्तर आया।

".....Your letter enclosed in dear chhotoo's. How delightful! Your लाज शरम is beautiful indeed! Every body here appreciated it so much.....which date did you draw it ? I have stated the date of the composition. Did the thought-current travel Delhi to Benaras or Benaras to Dehli ?"

मुझे आज तक एक आश्चर्य होता है, जब मैं यह सोचती हूं कि मुझे पू. अण्णासाहब से कभी भी डर क्यों नहीं लगा जैसा कि बहुधा महान व्यक्तियों की उपस्थिति में होता है? उनके प्रति अत्यन्त गहन श्रद्धा, भक्ति मेरे हृदय में हर पल रही, परन्तु उनसे भयाक्रान्त कभी भी नहीं हुई। यह उनकी अपार सहृदयता, सहिष्णुता एवं अगाध स्नेहशीलता का परिचायक है। उनसे प्रत्यक्ष सीखते समय सदैव यह ध्यान मन में रहता था कि मैं जल्दी से जल्दी उनकी गाई चीज कंठ में उतार सकूं ताकि बार बार आवृत्ति करने का कष्ट न उठाना पड़े, परन्तु भय का आतंक कभी भी नहीं रहा।

मुझे स्वयं बन्दिशों की रचना करने में रुचि रही है एवं यदा कदा इस दिशा में प्रयास करती रही हूं। पू. अण्णासाहब के जीवन-काल में जितनी भी मेरी स्वरचित कृतियां होती थीं उन्हें पिताजी सर्वप्रथम अण्णा के पास भेजते थे, आवश्यक संशोधन एवं परिवर्तन के लिए। अण्णासाहब तुरन्त उत्तर देते थे अपनी टिप्पणियों के साथ तथा अपेक्षित स्थानों पर संशोधन करके। अनेक बार ऐसा भी हुआ है कि पू. अण्णासाहब ने बन्दिश को ज्यों का त्यों भेजा यह लिख कर कि यह अपने आपमें अच्छी बनी है और इसमें कहीं भी परिवर्तन की अपेक्षा नहीं है। अपनी अति व्यस्त दिनचर्या में से, अन्य महत्त्वपूर्ण, गुरुतर कार्यों के बीच से भी वे ऐसी छोटी छोटी बातों के लिए समय निकाल लेते थे। यह उनकी महनीयता की पराकाष्ठा ही तो थी।

अपने पिताजी के नियमित पत्र-व्यवहार के माध्यम से मैं कितनी ही मांगें साधिकार उनसे किया करती थी और वे कभी भी निराश नहीं करते थे। सन् १९६६ की बात है, मुझे बैरागी भैरव सीखकर गाने की तीव्र इच्छा थी किन्तु मेरे पास बन्दिशें नहीं थीं। मैंने पिताजी से कहा, "पप्पू, अण्णासाहब को लिखो, हमें बैरागी में उनकी रचनाएं चाहिए, हम गाएंगे।" पप्पू ने संकोच के साथ पू. अण्णा को लिखा और १५-२० दिनों में ही अण्णासाहब का पत्र आ गया जिसके साथ संलग्न था एक कागज, जिसके दोनों ओर बैरागी भैरव की दो बन्दिशें थीं विलम्बित एवं द्रुत।

ऐसे ही राग गोरखकल्याण में मेरे अनुरोध एवं आग्रह पर उन्होंने अपनी अत्यन्त ही सुन्दर बन्दिशें बना कर भेजीं, 'बनरा बनी आयो' (विलम्बित) एवं 'नित उठ तुम्हरे ढंग ऐसे....' (द्रुत)।

और तो और, मैं तो इसे अपने दुस्साहस एवं अपनी प्रगल्भता की पराकाष्ठा ही कहूंगी कि एक बार मैंने राग शिवरंजनी में द्रुत एकताल में रचना आरम्भ की - स्थायी तो कुछ ही मिनटों में बन गई, जैसे अन्तस् में कहीं तैयार थी, परन्तु अन्तरे पर आकर बुद्धि एवं कल्पना जाने कहाँ लुप्त हो गई। मैंने भी प्रयास छोड़ दिया। मनुष्य हार कर अन्ततः जैसे ईश्वर की

शरण में जाता है, वैसे ही मैंने दो तीन दिन बाद पिताजी से स्थायी लिखवाकर अण्णासाहब को भेजी और लिख दिया, "अन्तरा नहीं सूझ रहा है।" तुरन्त दस रोज के अन्दर मेरी अधूरी रचना में अण्णासाहब ने अन्तरा जोड़ कर भेज दिया। इस अति दुर्लभ, भगवत्कृपातुल्य परम सौभाग्य को पाने पर आज मैं प्रेमपूर्वक जो गर्वानुभव कर रही हूं वह लेखनी व्यक्त नहीं कर सकती।

सन् १९६६ में शरद्काल में पू. अण्णा कुछ दिनों के लिए हमारे घर आए थे। सदा की भांति सन्ध्या समय उनमें एवं पिताजी में संगीत-चर्चा हो रही थी, संगीत सम्बन्धी अनेक विषयों पर रोचक, प्रेरणादायी वार्तालाप हो रहा था। मैं भी एकाग्रचित्त होकर दोनों की बातें सुनकर आत्मसात् करनेका भरसक प्रयत्न कर रही थी। उसी दौरान अनेक प्रसंगों के मध्य अण्णासाहब ने एक अत्यन्त मनोहर, नवीन राग का सृजन किया और उसका नामकरण किया 'कुमुद्वती' (सा रे म प ध सां। सां ध प म रे सा) राग का स्वरूप, चलन मुझे समझाया और मुझसे गवाया। वहीं उन्होंने विलम्बित एवं द्रुत बन्दिशें भी बना डालीं जो अत्यन्त ही सुन्दर हैं। जब मैंने स्वयं अपनी कल्पना से उस राग का विस्तार कर उन्हें सुनाया तो उन्हें जो अपार आनन्दानुभव हुआ उसका वर्णन करना ही कठिन है। वे तो महान थे ही, श्रेष्ठ वाग्गेयकार के रूप में भी प्रतिष्ठित थे, परन्तु उन्होंने अनायास मुझमें जो प्रेरणा, उत्साह एवं नवोन्मेष का संचार कराया वह शब्दातीत है।

पू. अण्णासाहब का संगीत और उनका व्यक्तित्व स्वयं में एक उदात्त सन्देश लिए हुए मुझे सदैव ही प्रतीत हुए कि कलाकार को एवं उसके संगीत को न केवल सुन्दर का, अपितु सत्य और शिव का भी प्रतीक होना चाहिए। संगीत को मात्र प्रेयस् नहीं वरन् श्रेयस् गुण से युक्त होना चाहिए।

पू. अण्णा के संगीत से तथा उनके देवतुल्य सान्निध्य से मुझे सदा ही यह अनुभूति हुई कि हमारा भारतीय संगीत वस्तुतः रंग भवन में या सभामण्डप में ही प्रस्तुत होनेवाला मनोरंजन का सतही साधन नहीं, वरन् मन्दिर में देवोपासना का पवित्र माध्यम है। हमारे संगीत का वास्तविक धरातल भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है। संगीत केवल स्वरों का खेल नहीं वह नादब्रह्म की शाश्वत आराधना है, उपासना है।

–प्रो. मंजु सुंदरम्
प्रोफेसर इन म्यूझिक, बेजंट कॉलेज बनारस

रातंजनकरजी का स्व-भाव-दर्शन

(षष्ठिपूर्ति संस्मरण)

डॉ. रातंजनकरजी से मेरा कई वर्षों का स्नेहसंबंध है। मुझे स्मरण है कि कई साल पहले उनके संगीत-प्रेमी पिता के यहां गायन के सिलसिले में मैं दो-एक बार गया था। उस वक्त रातंजनकरजी की आयु कम थी। उनके विषय में प्रशंसापर उल्लेख कई बार सुनने में आता था।

कुछ वर्ष पहले डॉ. रातंजनकर जब दो-एक बार धार आए थे, उनका पर्याप्त सान्निध्य मुझे

प्राप्त हुआ था। उनके गायन की साथ-संगत भी मैंने की थी। ग्वालियर के गायनाचार्य श्री राजाभैया पूछवाले परीक्षा लेने के सिलसिले में कई बार धार आ चुके थे। श्री रातंजनकरजी से उनके कई वर्षों के निकट के स्नेह-संबंध थे। मुझे याद है कि एक दिन हम तीनों ने मिलकर संगीत के विषय में चर्चा की थी। कारणवशात् मेरा एवं श्री रातंजनकरजी का पत्राचार चलता रहता है, जिसका विषय प्रमुखत: संगीत ही होता है। हमारे बीच कुछ मतभेद रहे भी हों, तो भी वे हमारे स्नेहसंबंध में कभी बाधक नहीं हुए। यदि स्पष्टवादिता को दोष माना जाए तो वह मुझमें है। यह दोष जिन्हें मान्य है उनके और मेरे स्नेहसंबंध को कभी आघात नहीं पहुंचता है। मैं अविरोध मित्रता न किसीसे कर सका हूं, न कर सकूंगा। अजातशत्रु मानव-प्राणी का अस्तित्व हो तो वह मुझे ज्ञात नहीं है। कहने का मतलब यह कि मेरे प्रति डॉ. रातंजनकर के लोभ में कुछ रोष का भी अंश हो।.....

डॉ. रातंजनकर के स्वभाव के गुणदोषों को परखकर उनसे बर्ताव किया जाए तो दोनों की अच्छी निभती है। उनके व्यक्तित्व के कोमल स्थानों को दुखाने न देने की सावधानी बरतनी पड़ती है। एक बार यह साध्य हो जाए, तो फिर उनके साथ मिल जुलकर रहा जा सकता है, उनका खुले दिल का सान्निध्य प्राप्त किया जा सकता है। ऐसे अवसर पर मैंने उन्हें बेशुमार हंसाया भी है। ऐसे संयोग बार बार जुड़ जाते तो हमारे मतभेद समझौते की स्थिति में आ सकते और एक दूसरे को प्रसन्नता भी प्राप्त होती वह अलग।

डॉ. रातंजनकरजी के साथ मेरा स्नेहसंबंध स्थापित होने में विशेषत: संगीत विषय ही कारण बना है। मेरा मुख्य व्यासंग शिल्पकला का होने पर भी संगीत के प्रति मुझे अत्यंत लगाव है। अलावा इसके मूल तत्त्व भी अभिन्न ही हैं। डॉ. रातंजनकर मार्मिक रसाग्रही होने के कारण, मेरी राय में, वे दुराग्रही नहीं होंगे।

संगीत विषय ही ऐसा है कि जिसके बारे में कोई मतभेद हुआ ही करता है। श्री रातंजनकरजी का विरोधी पक्ष भी है। किंतु तथ्य की बात यह है कि डॉ. रातंजनकर की एकनिष्ठ संगीत-भक्ति और इस भक्ति के द्वारा उनके संपन्न किए हुए विविध कार्य गौरवास्पद सिद्ध होते हैं। मैं उनसे उम्र में बहुत बड़ा होने से उनकी षष्टचब्दिपूर्ति के प्रसंग में शुभाशीर्वाद देने के मेरे जन्मसिद्ध अधिकार को ध्यान में रखकर मैं अत्यंत मन:पूर्वक उनका अभीष्ट चिंतन करता हूं।

– पद्मश्री र. कृ. फडके
कलामहर्षि शिल्पकार
संगीत-साधक, समीक्षक - धार (म.प्र.)

अण्णासाहब का श्रुतिगायन

(षष्ठिपूर्ति संस्मरण)

लगभग १८ वर्ष पहले पं. रातंजनकर साहब के ४-५ गाने उनके विषय में चर्चा के साथ सुनने का संयोग मुझे प्राप्त हुआ था। उनके ये सभी गाने विद्वान कलाकारों की महफिल के अनुरूप ही श्रेष्ठ स्तर के थे। उन महफिलों के माध्यम से केवल दो तानपूरों के प्रशांत झंकार में भिन्न भिन्न रागों में स्वरों की श्रुतियाँ कैसे प्रयुक्त होती हैं उसको उन्होंने केवल संबधित स्वरों

पर नहीं, बल्कि श्रुति पर रुककर गाकर दिखाया। यह कार्य संभवत: किसी पहुँचे हुए तंतकार द्वारा ही संपन्न हो सकता है, किंतु एक गायक द्वारा बड़े अधिकरपूर्वक इसका प्रस्तुतीकरण पं. रातंजनकरजी की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। जहांतक मेरी जानकारी है, इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त किया हुआ पं. रातंजनकर के सिवा कोई दूसरा कलाकार नहीं है। उनके गाने का सुसूत्र नोम् तोम् प्रकार भी उतना ही अविस्मरणीय है। उनके गायन में प्रमुखत: सुसूत्रता, शास्त्र एवं कला के सुयोग्य संगम और चिंतनशीलता के दर्शन होते हैं। उनकी गायनकला एवं आचार-विचार के उपर्युक्त गुणसमुच्चय के ही फलस्वरूप वे एक श्रेष्ठ संगीत-शिक्षक के रूप में ख्यातनाम हैं। आजके विद्वान संगीत-शिक्षकों में पं. रातंजनकर का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं श्रेष्ठ है। उनके अनेक नामवर शिष्यगण भारतभर में सुप्रतिष्ठितता के साथ कार्य कर रहे हैं। पं. रातंजनकर के श्रेष्ठ अध्यापन-कौशल की यह एक समर्थ निशानी ही है। गीतकार की हैसियत से भी पं. रातंजनकर का स्थान श्रेष्ठ ही मानना पड़ेगा। उन्होंने अनेक उत्तमोत्तम बंदिशें बनाई हैं। रागुशद्धता, सौंदर्यवत्ता, व्याकरणदृष्टि और उसका ताल अंग आदि की दृष्टि से उनकी न जाने कितनी बंदिशें श्रेष्ठ स्तर की सिद्ध हुई हैं। उन्हींकी रची हुई 'पंचम' राग की 'आवो गावो गावो रिझावो' जैसी एकाध बंदिश भी नमूने के तौर पर ली जाए, तो भी पं. रातंजनकर की बंदिशों का अनोखा स्तर एवं उसकी विशेषता किसीके भी ध्यान में आ सकती है।

– स्व. ना.र. मारुलकर
महाराष्ट्र के मान्यताप्राप्त
गायक-वादक गुरु एवं शोध-कर्ता समीक्षक

पद्मभूषण डॉ. श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर

(षष्ठिपूर्ति संस्मरण)

डॉ. रातंजनकर से मेरा बहुत पुराना परिचय न होने पर भी मैं उन्हें कई सालों से पहचानता आया हूँ। किन्तु इन १०-१२ वर्षों में उनसे मेरा प्रत्यक्ष परिचय हुआ। जब वे मैरिस कॉलेज के प्रिंसिपल थे, तब लखनौ में रेड़ियो कार्यक्रम के लिए मेरा गाना हुआ और वहीं उनसे मेरा दृढ़ परिचय हुआ। मैंने कॉलेज भी देखा। कॉलेज के पास ही के एक हॉल में मेरा गाना हुआ। तब प्रिं. रातंजनकरजी ने श्रोताओं से मेरा परिचय कराते हुए मेरी गायन-सेवा का भी अच्छे शब्दों में वर्णन किया।

स्व. पं. भातखण्डेजी ने संगीत-शास्त्र एवं उसकी शिक्षण-पद्धति तथा उसके अनुभवों का, शिक्षा के द्वारा पं. रातंजनकर को बड़ा लाभ प्रदान कर दिया, मेरी यह दृढ़ धारणा है कि इस विषय में डॉ. रातंजनकरजी का बहुत उत्कृष्ट अध्ययन होने से उन्हें जो मान-सम्मान प्राप्त हुआ वह उनके द्वारा संपन्न संगीत-सेवा का ही फल है। संगीत की शिक्षा के प्रचार का जो कार्य उनके हाथों संपन्न हुआ वह सचमुच प्रशंसनीय है। गायकी के और वादकों के अलग अलग घराने हैं। अपने-अपने उन घरानों के प्रति हर एक को अभिमान एवं आदर होना स्वाभाविक ही है। यदि घराने की पद्धति एवं परंपरा को हमने भुला दिया तो वह बड़े अन्याय की बात

होगी इतना इस परंपरा का महत्त्व है। यही लक्ष्य डॉ. रातंजनकरजी ने अपने सामने रखा और उससे वे चिपके रहे, यह बात उनके लिए अत्यंत भूषणावह है। यहां मैं यह सदिच्छा व्यक्त करता हूँ कि ईश्वर डॉ. रातंजनकर को दीर्घायुरोग्य प्रदान करे और उनके द्वारा भविष्य में संगीत की निरंतर सेवा होती रहे।

– मास्टर कृष्णराव फुलंब्रीकर, पुणे
पं.भास्करबुवा बखले के प्रधान शिष्य,
विख्यात महफिली गायक और वाग्गेयकार

संगीत की बृहत्त्रयी में स्थान के अधिकारी

स्व. अण्णासाहब रातंजनकरजी मेरे लिए गुरुतुल्य हस्ती हैं। १९५८-५९ में डॉ. श्रीमती मुटाटकर के यहां उनके दर्शन का अवसर मुझे मिला था। महान भारतीय संगीतज्ञ डॉ. रातंजनकर उच्च कोटि के कवि-नायक थे।

स्व. पं. विष्णु नारायण भातखंडेजी के प्रचंड कार्य के उपरान्त उत्तम ही स्तरीय कार्य अण्णासाहब ने कर दिखाया। संगीत की शिक्षा के लिए उपयुक्त उत्कृष्ट पाठ्यक्रम तैयार करके, बहुमूल्य बंदिशों की रचना करके तथा अनेक ऊंचे शिष्यों का निर्माण करके आपने संगीत की अपार तथा अनमोल सेवा की है। इस संदर्भ में आचार्य पं. विष्णु दिगंबर तथा आचार्य पं. भातखंडे के साथ अण्णासाहब रातंजनकर का नाम लेना होगा।

– पं. त्रिं. द. जानोरीकर, पुणे
भेंडी बाजार घराने के श्रेष्ठ गायक एवं गुरु

संगीत और नवरस

स्व. अण्णासाहब कभी जोधपुर विश्वविद्यालय के संगीत पाठ्यक्रम के कलासंकाय के सदस्य के रूप में यहां आते रहे और बराबर हमारे यहां ही ठहरते थे। अत: उनसे निकटता का संपर्क बढ़ता गया। उनमें आत्मसम्मान कूट-कूटकर भरा था। एक बार स्व. काबराजी के यहां से उनके लिए बुलावा आया, पर उन्हें लेने वे स्वयं नहीं आए। अण्णासाहब ने क्षमा मांग ली।... एक बार मैंने उनसे पूछा कि क्या संगीत में साहित्य की तरह नवरसधारणा संभव है? काफी सोच-विचार के बाद निष्कर्ष निकला कि किसी भी हालत में नहीं। फिर भी लेख छपते रहते हैं कि संगीत में शृंगार, वीर, करुण, शांत रस तो प्रकट हो सकते हैं, पर भयानक, बीभत्स आदि नहीं। रससिद्धान्त से ये लोग सर्वथा अनभिज्ञ हैं।

– डॉ. नागरमल सहल, जोधपुर
विद्वान संगीत रसिक

गुणग्राहकता और संगीत-साधना का संयोग

कुछ वर्ष पहले की बात है। 'श्रीवल्लभ संगीतालय' की ओर से पं. भातखंडे, पं. पलुस्कर की संयुक्त पुण्यतिथि के उपलक्ष्य में संपन्न होनेवाले कार्यक्रम में मुझे गाने के लिए आमंत्रित किया गया था। जहां तक मुझे याद है, उस समय मैंने एक ख्याल और उसके बाद टप्पा गाया था। इस कार्यक्रम में पं. रातंजनकरजी उपस्थित थे। यमन सुनकर वे अत्यंत प्रभावित हुए और ग्वालियर परंपरा की गायकी के प्रति अपना आदर व्यक्त करने के लिए मेरा आगे का गाना सुनने वे सभागृह के अपने आसन को छोड़कर अचानक मंच पर आकर विराजमान हुए। कार्यक्रम के समाप्त होते ही उन्होंने मुझे कसकर गले लगाया और स्वयंस्फूर्ति से दाद दी। यह उनकी रसिकता एवं गुणग्राहकता का मानो प्रतीक ही था। उनसे फिर कभी मिलने की मेरी इच्छा थी, किन्तु दुर्भाग्य से अगले ही वर्ष पं. रातंजनकरजी का निधन हुआ और फलत: उसी सभागृह में उनकी शोकसभा में उपस्थित रहने की बारी मुझपर आ गई।

मैं अपने गुरु पंडित एकनाथ पंडित के पास जब तालीम पा रहा था, तब गाने के विषय में अनेक ऐसी बोधप्रद बातें सुनने को मिलती थीं जो मेरे अध्ययन के लिए उपादेय हुआ करती थीं। पं. भातखंडेजी ने गुरुजी का गंडा बँधवाने के उपरान्त अण्णासाहब को अर्थात् पं. रातंजनकरजी को गुरुजी से तालीम लेने के लिए भेजा था। उस समय यमन की 'जियो करो कोट' ख्याल की तालीम भी शुरू हो गई। किन्तु लगता है कि एकनाथजी का वास्तव्य बंबई में स्थायी रूप में न होने से आगे चलकर शायद तालीम का संयोग नहीं जुड़ा होगा। तत्पश्चात् पं. कृष्णराव पंडित के पास भी शिक्षा लेने के बारे में पूछताछ की गई थी किन्तु यह संयोग भी नहीं जुड़ा।

–पं. शरच्चंद्र आरोळकर, बम्बई
ग्वालियर घराने के बुजुर्ग गायक, आचार्य
कृष्ण शंकर और एकनाथ पंडित के शिष्य

मैरिस कॉलेज का माहौल

(स्व. कृष्णराव मुजुमदार, इन्दौर से डॉ. सुशीला पोहनकर ने बातचीत की थी उसका सारांश)

लखनऊ के मैरिस कॉलेज में मैंने तीन वर्ष तक संगीत का अध्ययन किया। अण्णासाहब के पास सीखने का अवसर मुझे मिला। वहां सर्वश्री दंताळे, चिंचोरे, चिदानंद, वी.जी. जोग, भट, गिंडे, नातूसाहब सभी से परिचय हुआ।

अण्णासाहब के पढ़ाने के बारे में बताना हो तो वे बड़े ही अनुशासनप्रिय थे। गाने में भूल होती हो तो गुस्सा न करते; लेकिन बार बार कहलवाते थे। रागों की प्रस्तुति, सुरों के लगाव, साधर्म्य रखनेवाले रागों के भिन्न भिन्न रूप बहुत सुंदर ढंग से समझाते। शिष्यों से उनका पुत्रवत् प्रेम था। कइयों को उन्होंने कॉलेज में ही रहने के लिए जगह दी थी। वे वहां अकेले रहते थे। अत: शिष्यगण, कलाकार मित्र यही उनका परिवार था। आठों पहर स्वरों का साम्राज्य रहता। जहां तहां तानपूरों की गुंजार, शिष्यों का रियाज, उसमें अण्णासाहब का स्वर सब गूंजता रहता था। गुरु-शिष्य परंपरा का परिदृश्य वास्तविक रूप में वहां देखने को मिलता।

अण्णासाहब की विद्वत्ता, रागों का गहरा ज्ञान, स्वर-लय पर प्रभुत्व सब अब भी याद आता

है। वे जैसे विद्वान शिक्षक थे, वैसे ही उत्कृष्ट गायक भी थे। वे शिष्यों में कभी भेद-भाव न करते थे। उन्हें मालूम था कि मैं रजबअली खांसाहब का शागिर्द हूं। लेकिन कभी उन्होंने मेरे साथ दूरता नहीं बरती। महफिल के लिए मुझे अपने साथ ले चलते। मौका रहने पर मुझे गाने के लिए बिठाते...

कृष्ण मुजुमदार
इंदौरनिवासी जानेमाने गान-साधक, मैरिस कॉलेज के छात्र

पं. भातखंडेजी का प्रतिरूप

(पं. निवृत्तिबुवा सरनाईक से डॉ. के.जी. गिंडे की बातचीत)

अण्णासाहब रातंजनकरजी से मेरा परिचय पुराना था। उन्होंने संगीत की जो सेवा की, वैसी और किसीने नहीं की होगी। उन्होंने लगभग छः सौ बंदिशों की रचना की है और सभी बंदिशें उच्च स्तर की हैं। प्रत्येक स्वर पर उन्होंने गहराई से विचार किया था। उन्होंने अपनी षष्ठिपूर्ति में मुझ जैसे सामान्य कलाकार को स्वयं निमंत्रित करके अपनी उदारता का परिचय दिया था।

रेड़ियो ऑड़िशन के विरोधी आंदोलन में अपनी तरफ से मैं शामिल नहीं हुआ था। लेकिन लोगों ने मुझे एम्पायर होटेल (माटुंगा) में रोकके रखा। मुझे घर जाने ही नहीं दिया। लेकिन मैं कहता हूं कि अण्णासाहब ने ऑडिशन के बारे में जो किया वह अच्छा ही किया। उसकी तारीफ आज हो रही है। वरन् दिनकर कैकिणी से मैं कहूं कि भैया, हम आए हैं और वह कह देगा, "तुम तो पास ही हो।" ऐसी हालत हो जाती। इसका जो विरोध हुआ वह बड़े बड़े गायकोंने किया। वे गानेवाले बड़े थे किंतु उनके पास गाने की जानकारी नहीं थी। केसकरसाहब सोचते थे कि गायकों में ज्ञान की कमी नहीं रहनी चाहिए। किसीका अपमान करने का उनका इरादा नहीं था।

अण्णासाहब ने सच्चा विद्यादान किया। शिष्यों को संपूर्ण दृष्टि से विद्या सिखाई। बंदिशें परिपूर्ण रूप में बताईं, उनके अर्थ के साथ। ज्ञान के बारेमें तो मैं उन्हें भातखंडेजी का ही एक संस्करण मानता हू। (डॉ. गिंडे को उद्देश्य करके) "गिंडेसाहब, आप और आपके सहयोगी कितने भाग्यवान हैं कि आप लोग अण्णासाहब के निकट पहुंच सके। और खासकर आप भी हमारी पीढ़ी के एक सच्चे पंडित हैं। आपके जितना इल्म और याददाश्त बहुत कम साधकों में मिल सकती है। आप सब शिष्यों पर गुरु की कृपा है। अण्णासाहब के शिष्य आप और भट, कायकिणी आदि का गाना सुनने पर यह महसूस होता है कि यह पुस्तक का रटा हुआ गाना नहीं, असली गायन है। अण्णासाहब का यह बड़ा कार्य है।"

– पं. निवृत्तिबुवा सरनाईक
अत्रौली, जयपूर घराने के विख्यात गायक, संगीत रिसर्च अकादमी, कलकत्ता में प्राध्यापक

रागरंग के गायक

मेरे विचार में इस सदी के सबसे श्रेष्ठ ख्यालगायक उ. फैय्याज हुसेन खांसाहब ही थे और उनकी झलक मिलती थी आचार्य रातंजनकरजी में। कभी कभी जब रातंजनकरजी छोटे से कमरे में १०-१२ लोगों की बैठक में गायन प्रस्तुत करते थे तो सभी को भावविभोर कर देते। परिश्रमी एवं लगनभीने आचार्य रातंजनकरजी राग-रंग के गायक थे, राग-जंग के नहीं। परंतु उनपर मैरिस कॉलेज के बोझ के कारण ही वे गायक कलाकारों की भांति कभी संगीत-सम्मेलन के मंचपर नहीं गा सके। एक विचित्र बात यह थी कि बहुत मधुर एवं मोहक आवाज होनेपर भी उस समय के माईक्रोफोन उनकी आवाज को ठीक ठीक नहीं पकड़ पाते थे; यह बात उनके ग्रामोफोन रिकार्ड को सुनते ही स्पष्ट होती है।

ख्यालगायन की विशेषता है सुंदर तथा भावपूर्ण स्थायी गायन। रातंजनकरजी में भावपूर्ण स्थायी गाने की अनूठी कला थी। एक बार उनसे निम्नलिखित गौड़ मलार की स्थायी सुनी थी और वैसा गायन किसी और से आजतक सुना नहीं। ख्याल था- 'जानी जानी तुम्हरे मन की सब जानी, बात पियरवा, जाओ हमें न समझाओ। अब बस करो अपनी मेहेरबानी।....' रातंजनकरजी ने गीत के एक एक भाव को रागद्वारा ऐसा चमत्कारिक ढंग से गाया कि १९४० का सुना गायन आज १९९० में भी याद आने पर कानों में गूंजकर मेरे मन को कहीं दूर ले जाता है।..... रातंजनकरजी की मुसकान तथा उनकी आंखों की चमक आज भी अच्छी तरह याद है।

– जी.सी. उप्रैती

सरसावा (सहरानपुर), ऊंचे संगीतप्रेमी;
उन दिनों मैरिस कॉलेज से संपर्क रखनेवाले।

'विभास' की धैवत और गायन का करिश्मा

श्रीमान अण्णासाहब सिखाते समय राग में लगनेवाले स्वर-स्थान पर विशेष ध्यान देते थे। इसका एक उदाहरण मेरी स्मृति में अच्छी तरह है। दूसरे साल हम लोग भैरव के प्रकार सीख रहे थे। राग जोगिया सीखने के बाद राग विभास शुरू हुआ। इस राग में कोमल धैवत का एक विशिष्ट स्थान है, जो कि अन्य रागों में, प्रयुक्त होनेवाले धैवत से भिन्न है। यह विशिष्ट स्थान का धैवत ठीक से आने के लिए पूरे दो महीने लगे। उसका कारण यह था कि अकेले गानेपर स्वर-स्थान ठीक लगते थे। परन्तु और विद्यार्थियों के साथ गानेपर किसी अन्य विद्यार्थी का धैवत जरा-सा ऊंचा होने पर हम लोग भी उसमें मिल जाते थे, और राग विभास का वह रूप बिगड़ जाता था, तत्पश्चात् श्री अण्णासाहब स्वयं गाकर ठीक करा देते थे। सन १९३६ के दिसंबर में लखनऊ में औद्योगिक प्रदर्शनी उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा चौक में आयोजित की गई थी। इस प्रदर्शनी में शिक्षा, सांस्कृतिक विभाग तथा अखिल भारतीय संगीत परिषद (कॉन्फ्रेन्स) का भी आयोजन था। उस समय के देश के उच्च कलाकार भिन्न भिन्न प्रांत तथा रियासतों से (States) आए थे। यह परिषद पूरे पांच दिन चली थी। इनमें ध्रुपद-धमार गायक, ख्याल, ठुमरी, टप्पा शैली के गायक, तथा सितार, सरोद, विचित्र वीणा, मृदंग, तबला आदि

के वादक और कथक नृत्य के कलाकारों ने भाग लिया था। उस समय के उच्च गायक-वादक उस्ताद फैयाजखां, उ. नासिरुद्दीनखां (इंदौर), उस्ताद हाफिजअलीखां, उ. नासिरुद्दीनखां (कच्छ), उ. अल्लाउद्दीनखां इत्यादि प्रमुख कलाकारों ने भाग लिया था।

संगीत-सभा के दूसरे दिन रात दो प्रमुख कार्यक्रम थे। उस्ताद नासिरुद्दीनखां (कच्छ) का ध्रुपद धमार गायन तथा उ. फैयाजखां का ख्याल गायन। बाकी एक नृत्य तथा बेला-वादन।

उ. नासिरुद्दीनखां साहब का कार्यक्रम लगभग ८ बजे शुरू हुआ। उन्होंने नोम् तोम् इतनी अच्छे ढंग से की जिससे उपस्थित गायक, वादक और संगीत-प्रेमी जनता गायन सुनकर मुग्ध हो गई। ध्रुपद धमार में लयकारी से लोग झूमने लगे। इसके बाद एक छोटा-सा नृत्य का कार्यक्रम था और उसके बाद उ. फैयाजखांसाहब का कार्यक्रम था। नृत्य का कार्यक्रम शुरू होते ही उ. फैयाजखांसाहब की साज मिलाने के लिए खोज शुरू हुई, परन्तु वे पंडाल में नहीं थे। वे नृत्य शुरू होने के साथ ही श्री चौबे के साथ चले गए थे। मैंने यह कहते हुए सुना था कि "चौबे जल्दी चलो, आज हम नहीं गाएंगे।" मैंने यह सूचना श्री अण्णासाहब के पास पहुंचाई, और उन्होंने कहा कि श्री नातूजी से कहो कि तानपूरे मिलाए एवं सदाशिव से तबला मिलाने के लिए कहो।

नृत्य का कार्यक्रम समाप्त होने के बाद स्टेजपर तानपूरे रखे गए, और अण्णासाहब ने स्टेजपर बैठकर अपना गायन नोंम् तोंम शुरू की जो उ. फैय्याजखांसाहब की याद दिला रही थी। पूरे दो घंटों तक गायन चलता रहा और गायक, वादक तथा जनता मंत्रमुग्ध हो गई। लोग यह भी भूल गए कि उस्ताद फैय्याजखां का कार्यक्रम था। उस दिन का कार्यक्रम मेरे लिए चिरस्मरणीय था।

– श्री शं. र. आळेकर

माधव संगीत विद्यालय के स्नातक, कुछ
काल अण्णासाहब से शिक्षा; आज रजिस्ट्रार
भातखंडे संगीत विद्यापीठ, लखनऊ

दिव्य निःस्पृहता एवं श्रद्धालुता

घटना इ.स. १९३९ की है। मैं उस समय भातखंडे संगीत विश्वविद्यालय, लखनऊ में तृतीय वर्ष अर्थात् 'इंटरमिजिएट इन म्यूजिक' का विद्यार्थी था। 'संगीत विशारद' के बाद की अधिकृत कक्षाएं उस समय विश्वविद्यालय में लगती नहीं थीं; परंतु प.पू. गुरुवर अण्णासाहब उन कक्षाओं को विधिवत् चालू करने हेतु प्रातः दो घंटे कुछ प्रतिभावान विद्यार्थियों को संगीत सिखाते थे। उस कक्षा में मेरे पू. गुरु भटसाहब, सुविख्यात तबलावादक श्री. व्ही. जी. जोग, प्राध्यापक मु.वि. काळविट, 'संगीत' मासिक पत्रिका के भूतपूर्व संपादक श्री. महेश नारायण सक्सेना आदि संगीत की शिक्षा ग्रहण करते थे। इस सुअवसर का लाभ उठाने हेतु 'चतुर संगीत विद्यालय' नागपुर के प्राचार्य श्रीयुत निस्ताने अध्ययन अवकाश प्राप्त कर एक शैक्षणिक सत्र के लिए लखनऊ आए थे। गुरुवर्य अण्णासाहब से वे विशेष परिचित नहीं थे। अतः वे बड़े आग्रह के साथ मुझको अपने साथ विशेष परिचय कराने एवं श्री निस्तानेजी का लखनऊ आने का प्रयोजन कथन करने हेतु गुरु अण्णासाहेब के पास ले गए।

अपने प.पू. गुरुवर्य भटसाहब के पास छात्र-निवास में संगीत अध्ययन हेतु मैं प्रतिदिन ही जाया करता था और ऋषितुल्य जीवन व्यतीत करनेवाले हमारे गुरु अण्णासाहब उसी भवन के एक कक्ष में रहा करते थे, अत: मुझे भली भांति जानते थे।

मैं श्री निस्तानेजी को गुरु अण्णासाहेब के पास ले गया और उनका परिचय एवं लखनऊ आने का प्रयोजन भी उनसे कथन किया। श्री निस्तानेजी अपने साथ गुरुवर्य को उपहार स्वरूप देने के लिए सुप्रसिद्ध उमरेड की एक कीमती धोती लाए थे। मैंने श्री निस्तानेजी को पहले से कहा था कि "गुरुवर्य एक अत्यंत त्यागी एवं नि:स्पृह ऋषि हैं, वे आपका कोई भी उपहार अथवा गुरुदक्षिणा स्वीकार नहीं करेंगे वे अपत्यवत् प्रेम करके विद्यादान करने में अपने जीवन का साफल्य समझते हैं।"

हुआ प्रत्यक्ष वैसा ही। श्री निस्तानेजी की भेंटस्वरूप दी हुई धोती उन्होंने लेनेसे स्पष्टत: इन्कार कर दिया। श्री निस्तानेजी की आंखों से आंसू छलकने लग गए। परंतु गुरु अण्णासाहब अपने सिद्धान्त से तिलभर भी विचलित हुए नहीं और बड़े ही स्नेह से कहा, "कल से प्रात:कालीन कक्षा में आया कीजिए"।

हम दोनों गुरुवर्य के कक्ष से बाहर आ गए। दो मिनट तक तो कोई एक दूसरे से बोल ही न सका। श्री निस्तानेजी ने केवल इतना ही कहा, "मूर्ति छोटी परंतु कीर्ति बहुत ही बड़ी है, मैंने आजतक ऐसा नि:स्पृह और विद्यादान में तत्पर किसी को भी नहीं पाया।"

आगे श्री निस्तानेजी सालभर उस कक्षा का विनामूल्य लाभ उठाकर तृप्त होकर वापस नागपुर आए।

घटना १९४० 'रक्षाबंधन' के दिन की है। इस दिन ब्राह्मण, जिनका उपनयन-संस्कार (जनेऊ) हुआ है, अपना यज्ञोपवीत बदलकर विधिवत् दूसरा नया यज्ञोपवीत धारण करते हैं। इस विधि को महाराष्ट्र में 'श्रावणी' कहते हैं।

उपरोल्लिखित श्रावणी के एक दिन पूर्व ही प.पू. गुरुवर्य अण्णासाहब ने मुझको 'श्रावणी' के दिन प्रात: ९ बजे उनके पास उपस्थित होने का निमंत्रण दिया था।

निमंत्रण के अनुसार मैं उनके पास उपस्थित हो गया। सस्मित उन्होंने कहा, "आइए, बैठिए"

मुझको अकेले को ही निमंत्रित करने का कारण मैं जानता नहीं था। मेरा मन कारण की खोज में अंदर ही अंदर भटक रहा था कि गुरुजी हाथ में मिठाई की तश्तरी लेकर पधारे। मैं उन्हें उत्थान देने हेतु उठ खड़ा होने लगा तो कहने लगे, "ब्राह्मण देवता, आज हम आपका सम्मान करेंगे, आज 'श्रावणी' है। मेरे पू. पिताजी ने मेरा उपनयन-संस्कार किया है। आज विधिवत् मुझे यज्ञोपवीत धारण करना है।"

इतना कहकर उन्होंने यज्ञोपवीत धारण कर लिया और मिठाई की तश्तरी सविनय मेरे हाथ धरवाकर मुझे झुककर नमस्कार किया।

वह मेरे गुरु और मेरे दादागुरु (प.पू. गुरु भटसाहब के वे गुरु हैं और मैं गुरु भटसाहब का विद्यार्थी) भी हैं। वितानवत् व्यक्तित्व की यह विनयशीलता, ब्राह्मण एवं ब्राह्मण्य के प्रति समादर उनमें पाकर श्रद्धा से उनके प्रति कौन नतमस्तक न होगा? मेरा और उनका नाता ध्यान में रखकर उनका मुझको झुककर नमस्कार करने का मुझपर क्या परिणाम हुआ होगा इसकी कल्पना पाठक कर सकते हैं। मैं तो एकदम स्तम्भित ही हो गया।

मुझ जैसा अति सामान्य व्यक्ति अंतरिक्ष से टक्कर लेनेवाली उनकी महानता का अनुमान ही नहीं लगा पाता। छोटी-सी कृति में उनकी कितनी बड़ी महानता छिपी है!

डी. जी. फड़के
भातखंडे सं. विद्यापीठ के स्नातक,
भूतपूर्व प्राध्यापक, वनस्थली

श्रद्धेय गुरुवर्य अन्नासाहिब

सन १९६० में 'भातखण्डे संगीत विद्यालय' द्वारा आयोजित रिकार्डिंग में मुझे अन्नासाहिब के साथ तानपूरा बजाने व आवाज लगाने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इस रिकार्डिंग के प्रारम्भ में राग वर्णन, विस्तृत आलाप, धमार, विलम्बित ख्याल, एवं द्रुत ख्याल का गायन अन्नासाहिब ने विस्तृत रूप से किया है। सन १९६६ में उत्तर प्रदेश सरकार ने भातखंडे संगीत महाविद्यालय का अधिग्रहण किया। उ. प्र. शासन के अनुरोध पर फरवरी सन १९६७ में एक बार पुनः अन्नासाहिब 'भातखंडे संगीत महाविद्यालय' लखनऊ के प्रधानाचार्य के पद पर आसीन हुए और महाविद्यालय उनके मार्गदर्शन में प्रगति की दिशा में अग्रसर हुआ और लगभग तीन वर्ष तक वे प्रधानाचार्य पद पर कार्यरत रहे। मुझे इन तीन वर्षों में उनसे शिक्षा प्राप्त करने एवं उनको निकट से देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। अन्नासाहिब की दिनचर्या ऋषि मुनियों के समान थी। पूरा दिन पठन, पाठन व अध्ययन में व्यतीत होता था। दिन में वे कभी नहीं सोते थे, रात्रि में प्रायः तीन चार घण्टे से अधिक नहीं सोते थे। संगीत विषय के अतिरिक्त अन्य किसी विषय पर कोई बात नहीं करते थे। परीक्षासम्बन्धी गोपनीयता में अत्यधिक सतर्कता बरतते थे। कोई भी परीक्षा सम्बन्धी प्रपत्र बाहर अपने कक्ष में मेज आदि पर नहीं रखते थे। बल्कि एक लोहे के ट्रंक में ताला लगाकर रखते जिसकी चाबी उनके जनेऊ में बंधी रहती थी।

महाविद्यालय की ग्रीष्मकालीन एवं शीतकालीन अवकाश में प्रायः वे अपने घर बम्बई जाते थे और लौटने पर एक डायरी में विविध व्यंजन बनाने की विधियां लिख लाते थे। प्रत्येक इतवार को प्रातः शिक्षा प्राप्त करने हेतु मैं उनके पास जाता था और प्रायः उन्हींके साथ भोजन भी करता था। अधिकतर इतवार को वे कोई न कोई नया व्यंजन अपनी देख-रेख में रामा से बनवाया करते थे। भोजन के पश्चात् उक्त व्यंजन बनाने की विधि डायरी से पढ़कर सुनाते थे।

उनमें संगीत सम्बन्धी अलौकिक प्रतिभा थी। संगीत सम्बन्धी शास्त्र एवं रागों के उत्तर देने में उन्हें तनिक भी सोचना नहीं पडता था। कठिन से कठिन रागों के रास्ते वे इतनी सरलता से समझाते थे कि वे तुरन्त समझ में आ जाते थे। एक बार उन्होंने एक नवीन राग 'मालव मंजरी' राग का सृजन किया और उसमें पंजाबी में एक रचना 'हो मेडा साई' का निर्माण किया और उसी समय मुझे उसकी शिक्षा दी एवं अपने हाथों से स्वरलिपि बनाकर मेरे सामने रख दी और मुझसे कहा कि आज मैं यह रचना 'छोटू' के पास बम्बई भेज रहा हूँ इसका द्रुत ख्याल वहां से बनकर आएगा। लगभग बीस-पच्चीस दिन के पश्चात् बम्बई से गिण्डेजी ने द्रुत ख्याल सृजित कर अन्नासाहिब को भेज दिया। उन्होंने तुरन्त मुझे बुलाकर गाकर सुनाया और कहा कि जैसी रचना मैं चाहता था ठीक उसीके अनुरूप यह रचना बनकर आई है और

प्रसन्नता से उनका चेहरा गद्‌गद् हो गया। कहने लगे छोटू एक मात्र मेरे ऐसे शिष्य हैं जो मेरे सूक्ष्मात्मक भावों को समझते हैं। जो मैं अन्दर से चाहता हू वह वैसी ही रचनाओं का निर्माण करते हैं। इस प्रकार अन्नासाहिब और श्री के. जी. गिण्डे में संगीत की आत्मिक तारतम्यता थी।*

अन्नासाहिब अपने दैनिक व्यय आदि को एक डायरी में नोट करते थे। प्राय: उनके रेल्वे के आरक्षण आदि की व्यवस्था मैं ही करता था। कभी कभी खुले पैसे न होने के कारण दस पैसे, पन्द्रह पैसे का हिसाब उनकी ओर रह जाता था तो दूसरे दिन महाविद्यालय में आने पर वे अपने प्रधानाचार्य कक्ष से निकलकर, सीढ़िया चढ़कर प्रथम तल पर स्थित मेरे कक्षमें स्वयं आकर वे दस अथवा पन्द्रह पैसे लौटाते थे। मुझे बहुत आश्चर्य होता था और प्राय: मैं उनसे कहता था कि यह दस पैसे लौटाने की क्या आवश्यकता थी, और यदि लौटाने ही आवश्यक थे तो मुझे अपने कक्ष में बुला लिया होता अथवा चपरासी के हाथ भेज दिए होते। उस पर उनका उत्तर होता था कि यह मेरा व्यक्तिगत कार्य है अत: मुझे स्वयं आना चाहिए और तुम्हें क्यों बुलाऊं। इस प्रकार उनका व्यक्तित्व बहुत ऊंचा था।

एक बार आसाम प्रदेश की एक छात्रा का लखनऊ के बलरामपुर अस्पताल में शाम को निधन हो गया और अस्पताल के कर्मचारियों ने उसकी लाश लाश-घर में रख दी। अन्नासाहिब को जब यह ज्ञात हुआ तो वह बहुत दुखित हुए और कहा कि यदि मेरी स्वयं की पुत्री होती तो क्या उसकी लाश लावारिस लाश-घर में रखी जाती। उन्होंने कहा "यह छात्रा भी मेरे लिए पुत्रीतुल्य है।" अन्नासाहिब ने तुरन्त अपनी जेब से रुपए निकाल कर लाश-गाडी मंगवाई एवं छात्रा को महाविद्यालय परिसर में ले आए और रात भर जागते रहे और छात्रा के परिवार से टेलिफोन आदि से संपर्क करने में व्यस्त रहे। मुझे अच्छी तरह याद है कि हम सभी के बार बार आग्रह करने पर भी वे एक क्षण के लिए भी विश्राम हेतु नहीं गए। इस प्रकार अन्नासाहिब का अपने छात्र-छात्राओं के प्रति व्यवहार पितृतुल्य एवं स्नेहपूर्ण था।

अन्नासाहिब स्वभाव से सरल, सहृदय एवं अनुशासनप्रिय थे। वह सदैव इस बात का ध्यान रखते थे कि उनके कारण किसी को कष्ट न पहुंचे। मुझे कई बार उनके साथ यात्रा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैंने देखा कि वह देर तक अपनी शयनिका पर अध्ययनरत रहते थे। यात्रा में उनके साथ तीन चार टॉर्च रहती थी। रात नौ दस बजे के पश्चात् जब सहयात्री सो जाते थे तो वह अंधेरा होने पर वह उन टार्चों की सहायता से देर रात तक पढ़ते रहते थे। इस प्रकार वह दूसरों की सुख सुविधा का बहुत ध्यान रखते थे।

फरवरी सन १९७० में अन्नासाहिब के बंबई जाने के पूर्व डॉ. एस. एस. अवस्थी के आग्रह पर अन्नासाहिब के गायन का कार्यक्रम बली साहिब के घर पर आयोजित किया गया तथा उनसे राग पटमंजरी के विषय में अवस्थीजी ने अपनी जिज्ञासा व्यक्त की । उन्होंने दोनों थाटों

.....

टिप्पणी : वास्तव में श्रद्धेय अण्णासाहब ने विलम्बित एवं द्रुत ख्याल दोनों ही रचकर मेरे पास भेजे थे । मैंने विलम्बित रचना को तालबद्ध एवम् दोनों रचनाओं में मेरी सूझ के अनुसार कुछ पाठभेद कर उनके पास भेजा था, जिन्हें उनकी ओर से मान्यता मिली। के. जी. गिण्डे

की पटमंजरी को इतनी सरलता से समझाया कि सभी श्रोता चकित रह गए । साथ ही उन्होंने यह कहा कि यह तो सब शास्त्र के नियम हैं और अब इसकी गायकी का रूप देखो ऐसा होगा । उसके पश्चात् गौरी राग के विभिन्न प्रकारों के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा करते हुए उन्हें गाकर सुनाया ।

अन्नासाहिब संगीत के भंडार थे । प्रायोगिक एवं शास्त्र दोनों पर उनका समान अधिकार था।

अन्नासाहिब के अनेक अविस्मरणीय संस्मरण हैं जिनको कहां तक लिखा जाए । मैं तो सिर्फ यही कहूंगा कि वह एक महान संगीत महर्षि थे ।

डॉ. प्रेमसिंह किनोत
सहायक प्रोफेसर गायन
भातखंडे संगीत महाविद्यालय, लखनऊ


ENGLISH
SECTION



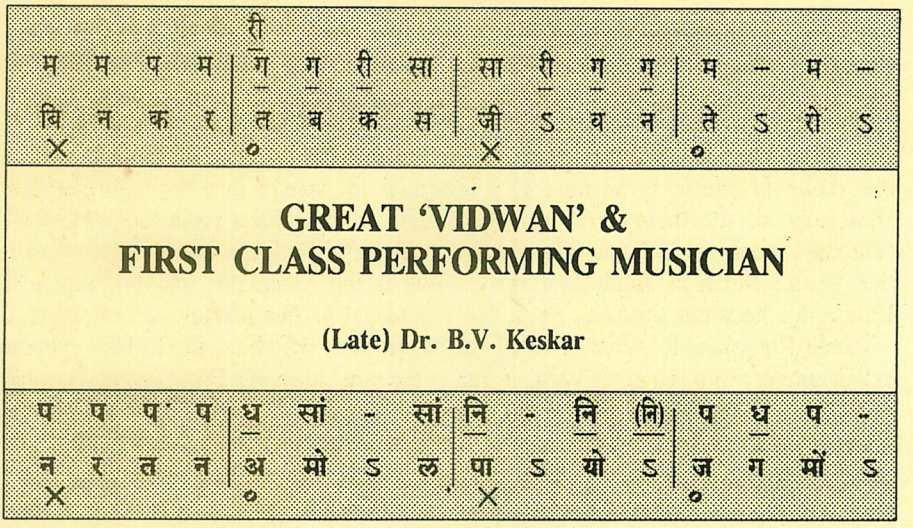

[Ex Minister, Information and Broadcasting, Government of India and Ex Chairman National Book Trust. Professor in Sanskrit Vidyapeeth, Varanasi. Got training in Dhrupad from Sri Harinath Mukherji of Varanasi. He translated into Hindi Pt. Bhatkhande's 'Shastrapravesh' in three parts and the Marathi Articles in his books. As Minister of Information and Broadcasting Dr. Keskar took lot of interest in the progress of Marris College of Music.]

The revival of music in India has been parallel, to some extent, to the national revival in the political and economic fields. The vacuum created during the days of British rule by which most of our cultural activities suffered a great set-back, had stifled music to such an extent that it was on the point of extinction. In Hindustani music, the work of Bhatkhande and Paluskar started the great revival.

Pandit Ratanjankar had the privilege of learning music from Pandit Bhatkhande. He also had the great benefit of practical guidance and help of the late Ustad Faiyaz Khan in the practical art of concert music. He is himself a scholar of Sanskrit and has made a deep study of the history and theory of Hindustani, and, to some extent, of Karnataka music.

In Hindustani music world we have few, in fact hardly any, Vidwans who are well up in both the theory and the practice of music. In fact, there is a prevalent notion amongst musicians that theory has no practical value. This is probably the result of generations of performing musicians who had no knowledge of Sanskrit and, therefore, lost touch with the basis of our music. In fact, there can hardly be any music without its theory and base and also its historical background.

Because of the want of this essential background knowledge of theory and

history and also an absence of general culture amongst performing musicians, music has suffered a double draw-back. Its stature in society has been lowered to an inferior position than other arts and the necessity of music as a part of general culture in society has not been able to impress the educated classes. There has been a tendency to confound the present position of musicians with the status of music in society. It is essential to have a general culture and a knowledge of the theory and history in order to become a really complete and first-class musician. In Karnataka music we will generally find it so. It is unfortunate that in the North in Hindustani system this is the exceptions and not the rule. Unless this becomes the rule, music will fail to get its due position in our society.

Pandit Ratanjankar is one of those rare exceptions who have the highest cultural achievements, who is a great Vidwan and, at the same time, is a first-class performing musician. He has devoted his life to music and its propagation with a single-mindedness an at a great personal sacrifice. This has been his 'tapasya' and I am sure that the coming history of music will benefit by his devotion and his work.

I hope he will live long to give the benefit of his experience, both theoretical and practical, to the growth of Hindustani music.

B.V. Keskar

New Delhi,
December 16, 1961.

.....

(Reproduced from the Commemoration Volume
in Honour of - Dr. S.N. Ratanjankar - 1961).

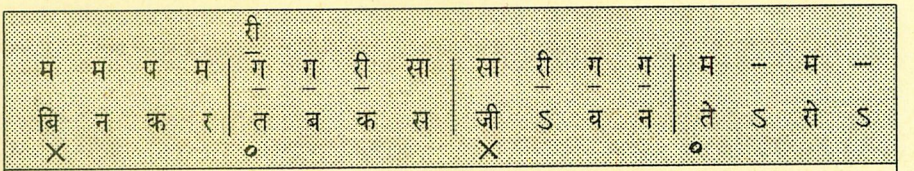

DR. S.N. RATANJANKAR : A TRIBUTE

(Late) Thakur Jaideva Singh

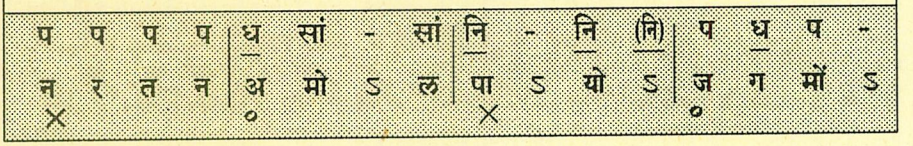

[*A musician of repute, M.A. degree holder and disciple of Pt. Shrikrishna Hirlekar and Pt. G.N. Natu. An experienced authority in al sorts of organizations concerned with music. Thakur Sahib was appointed as the Chief Producer of music at the A.I.R. Delhi. Learned Scholar of music and philosophy. His other interests were Yoga and Tantrik literature.*]

The Marris College of Music had been started at Lucknow in 1926 with the efforts of Pandit V.N. Bhatkhande, Raja Nawab Ali, Rai Umanath Bali and Rai Rajeshwar Bali. In the initial stages of the College, Pandit V.N. Bhatkhande used to reside mostly in Lucknow. It was the month of February when I went to see him there.

Shri. Shrikrishna Narain Ratanjankar had been appointed as Professor of Vocal Music in the Marris Music College. Shri. Ratanjankar was taking his class. Pt. Bhatkhande asked me to go to his class and watch how he was teaching. I hesitated, for firstly I was not acquainted with him, and secondly I considered it a bad manner to go to a teacher while he was taking his class. But Pt. Bhatkhande insisted that I should watch him teach and report my impressions to him. "Come along with me", he said., "I shall introduce you to him". There was no arguing with him. I could not but obey him. I went with him to Shri. Ratanjankar's class. Panditji kindly introduced me to him and said, "I have asked this gentleman to sit in your class, and watch how you teach". Panditji's word was law. Shri. Ratanjankar beckoned to me to sit. Panditji left. Shri. Ratanjankar was teaching to the class a song of Kadar Piya in Raga Kaphi "Rahi hai Kaise bijuri chamak rahi hai kaise bijuri". His method of teaching was excellent. After a few minutes,

the class was over. I came back and reported to Pt. Bhatkhande my impressions of the teaching qualities of his dear pupil, Panditji always used to refer to him by a term of endearment, viz., 'Babu Rao' or simply 'Babu'.

Fortyeight years have passed since then, but the memory of my first acquaintance with Shri. Ratanjankar is still fresh in my mind.

His Life :

He was born in Bombay on 31st December, 1899. His father's name was Shri. Narayana Govindji. He was a lover of Music and used to play Sitar. Child Ratanjankar used to listen to the entrancing tunes in ratpures whenever his father played his favourite instrument. Thus was sown in him the seed of the future musician.

His father marked his deep interest in music and appointed for him a tutor in music in 1907 when he was barely eight years old. The name of the tutor was Pandit Krishna Bhatt Honavar. He learned music under his guidance for nearly two years. He acquired such wonderful insight into the nature and form of musical notes that he could recognise and name the note played on any instrument. His father now put him under the guidance of Pandit Anant Manohar Joshi an excellent pupil of Pandit Balkrishna Buva Ichalkaranjikar.

After some time, his father invited Pandit Vishnu Narayana Bhatkhande to listen to the boy and make suggestions for his future training. Panditji asked the boy to sing all the twelve notes **"Sa-re re-ga ga-ma ma pa-dha dha-ni ni"** in succession without stopping. Ratanjankar sang out these notes in quick succession without the slighest flaw. Panditji was greatly impressed and recognised him the promise and potency of a great musician.

In 1912, he became a regular pupil of Panditji and this relationship lasted till the end of his life. In 1916, Ratanjankar made his debut as a performer in the All India Music Conference organized by Panditji at Baroda. Every one was greatly impressed by his performance. In 1917, Panditji persuaded the Maharaja of Baroda to grant him a scholarship so that he could learn music there, under Ustad Faiyaz Khan. He received training from Ustad Faiyaz Khan for five years in Baroda and also passed the High School Examination. He also took part in the All India Music Conference held in Delhi in 1918 and in Banaras in 1919. In 1922, he passed the Intermediate Examination. In 1923, he joined the Gujarat College at Ahmedabad. Owing to pecuniary difficulties, he had to come away to Bombay. In 1926, he took his B.A. degree as a student of the Wilson College, Bombay.

Pandit Bhatkhande had by that time established Sharada Sangit Mandal and appointed him a music teacher in it.

In 1926, when the Marris Music College was established in Lucknow, Shri. Ratanjankar was appointed as Professor of Vocal Music there. In 1928, he was appointed as the Principal of this college which was later named Bhatkhande Vidyapeeth. He held this post till 1956 when he was appointed Vice-Chancellor of Indira Kala Sangit Vishwavidyalaya, Khairagarh (M.P.). In 1957, he was awarded

'Padmabhushan' by the Government of India. He retired from Khairagarh after three years or so. Since then he lived in Bombay. The Khairagarh University conferred on him the degree of D. Mus. (honoris causa).

In the last years of his life, he had to face great trouble- both physical and financial. He became a prey to arthritis which made it impossible for him to move about. Financially, he was in sore straits. As Principal of the Bhatkhande Vidyapeeth, he drew only a pittance of Rs. 250/- per month which was not paid regularly. He sacrificed his whole life for the mission of his Guru. The Maharashtra Government refused to grant him any aid, for he had worked entirely in Uttar Pradesh. The U.P. Government was not prepared to grant him any aid, for he had worked privately managed College and not in any Government Institution. After a good deal of representation, the U.P. Government granted him an yearly financial aid of Rs. 3,000/- in the last year of his life. Earlier, it had granted Rs. 2,000/- in two instalment of Rs.1000/- each.

His health went on deteriorating. He was admitted in a Nursing Home on 12th February. He passed away there owing to heart failure on 14th February, 1974 in the early hours of the morning.

Dr. Ratanjankar was great in many respects as a performer, as a teacher, as a composer and as a musicologist.

As a Performer

He was an excellent performer from the point of view of sheer purity of Raga, he had few equals. He could sing Dhruvapada, Dhamar and Kheal equally beautifully. Unfortunately, he was audience- conscious and was not at his best in a large gathering. In smaller gatherings, however, he shone as an ace performer. Both in alapa and tana, he was very creative. His saragams were not simply an exercise in note production. They were beautiful combinations, closely allied to laya, and beautifully expressive of the Raga-bhava.

As a Teacher

He was as great a teacher as perfomer. He knew the heuristic art of eliciting from his pupils most difficult note-combinations successfully. Whether it was the gandhara of Todi or of Piloo, whether it was the dhaivata of Marwa or of Deshi, he knew the trick of drawing it out from the throat of his pupil.

He has left behind three pupils as excellent performers in Shri. K.G. Ginde, Shri. Bhatt and Shri. Dinkar Kaikini.

As A Composer

Unfortunately, there have been very few composers in Indian Music. Particularly in Hindustani Music, most of the composers were Court Musicians. So far as the word content of their songs is concerned, they either lauded in it their patrons or pondered to their low erotic taste. From the view point of the word-content, Dr. Ratanjankar's compositions are singularly free from obscene, vulgar, erotic expression. From the point of view of the musical content, his compositions are

superb. He has also composed excellent songs in certain out-of-the way Ragas in which old songs are not available. These have been published in notation in three parts under the title 'Abhinava Gita-Manjari'.

He has left behind nearly one hundred and fifty new compositions which have not yet been published. I hope his pupils will see to their publication as soon as possible.

He also composed a few Operas of which Govardhan Uddhar was successfully staged at Lucknow.

As a Musicologist

He was the one person in the country who was not simply a theoretical musicologist, but also a practical one. When I was in All India Radio, I had a scheme of getting a Radio Dictionary of Indian Music prepared. The plan was to give at first a well written definition of technical terms like Vadi Svara, upanga or kriyang Raga, gitkiri Zamazama etc. and then give a practical illustration of the same on tape.

Another scheme of mine was to get a clear written description of the prakaras or varieties of Ragas like Mallar, Kanada, Todi, Bhairava, Bilawal etc., and then to give practical illustrations on tapes. Both of these schemes were approved by the then Minister of Information and Broadcasting, Dr. B.V. Keskar.

I had entrusted these assignments to Dr. Ratanjankar. The work had started. He used to send his written explanations to me for approval. When I conveyed my approval with some amendments in certain cases, he used to get the practical illustration recorded at the Bombay station.

About half a dozen of such tapes had been prepared when I retired from All India Radio in 1962. Unfortunately, the scheme was not pursued any further by the All India Radio. Even the tapes that were prepared were scratched and used for propaganda purposes during the Indo-Chinese War.

He wrote Sangita-Shiksha and Tan Sangraha in three parts which have been published. His last book Sangit- Paribhasha is written in Marathi and has been published by the Maharashtra Government.

He also wrote expository Karikas (Sanskrit Verses) on "Shrimallakshya Sangitam" of Pandit Bhatkhande. It has not yet been published.

There has hardly been a musician in this country who has served the cause of music in so many roles as Dr. Ratanjankar. It is difficult to fill the gap he has left behind.

(Reproduced from the Journal of the Indian Musicological Society, Vol. 6:/1 March 1975 issue : Courtesy: Indian Musicological Society: 15-08-1990).

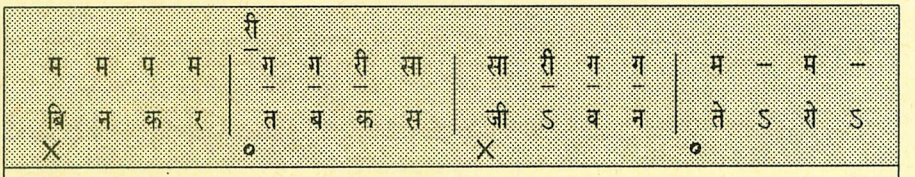

IN AFFECTIONATE REMEMBRANCE

Kumar Mukherji

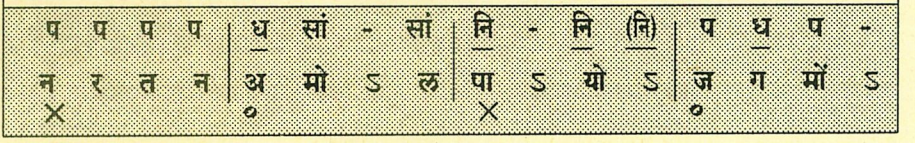

[The author is the son of late Prof. Dhurjati Prasad Mukherji, the internationally renowned Economist, Socialogist, Musicologist and literary figure of Bengal and a close friend of Pt. Shrikrishna Ratanjankar. In fact, Prof. D.P. Mukherji was the first student of the Marris College of Hindustani Music under Pt. Vishnu Narayan Shri. Kumar Mukherji, a disciple of Ustad Mushtaq Hussein Khan of Rampur Darbar. The genious came under the spell of Ustad Faiyyaz Hussein Khan of the Baroda Darbar. He also had his training from Ustad Ata Hussein Khan and Ustad Latafat Hussein Khan at Calcutta thus established himself as a musician of the Agra Gharana. Served as a music critic of the Statesman Calcutta for many years, also served as Director Coal (India)

My first distinct recollection of Pt. Shrikrishna Ratanjankar was when he sang before Gurudev Rabindra Nath Tagore in the house of Prof. N.K. Siddhant, a colleague of my father in Lucknow, in March 1935. I was barely eight at that time and had little comprehension of what was happening, though I had heard the greatest Ustads already on my father's knees. All I remember was that Tagore was not well; he had high fever. Yet, he sat up on the sofa with his flowing white beard, eyes closed, a majestic Moses like figure, till eleven at night. When the applause died down he said something to indicate that he liked the Chhayanat immensely, more than the Jaijaiwanti and Paraj that followed and then proceeded to sing a Dhrupad in Natanarayan to the great astonishment of those present including Pt. Ratanjanjar. Tagore, as I said, was tired and unwell but asked my father to come to his bedroom and we returned home without him. I knew now what they discussed because this was the beginning of a correspondence between

Tagore and my father on music, which was published under the title 'Sur-O-Sangati' in 1935.

Tagore's question, as I find in that book, is a fundamental one. Let us not forget that he had his initiation into classifical Raagadari Sangeet through Jadu Bhatta, the legendary Dhrupad singer of Bengal. So did my father come to Khayal & Thumari in Lucknow via Radhika Goswami and Mahim Mukherji's Dhrupad in Calcutta. Tagore's is all art has to have clearly demarked limiatations born out of proportions without which art loses its unity. Dhrupad had it, old Bengali songs had it and even Bhajans had it. It is only in Kheyal singing that one has a procession of 'Angs' and 'Alankars', which never seem to end and are often repetitive. Why not sing Jaijaiwanti in different 'Chaals' based on different compositions (Bandishis) ? Tagore who often prefers analogy to logic asks "When your wife dresses for dinner in a friend's house, does she wear all her jewellery and all her Sarees from her wardrobe ?"

In case I am misunderstood, Tagore's reservations, I hasten to repeat, were Kheyal vis-a-vis the kind of music he grew up on and had little to do with Pt. Ratanjankar's virtuosity in particular. In fact, the best person to give a suitable reply with demonstrations could have been Ratanjankar himself, who could at will develop a Raga strictly on the lines of a particular composition (Bandish) followed by different compositions in the same Raga. But the question none the-less is a pertinent one in relation to Kheyal and raises a fundamental aesthetic issue. There is little doubt that structural unity in any classical form cannot but be based on first principles of restraint and proportion. I wonder, how Tagore would have reacted to Ustad Abdul Wahid Khan's legendrary 'Swara Vistar' of Multani for three and half hours ? I do know, however, he was completely mesmerised by Ustad Faiyyaz Khan's Ramakali 'alap' in Jorasanko, Calcutta and gave him a 'Nazarana' of twenty one gold sovereigns. Faiyyaz Khan Saheb also used to recall, not without a hint of fun, how he sang 'Iman Kalyana and Iman' in eighteen different 'angas' to Pt. Bhatkhandeji in Kashmir, something that his illustrous disciple, Ratanjankar, could have been proud of.

To come back to Pt. Ratanjankar, whom my father always referred to as an 'Ocean of learning'. Of that there is no doubt. Who else had inherited the wisdom and learning of Pt. Bhatkhande, the first Indian to roam all over India and systematise North Indian Classical Music in the chaotic state of theoretical disorganisation in which he found it ? But Pt. Ratanjankar did not stop at that. He not only brought his own remarkable analytical powers into play but his own experience and 'talim' from two of the greatest Ustads of his time -'Aftab-e-Mausiqi' Ustad Faiyyaz Hussein Khan of Baroda and Ustad Mushtaq Hussein Khan of Rampur. While Ratanjankarji was a disciple of the former, he was greatly influenced by the latter's Gwalior/Sehaswan Gayaki. Moreover, it is worth mentioning here that Pt. Ratanjankarji had basic 'talim' in Gwalior Gayaki from Pt. Anant Manohar Joshi in his young age. In fact, as he confessed to me once in his later years, his style of singing was really a synthesis of the two. And what a brilliant synthesis it was ! While Anna Saheb as we used to call him, has produced knowledgeable

and brilliant disciples like S.C.R. Bhat, Chidananda Nagarkar, K.G. Ginde, Chinmoy Lahiri, V.G. Jog, Dr. Sumati Mutatkar and (my old partner in duets) Dinkar Kaikini, why have they not in their turn been able to perpetuate this tradition through their disciples with as much success ? We of the older generation find this 'Gayaki' complete in its aesthetic and intellectual appeal. Why does it not appeal to the present generation ? Pt. Bhatkhandeji's dream has certainly come true. No one dares teach music today without his Six Volumes of Kramik Pustak Malika and the Ustads secretly refer to them without admitting it. Classical music has spread widely among the middle classes and is no longer the prerogative of the privileged few. All this could not have been possible without Pt. Ratanjankar and his boys. But what has happened at the same time to the authenticity of style and the standard of appreciation ? What we hear today is not grammatically incorrect. But I suppose, mere knowledge of grammer does not produce literature. It must be the same case with music.

What helped Ratanjankar's disciples in becoming established musicians themselves was that their Guru was himself an outstanding artist. Even Balasaheb Poochhawale and C.R. Vyas, who were from a somewhat different stream, though from the same tradition, came under Ratanjankar's spell. His learning and virtuosity had very few equals. I have heard him sing Nayaki Kanhada, Suha, Sugharayee, Shahana & Bahar in one sitting and make them appear like the 'Pancha Pandawas', children of the same mother but each with his distinct outstanding feature. He would similarly amuse himself by singing Ragas close to one another like Poorvi, Pooriya, Sazagiri, Sohini and Hindol, which with lesser musicians would have been a bore, if not disastrous. I have heard him recreate lost Ragas like Kaunshi Kanhada of Bageshri Anga, Deepak and Shuddha Malhar (same notes as in Durga) and hold us spell bound with his blend of artistry and intellctual prowess. It is a great pity that very few even of our generation have heard Pt. Shrikrishna Ratanjankar at his best. Years of dedicated hard work to the cause of Marris Music College without adequate remuneration, indifferent hostel food, away from home and particularly teaching students, male and female, on different keys, had taken its toll of his voice and health. When Keskar became the Minister for Information & Broadcasting at the Centre, Anna Saheb's luck turned at last, but his voice and form by then were things of the past.

In his later years, he would come to Nanigopalbabu's Bengal Music College Calcutta as an examiner. I would make up for my lost youth and spend hours with him in discussion and singing. Also he would sing at my house every year before a well chosen audience with varying success. The last time he sang, two of his disciples accompanied him; one was Chinmoy Lahiri and the other Sita Sharan Singh (an old friend of mine from Lucknow who was gifted with a magniticent voice). The 'Tanpuras' were tuned to 'D' Sharp (Black Two key of the Harmonium) and Annasaheb's 'Taans' in Shuddha Aakaar spouted upto Pancham in Taar Saptaka with graceful ease, while his two disciples struggled to stand on the upper Shadja in imitation of Anna Saheb's open chested voice production. Glimpses of his glorious past came back that evening, the remarkable control of Shrutis - his

own speciality, his Sargams which were specially designed to bring out the anatomy of the Raga, the playful treatment of the Bandish and above all the 'taans', the like of which I had not heard from him since my youth in Lucknow. He sang Jhinjhoti, Khambawati, Hem-Naat (his own Raga & his own compositions) and Kafi-Kanhada. I could not help feeling that this was perhaps his 'Swan Song so impressive was the recital of the man in his seventies that evening. That evening I was reminded of the very statement made by my father regarding Pandit Ratanjankar in one of his books wherein he states, "I have heard good many outstanding musicians of my time but then I will run miles to hear Shrikrishna Ratanjankar wherever he would be singing".

At the end of the recital that day, we were all praise. Annasaheb, who did not count immoderate modesty as one of his virtues was quiet for a while and then said to us.

"मैं हिन्दुस्तान के सब से बड़े उस्ताद फैयाज़खाँ साहब का शागिर्द हूँ और हिंदुस्तान के सबसे बड़े पण्डित भातखण्डेजी का शिष्य हूँ। अगर कभी थोड़ा बहुत गा लेता हूँ तो कौन-सा कमाल किया मैंने?"

Next year he failed to turn up on his annual visit to Calcutta. He was gone for ever.

Kumar Mukherji

.....

Kumar Mukherji
8, Short Street, Calcutta 700 017.

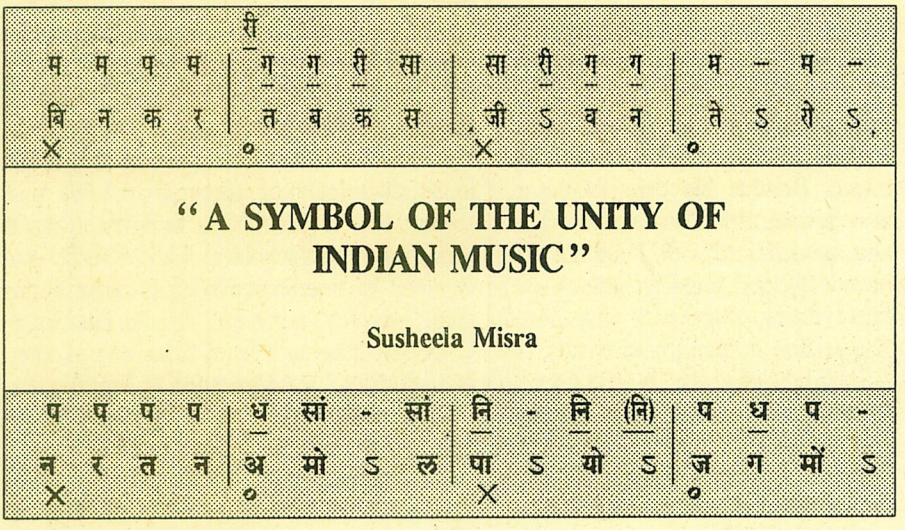

"A SYMBOL OF THE UNITY OF INDIAN MUSIC"

Susheela Misra

[Daughter of Prof. P.S. Nambiar, Kerala. Graduate in English, Music and Dramatics. Had a long training in Karnatic Music and was a regular broadcaster on A.I.R., Madras and Tiruveli. Switched over to the Hindustani music and joined Bhatkhande music college, Lucknow in 1944. Graduated from there. Then broadcaster in Hindustani style as well since 1952. Producer, in classical music on A.I.R. for 28 years. Disciple of Pt. G.N. Natu and associated with Pt. Ratanjankar. Has to her credit number of artiles on music. Has published many a book on music both in South Indian and Hindustani style and literature in general.]

Having written three separate chapters on Dr. Ratanjankar in three of my books: "MUSIC PROFILES" (out of print now), 'Great Masters of Hindustani Music' and "Music Makers of the Bhatkhande College," there is nothing new that I can add about this great savant and music devotee who was in our midst till 1974. In this modern era of materialism and craving for wealth, publicity and awards, Srikrishna Narayan Ratanjankar seems to have been almost an anachronistic personality, a Soul from another age of long ago; and yet, he was one of the very few modern, educated, broad-minded performing artistes who lived at a time when most of the Ustads were uneducated. This was because, Ratanjankar had the good fortune of having as his mentor guru and guide, no less a person than Pandit Vishnu Narayan Bhatkhande who, along with Pandit Vishnu Digambar Paluskar, are regarded as the two pioneers who were responsible for the rennaissance and efflorescence of our classsical music early in this century. An erudite music scholar and music devotee. Ratanjankar's entire life was dedicated to classical

music, its enrichment, popularisation and elevation to a high pedestal as in the good old days. He also had the privilege of receiving practical training in the art from well-known maestros like Krishnambhat Honawar. Pt. Anant Manohar Joshi and from Aftab-E-Mousiqui Ustad Faiyaz Khan in Baroda.

Thus he was well-groomed in both the theoretical and practical aspects of Hindustani music. Besides his own long and deep study, years of research and his own vast scholarship, Ratanjankar had also imbibed much by his friendly contacts and association with Karnatic musicians and music-scholars. This eclectic and broad-visioned musical outlook of his seemed even more amazing because during those times, there was very little contact between exponents of the Hindustani & Karnatic systems, and hardly any curiosity to hear and learn from one another. It was only when Dr. B.V. Keskar became Minister for Information & Broadcasting that mutual understanding and contacts were fostered through the powerful media of AIR.

Let me give two little personal experiences to prove Anna Saheb's broad musical vision. I had already been a well-graded broadcaster of Karnatic classical music when I came to seek admission in the first year of the Bhatkhande College of Hindustani Music in Lucknow. Therefore, Dr. Ratanjankar himself took my practical test. It was a VARNAM that he wanted me to sing because he knew the importance of the Varnam in the training of a Karnatic music student. I sang the Atataala Varnam in Bhiravi ('Viriboni') and the dugun; it pleased him so much that he straightway tested my 'swargyan' by singing a few sargams and admitted me into the second year. Later on, he himself composed a number of Varnams in Hindustani ragas and incorporated them into the syllabus.

Another little incident was connected with the annual Janmashtami programmes which were celebrated with great zeal by staff and students and attracted such large audiences that loudspeakers were installed outside the Hall for listeners outside. During that particular year, Anna Saheb (as we used to know Dr. Ratanjankar) decided to make it a comprehensive programme in which a student from each province was asked to present a song in his or her mother tongue. Thus we presented songs in Sindhi, Marathi, Punjabi, Bengali, Telugu, Sanskrit, Tamil & Assameese. I remember that I sang that popular song "Janaki ramana; Dasharathanandana" in Kapi (in Karnatic style). This was Anna Saheb's way of promoting national integration and proving the unity of all Indian music. The languages were different, but many ragas were common. He had many scholars like - Justice Venkatrama Iyer, Prof. Sambamurthi, Prof. Raghavan and many others as his friends and it was Justicee Venkataramana Iyer who hailed him as "the symbol of the Unity of Indian Music".

It was lucky for Indian music that Akashwani which was at the peak of its glory and creativity at that time, had Dr. B.V. Keskar as the Minister for Information & Broadcasting. He was not only well-trained in both the practical and theoretical aspects of Hindustani Music, but was also a very broadminded music lover who brought the exponents of both the Karnatic and Hindustani systems closer to one another. He was fortunate to have secured the whole-hearted support and

active co-operation of renowned musicians and musicologists like Dr. Ratanjankar, Pt. Ravi Shankar (Founder Director of Akashwani's Vadya Vrinda in Delhi), T.K. Jayarama Iyer (Incharge of the Karnatic group of Vadya Vrinda in Delhi), Semmangudi Srinivasa Iyer (Chief Producer, Karnatic music), Thakur Jaideva Singh (Chief Producer, Hindustani music), G.N. Balasubramanyam, Dr. Balamurali, Dr. Sumati Mutatkar - all occupying important positions in the Akashwani hierarchy. Altogether, it was the golden period of AIR and classical music in India. All of them worked harmoniously and many vast changes were introduced boldly by Dr. Keskar and others unmindful of whether they received boquets or brickbats. The formulation of the then highly controversial but now fully accepted Audition System, the Saturday National Programmes, Radio Sangeet Sammelans and Annual Competitions, Radio Weeks, Sunday Morning Recitals, Tansen Urs Festivals and so on and on. It was really a period of sweeping and lasting changes, most of which are still being carried on after all these years. Till their joint combined efforts began, there were no difinite rules nor guidelines for the assessment and gradation of music-artistes. Selections used to be done in a haphazard way and sometimes depended on the personal whims and likes of a one man audition committee. Taking up the challenging role of Chairman of such a new Audition Board made Dr. Ratanjankar the butt of virulent brickbats from many quarters but he withstood it all like a true Karmayogi. In spite of a lot of initial opposition from certain quarters, including certain aristes and their admirers, the system of audition chalked out by Dr. Ratanjankar with the full support of Thakur Jaideva Singh, Govindrao Tembe and many other important persons in the field of music, has proved the best possible way (so far) to assess the worth of artistes selected for broadcasting. This is evident from the fact that the resentment has died out and the Audition system has continued smoothly through all these decades.

It was more than half-a-century ago that I heard Anna Saheb (or Principal Saheb) for the first time over the AIR and that too across a distance of over 2000 miles or more. I was a young student in Kerala with no chances to hear Hindustani music concerts. Even the radio was a novelty in Ernakulam-Cochin, Tinkering with the knobs of our newly acquired Philips radio one late night, I suddenly heard an impressive rendering of Khayals in Maluha-Kedara from some far-off city. I could identify neither the Station nor the singer until at the end of the programme at 10.30 p.m. the announcement in Hindi came from the Lucknow Station of AIR that the vocalist was Principal Srikrishna Narayan Ratanjankar. The announcement of the names of the accompanists and supporting vocalists were drowned in a lot of atmospheric disturbances. The master's style sounded very much like Ustad Faiyaz Khan's in some respects though his voice quality was quite different. Later on, when I became a student of the Bhatkhande College in Lucknow, I learnt that Anna Saheb had received training from many gurus like Krishnambhat Honavar. Pt. Anant Manohar Joshi (Gwalior Gharana) and Aftab-E-Mousiqui Ustad Faiyaz Khan for many years. That was why Anna Saheb's vocalism was a rich blend of the massive Gwalior style and the majesty of the Agra gharana. The vocal styles of his prominent disciples like late Chidananda

Nagarkar, Pt. K.G. Ginde, Pt. Dinkar Kaikini, Pt. S.C.R. Bhat, Dr. S. Mutatkar and others reflect these features.

During my student years in the college in Lucknow, I got plenty of opportunities to hear Anna Saheb in fine form. Some of his unforgettable performances were at the end of the annual 72 hours' "Sangeet Dhara" programmes (continuous, non-stop recitals for full 72 hours by present and past students and staff members). Dr. Sampurnanand, when he was the Chief Minister, used to attend these sessions at 4.00 a.m. (the concluding part of the Sangeet Dhara) when Dr. Ratanjankar's turn came. Often, Pt. G.N. Natu (The Vice Principal and his close friends and associate) or students like Nagarkar, Dinkar, Chotu, Bhat or Mahadkar for vocal support, V.G. Jog on violin and Sadashiv or Sakharramji on Tabla used to make up the inspiring team. I can still recall many of those inspired recitals with a sense of nostalgia. A couple of years after Anna Saheb's death in 1974, I was invited by the Akashwani Head Quarters in Delhi to proceed to Delhi (I was on the Staff of AIR Lucknow as Producer of Classical music from 1952 till end of 1980) in order to produce a special National Programme based on the archival recordings of Dr. S.N. Ratanjankar. I was pained to find that the Delhi Archives did not contain a single recording of his when he was in his peak performing form. The only recordings available were of his old age and those too done at a time when his voice had been spoilt by continued ill-health. I had to take out bits and pieces from several of his recordings like Maligaura, Hem-Nat, Sur Malhar and so on. It was a frustrating experience but the Director General Sri P.C. Chatterji, understanding my feelings of frustration, kindly permitted me to announce for the National Programme that I produced and presented mentioning that I had to choose out of what was available and that was far from satisfactory so that younger generations should not judge him on the basis of those old-age recordings.

I became an approved broadcaster of Hindustani music when I was just a third year student. Initially I used to feel different because of the Karnatic 'brigas' etc., that crept into my elaborations, but my gurus like Natu Saheb and Anna Saheb encouraged me by saying that these added spice to the singing. I was a 4th year student when I broadcast Shyamkalyan in a late night chunk of 30 minutes (the traditional Roopak bandish 'Mhaara rasiya' and Anna Saheb's drut composition 'Paayal mori Baaje'). The next day when I reached the college, Anna Saheb said too me: "I heard your Shyam-Kalyan last night; it was of a very good standard and totally Hindustani in flavour You have shed the Karnatic touches fully". It was only then that I realized how closely he had been watching my progress, although I was mainly a student of Pt. Natu Saheb who used to teach me at home for many years. Of course Anna Saheb was a genuine admirer of Karnatic music. He revealed his admiration by borrowing not only Varnams, but also by adapting many ragas from Karnatic into Hindustani system such as Charukesi, Narayani, Suranjani, Basantmukhari, Malayamarutham etc. His name will go down to posterity as one of the most prolific 'Vaggyeyakars' (composers) of this century. Through the publication of the latest editions of 'Abhinav Geetmanjari'

in the beautiful caligraphy of his most devoted disciple Pt. Ginde, the 'Acharya S.N. Ratanjankar Foundation' has done a great service to the world of music by publishing 237 compositions of Anna Saheb in 74 ragas and another 168 rarer 'bandhishes' in 58 current as well as rare ragas, making the two volumes veritable treasure chests for us music-lovers and students. Besides writing three operas and directing their staging by his students, he experimented in creating new raga-combinations like Hem-Nat, Maru Behag, Salag Varali, Rajani-Kalyan, Kedar-Bahar, Viyog-Varali etc. His musical compositions running into hundreds, cover a wide variety such as Dhruvapads, Dhamars, Vilambit and drut khayals, Lakshangeets, Sadras, Varnams (in Karnatic patterns), Taranas with Sanskrit verses interwoven, Ragamalikas, Taala-lakshangeets and simple devotional songs.

Many of his colleagues like Pt. G.N. Natu, Pt. M.V. Kalvint, Sri S.A. Mahadkar and his outstanding shishyas like late Nagarkar, Pt. Dinkar Kaikini (Dinarang) and Pt. Ginde have likewise enriched these aspects of Hindustani Music.

Even at the cost of ruining his own voice, Anna Saheb used to give intensive training to his post-graduate students and special 'Gurukula' students and that is how he has given us so many distinguished students who shone either as performing artistes or as gurus or have occupied high posts in Akashwani, in Universities and so on. And the college has produced thousands of discerning listeners. Although Anna Saheb lived the best years of his life (from the age of 26 to 57) in a humble room in the college with only the barest necessities of life available, and although he had to struggle in financial stringencies most of his life, he commanded so much respect for his musical stature and his selfless services to the art, that his room used to be the meeting place of some of the greatest musicians and scholars of the times. Masters of all gharanas used to visit him and perform in the College for the staff and students. I can still visualise Anna Saheb in that little room, immersed all the time in his studies, writings, discussions, composing, singing... a real 'Karmayogi' dedicated to the mission handed over to him by his guru and mentor Chaturpandit Bhatkhandeji. Never complaining about the material hardships that he had to face throughtout his life and stoically bearing many personal tragedies, Padma Bhushan Dr. Ratanjankar served the cause of Music all his life. He was a true 'Sangeeta Bhakta' whose life-long contributions enriched many aspects of our musical heritage.

Susheela Misra

●

Susheela Misra
1, Shahnajaf Road, Lucknow : 226 001.

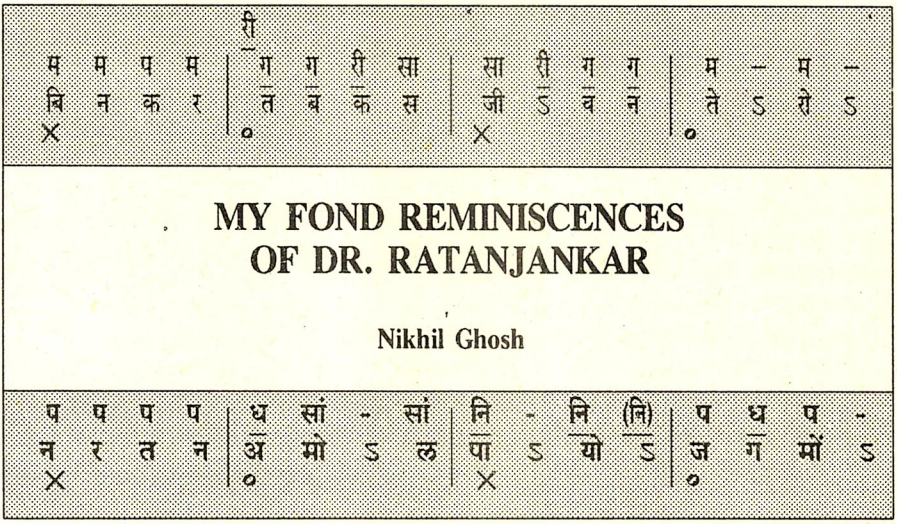

MY FOND REMINISCENCES OF DR. RATANJANKAR

Nikhil Ghosh

[*Eminent Tabla player; disciple of Pt. G.P. Ghosh, Ustad Amir Hussein Khan, Ustad Ahmadjan Thirakwa. Founder Managing Trustee of Sangeet Mahabharati of Bombay and presently engrossed in bringing out concise Encyclopaedia on Music and Dance. He has also evolved his own Notation System for Vocal and Tabla and has published several books. Has toured almost all foreign countries presenting lecture- demonstrations and concerts.*]

My association with Dr. S.N. Ratanjankar was a long one filled with sentiments of various hues. I have rarely seen a person so simple and modest, yet so immensely knowledgeable. A stickler for traditional values yet with an open mind and progressive outlook and a willingness to accept new ideas, topped with a fine sense of humour and a feel for aesthetics.

It was in early 1940's when I alongwith my elder brother Shri. Pannalal Ghosh met Dr. Ratanjankar at the Ruia College Hall in Bombay where he gave a vocal performance with Shri. K.G. Ginde and Shri. S.C.R. Bhat as supports. We were deeply impressed by his open throated tuneful recital perfectly balanced with rhythmic embellishments. His rendition often brought us glimpses of the magnificent 'gayaki' of Ustad Mushtaq Hussain Khansab of Saheswan. When we met him after his performance, his soft and amiable nature further impressed us.

The second meeting was in the late 1940's at Prof. Deodhar's school, where I had accompanied Ustad Vilayat Khan (Sitar Nawaz) in a 'baithak' concert. The session which lasted a good four hours was attended by many eminent musicians including Vilayat Khan's uncle Ustad Wahid Khan and Dr. Ratanjankar himself. I particularly and gratefully remember receiving Ratanjankarji's spontaneous

appreciation and blessings.

Sometime in the early 1950's the historical movement by all the classical musicians in India especially those in Bombay to protest against the method of re-audition in the All India Radio led to the formation of Bharatiya Sangit Kalakar Mandal, with Ustad Vilayat Hussain Khan as the President. Dr. B.V. Keskar was the Union Minister of Information and Broadcasting who in consultation with Dr. Ratanjankar made a noble attempt to screen all the classical radio artistes especially for the purpose of a more organised and justified gradation. But the attitude of some members of the Audition Board during such re-audition sessions (which were in those days face to face) was gaining a notorious reputation as their questions to the auditioned musicians were often accompanied by indirect insults. Several senior musicians all over the country were pained by this. Innumerable complaints from all over instigated the musicians in Bombay in particular to initiate the protest movement. Almost all the musicians in Bombay including Ustad Vilayat Hussain Khan, Azmat Hussain Khan, Amir Hussain Khan, Bade Ghulam Ali Khan, Amir Khan, Mogubai Kurdikar, Hirabai Barodekar, Gangubai Hangal, Prof. B.R. Deodhar, Gajananrao Joshi, Vilayat Khan, Allarakha and many others besides myself took active part in mobilising and gearing up this movement, to convince the Government to remodel the method of auditioning all over the country. Finally the Kalakar Mandal took a formal shape under the legal advice of the advocate Shri. Sushil Kawlekar. The residence of Shri. D.K. Manjeshwar and his wife Kaushalya-bahen (who was the Secretary) was the Mandal's registered office. Myself and Shri. Arvind Parikh were the programme secretaries. Young Nikhil Banerjee who was on the threshold of his career in those days almost lived with me like a shadow, especially since his elder brother Prashant Banerjee was my pupil. All the members got together and formed smaller groups and took turns for picketing at the gates of Bombay's radio station, to persuade the scheduled artistes not to broadcast till the AIR authorities complied with our request. The picketing went on for perhaps a month or even more resulting in disrupting the scheduled broadcasts to quite an extent. The Mandal also made a representation to the Ministry in Delhi. Meanwhile, the impact of the movement on the Government was showing, and with a view to reach a reasonable point of understanding with the Mandal, the Government invited Ustad Vilayat Hussain Khan, and Shri. Gajananrao Joshi as Advisors to AIR, and some musicians like V.G. Jog and Azmat Hussain Khan were given administrative jobs. As a result, the Mandal activities were on the verge of collapsing.

In one of the important meetings of the Mandal in which Pandit Omkarnath Thakur presided, I proposed to clarify to the Government that we were not against the idea of re-audition but the objectionable mode and method in which it was carried out. If the method of auditioning could be changed by resorting to a more gentle and friendly approach and doing away with harsh criticism by the audition-panel at point-blank range, the Mandal would co-operate with the noble idea of the revision of gradation. My proposal was not only greeted with cheers but after a formal approach the Government accepted it and refashioned the

audition system which served the Mandal's purpose. I was one of the front-ranking members of the Mandal and with the toning down of the Government's stance, I requested my colleagues to co-operate with the AIR by offering themselves for re-audition and obtain suitable grades. Till then, I used to get Rs. 15/- per broadcast session and the grade was not made known to me.

When it was my turn to appear for the tabla audition I went fully geared-up knowing very well that the Audition Board led by Dr. Ratanjankar would single me out for grilling. I was indeed asked some of the most difficult and challenging questions through the intercom by Ratanjankarji himself. By God's grace I was able to answer to all of them and even performed most of the answers. My audition lasted more than an hour after which I came out of the studio with my tablas and found Ratanjankarji and Mr. Haksar standing there to meet me. Dr. Ratanjankarji expressed his deep appreciation on my performance which I still remember fondly. Refreshments were arranged as a gesture of Ratanjankarji's affection and we had a cordial discussion about the tabla traditions, great composers and their compositions. A few days later I found myself placed in 'A' grade with a revised fee of Rs. 80/- per broadcast session. I further received open appreciation from him and Dr. Keskar after my performance at the Sapru House in Delhi in celebration of AIR's first Sangeet Sammelan in the mid-fifties. Soon also came a time when alongwith Ratanjankarji and Gajananrao Joshi I was invited to judge AIR's National music competition.

A few years later, I requested Dr. Ratanjankar to scrutinise the syllabus of my institution Sangit Mahabharati in Bombay, then known as Arun Sangeetalaya (estd. 1956). He readily agreed and then examined our course and syllabus thoroughly with full approval under his signature. I then invited him to visit the institution for examining the system of teaching including the matter and manner specially that of the vocal section, all of which I had evolved over the years after much thought and research. He did so and I gladly accepted a few suggestions that he made. This was followed by a simple lunch offered by my wife Usha. I still have fond memories of how extremely delighted he was with the Bengali-style fish curry. With the passage of time, our cordiality and mutual appreciation increased day by day.

In 1967, I approached him for his comments on the press copy of my book *FUNDAMENTALS OF RAGA AND TALA WITH A NEW SYSTEM OF NOTATION* which took me considerable time to research, experiment upon and compile. This meeting was very interesting which I narrate below in the form of question-answers.

Q. : What led you to write this book ?

A. : I felt the necessity of acquainting our students, and the common music lovers with indispensible information about the basic features of our Hindustani classical music in a single volume which includes a convenient system of notation.

After turning the pages of my manuscripts he asked me :

Q. : Why have you attempted to devise a new system of notation in the name of major-minor consonantal system, especially when Pt. Bhatkhande has already

established a system of notation ?

I promptly quoted to him the paragraph from Pt. Bhatkhande's book which the author himself wrote: "I feel happy at the thought that I have been able to mould a model for my successors to improve upon and to perfect; and I cannot but hope that in a few years more, there will be an easy system for the instruction of our music, which will lend itself to mass education". In fact, I was able to impress upon Ratanjankarji the usefulness of a few more essential elements that I introduced in the sphere of notation like key-note signature, tempo-signature, signs for andolan, gamak, accent, soft, loud, long notes, short notes, return to any passage from anywhere in the musical score, repetition, omissions and replacements during repetitions, etc. I had even provided for instrumentation, i.e. finger techniques for both hands on stringed, reed, wind and percussion instruments. This facilitates correspondence courses too. Besides, I explained that my system was simple enough for students to memorise because of the usage of capital and small Roman alphabets, thus doing away with extra signs for 'viktrita' swaras, and so on.

Q. : Why in the same volume you have dealt with the technique of playing harmonium and the explanation of the 'sruti' system?

A. : The average people cannot think of God as 'nirakar' (formless) but they need something that is visually clear to concentrate on; hence from the initial use of harmonium to the switching over to tanpura and developing the concept of 'sruti'.

He was satisfied with my answer and wrote his comment then and there, as follows :

"I have gone through Shri. Nikhil Jyoti Ghosh's "The Fundamentals of Raga and Tala with a new system of notation"... from the few pages of the book, I have gone through I find that it will be an interesting and useful guide to young students of Hindustani Music".

Again after a few days I called on him with the idea of seeking his active support for my new project of compiling and publishing an Encyclopaedia of Music, Dance and Drama in India. He was apparently taken aback by the magnitude of the project and said, "It is a suicidal attempt especially for a performing artiste like you. You need an army of scholars, huge funds, necessary equipment and above all a spacious premises. You would be better off by withdrawing this idea and being content with your vast subject of tabla". I could see in his eyes his affection and concern for me. Disappointed, I left. But my obsession for the Encyclopaedia reached dizzy heights when everyday I myself was confronted with the "whats, whens, wheres, whys, hows, and whos" of the music of the sub-continent. I made another visit to him a few days later. He received me with a mixed feeling. This time I asked him :

Q. : Annaji, I understand this is a difficult and challenging project, but do you believe that this is an urgent necessity in our country ?

A. : Of course, The entire country is in the dark. There is chaos and confusion as far as music and musicological information is concerned, in comparison to West where information is well-organised.
Q. : Did anyone make a similar attempt in our country ?
A. : No. Not of the magnitude you are conceiving except that the Bharat Kosh in Sanskrit is a treatise. The Sangeet Natak Akademi, under Dr. Raghavan initiated a similar attempt but gave up and are working on 'Who's Who' directory in music.
Q. : But Anna, do you agree that a humble beginning on scientific grounds could be initiated by someone at some place without further delay ? It may not be completed in one's life time, the subsequent generations could pick up the thread.
A. : Yes. Only a beginning could be made.
Q. : If I begin, will you help me ?
A. : Yes.

I had already started writing some entries on my own, with the help of my small personal library and my experiences with senior scholars and performing musicians especially to fulfil requirements of my own students, for I believed that 'charity begins at home'. I asked Anna to scrutinise those papers and gradually started sending bunch after bunch with my assistant Shri. P.N. Gatlewar. Anna's encouragement and the progress of my Encyclopaedia work went hand-in-hand. Soon he agreed to my request to become the Chairman of the Editorial Board of the Project. Meanwhile I had already received support and participation from revered scholars like Prof. Sambamoorthy and Swami Prajnananda.

In the winter of early 1973, during one of my concert tours of Calcutta, I organised a large meeting at Mr. Hemmad's residence in Ballygunge where all the leading musicologists of the city participated. They included Kumar Bahadur Birendra Kishor Roy Choudhury, the scholarly prince of Gouripur State, Shri Rajeshwar Mitra, Shri Bimalakanta Roy Choudhury, Shri Sachindranath Mitra, Shri. Jnan Prakash Ghosh and many others. My proposals for the Encyclopaedia scheme were thoroughly discussed, and accepted, decisions made and passed in the meeting, chaired by Shri. Nandakishor Roy Choudhury and everyone whole heartedly pledged full support to the project. It was during this trip that giants like Satyen Bose (of the Einstein-Bose fame) and National Professor Dr. Suniti Kumar Chatterjee offered their participation. Armed with overwhelming encouragement and boundless optimism, I returned to Bombay and called a series of meetings of the Editorial Board under Anna's chairmanship at his residence, where he most enthusiastically conducted the meetings. My already drawn-up scheme was revised and several entries were added to the list, in alphabetical order.

Today, thirty years since my conceiving the Encyclopaedia Project, and seventeen years since the sad demise of Anna, we have made remarkable progress despite the tremendous shortage of financial encouragement and the successive demise of dozens of scholars and maestros who were sources of invaluable information.

Had Anna lived today, he would have been proud to see the dedicated participation of his worthy disciple K.G. Ginde and Dinkar Kaikini as members of our Editorial Board. We all miss him !

Nikhil Ghosh

●

Nikhil Ghosh
A/6, 10th Road, Juhu Scheme,
Vile Parle (West), Bombay-400 049.

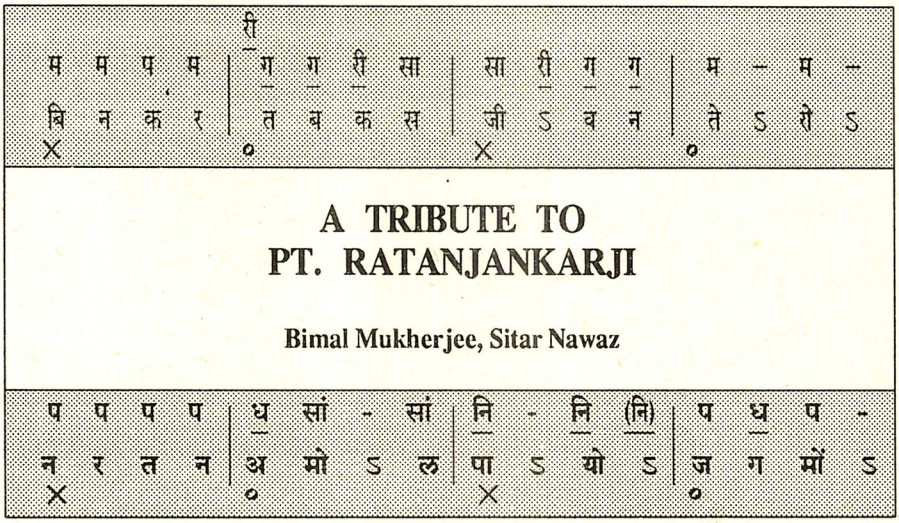

[A retired IAS Officer from the Govt. of West Bengal. Learnt Sitar under Jamalludin Binkar of Jaipur Gharana A versatile sitar player. Had close association with Baroda Durbar Musicians.]

Pandit Ratanjankar of revered memory has been amongst the brightest stars to shine on the firmament of Indian Classical Music as a performer, musicologist, teacher and composer all combined in one. No wonder that he is respectfully remembered as a phenomenon, an institution in himself. He was, indeed, a solid and strong link between musical traditions of the earlier 20th Century and post independence developments in the field of music. Classical music has an ancient tradition which carried within itself the deep subconsciousness and aesthetic sensibility of the Indian mind besides being an embodiment of the Indian soul.

These are basic premises from which Ratanjankar's Guru Pandit V.N. Bhatkhande had started his journies and researches into music. In this ancient Guru Shishya parampara of ours, there has to be a preacher or teacher and there has to be a practitioner or disciple. This is exactly the relationship that existed between Pt. Bhatkhande and Pt. Ratanjankar like the one between revered Paramhansadev Ramakrishna and Swami Vivekananda. Bhatkhande had entered into the depths of our musical traditions and musicology and evolved a structure, a system, a set of rules which brought order into a near chaotic musical world of Practice with almost fanatical supporters behind. Bhatkhande's epic work needed a practitioner, a translator or a missionary and perhaps it was destined that Pt. Ratanjankar would assume and fulfil this historic role.

The Lucknow Marris College — a milestone of achievement in Pt. Bhatkhande's many-sided life — was nurtured and really brought into life by Pt. Ratanjankar.

In a sense it can be likened almost to Kaviguru Tagore's Shantiniketan. From Marris College, scientific musical training started and the movement of spreading and teaching music started and spear-headed from there. Many illustrious performers and musicologists emerged from Lucknow and carried the message of Bhatkhande to all corners of India. This was made possible by the labours and missionary zeal of Pt. Ratanjankar — who headed Marris College for long 28 years.

Pt. Ratanjankar was a great performer himself in the finest classical tradition and his 'gayaki' starting with 'Nom Tom' was a brilliant synthesis of the Gwalior, Agra and Rampur gharanas in which he was trained by Pt. Bhatkhande and Ustad Fayyaz Khan of Agra and many others. I have heard him personally as also long radio broadcasts. He had a distinctive style of his own. Once I had the good fortune of performing before him at Ravindra Sadan, Calcutta, when I was playing Alap and Jod in Raga Miya-ki-Malhar. The use of Komal Gandhar and Dhaivat in the 'Vakra', attracted his notice and soon after my recital it was both a surprise and encouragement to see the old man accompanied by Dhrupad Singer Ustad Aminuddin Dagar coming to the stage to give me 'Saabash' and enquire about my talim and background. When I mentioned about my Ustad Abid Hussain and his father Jamalludin Binkar and Ustad Faiyyaz Khan of Baroda he hugged me endearingly. Summoning up courage, I mentioned that my late father Shri. Amulya Chandra Mukherjee as a Senior Durbari Officer of Baroda State had witnessed his "Ganda Bandhan" by Ustad Faiyyaz Khan at the instance of Maharaja Sayaji Rao Gaikwad. Pandit Ratanjankar was really overwhelmed that a young artist knew so much about him and he blessed me by placing his hand over my head. Shall we, in these changed times, ever see a musician of his stature openly coming out in praise of talim and encouraging junior artistes ? They were really great men in mind, spirit, attitude and behaviour.

Pandit Ratanjankar's 'experimentation' with music and truth continued all his life. And it was both the contemporary times and posterity which richly benefitted from the many beautiful bandishs he composed apart from making new raga formulations. In life, he had a chequered career and he had his education in bits and snatches at Bombay, Baroda, Ahmedabad and it was after a real struggle that he graduated from Wilson College., Bombay. At last he was a graduate musician in those days — a rarity even in those times barring perhaps Pandit Omkarnath Thakur and Ustad Rahimuddin Dagar Dhrupadia who were Graduates also. It is clear that with his sharp intellect and educational bent of mind Ratanjankar was destined to translate into practice the great ideas of Pt. Bhatkhande. The time has now come when the world of classical music must openly acknowledge its debt of gratitude to Pt. Ratanjankar as it has done to persons like Pt. Bhatkhande and Pt. Vishnu Digambar Paluskar.

Pt. Ratanjankar was an orator and writer of great distinction. He followed Pt. Bhatkhande, so closely that in his book "Pandit Bhatkhande" he wrote "He conducted Law Classes in Bombay. He composed little verses on the clauses of the Evidence Act, set them to music and taught them in the classes". Pt. Ratanjankar continued his life's mission exactly on the lines laid down by Pt. Bhatkhande — (1) Collecting

musical treasures; (2) Consolidating theory; (3) Giving shape to methodology and status to music; (4) Using Conferences & Sammellans as a tool and strategy to disseminate music; (5) Following the Notation System both as a means of teaching and music preservations; (6) Overcoming Social Taboos. Pt. Ratanjankar visibly helped to create a class of first rate educated musicians led by persons like Dr. K.G. Ginde and many others. By this he helped to raise the social status and recognition of musicians as an accepted and respected group of persons in our taboo-ridden society. This was great pioneering effort which must be distinguished from the recognition which musicians enjoy in independent India today for which changed values, social factors, changed tastes, changed character of patronage are largely responsible.

Pandit Ratanjankar authored many books but of great value was his tenacity in incorporating seminar discussions on music as a regular feature of the music conferences. It is sad, indeed, that this trend has been abandoned much to the detriment of classical music, its practice and presentation. These discussions had an invisible role in indirectly warning errant performers not to deflect from tradition and to the general body of listeners not to be taken in by adventurist musicians. More than in the past, such discussions of open house type with widespread participation are really necessary today to restore classical music to its position of prestige and glory.

Let us conclude with a famous saying which was said about a Western literary genius "There was but one Ratanjankar only, and let his name be praised.".

Bimal Mukherjee, Sitar Nawaz

Bimal Mukherjee, Sitar Nawaz
181, "B" Block, Lake Town, Calcutta 700 089.

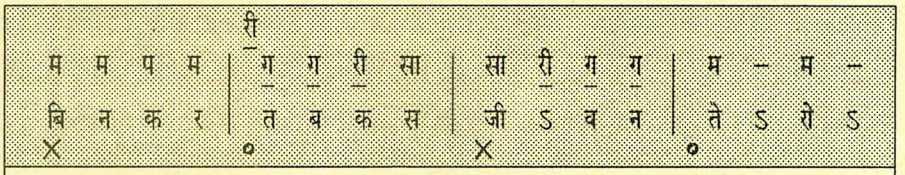

PADMA BHUSHAN — DR. S.N. RATANJANKAR THE GREAT MUSICIAN

Premlata Puri, New Delhi
(Student of Pt. Ratanjankar and Pt. Dinkar Kaikini)

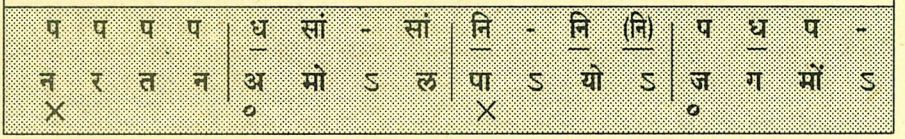

[A great master, guru, a creative genius was Pandit S.N. Ratanjankar. A true artist whose art was not limited to the execution of mere technical skills, but one who derived inspiration from the depths of philosophical concepts and thoughts, eternal truths and values. His was the true Indian vision which embraces every aspect of creativity expressing it through word, sound and rhythm.]

He wore his greatness and knowledge lightly, one became aware of the levels, the magnitude and multi-facetedness of his personality only on coming close to him. He was an erudite sanskrit scholar, an eminent musician and musicologist, a vaggeyakar par excellence — a teacher of a kind, only those who had the good fortune of studying under him could fathom. For the truly dedicated he opened up the great store house of his wealth of knowledge and gave with a generosity unknown to man. He brought to the study of music, the multi-disciplinary approach, to look at creativity in the social context of man, and the society from which it stems.

His work-schedule was very demanding, his daily routine had no time for rest. He taught us music in the mornings, worked in office after lunch, teaching again in the evening and finally after dinner began serious sessions with discussions on the interpretation of musical texts and other aspects of music. This was the time when research students and other musicians and scholars worked with him.

He was a very well read person and his interests varied from serious literature to sports and even to children's stories. All the latest journals and books were read by him. It was as if he was driven by some divine energy housed in his small physical frame.

I had the unique opportunity of being with him in the later years of his life when he was starting a new Music University at Khairagarh. At an age when most people seek retirement from active life he took upon himself the challenge of setting up this University. Though, all his life he had also been involved in administration as Principal of the Bhatkhande Music College, Lucknow, starting a Music University was absolutely a new area which involved working with Government at all levels right from the Governor, Chief Minister, Ministers and Members of the University Grants Commission. He did all this and today the result of his efforts is the Indira Kala Sangeet Vishwa Vidyalaya.

He would travel to Bhopal, the capital of Madhya Pradesh for official work nearly twice a month; not for him the leisure of a comfortable journey. He would carry his whole office paraphernalia — even type letters in the train and deal with files. And then suddenly the artist within him would take over. He would compose Khyals, Dhrupads — beautiful literary pieces and set them to music. He would even compose a new raga if in the mood to do so. He would write, notate and on the spot teach it to a willing student who happened to be fortunate enough to be travelling with him. During those days one such fortunate and frequent traveller with him was myself. Not only to Bhopal, but I also travelled with him to perform at Bhilai, Panchamarhi, in honour of the then President of India, Dr. Rajendra Prasad, Nagpur, Delhi and many other places.

Two most memorable events in my life with Res. Anna Sahib, as this great master was affectionately called, were participating in the two operas that he had composed — Goverdhan Uddhar in Braj Bhasha and Shiva Mangalam in Sanskrit. When Goverdhan Uddhar was performed at Khairagarh with a set of rather raw new students, I performed the role of Radha. Having had no experience in acting, I was very nervous. The many ways in which he brought out my ability to communicate through sound, movement and abhinaya were a great source of self-discovery for me. Even more difficult was the opera in sanskrit — Shiva Mangalam. Many of the main characters had collected at Khairagarh for training. It is only a great Master like him who could have worked with us for such long hours — teaching us the correct pronunciation, intonation of the words, which were set to intricate musical combinations. The perfectionist in him was not satisfied unless each murki, gamak, and the pitch of the note was at its purest. He taught us how we could convey the Bhava or Rasa in the song, through singing and through facial and body gestures. Each one of us had one role to try and perfect but he had twenty artists to prepare for the Opera. Not once did he let any of us feel that we were taxing his energies to such a great extent. At that time I had not formally studied Sanskrit, my role of Rati was a long one and involved subtle acting skills as I had to convey the sorrow, the shock, the anger of Rati at losing her husband Kamadev when his body had turned to ash.

During the training, I could feel that I was not succeeding in projecting the character as I was very self conscious. I will never forget when, just a few days before the show which was put up at Ujjain for Kalidas Samaroh he made

me perform in front of a mirror. All he said was — "Do you really feel the loss, the sorrow that you wish to convey ? Let Rati's soul emerge from the body of Premlata". It was with his blessings that the Rati Vilaap brought tears to the eyes of many in the learned audience. It was his music, his spirit that had taken command momentarily. The programme was such a success — each artist giving of his or her best, that Anna Sahib was invited by AIR Bombay to record the whole opera.

He improved the quality of life of many — he enriched our music and took forward very successfully the task started by his mentor the great Bhatkhande. He gave music its pride of place in our cultural life. Today many of his disciples all over the country are carrying on his work. He was the beakon light — that brought out the inner potential of many, and showed the path to perfection.

What can one say of such beings who descend on this earth, who with their grace and beauty are the embodiment of "**Satyam Shivam Sundaram**".,

He was an institution, a seer, a sage, a guru. Having sat under the shade of this great tree with each branch bearing a different fruit, each flower with a different colour and fragrance, each leaf a different hue, it is possible for me even today to hear the music of the wind passing through the branches and to delight in the variety of flowers and colours, shapes and forms, sounds and rhythms.

Whenever I feel depleted intellectually or emotionally or am at a loss amidst the many demands of life, somewhere within me the spirit of the great Anna Sahib reminds me to "look into the mirror and seek the true soul, shed the 'Aham' and go about the work at hand".

Premlata Puri

•

Premlata Puri
Director, Centre for Cultural Resources & Training,
New Delhi- 110 001.

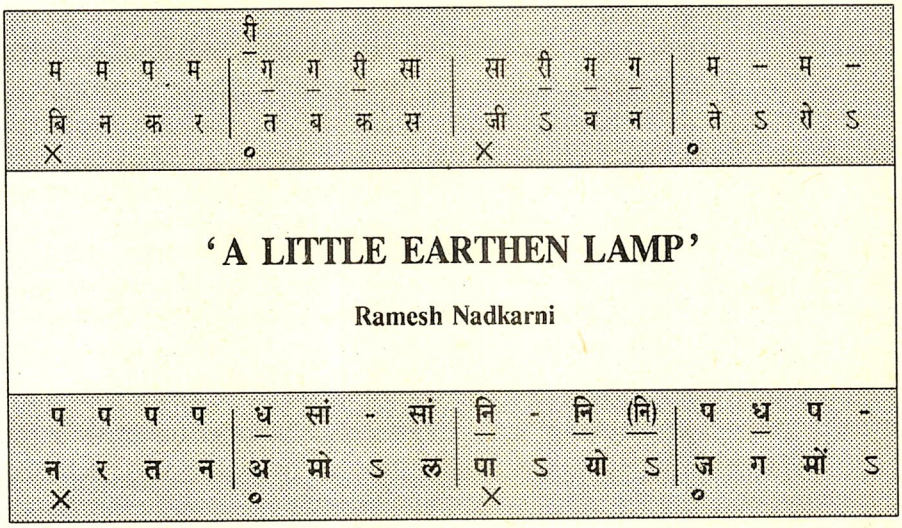

[A disciple of Ustad Amanali Khan of Bendhi Bazar Gharana. Served All India Radio for many years as producer in Music.]

"Who will carry on my work ?" asked the setting sun.
"I will do what I can, O my master", said a little earthen lamp".

Rabindranath Tagore

As far back as in the late Thirties I had heard from effusive music lovers of the great Pied Piper of Lucknow who drew unto him talent from all corners of the country — Shirali, Bangalore, Bombay, Nagpur, Calcutta, Jabalpur and God knows whither. Only no road from Bankikodla led to Lucknow and learning from him reminded one of my unfulfilled dreams. The frail, fragile figure worked on and on tirelessly for years in Marris College from morn till night, teaching, singing and writing. An indomitable spirit in a feeble frame, he worked like one possessed, a man with a purpose who had a great legacy handed over to him by his master Bhatkhande. Shrikrishna Narayan had to carry on from where Vishnu Narayan had left off. He had inherited from his Guru three great gifts — a vast treasure of music, an insatiable thirst for knowledge and an undying passion for work. He worked as spontaneously as one breathed, to rest only for short hours in the night to wake up to another day of work. In fact he lived in the Principal's room for years like an anchorite in a cell away from his family. He imparted music to innumerable aspirants and inspired them with an intense zeal for music — Chidanand Nagarkar, S.C.R. Bhat, R.L. Roy, Pahadi Sanyal, Chinmoy Lahiri, Sumati Mutatkar, K.G. Ginde, Dinkar Kaikini, P.N. Chinchore, Govindrao

Dantale, Sushila Mishra, Sita Sharan Singh — it is an interminable Roll Call of Honour. Many went to him and got what they sought.

I had my first glimpse of the genius of Pt. Ratanjankar when I heard his 'Salagavarali' from Kumar Gandharva way back in the Forties. Kumar was singing his compositions with an intensity of passion that never failed to make an impact on the listener. I came under its spell and sang the same raga, though haltingly, in a Sunday morning concert in Baburao Gokhale's Maharashtra Sangeet Vidyalaya which, to me, was my Lucknow. A couple of years later, I had a second glimpse of the genius of the Master when I heard his compositions in Kedar Bahar, Narayani and Barawa in the hypnotic voice of his eminent student 'Chiddu'. This young student also was imbued with the passion of his master and sang with a charm all his own. Shortly after these glimpses of Ratanjankar's genius from two inspired voices, I saw the Master in person in his residence at Cumballa Hill, Bombay, where he spent his summer vacations. In his Bombay residence every Sunday morning. Pt. Ratanjankar sang in an informal musical soiree before a small gathering of connoiseurs. I went with my uncle every Sunday to partake of this feast of music. People have a mistaken notion that Ratanjankar was a 'mere' teacher and no performer. Nothing could be farther from the truth. He had learnt his music from 'Aftaab-E-Mousiqui' Ustad Faiyaz Khan. He did not have the roaring voice of his Ustad but his voice had a sonorous ring and mellifluous clarity. It was like hearing the voice of the sea in a shell. Sitaram Fatarphekar used to accompany him on the tabla in the Sunday concerts and I still carry with me the impression of his Bilaskhani Todi, Jaunpuri and Miya ki Todi that I heard in those bygone days. I went every Sunday morning to Cumballa Hill as one goes to Church. I heard him in another memorable mehfil on the occasion of Diwali in 1958 at Dr. Keskar's residence in Delhi. Dr. Keskar had invited, to sing at his residence, a few of the artists who had converged in Delhi to participate in the Radio Sangeet Sammellan. In the audience were Thakur Jaidev Singh, Devendra Murdeshwar, Sumati Mutatkar besides many young luminaries. After a Multani from V.G. Jog followed by an unforgettable rendering of Puriya Dhanshree by Manik Verma, Ratanjankar sang Kafi Kanada and Shankara which were well worth going miles to hear. His music had simplicity, grace, precision and a delectable charm and listening to him was not mere entertainment but an experience to cherish.

I am not writing a biographical sketch of Pt. Ratanjankar nor is this a desultory dissertation meant to evaluate his work which is far too enormous for me to assess. Like any great man, he was much misunderstood and much maligned. This was largely due to certain traits in his character. The physically puny figure suffered from a complex which inverted itself in an air of assertiveness verging on aggression. Sometimes one saw a stiffness in his demeanour as though he were protecting himself from the liberty that anyone might take with him. This mask was necessary to save himself from the inroads a stranger might make on his precious time which had always to be utilised for creative work. A creative artists cannot afford to be social or sociable. He has to keep a barbed wire

around his compound. Again, he had no patience with mediocrity and musical charlatans and perhaps, if he could not show his contempt for them, he did not hide his indifference. This attitude won him few friends and many foes. Few knew his sincerity and paternal affection for those who sought his shelter to drink deep at the fount of music. His appointment as the Chairman of Central Audition Panel was the culminating factor contributing to his unpopularity in certain quarters. Though he was fair and just in his assessment, all unsuccessful artistes had a grouse against him and joined in a chorus of oblique in his name. A creative genius like him should not have taken up this unpleasant work. Assessing is an asinine assignment which no creative genius should take up. It is the appanage of lower calibre. He needs no encomiums from anyone nor one's disparaging remarks about him take away from his work, which stands as a monument to his greatness and glory.

Pt. Ratanjankar to my mind is the greatest composer of the century. The very enormity of his work as 'Vaaggeyekar' is staggering and the excellence of his compositions from the standpoint of diction and musical value is inestimable. Nearly 450 compositions have already been published in Abhinava Geet Manjari in three volumes and another 400 are yet to be published. It is a luxuriant pasture for music lover to graze, providing ever-satisfying nourishment and vitality. There are compositions in 'Prachalita Ragas' and 'Aprachalita Ragas' such as Kedarnat, Gandhari, Jaitkalyan, Triveni, Deepak, Devsakh, Natnarayan, Devigiri, Sanjgiri, Bilhari, Malavi, Savani Kedar, Rajani-Kalyan, Hem Nat, Charukeshi, Khat, Laxmi Todi, Lachari Todi and so on. There are Drupads, Khyals, Tap Khayals, Taranas and Varnams. His compositions evince the author's keen awareness of vocabulary, knowledge of Hindi and kindred dialects, even Punjabi as in 'Dilda Pyara Shona' (Bihag). His diction in Sanskrit compositions, which can make a Sanskrit scholar turn green with envy, could be sampled from his 'Tansen Prashasti' which is in itself a superb Sanskrit literary piece in praise of the immortal singer Tansen. In Jaitshree there is a beautiful Sanskrit composition commemorating the martyrdom of Mahatma Gandhi. His vocabulary in Hindi is inexhaustible — words such as Dularawe, Jhoolave, Suhave, Pharakave, Hilarave, Malhave appear in the composition in Mishra Pahadi. I have not hitherto seen the word Malhave (meaning the caressing sound made to appease a crying child) used in a Khayal. He has used many words besides the hackneyed shopworm words generally used in a Khayal. I have been carried away by the lilting rhythms of many a composition. I am tempted to give the text of the composition in Kedar Bahar :

Madamāte Aāye Ata Arasaye
Kaun Sakhi Anurāga Badhāye
Nain Uninde Tana Men Range Ho
Chaal Chalata Dagamāye Piya
Kaho Kahaan Te Raina Gawāye.

The rhythm of the song is as captivating as the melodic pattern is fascinating. The musical pattern of "Dagamāye Piya" brings to one's mind the faltering gait

of an amorous person, homebound after a night of indiscreet indulgence. I should one day start writing a treatise on his compositions which would entail ardous research on his vast productions.

In a recent mehfil I heard the violin recital of Vasant Ranade. His rendering of Jhinjoti bore the unmistakable stamp of Ratanjankar — the characteristic phrases of the Raga which like the strokes of the chisel made the contours of the image sharper and sharper and again hypnotic the rhythm of the strokes in 'Mero Man Sakhi'. Vasant told me that he learnt a lot from Pt. Ratanjankar when he was a V.C. at Khairagarh. I told him that to me V.C. stands not for Vice Chancellor but for 'Vaaggeyakar', the supreme 'Vaaggeyakar' — the one without a second.

The earthen lamp, which took over from the setting sun, has in its turn set many a lamp glowing. His numerous disciples have been doing commendable work wherever they are placed — it is an unending festival of lights.

P.S. I should add a small post-script which many readers may find interesting, more interesting than the script. I once caught the Master in a rare relaxed mood — not the stiff front, tilted head and hardpressed lips — when I noted a childlike mischievous streak in the man. In some function in Vallabhdas Sangeet Vidyalaya he beckoned me with his hand calling me 'Oh Hansadhwani'. I was, he must have noticed, repeating Hansadhawani very often like some politician repeating a vote-catching slogan. It cured me of my mania for Hansadhwani. I told myself it will be my Hansageet — my swan song!

Ramesh Nadkarni

•

Ramesh Nadkarni
13/A, Yojana Housing Society,
Jogeshwari (East), Bombay 400 060.

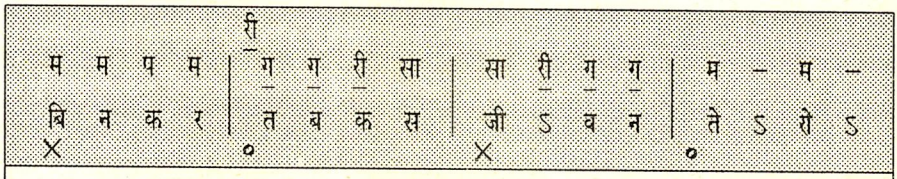

ANECDOTES OF DR. S.N. RATANJANKAR

V.S. Nigam

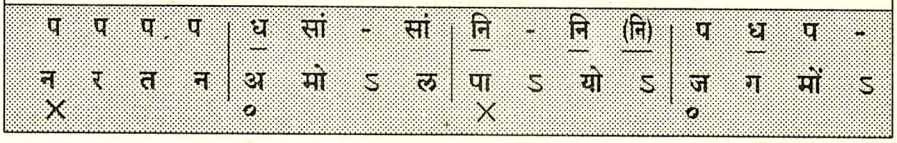

[A sitar graduate of Bhatkhande Sangeet Vidyapeeth Lucknow. Author of many books of theory of music. Had association with Acharya Ratanjankarji.

Dr. S.N. Ratanjankar was a musician of versatile genius. He was a singer of the first rank. He was perfectly adept in rendering Ragas marvellously and had the capacity to captivate the audience and keep them spell bound by his magnetic voice and masterly singing. He had full command over Ragdari Sangeet and could sing even rare Ragas for hours together. He knew full well the fine subtleties of Ragas and could produce them in an enchanting manner. He was well versed in rendering ragas in just and correct intonations and was a past master in moving up and down specially the Swaras komal Re, Ga, Dha, Ni and Teevra Ma in the course of the development of Ragas. In fact, he was second to none in this regard. In a word, he was a unique singer of Ragdari Sangeet in all respects.

His estimate of the USTADS of Music

It was in 1936. I was a student of Marris Music College, Lucknow and was having my lessons on Sitar from my revered Ustad Hamid Husain Khan. Somehow I was not satisfied with the models of the Gats given to me to learn and practice. I felt disheartened and wrote about it to Dr. S.N. Ratanjankar at Bombay. He very kindly replied to me as under :

Bombay, July 2, 1936.

Dear Mr. Nigam

Glad to hear from you. Yes, I am quite well. Thanks.

I understand your disappointment. You can imagine now the trials and disappointments which Prof. Bhatkhandeji must have had to pass through in gathering information and practical lessons in music. He too was a young Lawyer like yourself and interested in music. But please carry on. After all in music and in every art, for the matter of that, personality counts much more than colours..... These Ustads are all of them unfathomable like proud deities which will take the life of a person and even then will not be propitiated..... The gats are not very sweet you say. I agree with you that you should have the best models before you. I will discuss this with Hamid Husain Khan when I return.

(Wager between him (Ratanjankar) and Hamid Hussain Khan)

I had a discussion with Hamid Husain Khan when we were at Delhi and I told him point blank just to tickle him into doing his work better. That not having played Sitar in my life I could still get the better of him if I undertake to conduct the Sitar classes. He does not seem to believe in me. He might speak to you about this if you touch him on that point. A sort of wager has been made between him and myself. I shall try not to give him the palm if I really begin to work.

(About my joining Vocal Class)

In your case it is not absolutely necessary now for you to join the vocal classes. You have sufficient Swaragyan ... keep away from cheap music. I will try to give you some hints about Raga development when we meet.

With best wishes,

Yours sincerely,

Ratanjankar, S.N.

My test for holding theory classes

It was in 1940 that Dr. Ratanjankar asked me to hold theory classes in the evening on part-time basis. But before my appointment as a Lecturer in theory he called me to give a lecture to 5th year vocal class in his room and in his presence. It was an ordeal, indeed, to do so in his presence. The topics given were : "Equality of shrutis as propounded by Sri Bharat" and "Location of notes of Pt. Sriniwas and Manjarikar on the stretched wire of a Veena". It was a hard task particularly in his presence. However, by the grace of God I succeeded in my attempt. And next day I was given an order to conduct theory classes, both Vocal and Instrumental, as a part-time Lecturer. I felt pride that my lecture was approved by the learned Principal and an authority on the theory of music.

Dr. Ratanjankar's method of holding 1st Year Vocal Class

Once in 1943 when I was a teacher in the College I respectfully pointed out to Dr. Ratanjankar that in 1st Year Vocal Class conducted by a lady teacher the 'Sargam' of Raga Bilawal had been finished in two days and it was intended to teach the song of the said Raga. It was the month of August. The session had started from July. And six months are required for practising Swara-Sadhan and Swaragyan. After all why such a speed ?

Dr. Ratanjankar wrote to me as under :-

"Dear Mr. Nigam : I am glad to note that you have seen cases of such haste being made in the classes. Now kindly let me know which is the class which wants to run so quickly as you point out. You will be glad to know that I have not taught my 1st Year Class the Shuddha Saptak completely yet. I have done just **'Sa, Ga, Pa, Ni, and Pa, Ni, Sa, Ga, Pa'** I shall certainly be glad to correct the case if you point out to me."

(Sd/-)

Dr. Ratanjankar's impression about me and others

It was in 1937 that I was the President of the Marris Music College Students Union. A drama was to be staged. It was successfully staged in the "Veena Hall" on the premises of the College. After the drama I just asked him about his impression of me in organising the drama. He wrote to me as under :

"As to my impression about yourself please know that I never hold any ideas about any person. I never give any importance to persons. I value their actions. A man may be disliked by any body but as long as he is needful to my purpose I never look at his habits and his way. No man is better than another nor worse in my eyes. I do not know my ownself even. At times I love myself and at another I deem myself my own enemy. So never think of any wrong or right idea about anybody in my mind. You will always find me the same to each and everybody". (9-3-37)

The above letter of his amply gives an impression about his estimate of a person.

His aversion to his own praise

Once in 1947 I had been to Banaras (now Varanasi) to conduct the practical examinations of music. I was staying in a hotel, Some musicians came to me. We had a general talk on music and also about some famous musicians. They wanted to have my views. I just told them in plain words that at present Dr. S.N. Ratanjankar is the singer of the first rank the like of whom cannot be found. He is par excellence in rendering Ragas in the correct form and has the capacity to captivate the audience and keep them spell bound by his marvellous performance. I wrote about all this to Dr. Ratanjankar. He wrote to me in reply as under :—

"You need not have raised me to the 7th Heaven. I am not pleased with my own praises and much less with my comparison between one musician and another. I do not want myself to be compared with anybody. I even do not want to be classed among professional musicians. It is not my business to please people by a song. I do not care if anybody is or is not pleased with it. So please never talk about my music and never try to establish my superiority over others. You can never succeed in such attempts. Art is a matter of taste. And when taste is concerned nobody can say definitely which art is good and which is not".

(Sd/-) (21-3-47)

His inspection of my class

Once I was holding 5th Year Theory Class. The topic was 'Tappa' singing. Dr. Ratanjankar came to my class and sat down to watch as to what I was teaching. After my class was over he called me to his room. He asked me wherefrom did I get the idea that Tappa was formerly sung by the camel drivers of the Punjab. I replied that I had read it in the source book entitled 'Madan-ul-Moosiqi' written by — Hakim Mohammad Karam Imam Khan. I atonce went to the library brought the book and read out to him about 'Tappa'. He was quite satisfied. After that he would call me to his room once in a week to read out to him certain topics from the said book and he would take down his own notes. This lasted for a couple of months.

His innate love for the Non-stop Music Programme of 72 hours

The non-stop music programme lasting for full 72 hours during the Anniversary of revered Pandit Bhatkhandeji was his own creation. It was a grand success every year. The performance of Dr. Ratanjankar was always captivating. What more whenever any artist failed to turn up at his fixed time Dr. Ratanjankar would opt to sitdown on the dias in his place and give his grand performance. Such was his love for the Sangeet Dhara. The programme would end in the morning of 19th September with the performance of Dr. Ratanjankar with the chhota khyal of Raga Bhairavi : 'Bhawani Dayani' etc., which was simply captivating kept the audience spell-bound. Alas ! the said Non-stop Music Programme (Sangeet Dhara) is no more.

Ustad and Shagird sing together

Once there was a music programme of Ustad Faiyaz Khan Saheb — 'Aftab-e-Mousiqi' in the Ganga Prasad Memorial Hall, Lucknow. The programme was about to start. The Ustad asked Dr. Ratanjankar to come to the dias to sing with him and remarked: 'Aaj Ustad aur Shagird dono-eksath gayenge' Dr. Ratanjankar sat on the dias with the Tanpura behind Faiyaz Khan. The song was in Raga Khamaj : 'Na Manungi Na Manungi Na Manungi' etc. The entire performance was a grand success because both the renowed Ustad and Shagird sang together. It was, indeed, a memorable event.

His love and respect for all artists alike

Dr. Ratanjankar had full love and respect for all artists alike. He listened to their performances, quite patiently and was all praise for their performance. Unlike other artists he never found fault with their performance. He was not like those orthodox Ustads who do not give out their art to their students. Instead Dr. Ratanjankar was perfectly liberal and imparted training to his students whole heartedly.

V.S. Nigam

V.S. Nigam
M.A., LL.B., B.Mus., Director & Controller
of Examinations Bhatkhande Sangit Vidyapeeth, Lucknow

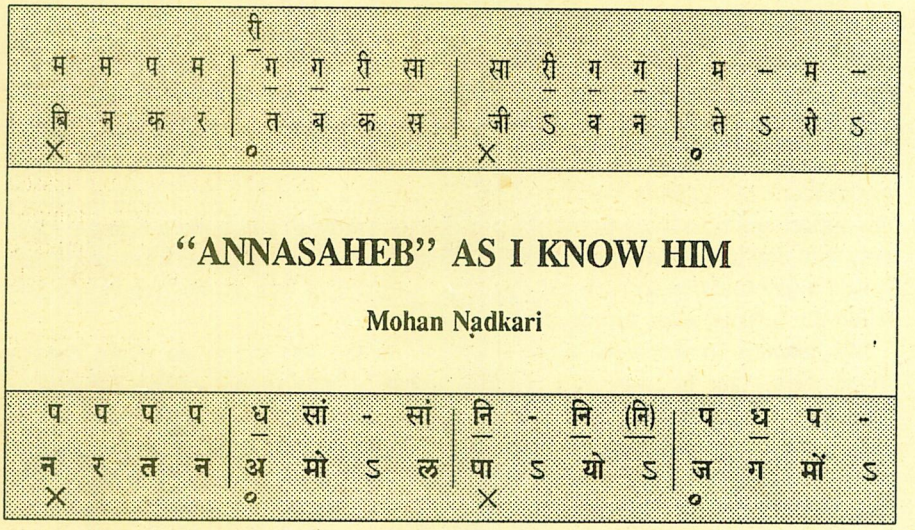

[*A renowned music critic and journalist by profession. Has contributed valuable articles on music to various prestigious journals and periodicals of Times of India Group. Has had occasions to listen to stalwarts over the last sixty years or so. Author of many books on music.*]

When my personal friend 'Chhotoo' Ginde, suggested that I write about my reminisceneces of "Annasaheb" Ratanjankar, I was a little hesitant. In the first place, although the term "reminiscence" connotes the process of remembering significant events or episodes of the past or present, which relate to an individual, the dictionary meaning has to be suitably modified or adopted in keeping with the spirit of the context in which it is intended to be narrated. More often than not, as in the case of obituary tribute to men of eminence, it is only the brighter side of their personality which is sought to be spotlighted. At least this is so in most cases.

Secondly, if one has to be fair, dispassionate and objective in giving such tributes and reminiscences, it should not be impertinent on the part of the writer or narrator to do so, specially when he happens to have been associated in some way with the concerned celebrity. Oddly, the reminiscences of my knowledge of Annasaheb as a person are not all savoury. On most occasions, my reaction to his attitude towards me and my writing on music was one of despair, disappointment and even resentment. This is precisely what made me rather hesitant to accept Chotoo's suggestion to record my reminiscences about Annasaheb the man. My meetings with him were few and brief, but were such as I would never forget them.

Before I come to 'face-to-face' encounters with the little, great man, I am

tempted to travel back in time to the early 'forties', when I had my 'listening' encounter with him began. Although I was familiar with his name because of its mention on the title page of Bhatkhande's monumental series on Hindustani music, my musical acquaintance came through his radio broadcast, mostly from Lucknow. I had already become voracious listener of programmes of Hindustani music from the various stations of AIR even as a teenager and I seldom missed the opportunities to listen to even far-off stations most of which were then equipped only with medium-wave transmission facilities. If weather conditions were propitious, it was a joy to listen to such programmes. The delight was all the greater specially when the artistes were top-notchers.

My listening impressions of Annasaheb's recitals left me in no doubt even in those days, that he was one of those great artistes to be looked forward to with much anticipation. Needless to say, I rarely missed his broadcasts.

In between came interludes of recorded music, which were specially designed by AIR for disc-lovers. One day I happened to tune into a 10 minute radio presentation of 78 rpm discs recorded by the veteran. I hardly knew I was in for a shock. The music left me cold. I simply could not persuade myself to believe that it was the same veteran whose radio recitals were invariably so masterful.

As I learnt, later by years of listening experience, there is difference in technique between the presentation of concert music and that of its recording for a three-minute commercial disc. I believe that there is more of craftmanship involved in singing for a time-bound disc. I also noticed that even some of the greatest masters of mehfil music have so miserably failed in their disc performances, while mediocres would seem to have scored over them by cleverly tailoring their presentations perfectly to recording purposes and that such discs were sold in the music market like hot cakes.

The opportunity, to listen to a live recital of Annasaheb came my way in the late 'forties', when AIR Bombay featured him at a 90 minute morning concert in the presence of an invited audience. This was the first time I saw him. It came to me as a revelation, in that this slightly-built maestro was capable of creating music of such immense dimensions. I still vividly remember his *Shivmat-Bhairav* and *Khat,* which were part of his morning repertoire at this recital. I had occasions to listen to him later during his sojourns in Bombay. Every time I heard him, it was someting of a new experience to my sensibilities.

I was introduced to Annasaheb by the late lamented friend "Chiddu" (Chidanand Nagarkar) when the veteran chanced to pay an evening visit to his disciple's residence at Kanara House, at Mahim, in North Bombay. Chiddu and I were neighbours and most of my leisure hours were spent in his company. I had begun my free-lance writing on music for English newspapers in 1948 and one of my contributions related to the life and work of 'Chatur Pandit' Bhatkhandeji. Annasaheb seemed to have read that article and he smiled at me, in approbation, when I was being introduced to him by Chiddu.

About five years had to pass by before I had the second meeting with Annasaheb. He was again in Bombay during his Lucknow vacation and he had sent word

through Chiddu that he was anxious to see me. As it happened, I had started contributing to *The Times of India* from January 1954, and my first contribution to the prestigious daily was a five-part series of articles dealing with the past, present and future of Hindustani music. One of these articles dwelt on scholastic education in Hindustani music, with due reference to its merits and drawbacks. I had a feeling that Annasaheb's urgent invitation to me must have something to do with this article. My guess was correct.

Chiddu was with me during my visit to Annasaheb's Bombay residence at Raghavji Road at Cumballa Hill, in Central Bombay. Annasaheb himself opened the door of his spacious flat and literally gave me what may well be termed a dirty look, leave aside even a customary smile ! We were led to the drawing room. He didn't even ask us to take our seats. The next moment, as we voluntarily sat down on a sofa, I saw him fuming and quivering with rage. He went on shouting that his high hopes about me as a good writer on music were completely shattered after he saw my article in *The Times of India.* I think it was his uncontrollable habit to stutter, stammer and fumble while he spoke in high temper and show his deep sense of annoyance and resentment through his nervous movements and queer contortions. Chiddu, I distinctly remember, winked at me with a suppresssed smile, and signalling me to keep quiet till the veteran let off his steam.

In the course of his long verbal invective against me, Annasaheb challenged me to show whether some of his disciples who have made the grade as top concert performers were not products of scholastic education which, he thought, had come in for such "undeserved" criticism in my article. I made bold to seek his permission to speak on this point.

I discerned that his temper had already begun to cool down when he nodded his consent with a smile. All I told him, briefly but cautiously, was to request him to go through the article all over again. I pleaded with him that it was my modest attempt at a frank appraisal of the merits and drawbacks of mass education in music. He graciously agreed to my request, but said he would read it later.

I now mustered greater courage to ask him whether his top-notch disciples did not have the privilege of special coaching in the gurukula manner in addition to their scholastic training. He nodded "Yes" to my question with disarming candour. The next moment, the veteran rose from his seat and, holding me by the shoulders, said to me, in an apologetical tone, that he was rude to me and that I should not mind his intermperate conduct. He called for tea for all of us but kept muttering his regret till we took of him !

There were many meetings with Annasaheb in the years that followed. I hope I am wrong in my presumption that I discerned a frown and slightly disdainful manner in which he would return my customery 'namaste'. He would also give a smile which seemed more grudging than spontaneous. The conversation part at such meetings was simply formal and brief-in-the form of cryptic questions and answers.

With due regards to Annasaheb, I must also frankly recount few occasions

when I met him at concerts given by one or other of his top disciplies. In the interval, he would suddenly interject, in the presence of the audience, pointing out to me: "Mohan, isn't this artiste a product of scholastic education" ? The peels of laughter that emanated from the audience were heartily reciprocated by Annasaheb. I naturally felt discomfitted in such an avoidable situation.

Such experience showed that Annsaheb was, after all, like most other human beings, who would not be easily inclined to forget and forgive.

It is a supreme tragedy that Annasaheb is remembered more because of his involvement in the controversy resulting from AIR's audition policy in the early 'fitfites'. And it is pertinent to note that my meetings with him came in the wake of this controversy. It would as well be that these happenings must have naturally left him embittered, disillussioned and dispirited.

At this distance of time, it is easier and worthwhile, too, to find out whether Annasaheb was more sinned against than sinning. The truth must be found out and made known to the public at large, because it has served to eclipse, so awfully, the monumental work he has done in the field. And one feels sure that the promoters of the Acharya Ratanjankar Foundation will make this task as an integral part of their missionary work.

Mohan Nadkari

Mohan Nadkari
302, Kanchan Ban Dixit Road,
Vile Parle (E), Bombay 400 057.

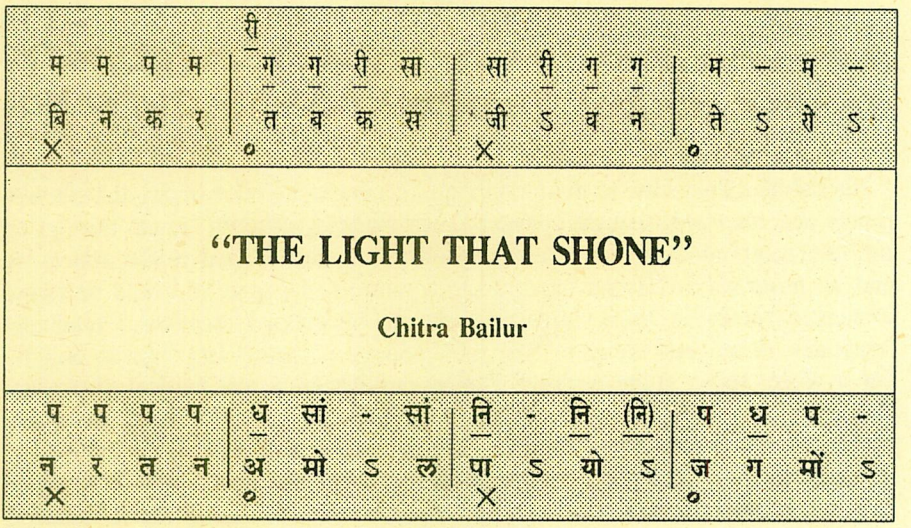

[*An ardent music lover who has been in association with Acharya Ratanjankar and his disciples for many years.*]

My husband was posted in Shimla at that time. It was late at night and the silvery ever meditating hills rose like a canopy over our cottage in the sleeping valley. On an impulse, my husband switched on our radio and... a super-sensitive, vibrant voice throbbed the silent night with music.... "Prof. Ratanjankar" whispered my husband and fell silent... The Heavenly Apsaras must have danced in sheer abandon, the Devas must have gulped down this musical nector — our earth must have trembled in sheer ecstacy!! The raga was 'Narayani' and he sang it for solid one hour and twenty minutes. It was just composed and sung on AIR for the first time from Lucknow Kendra. Who is Prof. Ratanjankar? I asked... "He is a shining luminary on the musical firmament" my husband replied. My entire being throbbed with the musical impact of this "Stupendous raga" and it pierced my very heart and has reposed there since then.

Since then I have often wondered whether this musical introduction 'मुलाकात' over the AIR from Lucknow in the year 1944 was a mere coincidence or an indication of the future shape of events to come. I feel convinced of the latter because Life is an 'Aaradhana' and events happen by the spiritual propelling force from above :

My husband's posting took us back to New Delhi and I was sucked into the mainstream of Art — music, drama and social service. I was appointed one of the honorary three-member prestigious panel of judges, to screen people in the Hindustani classical music on the All India Radio Delhi as well as other important committees. On account of these honorary responsibilities, my husband and I

started having the great pleasure as renowned artists came and stayed with us during their short musical assignments on New Delhi AIR or the Yearly All India Radio Sangeet Sammelans. Thus it was that Prof. S.N. Ratanjankar started gracing our home on the few occasions when his important musical assignments required his presence in Delhi.

His childlike simplicity, unassuming nature- camouflaging his towering and inherent genius and his warm thoughtfulness at once made us call him 'Anna' thus giving me one more brother. His habits were very simple, his food intake almost nil and he never threw 'Ustadi tantrums' and most of the time he would be found immersed totally in those fathomless depths of musical creations... Imminent musicians visited our home to have the pleasure of being with "Anna- Saheb" for a while, some sitting pensively, some carrying on a soft musical discussion, looking often towards "Anna Saheb" waiting with respect for him to say something. Our home reverberated with music, musical discussions "गूंज उठी संगीत लहरियाँ"

It used to seem to me right through our family's long association with 'Annasaheb' that he would walk leisurely through those endless avenues of Music, plucking with utmost care, only those unique blossoms of 'Swaraas' and tenderly stringing them into rare garlands of "Raagaas". Would thus present them on the shimmering platter of inherent bubbling creativity technical exuberance and immaculate presentation...

Then the great day arrived — on the afternoon of which "Annasaheb" was to be decorated with the prestigious 'Padma-Bhushan' award — the National recognition to be bestowed" by the then President of India in recognition of his vast musical contribution in the field of music. 'Annasaheb' had arrived a day or two earlier and was our honoured guest as usual. On that eventful day of his life, as he emerged from his bed room, ready to join us two, to leave for the Rashtrapati Bhavan, dressed in a Lucknow type long black "Sherwaani" with a matching black cap, Annasaheb exuded a strange royal dignity of immense grace and poise and his face seemed serenely calm. We two — my husband and I — on either side of our "Anna" felt a throb of pride and honour to have this unique opportunity of chaperoning such an intellectual and thus share in his glory.

Time passed and we shifted to Bombay... On the 14th February 1974 Pandit S.C.R. Bhat rang up to give me the saddest of tidings of our own Annasaheb's passing away' But leaving his 'Music' to light human hearts...

Chitra Bailur

●

Chitra Bailur
A.I. Deep Lakshmi, Prabha Devi, Sea Face,
Bombay 400 025.

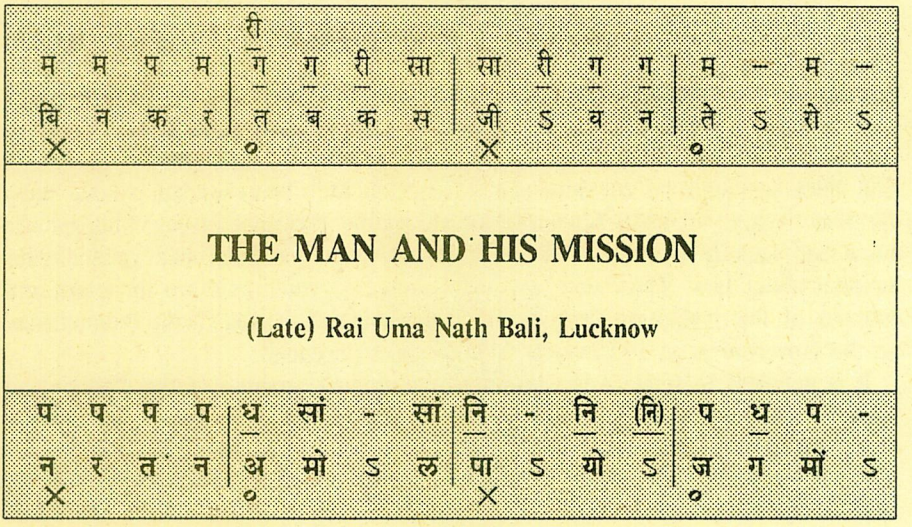

[Taluqdar of Dariyabad, can easily be considered a pioneer among those who have spread the culture of music in India. He was the prime mover in organising the two music conferences of Lucknow in 1924 and 1925 and was one of the founders of the Marris College and devoted all his life at much personal sacrifice to the progress of the college. Had developed close friendship with Pt. Bhatkhande and Pt. Ratanjankar.]

In the illustrious galaxy of academicians who have greatly influenced the study of classical Indian Music during the last three decades, Dr. Shrikrishna Narayan Ratanjankar figures amongst the foremost in the whole of the country. The Bhatkhande College of Hindustani Music, Lucknow, owes, to a very great extent, its present day name and fame to his steadfast association with it for thirty years, from the very birth to its subsequent bloom. It is an achievement well worth writing a few words about and I feel particularly happy and priviledged to do so.

I met Dr. Ratanjankar for the first time when he came to Lucknow in 1924 with the late Pt. V.N. Bhatkhande to participate in the All India Music Conference of which convention I was the Organizer and Hony. General Secretary, A diminutive young man, boyish and shy to a certain measure, he was then a student of B.A. in the university of Bombay. I met him again the following year on a similar ocasion and in this very city. Though apparently he possessed none of those requirements by which personality is now-a-days so often defined, I was highly impressed by his performances both on and off the stage. At my instance, Shri Bhatkhandeji agreed to spare him to join the newly founded Marris College of

Hindustani Music, at Lucknow in 1926 as an Assistant Music teacher. Subsequent years have amply proved that this appointment was positively the best in the interests of the newly founded institution, though at that moment I came in for a good deal of criticism by some of my close friends and enthusiasts, who were doubtful about the wisdom of my choice. To many of them, his appointment had been actuated by my love and respect to Shri Bhatkhandeji, whose pupil he was. Again, in 1928 his appointment as the Principal of the College was none too happily acclaimed by some though many of them had revised their opinion about him. Thus were we both teamed together to share the cares and worries of this institution from the very beginning till it was finally handed over to the Government in 1955 owing to financial stringencies.

It is needless to relate or review here the gradual progress of the College and its subsequent blossoming forth into a premier institution of its kind in the country under his able guidance. Its reputation had been firmly established by 1936 mainly through the selfless dedication and indefatigable zeal of Shri Ratanjankar, whose capabilities as an outstanding teacher elicited very high praise from the late Ustad Faiyas Khan Publicly - After the demise of Shri. Bhatkhandeji in 1936, I established Bhatkhande University of Hindustani Music in 1939 mainly to organise Music examinations and also for Post-Graduate teaching. The Marris College became its constituent College, but it could not last long as the College had to be separated from Bhatkhande University now known as Bhatkhande Sangit Vidyapeeth as desired by Government. Shri Ratanjankar was naturally appointed Chief Director of all its branches of teaching, Vocal, Instrumental and Dance. After independence Marris College was rechristened after the name of Bhatkhandeji and is now called Bhatkhande Sangit Vidyalaya. Even after my handing over the college to the Government he continued as the Principal of the college and Chief Director of Bhatkhande Sangit Vidyapith till his appointment as Vice-Chancellor of the music University at Khairagarh, M.P., in 1957.

A study of classical Indian Music involves a strictly disciplined studentship and, after a preliminary acquaintance with the fundamentals, it has to be learnt the hard way through the medium of ear, with both the teacher and the taught in close harmony. Shri. Ratanjankar was fortunate to have been a student of it in its renascent days and his pupilship of Shri Bhatkhandeji and the great Ustad Faiyaz Khan, two of the most renowed celebrities of the day, had deeply impressed him. Quite naturally he, too, has, in his turn, stamped his numerous students with his own inimitable genius. Today his pupils and students are widely scattered all over Northern India and some of the more distinguished ones have gained recognition in other parts of the country as well. His departure from this place has been a sad blow to the cause of music in the State and an irreparable loss to the Bhatkhande College and Vidyapith.

It is not for me to acclaim or eulogise his accomplishments in the sphere of classical music; I would rather leave it to competent critics and connoisseurs of this finest of fine arts. One noticeable feature has, however, greatly impressed many of us and I think it is worth mentioning here. While most musicians of

note and repute have one or the other Raga as their favourite or speciality Shri Ratanjankar is enchantingly flawless in his rendering of any one of them with equal grace and ease. Herein he is unique and peerless. Possibly this accounts for his having proved a great success as a teacher. When a proper evaluation of permanent contributions to popularise classical music in India is made, I belive he would readily be placed in the front rank. The highest testimony of it is that the National Government has recognised his services and knowledge of music by awarding him in 1957 the title of Padma Bhushan.

While reminsiscing about our long and cordial associations, I cannot refrain from mentioning a memorable event in my life. Once he paid a visit to my place at Daryabad on the festive occasion of Holi. There, to the surprise of all of us, he composed and sang a Holi song, wittingly containing the names of almost all of my children. This Holi song subsequently became so popular that he was requested to render it on numerous occasion by clamouring audiences. I had it duly recorded and it forms one of my most prized possessions to-day.

I fully associated myself in wishing him a very very long lease of life, from the beginning of which he has taken upon himself the sacred mission of living and striving for the restoration of classical music to its proper place in society.

Rai Uma Nath Bali

.....

Rai Uma Nath Bali
(Reproduced from Commemoration Volume in honour of Dr. S.N. Ratanjankar, 1961).

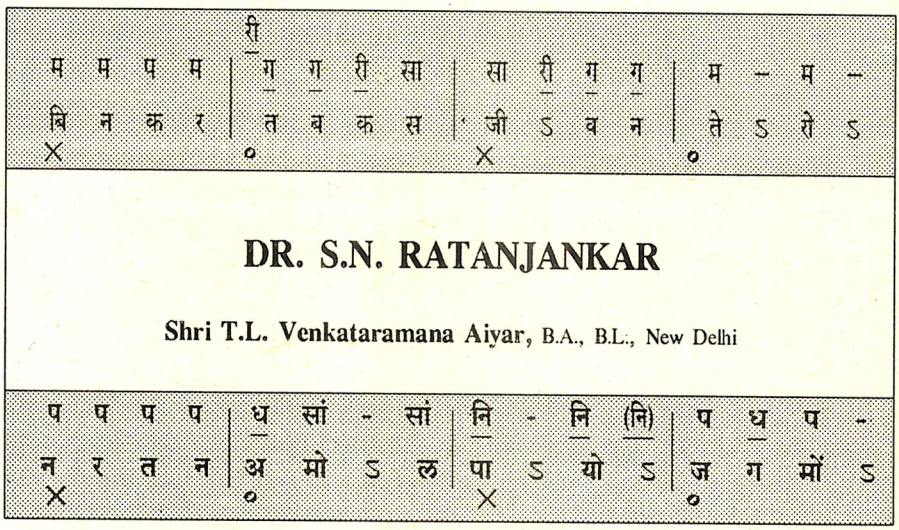

[A great scholar of Sanskrit, Telugu and Tamil literature, ancient and modern, on India Music, retired judge, Supreme Court, India. . He has made a special study of the musical compositions of Shri Muthuswami Dikshitar, one of the Musical Trinity of South India. A prominent and influential member of the Madras Music Academy and has at several occasions presided at the Experts' meetings held during the Music conferences of the said Academy and symposiums of the All India Radio on Music. Equally intersted in Hindustani Music and is one of the votaries of an exchange of ideas and usages in practice between Hindustani and Carnatic Music and looks forward to see a happy fusion of the two systems.]

Among the notable personalities in the world of Indian music at the present day Dr. S.N. Ratanjankar is one of the most distinguished. Lovers of Hindustani music appreciate the rich and flawless recitals of ragalap which he gives in truly classical style. Musicologists praise him for his profound scholarship in the science of music. And students of music honour him as a distinguished disciple of Prof. Bhatkhande and as a guru who has trained several; musicians of ability and repute. These are achievements which are in themselves sufficient to give Dr. Ratanjankar an honoured place among the musicians. But he has something more and it is this that gives him a unique place among them. He is the symbol of the unity of Indian music, Hindustani and Carnatic.

India, that is Bharat, is not a mere political union. It is welded together by a culture which among all its diversities has a unity which marks it off from the rest of the work. Music is one of the subjects in which this is strikingly exemplified. The distinctive feature of Indian music are its raga and tala systems and it is on this foundation that both the Hindustani and Carnatic system of music are built. They are both of them born of the same parentage and are governed by the same shastra as regards swaras, sruties, ragas and talas. It is true that there are differences between them and they are on the surface. But one has to dive deep before he discovers that these differences are more dialectal in character and that in spite of them they are essentially the same. This is a fact which unfortunately is not adequately realised not merely by laymen but also by musicians. The greatest need in the world of music at the present day is to educate the musicians and lovers of music in the concept of the unity of Indian music. Dr. Ratanjankar is one of the small but growing band of scholars who have been doing this with conspicuous success.

I had occasion to know Dr. Ratanjankar as I remember of the Expert Committee of the Music Academy. Madras, He took a prominent part in the deliberations of that learned body and took considerable pains to make but that both Hindustani and Carnatic music were, in their essentials, the same. He was able to appreciate the peculiar features of Carnatic music, and at the same time he brought home to the listeners of Carnatic music the beauty of the classical Hindustanii music. He gave several discourses on the types of compositions current in Hindustani music, and illustrated his discourses by referring to the corresponding types in Carnatic music. He had such a keen eye for the beauties of Carnatic music that he freeely adopted both the types of compositions current in Carnatic music and the ragas in vogue therein in Hindustani music. Thus varna is a type of composition peculiar to South Indian music, and Hamsadhwani is a raga of South India, which Prof. Bhatkhande has naturalised in Hindustani music. Dr. Ratanjankar has composed a varna in raga Hamsadhwani. This is only one illustration.

On an occasion like this it is but fitting that all lovers of Indian music, both Hindustani and Carnatic,should pay their tribute to the valuable services of Dr. Ratanjankar to the cause of Indian music and wish him a long and healthy life.

Shri. T.L. Venkataramana Aiyar

•

.....

Shri T.L. Venkararamana Aiyar
(Reproduced from Commemoration Volume in honour of Dr. S.N. Ratanjankar, 1961).

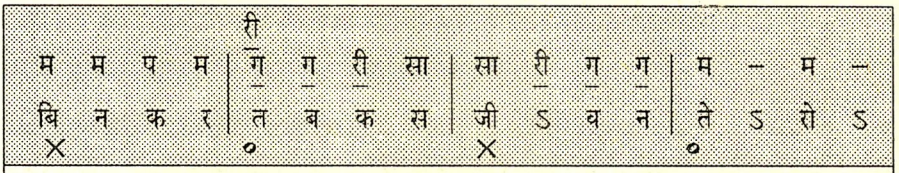

A GREAT TEACHER AND A REFORMER

(Late) Shri Birendra Kishore Roy-Choudhury, Calcutta.

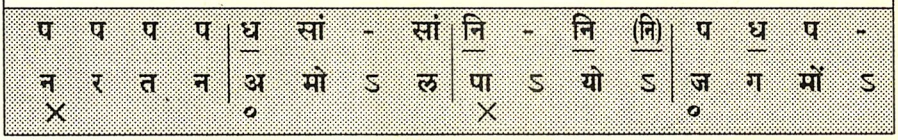

[Eminent Surbahar player. His teachers were - Ustad Amirkhan (Sarod), Inayatkhan (sitar) and again for sarod - Hafiz Ali Khan, Allauddin Khan and Karamatulla Khan and some other 'gurus' also. Closely connected with Dr. S.N. Ratanjankar in the sphere of musical culture and the A.I.R.].

I was fortunate enough not only to have acquaintance but also to have intimate personal relationship with Dr. S.N. Ratanjankar, Padmabhushan, at the beginning of my musical career. I was introduced to this musical Savant by the late Pramada Devi Choudhorani, the Secretary of The "Sangeet Sammilanee", Calcutta. The occasion was the first "Geetasree" title Examination of the Sammilanee. Kavi Guru Rabindra Nath coined the word "Geetasree" as the title for the diploma examination of which he was a patron. Pandit Ratanjankarji, Dr. Gopeswar Banerjee, Deshikottam and myself were selected as the judges for this title examination. The syllabus of the Sammilanee was modelled after that of the "Sangeet Visharad" courses of the Bhatkhande College of Music, Lucknow. On behalf of the Sammilanee, we always used to receive valuable advice and suggestions from Shri Ratanjankarji, who was principal of the Bhatkhande College, Lucknow, although we knew each other by letters. The examination hall of the Sangeet Sammilanee was the venue of our first meeting. But that time Ratanjankarji had already reached a grat height of prominence in the musical world on account of his vast knowledge of classical music, ability as a teacher of the highest class and also as a master artist of music. In the course of his conversation with us his wonderful personality was vivid to us as he never made any show of his monumental erudition and politeness and humility were personified. Later on I took the chance of inviting him to

our house, when my late revered father Brojendra Kishore Roy Choudhury of Gouripur gave him a cordial reception as the greatest disciple of Pandit Bhatkhandeji, with whom my father had correspondence regarding classical music. My father told Ratanjankarji that he was translating into Bengali "The Hindustani Sangeet Paddhati" written by Bhatkhandeji. The Sangeet Sammilanee of Calcutta, of which the musical artiste and teacher, the late Girija Shankar Chakravarty, was not only the Principal, but also the main guide and inspirer was in those days the only representative musical institution in Calcutta. Girija Shankar was an intimate friend of Ratanjankarji and was always eager to be guided by the instruction of Shri. Ratanjankarji regarding the training up of young girls and boys on the lines was a foremost exponent of musical education in India. The truth of this opinion easily be ascertained when we look into history of the Bhatkhande musical institution. The late great Pandit Bhatkhande laid foundation of a high class representative institution of music, when he started the College of Music at Lucknow under the patronage of Sir William Marris, the then Governor of U.P., as well as the ruling princes Rampur, and other States. But it was due the untiring zeal, perseverance and the high standard of teaching of Ratanjankarji that the College of Music became transformed into the Great Bhatkhande College of Music, the Centre of the Bhatkhande Musical University with its innumerable branches throughout upper India.

The all India structure of the Bhatkhande university clearly shows his great capacity of ideal teacher. Many people argue in consideration of the number of student, who pass the Bhatkhande University examinations I obtained the title of "Sangeet Visharad", and that among them there have grown in the sphere of music only a limited number of high musicians. These critics misunderstand purpose of the musical schools and colleges. students who undergo studies in the Bachelor of Arts examination have to study work of great poets and writers. But everyone of them is not expected to be a great poet or a great writer.

Pandit Bhatkhandeji wanted to bring the Hindustani classical music in the line of the academic studies for the benefit of the educated society. Shri Ratanjankarji also followed the principles of his great master and has done a great deal in popularising the classical music among the pupils of modern culture, who can now appreciate the artistic valuesof this music. The various school and college teachers who have at least obtained the general knowledge of classical music, and its notation can demonstrate music of average merit. The value of this propagation of musical culture throughout the country cannot be over estimated.

We have now at least thousands of listeners of classical music who have got some ideas of the Ragas, Swaras and Talas.

Shri Ratanjankarji, after the independence of India, became the main leader ofa thorough reformation of the Hindustani classical music. After attaining the height of reputation of the most efficient teacher of music in India as the Principal of thee Bhatkhande College of Music, he was entrusted by the Govt. of India to lead the panel of judges for proper evaluation of the present day classical music (Northern system) and gradation of the musicians- within the range of

the All India Radio, under the Ministry of Information and Broadcasting. Dr. B.V. Keskar, the Minister-in-charge of this department, had complete confidence in Shri Ratanjankarji in this matter and as an old associate of him, I can boldly assert that Shri Ratanjankarji rose to the occasion and did his very best to uplift the standard of the Radio Music, in spite of misunderstanding from various quarters and innumerable obtacles. His task was not only to ascertain the real merits of the musicians, but also to arrange for the catering of classical music for the masses. The Radio Broadcasts are meant for education as well as entertainment. As such the high graded artists should not only have the depth of musical knowledge but to have also the technique and capacities of the presentation of music to please the listeners. Ratanjankarji had to face many critics in the course of his duties as the Vice-Chairman of the panel of judges but his conscience was clear and we were highly benefited in the course of our associations with him to have his valuable opinions regarding the standards of classical music.

Now, on his sixty-first birthday, we the music lovers of India pray to the Almighty for his prolonged life and a sound health, so that the Indian classical music may make further remarkable progress under his leadership in some new and greater venue of the National Classical music.

Birendra Kishore Roy-Choudhury

.....

Birendra Kishore Roy-Choudhury
(Reproduced from Commemoration Volume in honour of Dr. S.N. Ratanjankar, 1961).


MEMOIRS



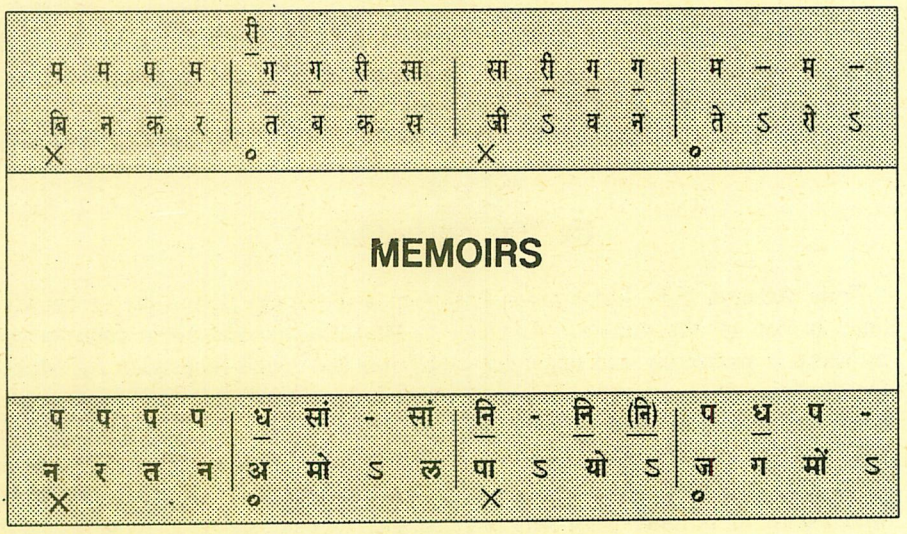

Awesome Guru

From my childhood I had heard of Pt. S.N. Ratanjankar especially from my music master — Shri. Sitaram Wahare. When I went to Lucknow to appear for the Sangit Visharad examination as a private candidate, he was pointed out to me by Lakhnavi students. A short slight man, but to us he appeared awesome. Imagine my trepidation when I found him standing over me as I was busy answering my theory paper. I looked up and was relieved to see the twinkle in his eye.

Years later, when I started learning music from Ustad Bashir Khan of the Agra gharana, I came into closer contact with Ratanjankarji. Many a time did I meet him at our house in Calcutta where he was kind enough to visit us chiefly on account of Bashir Khansaheb who was his gurubhai, at Shri. Nanigopal Banerji's house, at private gatherings where he sang, in Bombay at Ratanjankarji's house, in Lucknow where I went to sing for the U.P. Govt. festival. Always I was struck by his affability, (he never forgot to enquire about old friends, such as Hiru Ganguli) and by his profound knowledge.

He used to ask me to sing whenever he came to our house. On two occasions, of his own will, he taught me a few 'chizas' (compositions). I remember one which is great favourite of mine, "Gund lavo malaniya" in Raga Shahana, 'Papi dadarra bolai' (Gaudmalhar) which he had recorded for HMV. When he heard I was learning dhrupad-dhamar, he gave me a dhamar in Kukubh Bilawal 'Udho yeh do bol'.

An effort by his admirers and disciples, especially Shri. K.G. Ginde his devoted shishya, to preserve his many compositions and other writings, deserves all praise. My good wishes are with this laudable and useful project.

***Aparna Chakravarti**

He Was An Institution

Truly Acharya S.N. Ratanjankar has been a Towering personality in his life time as one of the greatest Musicians & Musicologists. His noble contribution to Music is pioneering and unparalelled. He has laid sound foundation for Music for the Generation to come. To commemorate his achievements and to give due credit to this 'GREAT SOUL' is in itself a 'HERCULIAN TASK'. Because Acharyaji Ratanjankar was not just an individual Musician or Musicologist. He was and he is still even after his demise an "Institution giving 'Beacon light', to all those who aspire to become Musicians. I really fail to understand, if Acharyaji had not laid such a sound foundation for Indian Classical Music, where the present and future generation of musicians would have gone to achieve their fame and fortune, which they enjoy today and which they will enjoy for generations to come.

I was, no doubt, most fortunate that for a very short period I was a disciple of Acharyaji and little stint had given me the courage of conviction to lay a sound Foundation for myself thereafter. Although I received actual and more strenuous training from other Gurus, Acharya Ratanjankar has left an indelible impression on me, and I always Salute him as my First and Great Guru'. I take immense pride in associating my name with Acharyaji as his disciple and I will continue to take pride in the same.

I cannot forget his contribution to All India Radio as the PRESIDENT and the CHAIRMAN of the CENTRAL MUSIC AUDITION BOARD, NEW DELHI for a long period during the tenure of late Dr. B.V. Keskar, as the then, the Hon'ble Minister in Charge of Information & Broadcasting. Dr. Keskar himself a great learned Scholar with many facets, could appreciate and will utilise the services of Acharya Ratanjankar and today looking back, I can very proudly say that ALL INDIA RADIO had its best span of life during the period Acharyaji and Dr. Keskarji worked hand in hand for the uplift and betterment of ALL INDIA RADIO, in all respect which later on earned for ACHARYA RATANJANRJI "PADMA BHUSHAN" DESERVING HONOUR, from the GOVERNMENT OF INDIA.

Once I shifted for serious studies under other Gurus, I lost contact with this great soul and I was brought up in totally different atmosphere where I had only one task to perfect my art and become a Maestro in my own right and

*Aparna Chakravarti
65/1 Diamond Harbour Road, Calcutta 7090 023.
(Disciple of Ustad Bashirkhan of Agra Gharana. Music critic in 'statesman' Calcutta).

I totally concentrated on this ambition which ultimately I achieved, as you are well aware of.

I shall ever feel proud that I have been one of the pupils of this 'Great Guru' and in my present performance and as an eminent Musician, Acharya Ratanjankar has a share and I take pride in mentioning myself as a **"CHIP of the old BLOCK".**

***Zarin Sharma**

Two Occasions

The occasions on which I could come anywhere near Anna Sahib were only two.

The first time, neither of us could see the other as I sat in the AIR studios for a "re-audition" and he was in some distant room heading the panel of judges. With a thumping heart, I executed a short recital of Bhimpalasi and he immediately said (through the sound system — of course) "Des ki Drut Gat Bajaiye" and later on a sharp and curt thank you".

The second and last time, I was playing in a monthly sitting of JHANKAR Music Circle and he was unobtrusively sitting in a corner, wearing a coat and trousers and not his normal performance attire. I never knew he was there till, at the end of my recital, he got up and motioned me to come to him. Recognising him, I went up and offered my Pranam with due reverence. I had played the raga "Chhaya" and he caught me rather unprepared with the inevitable question — "Chhaya aur chhayanat ke bich may Aap keya prabhed — maantey haon ?".

Gathering together my wits as far as practicable, I told him the points of difference which I had learnt from my Guruji (Radhika Mohan Maitra). Anna Sahib kept listening to me with a grave countenance and when I had finished, he said, this time in English, "Yes, that is how Radhikaji plays it and how his Guru Amir Khan played it'. I am pleased to find that you follow your Guru's talim consistently".

I treasure this as one of the greatest compliments I have received in my humble musical career.

***Buddhdev Das Gupta**

*Buddhdev Das Gupta
Calcutta.
[Famous Sarod maestro Associated with S.R.A. Calcutta, disciple of Radhika Mohan Moitra.]

*Zarin Sharma
Bandra, Bombay 400 050.
[World famous Sarod player. Learnt music under Pt. S.C.R. Bhat and (indirectly of Pt. Ratanjankar) and many Gurus.]

Acharya S.N. Ratanjankar
An Ideal Missionery

I hail from a family, where music was nurtured in its devotional fervour. My father, Dr. G.R. Ginde, though a General Medical Practitioner by Profession, had a taste for music from his earlier days, as a result, he used to sing 'Bhajans' every Thursday evening before the little house-shrine, generally alone and many a time with his sons, whenever, they happened to be there on vacation. Thus, I was very much exposed to music, based on classical form mainly. In the family, besides my two elder brothers, my youngest brother — K.G. Ginde had an instinct and in-born talent for music right from his age of three/four and as such, my father encouraged him to imbibe this art form. Our eldest brother — Dr. Ram Ginde, was himself very much interested in music and he took keen interest in Krishna Ginde's musical career. It was but natural that we brothers got more and more interested in classical music with the gradual progress of Krishna Ginde in his musical persuit. In due course, with my eldest brother's efforts, Krishna Ginde was finally put under the tutelage of Acharya Ratanjankarji in 1936.

After my education, I joined the P & T Dept. in 1942 as a Telegraphist in C.T.O. Bombay. It was then I happened to get myself introduced to the Ratanjankar Family through my father. Very soon, I got myself closely acquainted with all their family members and used to visit them whenever possible. Since then, the Acharya was just Annasaheb to me till his last.

Annasaheb used to spend his summer vacation at Bombay with his family. During this period of nearly two and half months, Annasaheb used to sit for his practice every evening on week days and in the morning on Sundays with his few pupils for about two hours, with a regular Tabla player in attendance. This practice session was so well known that many of Annasaheb's admirers and music lovers used to attend these sessions without fail. Many a time well known musiciamns such as Ustad Vilayat Hussain Khan, Prof. B.R. Deodhar, Shri Wamanrao Deshpande, Rajarambuwa Paradkar, Panshikarbuwa, Ustad Majid Khan Sarangia (who very often came with his Sarangi to acccompany Annasaheb during his practice on Sunday mornings) and many others used to be regular in attending these sessions. Very often, Kumar Gandharva used to be present to acquire some indirect training from Annasaheb during these practice sessions I used to attend these sessions without fail and never missed even a single session in spite of my official duties, which I got myself adjusted. Although I had very little monthly income those days, I used to forgo my overtime duties for the sake of these precious musical sessions. It was because of these sessions that I got more and more involved in understanding good classical music.

Some Music Circles in those days, used to arrange programmes of Annasaheb and I had the benefit of attending almost all of them. I had noticed that nearly 75—80% of the audience comprised of a gathering of musicians themselves to hear Annasaheb, who used to sing many unknown or rare Ragas, sometimes self-composed, during his recitals for the benefit of such listeners. I have also

observed that his recitals were a treat to such musicians.

As a person, Annasaheb was a thorough gentleman, possessing a very kind hearted, affectionate and loving nature. He always addressed his juniors, even his disciples, with respect he was always ready and keen in imparting knowledge and training to his pupils thus encouraging them to blossom forth themselves as good performers, teachers and academicians as per the calibre of each of them. Annasaheb was always accessible to all such musicians and music students who aspired to acquire knowledge in music. He was totally free from any sort of politics in Music. All his life, he was a true missionery following the path and footsteps of his Mentor — Pandit V.N. Bhatkhande. I can even state from my personal experience and knowledge that he never accepted a single pie in return of any service rendered either to his pupils or any one else. Even the money in the form of remuneration that he used to receive from his music concerts was promptly donated by him to the Marris College Fund to meet its financial needs.

I have yet to come across any musician, who possessed such a vast and rich reportoire of Ragas and mastery over them. He could render any Raga, howsoever complicated it may be, with the same ease and command. As such, he was respected by one and all among the musicians of his time. I have seen Ustad Mushtaq Hussain Khan of Rampur, Thakur Jaideva Singh, Prof. B.R. Deodhar, Shri. Wamanrao Deshpande Pandit Jagannathbuwa Purohit and many others coming to him and discussing various aspects of music and getting solved many of their doubts.

As a Composer, I place him very high in my humble esteem. Many of his compositions and self-composed Ragas have been popularised by established musicians. He had composed many compositions instantly in my presence while teaching his students during these practice sessions. He had absolute command over the Ragas and possessed good knowledge of the literature in many languages and as such the suitable literacy vocabulary was at his finger tips. Music and words simply emerged hand in hand and the desired composition would take shape within no time.

All that I can say in a nutshell is that Annasaheb Ratanjankar was a true missionery totally devoted to the propagation of music in the true traditional form. He always extended his helping hand to all such aspirants, who sincerely desired to seek knowledge and material in music without any motive otherwise.

To such a great and noble personality, our Annasaheb, I offer my respectful Pranaams.

***Ganpati G. Ginde**

*Ganpati G. Ginde
Goregaon, Bombay 400 063.
[Lover of Indian classical music and closely associated with Pt. Ratanjankar]

Anna Sahib : 'Daiya Kahan Gailo...'?

It is not often that you run into a multi-faceted personality by accident, as it were, who appears to share quite a big chunk of your life and the values you cherish. I had such an experience and I was none the worse for it. Pandit Krishna Narayan Ratanjankar was one such — Musician, Scholar, Administrator and Teacher all rolled in one. Panditji or Principal Sahib to the outside world but Anna Sahib to me and hundreds of his students and admirers was the most unforgettable character I ever met. I cannot claim to be his student in the conventional sense. I joined the Sitar class of Bhatkhande College of Music for a short time but left the college when I was offered an assignment for teaching Psychology at a local college. Anna Sahib, however, wanted me to make music my first love and sent me to the Prince's College in M.P. as a Senior Teacher of Music. But I had to leave soon due to serious differences with the Principal, an Englishman who was not particularly fond of Hindustani Music. I then thought of starting a Coaching Class with some friends, mostly graduates of the College. Anna Sahib seemed to like the idea and blessed our new venture. On my part, I was not unhappy either for I thought that I had perhaps come to the end of my tether. But my happiness was short lived. I soon received a letter from the U.G.C. asking me to visit some European Universities for illustrated talks on contemporary music. And that was end of my Coaching Class.

While in London, I was invited to give a series of illustrated talks at Balliol College, Oxford on Indo- European Music. My knowledge of Western Music being elementary, I wrote to Anna Sahib if he could wriggle me out of this impasse and then conveniently forgot about it. I thought that writing a dissertation on Western Music covering all my points was too much to expect from a busy man. But when I did receive a postal cover from him barely a fortnight after I had mailed my letter, I had no words to thank him. The letter had all that I wanted.

At Pandit Bhatkhande's behest Anna Sahib took charge of the Lucknow Music College at a very early age and built it up almost from scrap. With few students and even fewer members of staff, he found it difficult to run the college smoothly in the midst of acute financial stress. He lived in a small room behind his office and sang only when senior students came for his guidance. Very few people seemed to have heard him in a concert. The rumour soon went round that Principal Sahib was a good teacher and theoretician but not much of a performer. It is tragic that years after his demise there are people who are not prepared to accept him as a practical musician. If my memory serves me right, Anna Sahib was invited to sing at a Music Conference in Delhi sometime in early thirties. The Indian States were represented by their Darbar Musicians — all heavy weights and Anna Sahib must have been feeling pretty nervous when he spotted one eminent singer whom he held in high esteem. I was not present but I read the review next morning. Anna Sahib got a good Press. A le ding Newspaper of Delhi giving a comparative analysis of the renderings of Anna Sahib and other

stalwarts including the one for whom he had great regard wrote something on the following lines :

"The youthful Ratanjankar gave a delectable performance. What we found in him, we missed in many veterans".

This passage did the trick and Anna Sahib regained most of the lost ground. True, with ever mounting administrative pressure, he had little time for practice but in his own circle, he was the master of ceremonies. Rare and difficult Ragas which even veterans would touch with a pair of tongs, our Master sang with ease and confidence.

Having been close to him during the formative years of my life, I have had many occasions of hearing him. The way he handled rare Ragas, the manner in which the application of the same Swara in different Ragas and his own method of explaining the delicate subtleties of different Gayakis was a feat worthy of emulation by the younger generation. When he was the Chairman of A.I.R.'s Audition Board, I was its Deputy Chief Producer based in Delhi and when he was the Vice-Chancellor of Indira Music University, Khairagarh, I was the Dean of the Faculty of Music & Fine Arts. So both in and outside Lucknow, I continued to see a lot of him and had the privilege of his guidance and advice. I lost contact with him only when I joined Visva Bharati as Professor & Head of the Department of Music.

In Marathi Anna means 'elder brother' and in its wider connotation, an elder brother he was to most of us. A man of many moods, now gay, now serious, he was a veritable institution and music was just an extension of his personality. He was dwarfish and appeared to be too small to contain his scholarship and knowledgeability within his frame. One who had inherited Pandit Bhatkhande's fund of scholarship and Ustad Faiyaz Khan's profound musicianship, Anna Sahib was much too great to be gauged by puny people like us. He was not our musician but a musician's musician.

I was in Calcutta when I read the news in the papers that it was all over and Anna Sahib had left us. The news was too terrible to be true. I felt as though I had lost a part of my being. Suddenly, my thoughts turned to his students — Bhatta, Ginde, Nagarkar and a host of others who must be feeling literally orphaned. It was too late even for a formality but I sent a routine telegram. But would that assuage his heart-broken students and family members ? I have still my doubts.

Anna Sahib's demise created a void in India's inviolate classical music. He came and went away — "when comes such another"?

***D.T. Joshi**

*D.T. Joshi
Burdwan 713 101. (W.B.)
[Disciple of U. Inayat Khan (sitar) and Faiyyaz Khan. Dean of faculty of Music at Khairagadh University].

Such Was My Guru

It was 1936. A music conference was held at Lucknow by Marris Music College. Introduced to me by late Mirashibua of Gwalior Gharana, Shri. Kumar Gandharva, who became a very close friend afterwards, was invited to this conference and I was to accompany him on violin. Unfortunately he could not make it due to ill health and ultimately I was left alone to give a solo performance. I knew only two ragas that time — Bhairav & Yaman. I was very scared. I do not know how I played, but when I ended my performance, the first person to congratulate me was late Dr. S.N. Ratanjankar alias 'Anna Sahib'. We used to call him by that name. I was very much overwhelmed when I came to know that the person who had appreciated me, the then short built personality was none but Vice — President of Marris Music College. Unaware of what was to be served in coming future, with sweet memories of Lucknow I returned to Bombay.

I was surprised one fine morning to see Anna Sahib at my elder cousin brother late Shri. Athwale's residence. He had brought a proposal for me as teacher of violin in Marris Music College at Lucknow. My brother knew how much knowledge I had and he argued with Anna Saheb about it. But Anna Saheb was very confident and firm on his decision and finally I was to go to Lucknow. Thus a very important period of my life started. This phase has helped me a lot to develop my music and come up in the career. Anna Saheb not only became my Guru but also guardian also. He was simple, disciplined and a man of big heart. Educating common man — Indian classical music — was his mission and this missionery work he carried out through out his life.

He was so learned that he knew all the ragas with all the compositions by heart. Moreover he was a composer of his own I learnt more than 50 to 60 ragas from him. He taught me very generously. It was very interesting to know that my tuition, so to say, used to start at 10 p.m. in night till early morning. After the violin classes I used to go to his room and then he used to sing and I used to accompany him. This continued till I left Marris Music College for a job at Lucknow Radio Station in 1952.

I did not had any degree, because of his efforts, honorary degree of Vadya Nipun was conferred on me in 1944. Because ofhis advice, I was influenced to write a book on violin "Bela Shikshak". Because of his valuable advice, I started on concentrating to be a soloist of violin rather only a accompanist.

Such was my Guru, who always thought of his student, his progress, his good. I owe him so much that writing pages and pages about him is not enough. Words fell short in expressing gratitude.

***V.G. Jog**

*V.G. Jog
S.R.A. Calcutta- 700 040.
[World renowned violinist. Teacher at inarris college from 1938 onwards. Member of expert committee S.R.A. Calcutta.]

The Greatest Composer

I did not have the good fortune of listening to Pandit S.N. Ratanjankar on more than three or four occasions. First time I heard him was at the Theosophical Society, Varanasi. I was stunned by the academic excellence of his rendering and his control over the Strutis. His sense of ragdari was unparallel and flawless. What he certainly lacked was an impressive personality and an imposing voice. Perhaps these were the factors which failed to move his ordinary listeners. But all those who were in close contact with him and possessed a deeper understanding of the art, including all his numerous disciples, rightly regarded him as one of the greatest performing musicians of his times.

The music world generally acknowledged him as a great musicologist and a composer. In my opinion, he was undoubtedly the greatest composer of his period, having composed at least one thousand Bandishes filled with aesthetic and academic excellence. He was the most learned musician- musicologist of the tweniteth century besides Pandit V.N. Bhatkhande.

Ratanjankarji's honesty and integrity were his strongest characteristics, and, as such, he was somewhat a misfit in the times he lived, unable to turn the opportunities he got in life into his gain and advantage. Nevertheless he was proud of his honesty and won the love and respect of all those who came in close contact with him and who remember him even today, eighteen years after his death. With utmost reverence and affection.

***V.K. Kichlu**

Annasaheb : A Great Humanitarian & Composer

As a teen-age boy I used to go to Dr. Ratanjankar's house at Gowalia Tank Bombay along with Pt. K.G. Ginde. This was much before I started learning Sitar. Even then Dr. Ratanjankar, Annasaheb as his near and dear ones called him, gave all the love and affection to me and treated me with dignity. Similar was the treatment given by him to all those who came in contact with him, irrespective of the fact whether they were from the field of music or not.

When I started learning Sitar at Shreevallabh Sangeetalaya, Sion, Bombay under the guidance of late Shri Trimbak Jadhav, Annasaheb had taken up Directorship of this Sangeetalaya. Upon the request of Shri. Trimbak Jadhav, he composed about 75 numbers of Sitar gats and directed us as to how to play them. This set of gats is a treasure in itself. These gats use old traditional bols of mizraf like — Dir Dir Dir Dir, Dra- Ra Da and Da- RDa, which are rarely heard now-a-days.

*V.K. Kichlu
Executive Director, Sangit Research Academy, Calcutta 700 040.
[Had training under Latafat Hussain Khan and also under Aminuddin Dagar].

These compositions are complete with Sthayi, Manja and Antara. Use of meend, kan, ghasit, murki etc., are so appropriate that if a student just masters these gats he need not learn elaborate alaps. He will instantly get all the intricasies of that particular raga and will know how to differentiate it from a similar raga.

These gats are also excellent from rhythmic point of view. The action of reaching 'Sam' is wonderful in almost all gats. The compositions are in various talas like 'Trital' 'Ektal' 'Teevra' and 'Ada-choutal' etc. Both melody and rhythmwise these gats are of highest traditional type, excellent and different from present day one-line monotonous gats.

It will be surprising to know that he composed most of these gats while travelling from Gowalia Tank to Sion in BEST Bus. The heavy rush, the noisy streets and uncomofortable journey did not deter his concentration and dedication.

I was unfortunate not to be present for his funeral, as he died only three weeks after I was transferred by my Employer to Raipur.

***C.L. Koppikar**

Jewel Of Men

My latest and last meeting was at Ratanjankarji's home in Bombay. The occasion was one of the meetings of the Editorial Board of the Music Encyclopaedia Project of Sangeet Mahabharati. The Project had begun in right earnest and proformas were being devised, so as to attract relevant information on every aspect of music, He was in the chair and permitted discussion on every small detail. It revealed his respct and consideration for others on the Board. The sessions were long but even at his advanced age did not show any weariness or 'Casualness'.

The Indira Kala Sangeet Vishwavidyalaya of Khairaagarh (M.P.) was indeed fortunate in having Ratanjankarji as its first Vice-Chanceler. Instituting a University for Music and Fine Arts was decided by the M.P. Govt. in rather a casual manner and Ratanjankarji had to work within a framework, with small grants absolutely insufficient for instituting departments and for development. Under this trying circumstances, Ratanjankarji tried his best to give a good start.

My earliest memory (1944—45) of Ratanjankarji goes to my listening to his private concert at someone's place at Kanpur. Perhaps it was arranged through the good offices of Thakur Jaidev Singh, who was staying at Kanpur at the time. I always looked to him for some less-known raga or a raga-variety and to the rendering of a composition. And listening to him was highly rewarding.

If I try to consolidate my memories of this Jewel of Men — of small frame, upright back, peeping intelligent eyes, persuasive words and clear thinking, dignity in bearing, with humility and wisdom, unquestionable musical depth, with rare

*C.L. Koppikar
Pune 411 004.

[A keen student of sitar and disciple of Pt. Arwind Parikh. Had association with Pt. Ratanjankar.]

aesthetic perceptions of ragas coupled with compositional skills — Ratanjankarji stands out, with these qualities, as an ideal Guru/Professor of Music, an academician in persuit of excellences, in the firm footsteps of Pt. Bhatkhande. Dedication of such men has influenced generations of musicians and musicologists.

Both, Pt. Bhatkhande and Pt. Ratanjankar have ever inspired me to follow them.

*R.C. Mehta

Those Memorable Days

It is four decades — I was lucky to be a student of Anna Sahib Ratanjankarjee. We had nice days along with the other male students like Shri. Birendra Kumar Phukan (Gold Medalist) and Shri. Saru Bordoloi (Kathak) who bagged lots of attention and affection from him.

I went there in 1946 July and came with a successful result in 1951.

So long I had the opportunity of attending the progrmmes of famous North Indian Ustads in our College Auditorium. They were Ustad Faiyaz Khan Sahib, Allauddin Khan Sahib, Rajabhaiya Poochhwale Sahib (Principal, Gwalior), Ahmedjan Thirakawajee (Tabla Samrat), Munne Khan Sahib and Pandit Rabi Sankar (Sitar), Jog Sahib (Violin) Kalyanpurkar Sahib (Kathak) Shri. G.N. Natu Sahib (Ex. V.P.) and Ali Akbar Khan (Sarod) etc.

I got an opportunity to join 15th August Chorus celebrated in the Govt. House (U.P.) during the days when Nightingale of Bengal Sarojini Naidu then was the Governor of U.P. and during Panditji's Ministry joined lots of programmes with Anna Sahib and other professors in 26th January and 15th August. Anna Sahib taught us a few 'Varnams' of his own composition.

He was such friendly with us that we have occasions of joining Ganesh Puja, Janmasthami, festival and learnt many Bhajans (Special). He was like our elder brother. Such a friendly person was he, specially I being an Assamese only girl student, got special attention as I was from Far East (or those days). As I was a scholarship holder I could not provide private tuition. Anna Sahib and Chhotu Master Sahib heartily helped me from all side for which I am ever grateful to them. Those days are dreams for me. I cannot write my five and half years Lucknow days briefly. So I am giving a little sketch because if I start elaborately I will need at least two exercise books to finish. Now I think it is better to teach my students whatever I bagged from them. I am lucky to attend the First Bhatkhande Anniversary which was started at the time of Principal S.N. Ratanjankar — our Anna Sahib. It was 19th Sept., 1946.

I have attended the musical concert, started early morning with the hymn specially written and composed by late (V.P.) G.N. Natu. The programmes of this Anniversary

*R.C. Mehta
Baroda 390 001.
[Gen. Secretary, Indian Musicalogical Society, Baroda, Ex-principal of M.S. University of Baroda].

continued 4 days without stopping Tanpura. I have been lucky to listen to the programmes of above mentioned Ustads at a time and it had enchanted me.

Anna Sahib was a very strict and reserve person, but he was very affectionate on the whole.

***Mrs. Mira Das**

The Real Examiner

The year was 1947 — the venue — The Central School in Varanasi, time morning. I was only appearing for my Matriculation examination no more. But there was this August Body of five Judges which included Shri Krishna Ratanjankar to examine me, naturally I was overwhelmed. I still remember i.e. was examined for full one hour. Somehow I belong to that cateogry who do not suffer from stage fright or by the presence of important people. I was well aware of Pt. Ratanjankar's standing as a musician. Not only was he one of the most important musicians but also a very learned one. I think it was because of my Guru — Ustad Faiyaaz Khan that I attracted so much attention. At this stage of my life it is difficult to remember what were the questions. I was asked by the Board but the question I was asked by Ratanjankar I do. He had asked me to sing bandishes of "Basant" and "Purabi" — and also elaborate. "Basant" was the rag not included in our course; fortunately I knew it. That I think impressed him and others. Soft spoken with very intelligent eyes Ratanjankarji was apparently very good with students. The last question I was asked was about 'Rupak' taal which I couldn't answer. I fumbled. Seeing how upset I was, he concluded the session by saying "Don't worry, everything will be alright". And it was. Out of 100 I had got 96 !

I was far too young to be able to make a conversation with such a giant but I had the pleasure of listening to him at our own residence. In Agra we had a huge house with 14 rooms and a huge verandah with a stair case. My father — Late J.C. Taluqdar being a lover of music — we often had House Concerts. I still remember an occasion when Tasadduq Hussain Khan and Girija Shankar almost came to blows over the definition of Thumri.

Between my Matriculation and Graduation, one day Baba had organized a morning session of our house concert, the artist being no less than Shri Krishna Ratanjanjar. Being a student of an important gharana, I was also trained to be a keen listener. Excitedly I waited. I must say I was a little disappointed when he started because it didn't come up to my expectation. But slowly he warmed up. It was a superb recital of Debgiri Bilawal. Though it is a difficult Rag, he sang it beautifully.

*Mrs. Mira Das
Tezpur (Assam)
[Graduate of Bhatkhande Sangit Vidyapeeth.
Presently principal, Music College, Tezpur].

His Ragdari was impeccable, as was his pronunciation. Also it was full of emotion. It was an experience.

I did have occasions to meet him but was not fortunate enough to get close, though my father knew him well. In another sense I know him better than my father because I have read most of his books. His compositions which are hauntingly beautiful are a part of the musicians treasury.

***Dipali Nag**

The Torch Bearer

Remembering great men is a soul-lifting experience. A sublime feeling fills your whole being at the moment If it is an outstanding artist the entire country itself cherishes his rare achievements. It spurs the members of the succeeding generations to attain greater levels of excellence. Pandit Ratanjankar is one such outstanding personality who adorned the music world of yesteryears. He was a leading light of the Agra Gharana — a great singer and a mentor of no mean order.

Panditji and myself learnt under one Guru — the legendary Faiyaaz Khan Sahib, he being of course my senior in age. In fact by the time I went to learn at Baroda he had finished his studies and gone to Lucknow. Though I could not keep company with him while learning I heard a lot of his music through the Radio which moved me intensely. He had extraordinary control over layakari and his boltaans were impeccable. His voice had an ethereal quality and his style was very attractive. His singing had a mature ring about it.

I had once an opportunity of meeting him at very close quarters. He was much a person who would leave a permanent impression on you, even when you met him only once. I have also the memory of that meeting etched on my mind permanently. In those days 'tapes' were not yet used for recording music. The 'Audition test' for singing on the Radio involved the senior vidwans who conducted the test and those who appeared for the test had to sing and answer all the questions then and there. It is one such 'Audition test'. He was the examiner and I was the one sang and answered questions.

The interview took place at Malleswaram Sangita Sabha. Panditji welcomed us smiling sweetly. This put us at ease so much that I could sing effortlessly. Added to that, when once he knew that I came from Faiyaaz Khan Sahib's talim he did not enlarge much on questions. After the examination Panditji in an expansive mood talked for some time about the exclusive features of the Agra gharana. His exposition brief though, was astounding. "Taans and suravat alone does not make good music. Taan, boltaan, ghasit, meend in consonance with navarasa

*Dipali Nag
Calcutta
[Disciple of Ustad Bashir Khan and Tassaduq Khan of Agra Gharana.
Presently associated with S.R.A., Calcutta].

bhavas blended into the body of melody alone would make great music" he explained. He also sang and brought out the meaning of all these points clearly. This made that day memorable and we considered ourselves fortunate in getting a chance to sing before this great master.

Pandit Ratanjankar was a great singer, but more than that he was an ideal teacher who spread the message of music to a vast circle of dedicated youngsters. He inspired a whole new generation. In music apart from the usual practitioner it is the teacher who bears the burden of keeping the classical tradition pure and passed it on to the coming generation. Panditji is one such torch bearer and his service to the world of classical music can never be forgotten. May his memory light our path.

*R.V. Naik

The Absorbing Instructive Sessions

The earliest memory dates back to 1941-1942. By then I had made sufficient progress in music so as to perform in the public for two to three hours and I was called upon to sing from the Mysore Akashwani in their 90 min. Friday night concerts. From childhood I had so great fascination and love for dear Nandamam (and still have) that whenever he used to come to Shirali I used to be sticking to him like a leech and learn whatever I could specially during Ashtavidhan musical sittings which used to go for as long as 30 to 40 minutes! (mainly Madhyalaya Khyals). No doubt then he would talk about these things to Anna Saheb and perhaps he became inquisitive about my progress also in music and took time to tune in to the radio and listen to me! In those days with low power transmitters he must have really strained his ears He seemed to have liked a particular Taan pattern etc., which I came to know later was his forte which I came to know from Nandamam. This only indicates that he had no bias in listening to young or old and further emphasises his deep love and regard for his own Shishyas — Dr. S.C. R. Bhat or else, he would not have bothered to listen to an ameteur at such long distance.

It was in 1946-47 was regularly attending his evening practice sessions in his Forjett Hill residence with mainly Bhat Saheb on the Tanpura and sometimes any other disciple on the other Tanpura. Alaap alone used to go on for about 45 minutes and later a vilambit and drut khyals for another hour or so. These sessions were absorbing and instructive. I had the opportunity to attend to his regular concerts in Bombay Music Circle in the late evenings when he started

*R.V. Naik
Bangalore 560 018.
[Renowned Harmonium accompanist and had accompanied Atta Hussian and Faiaz Hussain Khan on ample occasions. Had training both in Karnatic and Hindustani style.]

with Goud Malhar. The intricate alaaps and Tan pattern which he sang that night are evergreen in my memory even today and I have yet to hear another artiste of the like ! It was highly intellectual music with variety in Swara combinations and inter-play in Swara, Laya and Taal, not to speak of the avirbhav — tirobhav of Malhar Angs. It was then I had virtually become a fan of his music and student of Eklavyabhav.

Later it was only in 1952—63 (?) I had the previlege and honour to host him at my residence at Jayanagar at Bangalore when he came to address (the address is available in printed booklet. I hope you have got it) a convocation of a music academy there. We all enjoyed his company with his aide enthusiastic Yashwant Mahaleji and we used to have some evening sessions when free during these days. I took Tanpura and started Alaap in Narayani one evening. In about 5 minutes Anna Saheb joined and started instructing me in the method of Alaap, specially the 'Gamakas'. One particular Gamaka — सा to प (the Hick-up style) was taught over and over again — may be 7 to 8 times until I could get it properly, when he left at that with a great laugh. A very tenacious teacher indeed !

An instance comes to my mind. At that time he had submitted a well researched paper on Indian Classical Music for inclusion in the Kannada Encyclopaedia which Karnataka Government was about to bring about. The remuneration was delayed for quite long and though he made several attempts to expedite. After several months they paid a meagre Rs. 50/- saying that the amount be treated as an humble honorarium of the Government which was more a name and recognition for him than money! He wrote to me in a postcard that he had put in so many manhours of laborious research in producing the piece of knowledge and what a way of recognition!

***N.S. Padukone**

'Gayak' and 'Nayak'

The name of Acharya S.N. Ratanjankar rings several musical bells in the minds of both performing musicians and aspiring students. It has been said that there are two distinct categories in the musical world which call themselves by the names of 'Gayak' and 'Nayak'. A performing musician combining both these talents is rare to find. Acharya Ratanjankar was both a 'Gayak' and a 'Nayak' and this of course is a unique achievement.

In my capacity as a performing musician, it is an honour to write these few words conveying my respect and admiration for the valuable and distinctive contribution that Acharya Ratanjankar has made to the music of India. His excellent

*N.S. Padukone
New Delhi - 37.
[Son and disciple of Pt. S.C.R. Bhat. Had association with Pt. Ratanjankar.]

composition of a vast number of 'Chizas' which carry with them the flavour and charm of our 'old time' — Bandishes, can well be treated as useful and significant guidelines for aspiring musicians — both in the field of vocal and instrumental music — and again followers of different gharanas and not only followers of Agra gharana.

In conclusion, whilst paying my humble respects to Acharya Ratanjankar, it would be no exaggeration to say that the future of Indian music would be more secure and bright, if we have more personalities like Acharya Ratanjankar to lead us as beacon lights.

Arvind Parekh

Ambassedor of The Past

Bhatkhande's interaction with Subbarama Dikshitar at Ettaiyapuram, nearly nine decades ago heralded perhaps, the first constructive deliberation between Hindustani and Karnatic Systems of Indian Music. Venkatamakhin's Melakaarta scheme did influence Bhatkahnde in his 'Thaat' classification of Ragas. Pandit Ratanjankar was one of the few Hindustani exponents who recognised Lakshana values in both systems. We recall, renditions apart, his active participation in the proceedings of the Music Academy, Madras. The papers presented by him reminded us of his attempts to synthesise similar facets of the two systems — he was a symbol of unity in diversity. Quite often, he was the solitary performers from the Hindustani system. His classism captivated Karnatic oriented audiences, without any need for latter-day improvisations like 'juggle-bandhis'.

Pandit Ratanjankar will be remembered for his pedagogic achievements too, apart from being a performing artist. Pt. Bhatkhande's influence on Pandit Ratanjankar, perhaps was the prime cause for his catholicity in classical values. His approach to non-Hindustani listeners was persuasive and pervasive — not omnisonorous or imposing. Many persons in the South learnt Bhajans like "Pagh Ghungroo Bandh" and "Payoji maine Ram ratan dhan" from Pandit Ratanjankar's renditions thereof.

We remember and revere him as a soft collossus, as a self effacing yet sincere ambassador of the past, who paved the way for positive exchange between the two Indian Music Systems.

***D.K. Pattammal.**

*D.K. Pattammal
Madras 600 085.
[Wellknown musician of Dikshitar tradition of Karnatic music of international recognition.]

*Arvind Parekh
Bombay 400 023.
[Eminent Sitar maestro Trustee, S.R.A. Calcutta & Chairman, S.R.A.'s Western region, Bombay. Senior disciple of U. Vilayat Khan.]



APPENDICES



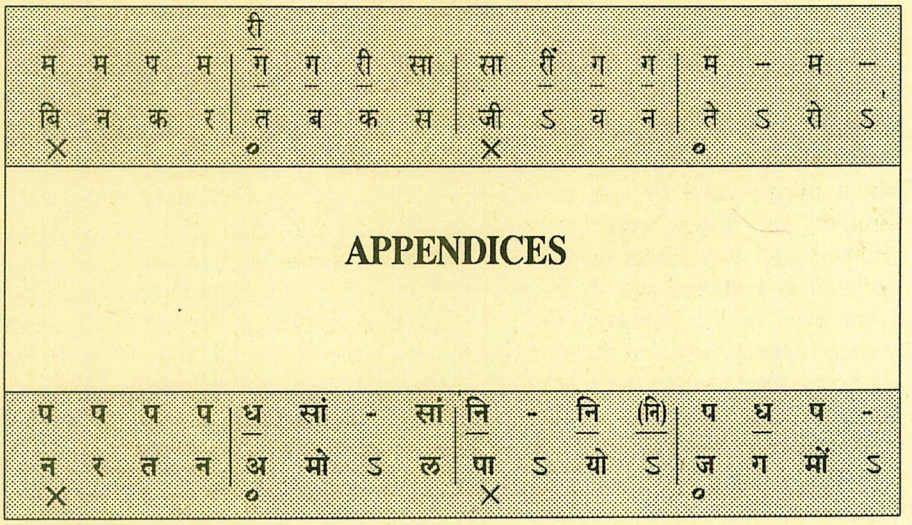

APPENDIX I

ACHARYA S.N. RATANJANKAR : THROUGH HIS PEN

(The Acharya had typewritten his own short biography which is being reproduced here)

I, was born on the 31st December 1900, in a middle class family of Bombay at Bhatwadi, Bombay. My father - Shri NARAYAN GOVIND RATANJANKAR was then an Officer in the Criminal Investigation Department of the Bombay Police. He had studied upto B.A. of the Bombay University, was personally a man of literary turn of mind and was passionately fond of music. Music and Poetry, English, Marathi and Sanskrit were his hobbies. He had learnt Sanskrit under the old system of Panini's Ashtadhyayi and Siddhanta Koumudi under the late Bheemacharya Shastri Zalkikar. He used to play on Sitar, having picked up the knack of Sitar playing from a book known as "Satari Chen Pahilen Pustak" and was a fairly impressive Sitar player. He had also made a comparative study of Hinduism, Christianity, Buddhism & Theosophy. For some time he was also a Member of the Prarthana Samaj of Bombay. He had his school and college education from the Elphistone High School & Elphiston College, Bombay. Our forefathers belonged to a village known as 'Ratanjan' and 'Jawalgaon' in the Barsi Taluka, in the Sholapur District of the Bombay Province. They were then known as Jawalgaonkar Kulkarnis and were Kulkarnis by profession. It was my father who assumed the surname Ratanjankar. Ordinarily surnames were not much in vogue in the old days of the past generation. A person was known by his own and his father's name. Hence my father was commonly known as Subhedar

Narayan Govind. My father himself was born in Bombay and spent all his life in Bombay. My mother, Mrs. Lakshmi Bai who was known in her father's house as Champoo Bai belonged to a family known as Kamlakar who were natives of a village near Bassein, District Thana, Bombay Province. She was rather of a delicate constitution and died at an early age of fortyfive or so, when I was about twelve years of age, in September 1912, on the Ganesh Chaturthi Day. Brothers and Sisters were ten in all, six brothers and four sisters. Two of my brothers and two sisters died in infancy. Of the remaining two sisters one died in 1916 at a mature age of about twentyfive years. Thus there is only one sister living now. Of the brothers, one, the eldest died in 1948 at the age of fiftythree having fallen a victim to the riots which took place in Bombay only for a couple of hours shortly after the news about Mahatma Gandhiji's ultimate sacrifice, on January 30, 1948. Thus today we are living three brothers and one sister. My sister is two years elder than I and the brothers are younger.

I am the 7th child of my father. My full name is SHRIKRISHNA NARAYAN (son of) RATANJANKAR. Like my mother, I am a person of delicate constitution. But music has sustained me and kept me ever cheerful and happy throughout these 57 odd years of physical weakness.

I owe my first debt of gratitude for whatever bliss I have enjoyed from music to my father, who, having as it were, not been able himself to satisfy his thirst for knowledge and practical attainment in Music to the extent he wanted led me to the gate of the fairy land of music and made his and my life happy.

I was seven years of age when my father engaged one Krishna Bhattji Honawar, a Kanara Saraswat Brahmin who was an expert music teacher especially in initiating a student in the basic principles of the art to train my elder brother and myself in music. Shri Krishna Bhattji was a pupil of the late Kale Khan of Patiala. My father gave strict orders to the teacher to give a thorough grounding in Swara Jnyana to us, and never both over teaching us any musical compositions before we were fully trained in the musical consciousness. My brother could not continue long in his musical training. I being a a small child, then had nothing like a choice and had to stick on, though I would not have hesitated to play about were I allowed to do so. Ordinarily all small children possess sweet and flexible voices and I had my full share of this God's gift. My Guru Krishna Bhattji trained me thoroughly in the Swara and scale exercises so that within six months' time I was able to sing and distinguish between all the swaras, Teevera and Komal of Hindustani Music and also to appreciate and reproduce by voice even the microtonic shades of pitch in between the Swaras, could name the pitch of any musical sound produced any where within hearing, say a motor horn, a railway engine whistle, a bell, a hawker etc. in relation to the Basic Notes (Sa) of my Tambura. Yet, the Swara and scale exercises were continued in more elaborate and complicated forms for another six months. It was only after having spent a full year on Swara Jnyana alone and acquired a complete control over the Swaras that my Guru started teaching me the closed forms (Musical Compositions) of Hindustani Sangeet such as Surawat (Swaravartta) (Tala-Baddha Sargam),

Dhrupad, Tarana, Khayal etc. This continued for a further period of six months. Having acquired a thorough Swara- Jnyana I could easily pick up quite a large number of Chizas (Classical compositions of old past masters handed down in the traditions of professional musicians) from my first Guru. My second Guru in music Shri Anant Manohar Joshi of Aundh (Satara District, Deccan) the recipient of the President Award in 1955 soon followed in 1908, having been engaged by my father under advice from some of his music listener friends Shri. Anant alias Antu Bua taught me for about a year and half, say till the middle of 1910. Just at this time the late Vishnu Digambarji or Vishnu Bua as he was known then came from Lahore and settled in Bombay, having opened the Gandharva Maha Vidyalay at Badam Vadi, a professional musicians' locality to the East of Kennedy Bridge in Bombay. My father having been fond of music and as such having heard the reputation of Vishnu Bua as an impressive practical vocalist soon got in touch with Vishnu Bua. The Bua Sahib used to hold weekly demonstrations of music at his Gandharva Maha Vidyalay just to popularise his school of music and in general to create a taste for music among the general public of Bombay. My father used to attend these demonstrations regularly and some times he used to take me also there to hear the music. There is no doubt that Vishnu Digambar was gifted with a very powerful and tuneful voice and he had cultivated his voice very well. A pupil of late Balkrishna Bua of Ichalkaranji who was himself a very popular and recognised Gavaiya of his time, Vishnu Bua was a well trained musician and so long as he kept up his style of the classical (Ragadari) tradition of his Guru did full justice to the Gharana and earned a great reputation in the field of practical music. Gifted with a sweet and thoroughly impressive voice which he himself cultivated further by hard practice the Bua Sahib was easily among the foremost gayaks in those days. Added to his practical ability in music he seems to have possessed a good capacity for organisation and by his thoroughly disciplined behaviour and decent ways of life he soon made his Gandharva Maha Vidyalay a very popular institution of music. Vishnu Bua was an occasional visitor to our house during the time that I was under training of Antu Bua who also is a pupil of the late Balkrishna Bua and as such a fellow student of Vishnu Bua. Vishnu Bua used to suggest to my father that I should join the Gandharva Maha Vidyalay. One day my father agreed to put me in the Gandharva Maha Vidyalay on condition that Vishnu Bua should himself give me a special training. I was one day sent by my father to get myself admitted into the Vidyalaya.. But unfortunately Vishnu Digambarji was too busy with his work and worries of managing the school and could not get time to train me. As a result my father had to stop my attending the Vidyalay the very next day and continue my training under Antu Bua.

I learnt many good Khayals and some Taranas from Antu Bua till nearly the end of 1910.

Just at this time my father suddenly fell ill with a rather serious type of chest complaint as a result of which he had to retire from service. He got well by and by but this sudden change had a serious effect on the economic condition

of the house. My father had to take the family to Poona which compared to Bombay was a much cheaper place in those days. My music lessons had to be stopped. Apart from the financial strain my mother's illness of which she ultimately died in 1912 as pointed out above was in no small measure a cause of much worry and anxiety to my father. He was in no mood for music. My Tambura and Tabla and music lessons were all hustled out and it was a very meek and quiet family that shifted to Poona. My mother was in bed, a permanent invalid, a poor cripple with rheumatic limbs a source of much uneasiness and anxiety. As it were this was not enough trial for us my father fell ill again with the same complaint. We had again to return to Bombay for medical treatment for both my parents. My father once more recovred from his illness and lived for over 20 years after that. But my poor mother died in 1912. We returned to Bombay in the middle of 1911. In the meanwhile Shri Antu Bua had also opened music classes in Bombay and when we returned from Poona I was asked by my father to attend Antu Bua's classes. I used to go to these classes occasionally. It was at this time that Antu Bua's son Shri Gajanan Rao Joshi was born. I cannot say that I derived any benefit from the classes of the Guru Samartha Gayan Vadan Vidyalay of Antu Bua. I used to go there, if for any thing, just to keep in touch with music and to brush up whatever I had learnt during the four years before this.

It was in 1909 when my lessons at my home in Bombay were in progress under Antu Bua's tuition that I had the privilege of seeing the late Pandit - Bhatkhandeji. A friend of my father's by name Shankar Rao Karnad, a lawyer and a keen student of Music brought Panditji to our house in the evening one day to listen to my music practice. My Guru was also present, giving me lessons at that time. Panditji listened to my songs and Raga Vistaras and put me some questions just to test my 'Swarajnana'. I do not know how far I was successful in the test, but Pandjitji patted my back and gave me blessings saying that I would come out a successful musician if I continued my study and practice.

My music lessons went on for about six months further as I have pointed out about under Antu Bua. A few months after Panditji's visit to our house my father received from him a present of his newly published two books namely "Shri Mallakshya Sangeetam" and the first part of Hindustani Sangeet Paddhati". My father, always on the look out for a good and logical book of information on music as he was, studied these books critically and was greatly delighted with Panditji's clear cut and intelligent discourses on the theory of Hindustani Music and its Ragas. He was then and there convinced that, for the first time, after centuries an authoritative and lasting system of music was introduced by a great musician and musicologist. He immediately instructed Antu Bua to strictly follow these books in my lessons. After a few months however my father retired and my music lessons had to be given up, as I have already pointed out above.

After we returned from Poona my father one day some time in December 1911 met Pandit Bhatkhandeji in a tram. After preliminary formalities Panditji enquired about my progress in Music. My father gave him the details of the

latest happenings and told him that my 'Swarajnyana' was as fresh as before though I might have forgotten the compositions I had learnt from M/s Krishna Bhattji and Antu Bua. Panditji then asked my father to take me to his place some day and that he would look after my further studies in music. And I started taking lessons from Pandit Bhatkhandeji in December 1911 at the Gayan Uttejak Mandali, a music club run by some wealthy Parsi music lovers of Bombay at Tardeo Bombay of which Panditji had been a permanent member for a number of years before this. I used to go with my father to this club every evening when Panditji used to give me a special coaching for about two hours in the presence of my father, explaining to him important points in the lessons so that he would guide my practice at home. This was the most valuable and fruitful time I spent in my student life. Along with my musical training my school education was also duly maintained at the Elphinstone Middle School. After my mother's death in 1912 we shifted to Bandra a suburb near Bombay. I kept on attending my music lessons coming every evening to Bombay from Bandra. This went on till the end of 1914. The economic stress was now becoming more and more keen and we had again to shift to a cheaper place. My father took us all to Ahmednagar in October 1914 and we stayed on at Ahmednagar till the summer of 1917. What with my good voice and the systematic training I had received from my three Gurus I had made a fairly substantial progress in music. In fact so long as I was at Ahmednagar (1915-1916) I was very popular as a boy musician with the towns people of Ahmednagar. The music lovers of that place would speak with pride about my poor self. My music won for us the sympathy and affections of a lot of persons in the town. A prominent pleader shri Nagnath Lakshman Ranade of Ahmednagar, who was still living only a few months ago loved me dearly and offered to support my education and music study under a great Ustad of renown to whom he was personally very much devoted as a music listener. But my father did not agree to any change in my system of study except with the express permission of Pt. Bhatkhandeji. This permission was never asked and the idea of my receiving training from this Ustad never materialised. In the meanwhile my father sent me back to Bombay to continue my music lessons under Pt. Bhatkhandeji and I was thus again in Bombay quite for a year or so in 1916. At this time Panditji was invited by His Highness the late Maharaja Sayaji Rao Gaekwar of Baroda to inspect the Baroda State Music School which had till then been running under the supervision of the late Moula-Bux's son by name Dadu Miyan. This school was probably the first music school that was opened in India. The late Moula-Bux was a Muslim Ustad who had received his training in the South and was much conversant with the Southern system (Karnatak System of Music). He came to Baroda along with other retinue of the newly wedded first Maharani Laxmi Bai of Baroda who was herself a daughter of the Tanjore ruling family. Tanjore is famous for its musical culture and it is no wonder that among other things transferred to Baroda with the bride there should be some musicians and dancers. A Tanjore Dance party that came to Baroda along with the retinue of the Maharani was maintained by the Baroda

Court till the age of retirement and given a pension after retirement.

Ustad Moula-Bux on his own initiative or under orders from His Highness soon opened a school of music and started training classes of the students at the school. So long as the Ustad was himself alive and looked after the school it was running fairly well. Moula-Bux created a notation system and published his Music text books in this notation system under the patronage of the Baroda State. But after his death the school began to deteriorate so much so that by 1915 when His Highness called Pandit Bhatkhandeji to inspect the school it was at its lowest ebb of efficiency. His Highness invited Panditji to suggest a scheme for its Re-Organisation. In the course of the discussions that took place between Bhatkhandeji and His Highness the idea of holding an All India Music Conference was suggested by Panditji which appealed his Highness very much. As a result the First All India Music Conference was held at Baroda in March 1916. Practically the whole of India was represented at this conference, including the leading Musicians and Musicoloigsts of the South representing the Dakshinatya System of Music. I was also asked by Pandjitji to attend this Conference and I did attend it with my father. I had the privilege of listening to all the top ranking vocalists and Instrumental musicians of those days and hearing the lectures on music by learned musicologists. Pandit Bhatkhandeji, so long as he was in a fit condition, took a prominent part in organising all the Sessions of the All India Music Conference held from time to time and place to place and was the moving spirit behind them. Five sessions of the All India Music Conference were held during his life time namely (1) Baroda 1916 (March), (2) Delhi - 1919 (December), (3) Banaras 1920 (December), (4) Lucknow 1924 (December) and (5) Lucknow 1925 (December). Panditji's main idea in holding these conferences was to gather all practical Ustads together and settle their differences of opinion in the matter of the Ragas and traditional compositions and to standardise musical training in a uniform system just for the benefit of students wanting to learn music. He achieved some measure of success and made due use of the information and consensus of opinion on the practical forms of Ragas and traditional songs in his later publications. I returned from Baroda with a lot of new knowledge and new experiences.

From Ahmednagar we shifted in 1917 to Satara where we were for a few months. At Satara I had the privilege of seeing the late Rev. Narayan Waman Tilak, the great Marathi Poet at close quarters. My impression about this poet can be explained in just one sentence. He was Emotion, Impulse. High intellect personified in a frail but always agile and alert body. There was a deep thinking Philosopher behind apparently childish quips and pranks.

Not less than my father was Panditji anxious about my future in the midst of a trying Financial condition. He held an ambition that I should not be only a practical Gavayi earning my livelihood by entertaining people but a respectable educated person thoroughly equipped with knowledge and practical skill in Hindustani Music.

But the financial condition of my father at this critical period of my life was

extremely low. In fact he could not put us children to school for quite a few months. Panditji was always in correspeondence with my father wherever we were and kept enquiring about my progress from time to time. He somehow or other came to know my father's difficulties. At the time of the All India Music Conference at Baroda, Pandjitji introduced me to His Highness and Her Highness (Maharani Chimna Bai Sahib Gaekwar) and recommended me for a grant of Music Scholarship of Rs. 40/- per month. By August 1917 I received orders from the Education Department, Baroda State to proceed to Baroda, a scholarship of Rs. 40/- per month having been granted to me. It was a condition laid down for me that I should go and stay at Baroda during the tenure of the scholarship. My music study was to be carried on under the tutorship and guidance of the late Ustad Faiyaz Hussain Khan Sahib, Aftaf-E-Mousiqui, the Court Musician (Darbar Gayak) of Baroda, this too under Panditji's own recommendation.

In the meanwhile, in the summer of 1917 we left Satara and shifted to Poona where we stayed on till the end of July of that year. As soon as the orders from Baroda referred to above were received, we left Poona and proceeded to Baroda in August 1917. I was soon introduced to Ustad Faiyaz Hussain Khan Sahib. According to the tradition of the professional musicians, I had first to be admitted to the Society of Professional Gayaks and initiated into the discipline of the Gayak Khan Dan, as they say. This is effected by what they call the Nada or Ganda ceremony. The Ustad (appointed preceptor) ties a sort of Sacred thread on the wirst of the new pupil, puts a few grains of gram mixed with jaggery (Ghur) recites some incantations from his (preceptor's) religious text and initiates him into the alphabets (Sa, Re, Ga, Ma) etc., the basic music scale of music, singing it and making the pupil reproduce it. Then flowers and sweets are distributed to all the guests at the gathering. The pupil then offers a purse, small or big according to his ability at the feet of the Ustad. I do not remember how much my father could spare for this. I do not think it was much. But I was duly admitted into the fold and thus acquired the right to be recognised by the musician community all over India as a member of their society. And I am glad to say that I still hold that passport among the musicians however much I might have become unpopular among some of them on account of the latest role of mine as the Vice Chairman of the Music Audition Board of the A.I.R. whom they consider as a relentless, unsympathetic, or overmuch wise sort of person. But among the musician community I have a permanent seat as a pupil of the late Ustad Faiyaz Hussain Khan. The Khan Sahib was a noble hearted person apart from his reputation as a musician of the century. I had to attend his house for my lessons every evening. I did keep up my attendance, regularly. But the Khan Sahib, as all other great artistes, whether in the field of Music or fine arts, was a man under a spell so to say, and would sit down for work only when the inspiration was on him, when the Heavenly Dove would sit on his shoulders and whisper its Godly message to him and at such occasions he would sit down and open his great treasure, his wealth of musical images, his

Swara Mantras for his listeners to pick up if they can, remember them and worship them. My musical training under the Khan Sahib was only of this nature. There was nothing like day to day training. I had to sit waiting for Khansahib for hours together and often return without having had the Darshan of Khan Sahib as he was a man much in demand every day and every where, and could rarely be found at home. But at the occasions when I was lucky enough to find him at home he used to hold me up for hours together with the text and extempore elaborations, of the compositions he taught me. I have reason to believe that he had an affecionate heart for poor myself. I stayed at Baroda under the patronage of the State till about the middle of 1922. During the time I was at Baroda, Pandit Bhatkhandeji used to visit Baroda at least thrice in a year to inspect the progress of the State Music School which was at that time under the Management of one Mr. M. Fredilis, a Russian Musician who had been in the service of the State as an Officer-in-charge of the State Military Band, and who, later on was appointed to a newly created post as Director of Music and Principal of the State Music School. I having been a personal pupil and recommendee of Pandit Bhatkhandeji, Mr. Fredilis also was good enough to take interest in me by entrusting me with some work. Actually this was taking down and deducing to notation the old traditional compositions of Hindustani Music from the Ustads in the service of the State, and others visiting the town. I had thus got quite a good number of old musical compositions in my file. Whatever songs I took down, I handed over one copy to Mr. Fredilis and retained one with me. The man who was most broadminded in giving me the songs was the Late Ustad Amir Khan Ghulab Sagar. Officially this old venerable gentleman was a Jal-Tarang player in the Indian Orchestra of the State. But he was the son of a Gayak of some renown and had quite a large stock of songs with him. Some Dhrupads, Hories, Sadhras I took from this gentleman have been published in the Kramik Pustak Malika. I hold him in much respect. While I was at Baroda His Highness used to enquire from Faiyaz Khan Sahib about my progress in Music and the Ustad used to take me with him to sing as his second (accompanying pupil) and, thank God, I never sang with him, but made a good impression upon the listeners. Panditji, as I have pointed out above used to visit Baroda on and often when he used to call me and hear my songs, give me some coaching himself and advise me on my study and practice.

I had joined school at Baroda and passed the Matriculation from the Baroda High School in 1919, joined the Baroda College where I was a student till 1922 when I left Baroda. I did the previous in 1921 and was promoted to the intermediate Arts. I was sent up for the Intermediate Examination in the summer of 1922 having been given Ahmedabad Centre. I went to Ahmedabad with my father. The very first day I got high temperature in the Pandal itself and had to give up attending the Examination. This indisposition proved later on to be a case of Small-pox with which I kept in bed for over a month. I left Baroda a few months afterwards. For a few months Shri. Deleep Chandra Bedi was also in Baroda and used to go to Faiyaz Khan Saheb to learn. I do not know if he

had become a regular Shagird of the Ustad under the Nada-ceremony. He might have.

Another music scholarship holder during the time I was at Baroda was Shri. Nisar Hussain Khan of Budaun under the training of his father the late Fida Hussain Khan, another musician in Baroda Service. Nisar Hussain Khan remained at Baroda for a number of years on the Staff of the Music School. He left Baroda service a few years ago and is doing private practice having settled down at Budaun.

We stayed in Borivli, a suburb of Bombay for about a year in 1922-23 and again started going to Panditji for future training. A few months after this having left Baroda for good, I got a post of music teacher in the Mahila Vidyalay Ahmedabad under the Women's University of Poona in 1923 and I went with my father to Ahmedabad. I had to attend the Mahila Vidyalay in the afternoon. I joined the Gujarath College of Ahmedabad in the junior B.A. Arts, having passed the Intermediate Arts in the summer that year. I used to practice my music in the evening for about four hours. I gave a few Mahfil performances of Vocal Music and a few lectures on music when I was at Ahmedabad. The 4th All India Music Conference was held at Lucknow in December 1924 when I was still at Ahmedabad. I attended this Conference and gave a performances of vocal music which seems to have made a good impression on the listeners of this town. Both my Gurus namely, Pandit Bhatkhandeji and Ustad Faiyaz Khan Sahib seem to have liked this performance of mine and encouraged me with their blessings. This was my first appearance in a large public gathering at the Music Conference of Lucknow. In 1924 when, after leaving Baroda I spent about an year or so in Bombay with my father and brothers and sister I used to attend Pandit Bhatkhandeji's music classes in the Sharada Sangeet Mandal near the Flora Fountain in Bombay regularly every evening. I was called upon to give a few weekly performance of Vocal Music at this institution and by the grace of my Guru's blessings I was fairly successful. Panditji later on gave me some classes of the Mandal to teach.

I left Ahmedabad in the beginning of 1925 and joined the Wilson College of Bombay in the final B.A. Arts. While a student in the Wilson College I also used to do a private tuition in music which helped me in my educational charges. My attendance at Panditji's residence for research work in music was regular as usual. I must mention the names of two other personal pupils of Panditji's who were senior to me. They were Shri Wadilal Shivram Nayak and Shri Shankar Rao Karnad. I have already referred to the latter in the beginning of these pages. Shri. Wadilalji belonged to a family of Gujrathi Brahmins of a village called Ondhayi near Wadnagar, Saurashtra. Music and acting on stage is a hereditary profession of these Nayaks of Gujrath. Wadilalji had some sort of training in singing dramatic songs since his very childhood. At a very young age he joined a Gujarathi Dramatic Company in Bombay where he also made a good study of the Sanskrit language under Shastris according to the old system of Ashtadhyayi and Siddhanta Kaumudi. He was a learned man in Sanskrit. In his adult age

Wadilalji was introduced to the late Nazirkhan Moradabadi uncle of the late Amanali Khan and took training in classical Ragadari from Nazir Khan and his brothes and Chajju Khan and Khadim Hussain Khan. Nazir Khan was a teacher in the Gayan Uttejak Mandali where Panditji was a member as I have said above. Panditji used to hold demonstrative lectures on the theory of music and the Ragas of Hindustani Music. Nazir Khan Sahib was a keen connoisseur of Music and soon got interested in Panditji's talks on Music. Panditji' had composed Lakshan Geetas of the theoretical topics of music and of the Ragas on the pattern of the old traditional compositions he had collected from the professional Ustads so far. Nazir Khan was very fond of these Lakshanageets and learnt them from Panditji. He also learnt some of the theoretical discourses from Panditji. So much fond was he of Panditji and his work that he taught the Lakshan Geetas to his pupils and popularised them. In fact my own Guru Shri Krishna Bhattji who initiated me into music had taught me Panditji's Lakshan Geet in Durga of the Khamaj Thata, namely, 'Devi Durga Sada' etc., without perhaps knowing himself that this Lakshana Geet was Pandit Bhatkhandeji's composition. Ustad Nazir Khan introduced this pupil Wadi Lalji to Panditji some time in the nineties of the last century. All through his life afterwards Wadi Lalji remained devoted and faithful to Panditji. He was thoroughly trained in the theory and pratice of Hindustani Music by Panditji. Being already equipped with a sound knowledge of Sanskrit, he could very easily pick up Panditji's interpretation of any logical line of thought that Panditji brought to bear on the Old Sanskrit Granthas. He also learnt hundreds of the classical compositions of the Old Masters from Panditji's as he (Panditji) had learnt them from his own Ustads. After Panditji Wadi Lalji was his fittest successor in the knowledge and practice of Hindustani Music. Unfortunately, Wadilalji also died in 1947. Shri. Shankar Rao Karnad had died even before Panditji. To-day I am the only surviving one of Panditji's personal pupils.

I passed the B.A. Examination of the Bombay Universiity in the summer of 1926 from the Wilson College, Bombay. In 1925 December, the 5th Session of the All India Music Conference was held once more at Lucknow where a definite proposal for opening a Central Institution of Musical Culture at Lucknow was put forward and passed. Both the All India Music Conferences that were held at Lucknow in 1924 December and December 1925 were organised by the Taluqdars of Daryabad, Rai Umanath Bali being the moving spirit behind these conferences. The late Dr. Rai Rajeshwar Bali, Taluqdar, Daryabad, U.P. the then Minister of Education was himself a learned scholar of Indian Art and Culture. Music has been the hobby of practically every member of the Daryabad family, a distinguishing mark, so to say, of all the Balis who are a renowned family of Mathur Kayasthas of Oudh. Rai Umanath Bali used to take training in music from an Ustad in the pay of the Daryabad Raj. He was found of collecting all literature on music and had a good collection of Pandit Bhatkhandeji's publications. He knew Panditji by his literature and was long awaiting some opportunity to meet him. He seems to have attended the Sessions of the All India Music Conference at Delhi and Benares. At both these Conferences schemes

of a Central Institution of Musical Training were proposed. But due perhaps to their very amitious and expensive nature these did not materialise. Rai Umanath Bali had already a scheme more or less on a moderate scale ready prepared with him. He showed it to Panditji and Panditji assured him of considering it in case the other schemes did not make any progress. Nearly four years passed after the Benares Session (1920) and having seen no hope of any further progress of the schemes proposed at Delhi and Benares Panditji wrote to Rai Umanath Bali, who, by the by, had always kept in touch with Panditji through correspondence, enquiring about his progress with regard to the scheme. Rai Umanath Bali invited Panditji to Daryabad and as a result of this meeting at Daryabad the idea of calling the 4th Session of All India Music Conference at Lucknow was mooted and Rai Umanath Bali Sahib's scheme of the Music College was considered at the 4th and 5th Sessions of the All India Music Conference held at Lucknow. I was present at both these Sessions. It was at the 5th Session of the Conference held in Delhi 1925 that the proposal to establish a College of Hindustani Music at Lucknow was considered and passed. Luckily, the late Sir William Marris, the then Governor of the United Provinces was very well disposed towards Indian Art and Culture. In fact he was a keen student of Oriental Culture & Literature. He lent his full moral support to the Music Conference movement. He even contributed, as I understand some amount towards the budget of the Music Conference. His Excellency, and Dr. Rai Rajeshwar Bali, Minister of Education used all their influence in collecting funds for the Music Conference and the proposed Music College from the Taluqdars and Zamindars of Oudh. Funds enough to make a beginning with were collected, a managing committee consisting of eminent persons such as Pandit Bhatkhandeji, the late Raja Nawab Ali Khan Sahib, Taluqdar of Akbarpur, a learned man in music. The late Dr. Rai Rajeshwar Bali, the late Shri. Atul Prasad Sen, Bar-at-Law, Deputy Tulsipat Ram Sahib, the late Justice Gokarnanath Misra besides Rai Umanath Bali as its secretary was formed and a college of Hindustani Music was opened in the Topewali Kothi, Neil Road, Lucknow in July 1926. This institution was later on named as the MARRIS COLLEGE OF HINDUSTANI MUSIC, after H.E. Sir William Marris, the Governor.

As soon as I passed my B.A. from the Bombay University, I was called to Lucknow by Panditji to join the college as assistant teacher. I joined duty in July 1926 and am still in service at this college. The First Principal of the College, the late Shri Mahadev Keshav Joshi who was a Govt. Pensioner, having retired from service as a Deputy Inspector of Schools from the Bombay Province served this college for two years and retired in September 1928. I succeed him as Principal in September 1928 and am still holding the post. I used to hold all the classes from the first to the fifth year in the vocal section in the first few years. Pandit Bhatkhandeji had already prepared the ground for an efficient conduct of the college, having laid down a suitable course of study of Hindustani Music, both, theoretical as well as practical and guided us, the memebrs of the staff, in the work of music teaching. He himself used to engage classes for some time in

the beginning. He stayed in the College practically for the whole first session of the college and left from Bombay in the summer of 1927. Thereafter he used to visit the college twice or thrice a year and inspect the classes, give us suggestions for improvements, till he fell ill with paralysis in 1923. He never recovered from this last illness which confined him to bed for three years, with his legs stuckup in plaster of Paris all these three years and passed away on the Ganesh Chaturthi day on the 19th September 1936. Whatever little use, if at all any, I may have been of, to my country in the field of Hindustani Music, it is all due to this great man's blessings. I may not have been able, I am afraid, to carry out all his wishes. The mere fact of my having been a pupil of his is a strong hold of mine against all odds. I must thank Providence for bestowing one me the blessings of the best Gurus, every one of them loved me and was kind to me. But to Panditji I was almost like his own son.

Well, during all these thirty odd years I have worked in various capacities, as a teacher of music, as a practical demonstrator, as a lecturer, as an Examiner or/and member of courses committees right from the Matriculation examination to the Ph.D. in Music, for Boards of High School and Intermediate Education of the United Provinces and Rajputana, and the Universities of Allahabad, Agra, Benares, Rajputana, Punjab, Jammu & Kashmir, Nagpur, Baroda, Bombay, Calcutta, Madras and the Music College of Gwalior. I have attended Music Conferences and taken part in debates, discussions and practical demonstrations and acted as a judge in Music Competitions, I have also written a few books on music, namely, Abhinava Geet Manjari, Tana Sangraha in 3 parts, Sangeet Shiksha, in 3 parts, Abhinava Sangeet Shiksha, Hindustani Sangeet ki Swaralipi. I am a member of the Executive Committee of the Sangeet Natak Akademi, Delhi, representing the Uttar Pradesh. I started broadcasting Music from the All India Radio, in 1938 and have continued doing so to this day. In 1952 I was appointed Vice Chairman of the Music Audition Board of the All India Radio and have been doing work in that capacity. This work has given me my share of bitter experiences that always come to one's lot in all kinds of public service. But all these troubles having been more or less due to personal jealousies and intolerance of somebody's sitting in judgement on others and not to any violation of Rules and Regulations connected with the auditions they passed off without much harm and now, I should say, the auditions are accepted by our musicians not only as a good but necessary step for success in their music. Apart from programmes of music, I often give talks on music at All India Radio. I must express my grateful thanks to the All India Radio for its sympathy, support and appreciation of whatever little I and my musician brothers have been able to contribute towards the progress of our music.

I have composed about two hundred classical songs of Hindustani Music some of which are now fairly current among the musicians of today. The Raga Gopika Vasant which is now fairly common in musical performances now-a-days was first introduced by me. I took it from the Raga Lakshanam, a Sanskrit work perhaps of the 18th century on the Dakshinatya (Karnatak or South Indian) system

of music and composed a couple of songs in them some time in 1931. I sang them in Mahfils and later on in the Radio broadcasts and thus made it current. Another raga, called by me by the name of 'Salag Warali' was composed by me in 1943. This too has gained currency among our musicians. But I found later on this very Raga exactly as I had composed it in Ahobala's Sangeet Parijat under the name of Megha Nada. I called it Salag Warali because it has the basis of Hindustani Todi which is called Shubha Pantu Warali. 'RAJANI KALLIAN, KEDARA BAHAR, HAMSA RANJANI, SAWANI KEDARA' are some of the ragas I have composed. I have also composed a few songs of the type of the Varnams of the Karnatik System of Music. Five of these are only Sanskrit words set to the original South Indian Varnams. The rest are all original compositions made on the models of the Karnatick Varnams. Just recently I have composed some music more or less on the lines of what is known in Sanskrit literature as Geya Natakam. I have named it Natya Sangeet. The title of this Natya Sangeet is "Govardhan Uddhar". This was staged at Lucknow in the Railway Institute Hall on the 26th of August 1956 and it seem to have made a good impression upon the audience. This Geya Natakam has been now recorded at the All India Radio, Bombay and is to be broadcast in the near future. I have also composed a number of Abhangas in Marathi on religious topics keeping up the orthodox style of the language.

Looking back to these thirty years of my career as Principal of this Institution of Musical Training in Lucknow, I wonder that it has survived all the Social, Cultural & Economic snobbery of the powers that be and I must acknowledge for their patient and ungrudging co-operation in steering this feeble craft of a music college through glaes and storms, to this present position as a Government-financed Institution. When I joined the college, Shri. G.N. Natu, the late Chhote Munne Khan, Gayak, the late Abid Hussain Khan Tabla Nawaz, Baqar Ali Khan, Sarangi player were the other members on the teaching staff. The next year, in 1927, the late Sakhawat Hussain Khan, Sarodiya, the late Hamid Hussain Khan Sitariya, the late Baba Nasir Khan Gayak, of the family of the famous Tan-Ras Khan of Delhi, Ahmed Khan Gayak, Lucknow, Shri. Sakharamji Mridanga Wadak, Shri B.S. Pathak, who is now Senior Professor of Music in the Allahabad University were employed on the staff. Of these Chhote Munne Khan, Abid Hussain Khan and Ahmed Khan left the service of the college in 1929. Hamid Hussain Khan, continued till about 1948. He died about two years ago. Sakhawat Hussain Khan died last year having been still in the service of the college.

There is no doubt that this college was an unprecedented adventure on the part of the Taluqdars of Oudh, mainly the Daryabadis. At the first spur of enthusiasm, they opened this institution and hoped, not absolutely without reasons, to carry out the experiment quite successfully and safely, and, I can say, that they would have been able to do so easily looking to the fact that in those days the Taluqdars of Oudh were Lords of Great Wealth & Social and Political power. But the 2nd European War on the one hand, and on the other the Swaraj movement seem to have made heavy demands on the purses and thrown them out of all

mood for contributing any money towards a little plaything as a music college would have looked in those days of National awakening and National calamities. The increased Staff could not be maintained without further addition to the funds of the college. In 1927, the Government were approached for a permanent grant, and, due to Sir William Marris and Dr. Rai Rajeshwar Bali's influence and Rai Umanath Bali's ceaseless efforts in this direction a small Government grant of about Rs. 7,000/- per annum besides another grant of about Rs. 800/- for Scholarships was obtained and the college continued working. Had it not been for this Grant it would have been impossible to maintain the college for any length of time after 1930. Of the old staff members, Shri. G.N. Natu, Shri. Sakharamaji and myself are still in the service of the college. In 1935, was added the Dance Department, one Shri Ram Dutt Misra, an uncle of Shambhu Maharaj was engaged in the service. After a couple of years this gentlemen left the service and the dance classes were being managed by some temporary teachers. Till 1937 when Mr. M.S. Kallianpurkar, the present in-charge of the Dance Section of the college joined the staff. In that year also Mr. V.G. Jog, the violin player of All India Reputation and now a Producer of Music at the All India Radio, Bombay was appointed to the post of Violin teacher.

In 1936 Pandit Bhatkhande passed away. A year or so before him Raja Nawab Ali Khan Sahib and Shri Atul Prasad Sen had passed away. Thus having been left alone with the responsibilities of the college Rai Umanath Bali, launched the Scheme of the Bhatkhande University of Indian Music, just to enlist co-operation of people from other educational institutions at Lucknow and outside. This step he had to take after having failed in his efforts to get the college incorporated in to the Lucknow University and failing that, the Banares Hindu University. Both these Universities declined to take up the college and Rai Sahib had to fall back on his own resources. Rai Umanath Bali is a man of strong determination and as such did not care to leave the college to its own fate, in as much as that this institution was mainly his own handi-work and it must continue to exist whatever difficulties, whatever sufferings he had his colleagues may have to undergo. Thus he himself and the staff of the college kept the institution breathing till 1954 and handed it over to the Government in a fairly good condition. The Bhatkhande University raised much the status and prestige of the college. There was a considerable addition to the Staff, the number of students went up to about 750 for over a couple of years, a number of institutions of other cities of U.P. and other provinces were affiliated and there was a substantial rise in the income of the college. The Bhatkhande University was renamed in 1947 as Bhatkhande Sangeet Vidyapeeth, by an official announcement by Shri Govind Vallabh Pant the then Chief Minister of U.P. The Vidyapith has since been functioning as an examining and affiliating institution and also carrying on post graduate work in Hindustani Music. I was appointed Chief Director of the Bhatkhande Sangeet Vidyapeeth at the time of its establishment and working still in the same capacity. Besides the duties of the Chief Director that I am doing, I am also conducting the Post Graduate classes and have sent out a number of Post Graduates including - Mrs.

Sumati V. Mutatkar who is the only one who holds so far the Degree of Doctor of Music, the highest qualification conferred by the Bhatkhande Sangeet Vidyapith. Dr. Mutatkar is now working in the All India Radio, New Delhi as a Deputy Producer of Music. The other pupils of mine are -

Shri. K.G. Ginde, M.Mus. (Sangeet Nipuna) (Master of Music) : Vice-Principal, Bharatiya Sangeet Shikshapith, Bombay.
Shri. S.C.R. Bhatt, B. Mus. (Bachelor of Music), Professor, Vocal Music, Bharatiya Sangeet Shikshapith, Bombay.
Shri. C.D. Nagarkar, B.Mus., Principal, Bharatiya Sangeet Shikshapith, Bombay.
Dinkar Kaikini, B. Mus., Assistant Producer, Light Music, AIR, New Delhi.
Shri. P.N. Chinchore, M.A., M.Mus., Principal, Madhav Sangeet Mahavidyalay, Lakshar, Gwalior.
Shri. G.N. Dantale, M.A., M.Mus., Government School of Music & Arts, Hyderabad
Shri. R.L. Roy, B.Sc., B. Mus., Head of the Department of Hindustani Music, Shantiniketan, Bolpur, Bengal.
Shri. N.G. Banerji, B. Mus., Principal, Arya Sangeet Vidyapith, Calcutta.
Shri. S.P. Banerji, B.Mus., Principal, Bhartiya Sangeet Vidyalay, Kamla Nagar Delhi.
Shri. Dauji Goswami, M.Mus., Senior Professor, Violin.
Shri. Shatrughna Shukla, B.A., M.Mus., Professor of Vocal Music, D.A.V. College Lucknow.
Shri. B.P. Koushik, M.A., B.Mus., Principal, Sangeet Samaj College of Hindustani Music, Meerut.
Shri. G.B. Paranjpe, B.Mus., Professor of Vocal Music, Women's College Banares Hindu University.
The Honorary Degree of Doctor of Music was conferred on me by the Bhatkhande Sangeet Vidyapith, Lucknow in 1947.

I am also a Member of the Indian National Council of the UNESCO.

Brothers and Sisters, we are four living today as I have pointed out above :

(1) Miss Manik Bai Narayan Ratanjankar — 60
(2) S.N. Ratanjankar, B.A., Dr. Mus., (Myself) — Aged 57
(3) Shri. Ramachandra Narayan Ratanjankar
Ministerial Staff, Bombay Customs — Aged 54
(4) Shri. G.N. Ratanjankar, Superintendent,
Home Department, Bombay Secretariat — Aged 51

My wife is living and I have got five children, two daughters and three sons. My eldest child, the daughter is married and lives at Nagpur. My eldest son - Narayan is now reading in the Inter Science, in the St. Xavier's College. This boy has earned some reputation in Bombay as good cricketeer. The other sons, namely Vidyadhar and Manohar are attending school in Bombay. My youngest child is a girl by name Shobhna. She has, just a few months ago, been admitted in a primary school, but she and my younger sons are interested in Music and learning it. Shobhana is taking training in Bharata Natya Dance in Bombay. My

Nephew Dnyaneshwar- the eldest son of my late brother Dattaram is a graduate of the Bombay University and also a musician (Vocalist) having passed the Sangeet Visharad Examination of the Bhatkhande Sangeet Vidyapith, Lucknow from the Bharatiya Sangeet Shiksha Pith, Bombay.

After my whole life's experience in the field of Hindustani Music I am convinced that Classical Music or ragadari Sangeet of India is a very great Art and requires concentrated application to practice thereof. Every Raga, provided it is rendered in its proper and correct expression is a perfect piece of Art which has unending possibilities of extempore expansion. If the general lay public are not impressed by it as they should be, it is no fault, of the Music itself. Our musicians are alone responsible for it, and this is due to certain professional stunts and mannerisms which are more a kind of throat manual jugglery and have nothing to do with the Raga-Bhava itself. This has led to the public showing more interest in Dancing which has a visual attraction and in a sort of cheap instrumental music, in which a competition between the Instrumentalist and his drummer feature very prominently.

Teaching of Music is a separate study by itself. It is not necessary that every musician, however, effective in his own performance will be a good teacher of music also. One must equip one-self with the proper knowledge and experience in the line before one takes to this noble profession.

Proper voice culture for the different branches of vocal music is a prime necessity towards which little attention seems to be paid.

In the present democratic age, Art & Music have also to assume democratic form. There is a trend towards group music. Solo performances are fast going out of fashion. Vadya-Vrindas and Choral music are coming to the fore. Our musicians that be will do well to take not of this.

Music is relative. A musician alone by himself does not take music. The listener is also a factor and a very important factor in the musicality of the Music.

Music is just a medium, the most subtle but most direct medium of self expression. Music does not degrade or demoralise a man, man may demoralise music. No music training institution can bring out real Artistes without a hostel attached to it so that the work of the students may remain under constant watch and supervision of the teachers to guide it on the right path.

Listening to top rank model performances of music is a prime necessity in the course of musical training.

APPENDIX NO. 2

ACHARYA S.N. RATANJANKAR'S PUBLICATIONS

01. "Taan-Sangraha" Series in Three parts covering 45 Ragas as given in the Kramik Pustak Malika - Parts I to IV by - Pandit Bhatkhande.
02. "Abhinava- Geet Manjari" Series in Three Volumes, containing about 750 compositions or more of his own in the form of Sargams, Lakshangeets, Dhrupads, Dhamar (Hori), Vilambit & Drut Khayals, Bhajans, Thumaries, Holi-songs, South Indian Varnams, Prashasti-Geets, Patriotic Songs, Taranas, Taal- Lakshangeets, etc., in both Hindustani & Karnatic Ragas & also some newly invented Ragas which he has composed.
03. "Varnamala" containing "Varnams" in Hindustani & Karnatic Ragas in Sanskrit in the pattern of South Indian 'Varnams".
04. "Sangeet-Shiksha" Series in Three Volumes written as text books for the High School Examinations of different Examination Boards of Uttar Pradesh, Bihar & Rajasthan States.
05. "Abhinava-Sangeet- Shiksha" in Two parts written as text books for the Short Term Course named "Sangeet Praveshika" of the Bhatkhande Sangeet Vidyapith, Lucknow. These books are also prescribed for the Ist & IInd year courses of the Bhatkhande Sangeet Vidyapith, Lucknow, the Indira Kala Sangeet Vishwa- Vidyalaya, Khairagarh, and many other Institutions all over the country.
06. "Govardhan-Uddhar" - an Opera written in Brij Bhasha.
07. "Taal-Lakshangeet-Sangraha" a booklet containing some Lakshangeets on various Taals, especially written for the use of Tabla & Mridang Students.
0.8 "Hindustani Sangeet Paddhati Ki Swaralipi" - a booklet containing article on the notation system of Hindustani Music System.
09. Pandit Vishnu Narayan Bhatkhande - Life Sketch written for National Book Trust New Delhi.
10. Pandit Vishnu Narayan Bhatkhande - Life Sketch in Marathi written for Govt. of Maharashtra Sahitya Sanskriti Mandal.
11. "Sangeet Paribhasha" - In Marathi - a Book of Musicology written for University Courses of Study.
12. "Aesthetic Aspects of India's Musical Heritage" (a collection of his articles in English, Hindi & Marathi).

APPENDIX 3

ACHARYA S.N. RATANJANKAR'S MANUSCRIPTS

01. "Shiva-Mangalam" - an Opera in Sanskrit based on Kalidasa's famous epic - "Kumar Sambhava'.
02. "Rani Lakshmibai of Jhansi" - an Opera in Hindi (Khadi Boli) based on the Life of the famous Rani of Jhansi.
03. "Chaturdandiprakashika Ka Hindi Anuvad" - A Hindi translation of Pandit Venkatmakhi's treatise on Indian Music.
04. "Swara-Mala-Kalanidhi" Ka Hindi Anuvad - A Hindi treatise containing translation of Pandit Ramamatya's treatise on Indian Music.
05. "Lakshya Sangeet Karika" - a commentary in Sanskrit on - Pandit Bhatkhande's famous treatise - Shreemallakshyasangeetam.
06. "Sangeet Ratanjankar's Swaradhyaya & Ragadhyaya" - A treatise - critical review on these chapters in English.
07. Some articles on various subjects, in the form of articles, papers, etc., on Musicology, not published so far.

APPENDIX 4

ACHARYA S.N. RATANJANKAR'S CORRESPONDENCE WITH SHRI GINDE

Lucknow
17.4.67

Replied 21.4.67

Dearest Chhotbo,

Herewith enclosed is a little attempt. Please see if you like it. If you do, please copy it out - air one for yourself and one for Baba. A third copy may be made for Bhat-sahib. If you do not like it, throw it away. Or, if you like, you may improve upon it.

All well here. The closing date of the college for the summer is not definite yet. Otherwise I

Sent back copies of the enclosures back to Anna as desired by him on 23/4/67.

Copies for Baba & Bhat S. 27.4.67

copied for Shri Samantji on 8/2/68.

2

would have intimated to you
the date of my return to
Bombay.

Swamiji is perhaps
displeased with me. He
does not reply my postcards.
Kindly convey my best
respects to him. Remember
me to all the colleagues
there -- Blessings to your baby
and children. With my best love

Yours affectionately
Anna

Shri K.G. Gurde, M.A.M.U.S.
Principal,
Vallabh Sangeet Vidyalaya
Plot-No. 6, Sion West
Bombay-22

Encl:- as above.

(डॉ. रातंजनकर "सुजान" प्राय: नित्यश: अपनी नई बंदिशों को अपने शिष्य को दिखाते अथवा उनके पास पत्रद्वारा प्रेषित कर देते- उसका प्रमाण)

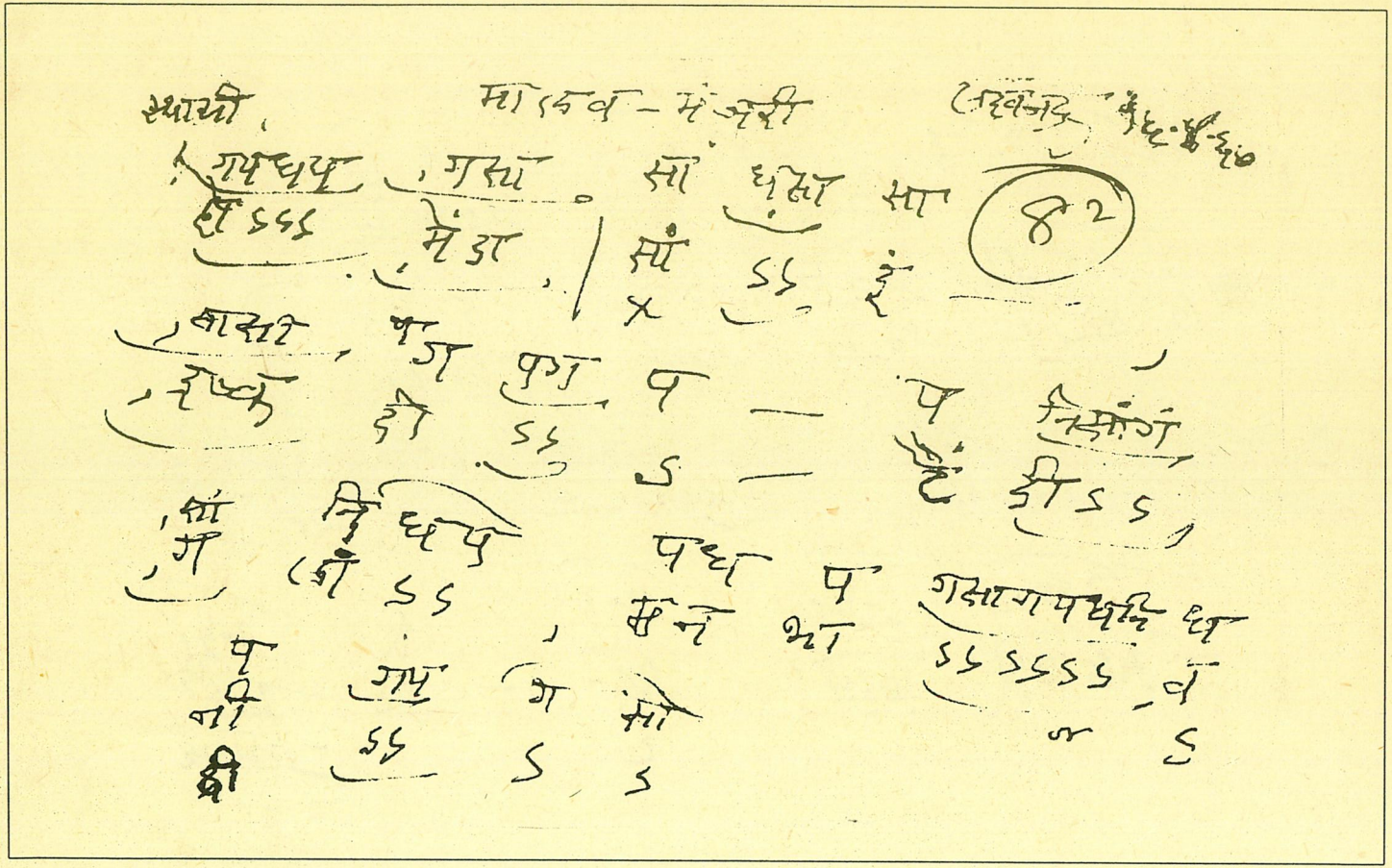

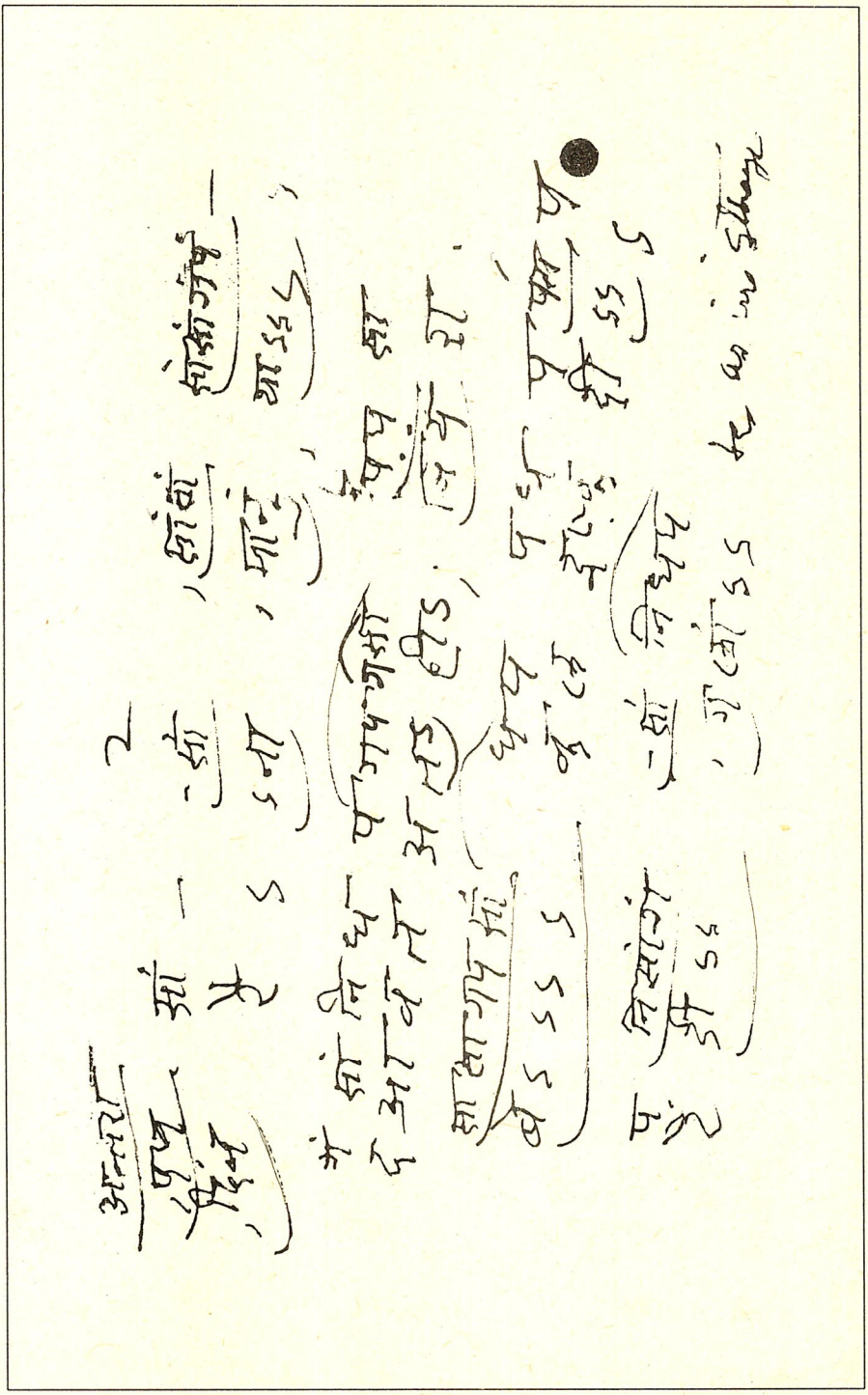

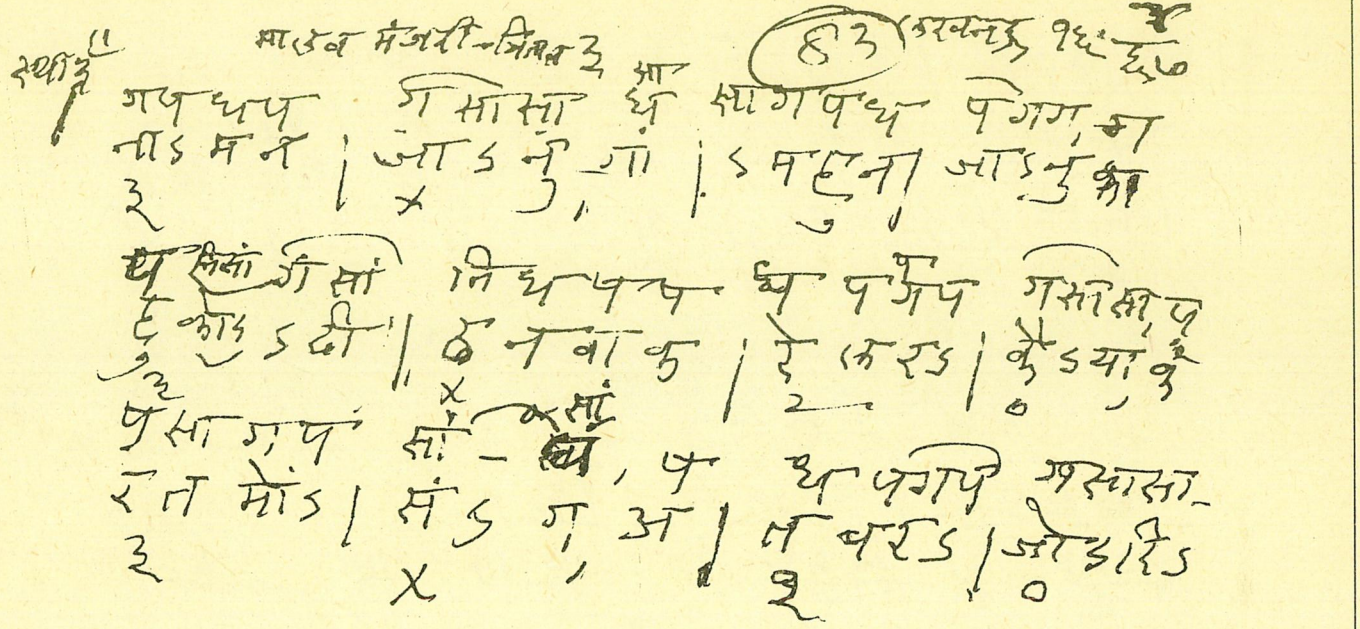

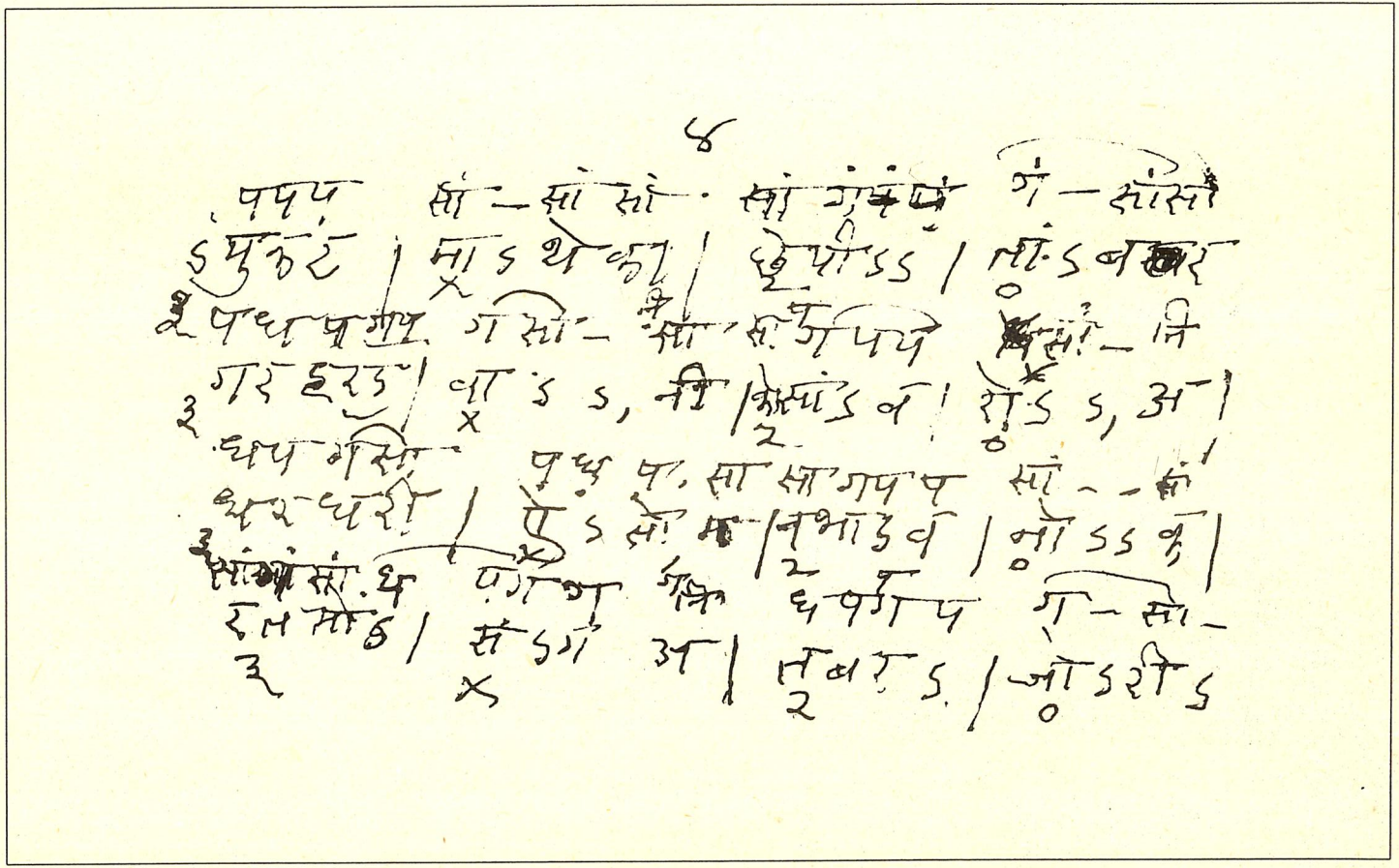

परिशिष्ट क्र. ५

(संगीत कला के प्रति)

कविवर्य श्री 'तांबे यांची समग्र कविता'

(जाति-जीवन लहरी, राग तोड़ी)

[टीप- "सङ्गीत कलेप्रत" ही कविता लखनौ सङ्गीत महाविद्यालयाचे वरिष्ठ प्रा. रातंजनकर यांचे गाणे • ऐकून स्फुलेली आहे— (माधव त्रिंबक पटवर्धन ऊर्फ माधव ज्यूलियन, संपादक, "तांबे यांची समग्र कविता")]

(कै. कविवर्य श्री. तांबे यांची ओळख मराठी वाचकवर्गास करून देण्याची आवश्यकता नाही— संपादक)

अता राहु देइं नाम
भजनिं कलाहीन राम ॥धृ.॥

राग रागिणी मधून
ऐश्वर्य नटुन सजुन
येइ हृदयपट उघडुन
राम परम सौख्यधाम।

नृत्य करिति तुझे सूर,
भरुनि भरुनि येई ऊर,
तान-लय-निकुञ्जिं चूर
राम इन्द्रनील शाम। २

नलगे मज पुजापाठ,
दम्भाचा थाटमाट,
गायनिं तव ह्या विराट
राम मुनि मनोभिराम। ३

ऐकताच तुझी टीप
उजळति जणुं रत्नदीप
स्वर्ग येइ का समीप
राम दिसे पूर्णकाम। ४

ऐकताच तुझी तान
घेई मन हें विमान
तमःपटावरि उडाण
विमल तेजिं घे विराम। ५

मनःचक्षूच्या भवती
थय थय थय नृत्य करिती
स्वर्ल्लना ज्योतिष्मति
ही पुजा खरी अकाम। ६

[लश्कर- ग्वालियर, ता. १४ फरवरी १९३६]

• तोडी राग का प्रसिद्ध 'राम सुमर मोरे प्यारे' द्रुत ख्याल— संपादक

मराठी के विख्यात कवि श्री. भास्कर रामचंद्र तांबे ने डॉ. रातंजनकरजी का गायन सुना और यह कविता उनकी कलम से प्रकट हुई। उसे उनके 'तांबे समग्र कविता' शीर्षक संग्रह से यहां दे रहे हैं।

APPENDIX 6

WHAT THEY SAY!

Excerpts from the Messages received on the occasion of the 61st Birthday Celebrations of Padmabhushan Dr. S.N. Ratanjankar, B.A., D.Mus., (December 1962)

01. **Shri. Sri Prakasa - Governor of Maharashtra**
"..... one of the leading exponents of classical Indian Music..... devoted a whole lifetime of earnest effort to stimulate popular interest in what is best in our own great Schools of Music".

02. **Shri. N.V. Gadgil - Governor of Punjab**
"..... undoubtedly a great artiste .... has the background of scientific knowledge and preparation".

03. **Shri. Y.N. Sukthankar - Governor of Orissa**
"..... devoted services in the cause of classical Indian Music".

04. **Shri. Lal Bahadur Shastri - Union Home Minister**
"..... has creditably carried on the tradition of spreading popular knowledge in place of classical pedantry. His interpretation of classical music is scholarly and impressive and he has done a commendable work both as the Principal of the Bhatkhande Vidyapith and as the First Vice Chancellor of the newly established Khairagarh University of Indian Music".

05. **Shri. S.K. Patil - Union Minister for Food & Agriculture.**
"Dr. Ratanjankar's contribution in the cause of Indian Music is well known.... his efforts to develop Indian Music to which he has dedicated his life".

06. **Shri. D.P. Karmarkar : Union Minister of Health**
"..... well-known as Scholar, Teacher & Administrator. His devotion to the cause of Music is bound to be an inspiration to the future generations".

07. **Shri. Y.B. Chavan - Chief Minister of Maharashtra**
"..... a great scholar, teacher, administrator and a vocalist. He has contributed substantially to the development of Indian Music in the Country and devoted his whole life to this work only".

08. **Shri. Jivraj N. Mehta : Chief Minister of Gujarat**
"..... contributed substantially to the spread of musical knowledge".

09. **Shri. C.B. Gupta : Chief Minister of Uttar Pradesh**
"... ... he made valuable contribution to the cause of Indian Music. He is well versed in the theory of music and is also an accomplished performer".

10. **Shri. Kailash Nath Katju - Chief Minister of Madhya Pradesh**
"भारतीय शास्त्रीय संगीत के प्राणवान कलाकार है और उनके कला के क्षेत्र में अगणित संगीत-रसिकों को मार्गदर्शन मिला है। संगीत मे रुचि बढ़ी है। डॉ. रातंजनकर के पास स्वर साधना की अगाध निधि है जिसमें हर मुहूर्त की वृद्धि हो रही है "

11. **Shri. S.L. Silam : Speaker Legislative Assembiy, Maharashtra**
डॉ. रातंजनकरांनी ... एक अभिनव संगीत परंपरा निर्माण केली आहे. संगीताचे हे शास्त्र गायनाची कला यासाठी त्यांनी निष्ठेने तपश्चर्या केली व त्यांची उपासना फळाला येऊन ते एक श्रेष्ठ संगीतज्ज्ञ म्हणून जनतेला परिचित झाले. "

12. **Dr. T.R. Naravane : Minister for Prohibition & Social Welfare, Government of Maharashtra**
"..... a great scholar and a teacher of music.".

13. **Shri. R.R. Diwakar**
"Indian Music owes a deep debt of gratitude to Dr. Ratanjankar for the signal services he has rendered to it during the last two decades, if not more. He is not merely a musician but one who is a great teacher of that divine art. ..... Dr. Ratanjankar is certainly one of the luminaries of great magnitude".

14. **Justice Shri. T.L. Venkatarama Aiyer, New Delhi**
"..... eminent both in the theory and practice of Music..... one of the few scholars who can speak with authority both on the Hindustani & Carnatic Music".

15. **Justice Dr. P.V. Rajamannar, Madras**
"..... one of the greatest figures in the history of modern Indian Music.... dedicated his whole life to music,.... with a zeal almost unparalled.... an accomplished musician of the first order; ..... an erudite musicologist".

16. **Dr. K.M. Munshi, Bombay**
"..... whose great services to the cause of Indian Music deserve full recognition".

17. **Shri. Sudhi Ranjan Das : Vice Chancellor, Vishwa-Bharati, Shantiniketan (West Bengal)**
"Dr. Ratanjankar has made an abiding and significant contribution to Indian Music and has thereby enriched our cultural life".

18. **Shri. A.C. Joshi : Vice Chancellor, Punjab University, Chandigarh**
"..... rendered valuable services to the cause of classical music in India and made his unique contribution to the science and practice of music.....".

19. **Dr. Pramila V. Thackersey : Vice Chancellor, S.N.D.T. Women's University, Bombay**
"Music has a place of its own in life and anyone who serves to teach it, advance it and give it its proper place in studies, merits our thanks. Dr. Ratanjankar's contribution in this direction is indeed valuable and we pray

that the services of this great musician and scholar may continue to inspire the world of Indian Music for many years to come".

20. **Rai Umanath Bali : Vice President, Bhatkhande Sangit Vidyapith, Lucknow.**
"His services for the cause of Hindustani Music are commendable and he rightly deserves the honour".

21. **Shri. A.V. Rao : Vice Chancellor, Lucknow University, Lucknow**
"..... high attainments in the field of classical Indian Music and his rich contribution to its renaissance. .... has done yeoman service to the cause of Indian Music and his achievement as singer, composer and scholar is unique... classical music in our Country... on a sound footing,... due to his unstinted labour, enthusiasm and zeal".

22. **Shri. Justice N.H. Bhagwati : Vice Chancellor, Banaras Hindu University, Banaras**
"..... has devoted his life to the cause of Music which he served faithfully and has produced many distinguished pupils".

23. **Shri. Nawab Singh : Secretary, Ministery of Information & Broadcasting, Govt. of India, New Delhi.**
"..... a great musician and he has devoted all his life to this art"..

24. **Shri. J.C. Mathur : Jt. Secretary, Ministry of Information & Broadcasting, Govt. of India, New Delhi.**
"..... built up a whole generation of enlightened musicians ..... the rare synthesis of a vigilant classicist and of an alert modern mind. The versatility of his talents is indeed amazing..... also composed new verses exhibiting a remarkable sense of diction and poetic imagination..... conducted an interesting survey of folk music around Bharatpur State .... catholic outlook which distinguishes Pandit Ratanjankar from many eminent performers of Indian Music today".

25. **Shri. Uday Shankar, Calcutta**
"..... a creative artist..... will ever remain immortal in the realm of Indian Music".

26. **Smt. Rukminidevi Arundale, Adyar, Madras :**
"Dr. Ratanjankar's services in the cause of Indian Music are not only known in the North, but in the South as well. All of us who are working for Art are deeply grateful to him for his contributions".

27. **Smt. Kamaladevi Chattopadhyay, New Delhi**
"..... has rendered yeoman service in the field of Hindustani Music,... contribution in placing Indian Music on scientific lines and giving it a script has won him national and international recognition from music lovers".

28. **Shri Semmangudi R. Srinivas Iyer : Principal, S.S.T. Academy of Music, Trivandrum.**

"..... As a musician he has attracted the heart of lovers of music".

29. **Smt. Anjanibai Malpekar : Fellow, Sangeet Natak Akademi, Bombay**
"..... use ful life dedicated solely to the Indian Classical Music. It is no exaggeration to say that by his untiring efforts he has brought new dimensions to the Indian Classical Music".

30. **Shri. C.B. Agarwal, New Delhi**
"..... the greatest exponent of Hindustani Music in India today. ..... writings are the best known works on Indian Music. The credit for the propagation of the knowledge and love of music in Northern India goes to him in a great measure ..... done yeoman service in the cause of Indian Music as principal of the Bhatkhande Vidyapeeth, Lucknow ..... the great work in his new capacity as Vice Chancellor of the Khairagarh University of Indian Music".

APPENDIX 7

ACHARYA S.N. RATANJANKAR'S LIFE JOURNEY

1. Name in Full	:	SRIKRISHNA NARAYAN RATANJANKAR
2. Father's Name	:	Narayan Govind Ratanjankar
3. Date of Birth	:	31st Dec., 1900 At Bombay.
4. Family Background	:	The family hailed from the village Ratanjan-Jawalgaon in Barsi Taluka in Sholapur Dist: of Bombay Province The family professionally known as Jawalgaonkar Kulkarni. Subsequently moved to Bombay and late Narayan Govind Ratanjankar adopted his family name as Ratanjankar.
5. Educational Qualifications	:	Primary & Middle School at Elphinstone Middle School Bombay. Passed B.A. in Summer 1926 from Wilson College Bombay.
6. Other qualifications	:	Had training under the tutelage of - (i) Pt. Krishna Bhattji of Honawar of Patiala Gharana (ii) Pt. Anant (alias Antu Bua) Manohar Joshi of Aundh

		(iii) Pt. Vishnu Narayan Bhatkhande (iv) Ustad Faiyaz Hussain Khan (Aftab-Mousiqui) of Agra Rangile Gharana (Court Musician of Baroda State) - Ganda Band Shagird.
7. Languages known	:	Marathi, English, Gujerathi, Bengali, Urud, Persian, Hindi, Braj.
8. About 1907	:	Was inducted under the tutelage of One Krishna Bhattji Honawar - a Kanara Saraswat Brahmin who was a pupil of late Kale Khan of Patiala.
9. 1908 to Mid 1910	:	(a) Was inducted under the tutelage of late Anant alias Antu Bua Manohar Joshi of Aundh (Satara Dist). (b) Had the privilege of seeing Pt. V.N. Bhatkhandeji.
10. Late 1910	:	Was inducted for a very short negligible period under the tutelage of late Pt. Vishnu Digambar Paluskar when he came down from Lahore to Bombay and established Candharva Mahavidyalaya at Badam Wadi, Girgaum Bombay.
11. Late 1910	:	Continued again with late Antu Bua Joshi
12. 1910 - 1911	:	Family shifted to Pune due to domestic pressing economic circumstances.
13. Mid. 1911	:	Again moved from Poona to Bombay for medical treatment of parents. Continued to attend classes of Antu Bua at Guru Samartha Gayan Vadan Vidyalaya.
14. 1912	:	Mother exprired.
15. 1912	:	Bringing of Mr. Shankar Rao Karnad and Pandit V.N. Bhatkhandeji to house when Pt. Antubua was giving lessons in music. Tested by Pt. Bhatkhandeji in Swaragyan and few other things connected. Pt. Bhatkhandeji very much impressed with the progress.

16. Dec. 1911	:	Meeting with Pt. Bhatkhandeji who was a permanent member of the Gayan Uttejak Mandali at Tardeo Bombay - a club run by some wealthy Parsi music lovers of Bombay and commenced training in music by Pt. Bhatkhandeji at Gayan Uttejak Mandali. Started going with father to the music club every day in the evening when Pt. Bhatkhandeji used to give special coaching for two hours in the presence of father so that he could while practicing at home be able to guide his son. This was a very fruitful life in the history of musical journey.
17. 1912	:	Mother's death and shifted from Bombay to Bandra but continued training in music till end of 1914.
18. Oct. 1914 to Apr/May 1917	:	Moved from Bombay to Ahmednagar and continued practicing whatever had been taught by three Gurus - viz.: Krishna Bhattji of Honawar, Antu Bua and Bhatkhandeji.
19. 1915 -1916	:	Popular at Ahmednagar as Boy Musician During this period received support for education & music study from the then one prominent pleader nagnath Lakshman Ranade.
20. 1916	:	Came back to Bombay for studies in music under the guidance of Pandit Bhatkhandeji.
21. March 1916 at Baroda	:	Had the privilege of attending the FIRST All India Conference and listening to all the leasing Musicians & Musicologists of the Country from South & Noth - Vocal as well as instrumental.
22. 1917	:	Shifted from Ahmednagar to Satara. At Satara met great Marathi Poet from close quarters - Rev. Narayan Waman Tilak.
23. Summer 1917 - July 1917	:	Moved from Satara to Poona

24. Aug. 1917 to Mid 1922	:	At the time of All India Music Conference at Baroda introduced by Panditji to Her Highness Maharani Chimnabai Sahib Gaekwar for grant of Music Scholarship of Rs. 40/- p.m. with condition precedent that Shrikrishna should go to Baroda and stay there for music education, training and guidance under the late Ustad Faiyaz Hussain Khan Saheb (Aftab-B-Mousiqui) the Court Musician and was inducted as a 'Ganda Band' Shagird in the traditional style, acquianted with Mr. M. Bredilis - a Russian Musician who was in the State Service as an Officer-in-Charge of State Military Band and was also a Director of Music & Principal of the State Music School.
25. 8/1917 to Mid 1922	:	Was associated with late Ustad Amir Khan Ghulab Sagar being a son of a great Gayak who had quite a large stock of Dhrupad, Hories, Sadhras which later on were incorported in the Kramik Pustak Malika. During the tenure at Baroda - Passed Matriculation from the Baroda High School and joined the college. Completed First Year at Baroda in 1921 and then sent to Ahemdabad in 1922 for Intermediate Exam. Other colleagues at Baroda who used to be with Ustad Raiyaz Hussain Khan Saheb were Shri Dilip chandra Bedi (presently at Delhi) and Ustad Nissar Hussain Khan Saheb (presently with SPA Calcutta).
26. 1922 - 1923	:	Moved to Borivli Bombay and continued further studies in music under Pt. Bhatkhandeji.
27. 1923	:	Used to attend Pandjitjis music classes at the Sharda Sangeet Mandal near Flora Fountain Fort Bombay where I was called upon by Panditji to take some clases.
28. 1924	:	Music Teacher at Mahila Vidyalaya at Ahmedabad (under the Women's University Poona) and simultatenously joined Gujarath College Ahmedabad in Jr. B.A.

29. Dec. 1924	:	Whilst still at Ahmedabad attended and gave a performance at the IVth All India Music Conference at Lucknow.
30. Beginning 1925	:	(a) Left Ahmedabad and moved to Bombay and joined Wilson College in the Final B.A. (b) Had to take private tuitions in music to meet educational expenses. (c) Regularly attended Panditjis residence for research work. Others who were regular students are - (1) Shri Vadilal Shivaram Nayak and (2) Shri Shankar Rao Karnad.
31. Summer 1926	:	Passed B.A. from Wilson College Bombay
32. Dec. 1925	:	Vth All India Music Conference at Lucknow.
33. July 1926	:	College of Hindustani Music was opened and immediately after my passing B.A. called upon by Panditji to join the Music College at Lucknow as Asstt. Teacher when Shri Mahadev Keshav Joshi (Govt. Pensioner from Edn. Deptt.) was the FIRST Principal of the Music College.
34. Sept., 1928	:	Appointed as the Principal of the Music College vice Shri. Joshi (Retd.) In the initial stage used to take Classes from the Ist to Vth Year in Vocal section.
35. 1927 to 1933	:	Panditji used to visit the college twice or thrice in a year and inspect the conduct of the music classes and give suggestions for improvements in the standard of education in music.
36. 1933	:	Panditji had a severe set back in his general condition of health and thereafter did not visit Lucknow.
37. 1936 (19 Sept. 1936)	:	Panditji succumbed to this great set back in health on 19th Sept., 1936.

38. 1926 to 1956 : Worked in various capacities as a Music Teacher, as a practical demonstrator, as a lecturer, as an Examiner and/or Member of courses Committee right from the Matric to the Ph.D. in Music, for Boards of High School and Intermediate Education of the U.P. & Rajputana, the Universities, of Allahabad, Agra, Banaras, Rajputana, Punjab, Jammu & Kashmir, Nagpur, Baroda, Bombay, Calcutta, Madras and the Music College of Gwalior.
Attended Music Conference and taken part in debates, discussions and practical demonstrations and acted as a judge of Music Competitions, I have also written a few books on music viz Abhinava Geet Manjari, Tana Sangraha in 3 parts, Sangeet Shiksha, (in 3 parts), Abhinav Sangeet Shiksha, Hindustani Sangeet ki Swaralipi, A member of the Executive Committee of the Sangeet Natak Akademi Delhi representing U.P.
Commenced broadcasting music from All India Radio in 1938.
Appointed as Vice Chairman of the Music Audition Board of the All India Radio in 1952
Broadcast a number of talks on music at All India Radio

39. Academic contribution : Composed about 700 compositions to meet the desired demand in various ragas and taals right from Dhrupad, Dhamar, Sadras, Hori, Thumri, etc. and published in Abhinav Geet Manjari in Three parts
Introduced new Raagas viz. : Gopika Vasant, Salag Warali, Rajani Kalyan, (1931), (1943) Kedar Bahar, Hamsa Ranjani, Sawani Kedar with new bandishs composed.
Composed new songs of the type of Varnams of the Karnatick System of Music.
Composed Geya Natakams - "Govardhan Uddhar" staged at Lucknow on 26th Aug. 156, and recorded by AIR Bombay.

Composed some Marathi Abhangs on religious topics.

: Conferred the Award of 'Padmabhushan' in 1957.

40. Colleagues at the Marris Music College : 1926 : Shri G.N. Natu, late Chhote Munne Khan, Gyak, late Abid Hussain Khan - Tabla Nawaz; Baqar Ali Khan, Sarangi Player;

1927 : late Sakhawat Hussain Khan, Sarodiye; late Hamid Hussain Khan - Sitariya, late baba Nair Khan - Gayak, of the family of Taan-Ras Khan of Delhi, Ahmed Khan - Gayak, Lucknow; Shri Sakharamji Mrindanga Wadak, Shri B.s. Pathak, Sr. Professor of Music; (in Allahabad University)

1935 : Addition of Dance Deptt. under Shri Ram Dutt Misra uncle of Shambhu Maharaj

1937 : Mr. M.s. Kallianpurkar joined vice Shri. Ram Dutt Misra.

1937 : Mr. V.G. Jog (presently at the SRA Calcutta) joined the staff as Violin Teacher.

1936/1937 : Rai Umanath Bali the only founder member left behind launched the Scheme of Bhatkhande University of Indian Music.

: No. of students was around 750 for over couple of years.

1947 : 1947 - The Bhatkhande University was renamed as Bhatkhande Sangeet Vidyapeeth by an Official Announcement by Shri Govind Vallabh Pant the then Chief Minister of U.P.

: Ratanjankar appointed as the Chief Director of the Bhatkhande Sangeet Vidyapeeth and conducted Post Graduate Classes amongst the promising Post-Graduates are :

: Dr.(Mrs.) Sumati Mutatkar; Shri K.G. Ginde (Sangeet Nipun); Shri S.C.R. Bhat (B. Mus); Shri Chidanand Nagarkar (B. Mus.); Shri Dinkar Kaikini, (B.Mus); Shri P.N. chinchore, M.A.,M.Mus., Shri. G.N. Dantale, M.A., M.Mus., Shri Ravindralal Roy, B.Sc., B.Mus., (Father of Malvika Roy-Kanan of Calcutta); Shri Noni Gopal Banerji, B.Mus., Shri Dauji

		Goswami, M.Mus., Shri Shatrughna Shukla, B.A., M.Mus., Shri B.P. Koushik, M.A., B.Mus., Shri G.B. Pranjpe, B.Mus.
1947	:	conferred the Hon. Degree of Doctor of Music by the Bhatkhande Sangeet Vidyapeeth, Lucknow (1947).
	:	Member of the Indian National Council of the UNESCO.
1948	:	Started Music Faculty in the name & style as Bhatkhande Sangeet & Nartan Shiksha Pith of Bharati Vidya Bhavan at Bombay at the instance of Kulapati Dr. K.M. Munshi and appointed as the Vice Chairman of the Advisory Committee which he held till his last - Feb. 1974.
1952/1960	:	Appointed as the vice Chairman of the Central Audition Board of the All India Radio.
1957	:	Appointed as the FIRST Vice chancellor of the Indira Kala Sangeet Vishwa- Vidyalaya Khairagarh (M.P.) and served for one and a half term (i.e. four and half years).
1961	:	Returned back to Bombay and settle down.
1962	:	Appointed as the Hon. Director of Shree Vallabh Sangeetalaya Sion Bombay which he held till - Feb. 1974. He was recalled at Lucknow to take charge of Bhatkhande College of Music for one and half years. During this period at Lucknow he devoted much of his time in composing and preparing text books to cater for the Music Institutions.
14th Feb., 1974	:	Departed to the Heavenly Abode.

Name & Address of the Subscribers of Articles in Hindi.

(1) **Pt. S.C.R. Bhat**
A/9 Patkar's New Block
Guru Nanak (Turner) Rd.,
Bandra, Bombay 400 050.

(2) **Dr. Sumati Mutatkar**
98, Bakhatawar Singh Block,
Asiad Village,
New Delhi 110 049.

(3) **Pt. Prabhakar Chinchore**
Jhankar
157, Shreenagar Colony,
Indore (M) - 452 001.

(4) **Prof. Amareshchandra Chaubey**
Academy Bhavan
Near Bus Stand
Khairagarh (MP) 491 881.

(5) **Prof. V.R. Athavale**
F/5, Nav Prabhat Society
Hanuman Road, Vile Parle (E)
Bomay - 400 057.

(6) **Shree Raghunath Seth**
Bhaveshwar Niketan
Opp Budha Temple,
Worli, Bombay.

(7) **Shri. Manoharkumar**
Gangajaliwale
Indira Kala Sangit
Vishwavidyalaya
Khairagarh (MP) 491 881.

(8) **Prof. Sarojini Gangajaliwale**
Indira Kala
Sangit Vishwavidyalaya
Khairagarh (MP) 491 881.

(9) **Prof. Vasant Rajurkar**
402 Arihant Apt.,
3-4-828 Barkatpura
Hyderabad (AP) - 500 027.

(10) **Prof. Mukund Vishnu Kalvint**
Moulavi Bag, Varanasi

(11) **Pt. Rajabhau Deo**
Mayur Apt., Ist Floor,
Plot 77, Mayur Colony
Kothrud, Pune 411 029.

(12) **Prof. M.R. Gautam**
"Naad Kamal"
4 RA, 6/2 Purbachal Hsg. Soc.,
Salt Lake City
Calcutta- 700 091.

(13) **Shri. Sunil Bose**
S.R.A., 1, N.S.C. Bose Road,
Tollygunge, Calcutta-700 040.

(14) **Prof. Govind Narayan Dantale,**
"Guru Krupa"
3-4-1013/11.B Kacheguda
Hyderabad - 500 027.

(15) **Pt. Vasantrao Kulkarni,**
Shree Guru Samarth
Gayan Vadan Vidyalaya
Saifia Manzil,
Padmabai Thakkar Road,
Shivaji Park,
Dadar, Bombay 400 028.

(16) **Dr. Vasantrao Rajopadhye**
148 Vyas Bhuvan, 6th Road,
Hindu Colony,
Dadar, Bombay 400 014.

(17) **Dr. Arun Kumar Sen**
Kamaladevi Kala Mandir
Raipur (MP)

(18) **Shri. Madanlal Vyas**
19, Patrakar Colony,
Bandra (E), Bombay 400 051.

(19) **Shri. Balaji Sridhar Pathak**
Allahabad

(20) **Pt. C.R. Vyas**
"Maulik" Flat 8 & 9,
26, Swastik Park,
Sion-Trombay Road,
Chembur, Bombay 400 071.

(21) **Shri. Sitasharan Singh**
Lucknow.

Acknowledgement

Acharya S. N. Ratanjankar Foundation extends its warm grateful thanks to the undermentioned, in appreciation of their ever lasting, cordial & abiding relationship for their whole hearted willing co-operation for making available some of the rare photographs in their possession that have appeared in this biographical book and affording the music lovers at large with an enriched historical content :

BOMBAY

1. Mrs. Shobha D/o late Archarya S. N. Ratanjankar.
2. Pt. Vasantrao Kulkarni, Mahim
3. Shri V. D. Ambhailkar,
4. Swami Chaitanya Swami, Shreevallabh Sangeetalaya, Sion,
5. Shri Y. M. Mahale,
6. Pt. Nikhil Ghosh, Sangeet Bharati,
7. Pt. Yeshwantbuwa Joshi,
8. Mrs. Chitra Bailur,
9. Pt. K. G. Ginde, Dadar,
10. Acharya Chidanand Nagarkar Samaroh Samiti,

CULCUTTA

11. Dr. M. R. Gautam,

NEW DELHI

12. Pt. Vinaychandra Maudgalya, Gandharva Mahavidyalaya,
13. Sangeet Natak Academy,
14. Dr. Sumati Mutatkar,
15. Shree Pada Bandyoopadhayaya,
16. Shri K. S. Kothari,

GWALIOR

17. Shri Balasaheb Poochhwale,

HYDERABAD

18. Pt. G. N Dantale,
19. Shri Vasantrao Rajurkar,

INDORE

20. Pt. P. N. Chinchore,

KHAIRAGARH

21. Indira Kala Sangit Vishwavidyalaya, Khairagarh

LUCKNOW

22. Smt. Susheela Misra, Lucknow
23. Shri Sudhir Kumar Verma, Lucknow
24. Smt. Mira Das, Lucknow
25. Shri B. D. Pandey, Lucknow
26. Mrs. Rani Mathur, Lucknow
27. Smt. Kamala Srivastava, Lucknow

PUNE

28. Bharat Gayan Samaj, Pune
29. Pt. Vinayakrao Patwardhan Pratishthan, Pune

"देखो, श्रीकृष्ण कोई मामूली आदमी नहीं है। यह ठीक है कि वह मेरा शागिर्द है; मगर उसके जैसा गवैया हिंदुस्तान में निकट भविष्य में नहीं मिलेगा। उसकी मैं बड़ी इज्जत करता हूं।"

–उस्ताद फैयाजखां

"अण्णासाहब, आप सचमुच पहुंचे हुए क्रियासिद्ध पंडित हैं। आपको मैं विशेष रूप से शास्त्र का विद्वान ही समझता था। पर आज आपने जो प्रत्यक्ष कर दिखाया उससे आपकी असामान्य प्रतिभा एवं सूक्ष्म चिंतन का दर्शन हुआ। उच्च कोटि के विद्वान गायकों के निकट संपर्क से जो मेरे संस्कार बने हैं, उनके अनुरूप ही आपका संगीत पाया।"

–महाराष्ट्रीय गानपंडित गोविंदराव टेंबे

"मैं बिलकुल खुले दिल से घोषित करता हूं, हमारे जमाने में उनके जैसा गुरु हुआ ही नहीं।..... बात यह है कि बम्बई ने, महाराष्ट्र ने अण्णासाहब की योग्यता को पहचाना नहीं। रातंजनकर क्या थे, उन्होंने जाना ही नहीं।"

–पं. कुमार गंधर्व

My span of life, I believe is nearing its end gradually and I take these new developments as a matter of course. Thank God, He has left me a brilliant pupil in you and I have little doubt, you will satisfy all the hopes. I have entertained about you.....

–From the last letter by Pt. Bhatkhande to Dr. Ratanjankar